बाङ्ला साहित्य का इतिहास

सुकुमार सेन

अंग्रेज़ी से अनुवाद
निर्मला जैन



(1954 2004)
साहित्य अकादेमी

बाङ्ला साहित्य का इतिहास

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है । भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.

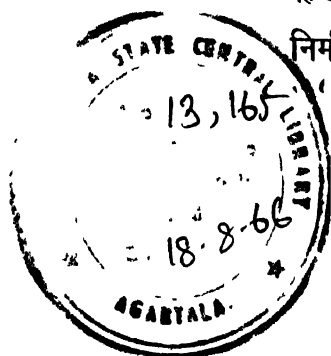
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

बाङ्ला साहित्य
का
इतिहास

सुकुमार सेन

हिन्दी अनुवाद

निर्मला जैन





साहित्य अकादेमी

Bangla Sahitya Ka Itihas : Hindi Translation by Nirmala Jain of *The History of Bengali Literature* in English by Sukumar Sen, Sahitya Akademi, New Delhi.

प्रथम संस्करण : 1965 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-1949-2

मूल्य : दो सौ रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

मूल संस्करण की प्रस्तावना

कई महीने पहले प्रोफ़ेसर सुकुमार सेन ने बाङ्ला साहित्य के इतिहास पर अपनी पुस्तक की प्रूफ़-कापी भेजी और मुझसे उसकी प्रस्तावना लिखने के लिए कहा। मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया इस प्रस्ताव के अनुकूल नहीं थी। मुझे यह धृष्टता लगी कि बाङ्ला साहित्य की इतनी कम जानकारी होते हुए मैं एक विद्वान् की पुस्तक की प्रस्तावना लिखूँ।

परन्तु साथ ही मैं विषय से आकर्षित हुआ और मेरे मन में अपने इस महान् साहित्य के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हासिल करने की उत्कंठा पैदा हुई। मैंने प्रोफ़ेसर सुकुमार सेन की पुस्तक की प्रूफ़-कापी अपने पास रख ली और उसे यात्रा में साथ ले जाने लगा। जब-जब मुझे समय मिलता था, मैं उसमें डुबकी लगा लेता था। इस तरह कई महीने बीत गए, और मैं प्रोफ़ेसर सेन तथा साहित्य अकादेमी के प्रति क्षमा-प्रार्थी हूँ, जिसके तत्त्वावधान में यह पुस्तक लिखी गयी है।

साहित्य अकादेमी द्वारा भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययनों के प्रकाशन की व्यवस्था का विचार अच्छा था। साहित्य अकादेमी का मुख्य कार्य भारत की इन तमाम महान् भाषाओं को प्रोत्साहित करना और एक दूसरे के निकट लाना है। उनकी जड़ें और प्रेरणाएँ बहुत कुछ एक जैसी रही हैं। जिस मानसिक आबोहवा में वे विकसित हुई हैं, वह भी समान रही हैं। उन सभी ने पश्चिमी विचारों और प्रभाव के एक ही प्रकार के संघात का सामना किया है। यहाँ तक कि दक्षिण भारतीय भाषाएँ भी, अपने भिन्न-भिन्न स्रोतों के बावजूद, समान परिस्थितियों में विकसित हुई हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि इन महान् भाषाओं में से प्रत्येक भाषा केवल भारत के किसी भाग की भाषा नही है बल्कि तत्त्वतः भारत की भाषा है, जो इस देश के विचारों, संस्कृति और विकास का, उसके अनेक रूपों में प्रतिनिधित्व करती है।

हम लोगों में से बहुतों के लिए अपनी विभिन्न भाषाओं के साहित्यों की सीधी जानकारी रखना सम्भव नहीं होगा। लेकिन यह निश्चय ही वांछनीय है। हर भारतीय को, जो शिक्षित होने का दावा करता है, अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं के बारे में भी जानना चाहिए। उसे उन भाषाओं की कालजयी और प्रसिद्ध पुस्तकों से परिचित होना चाहिए और इस प्रकार अपने भीतर भारतीय संस्कृति के व्यापक और बहुमुखी आधारों को आत्मसात् करना चाहिए।

इस प्रक्रिया में सहायता करने के लिए, साहित्य अकादेमी हमारी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद दूसरी भाषाओं में प्रकाशित कर रही है और उसके तत्त्वावधान में भारतीय साहित्यों के इन इतिहासों का प्रकाशन हो रहा है। इस प्रकार अकादेमी हमारे सांस्कृतिक ज्ञान के आधार को व्यापक और गहरा बना रही है और लोगों को भारतीय चिन्तन और साहित्यिक पृष्ठभूमि की तात्विक एकता का बोध करा रही है।

प्राचीन समय में संस्कृत अपनी गहनता, समृद्धि और भव्यता के कारण हमारी प्रादेशिक भाषाओं पर छा गयी और उनके विकास को अवरुद्ध कर दिया। बाद में, फ़ारसी भी कुछ-कुछ इस विकास के मार्ग में आयी। यूरोप में यूरोपीय देशों की राष्ट्रीय भाषाओं के सन्दर्भ में लैटिन और ग्रीक की भी यही भूमिका रही थी। रेनेसां के समय और उसके बाद ही राष्ट्रीय भाषाओं का विकास धीरे-धीरे आरम्भ हुआ। ज़ाहिर है कि यूरोपीय मानस पर लैटिन और ग्रीक के प्रभाव की तुलना में भारतीय मानस पर संस्कृत का प्रभाव कहीं अधिक गहरा था। वह यहाँ की मिट्टी की भाषा थी और जाति की आस्था, परम्पराओं, पुराण, शास्त्र और दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ घनिष्ठ रूप से बँधी हुई थी।

इस बात से सम्भवतः हमारी राष्ट्रीय भाषाओं के पूर्ण विकास में विलम्ब के कारण की व्याख्या हो जाती है। फिर यह बात कि हमारी वर्तमान भाषाओं की शुरुआत कितनी पुरानी है, दिलचस्प भी है और कुछ विस्मित करनेवाली भी। तमिळ, निस्सन्देह सबसे अलग है, और उसका इतिहास बहुत पुराना है। प्रोफ़ेसर सेन की पुस्तक पढ़ते हुए मुझे प्राकृत और अपभ्रंश से बाङ्ला के क्रमशः विकास की बात में गहरी दिलचस्पी रही है। जैसाकि सामान्यतः होता है (बाङ्ला में भी), हमें आरम्भ में भक्तिपरक और प्रगीतात्मक पद और रहस्यात्मक काव्य मिलता है, और उसके बाद समाख्यान-काव्य। धीरे-धीरे साहित्यिक गद्य का विकास होता है, और फिर नाटक और अन्ततः कथा-साहित्य का। प्रोफ़ेसर सेन ने प्राचीन काल के लेखकों के बारे में बहुत-से ब्यौरे दिए हैं। मुझे बाङ्ला भाषा के विकास की प्रगति में दिलचस्पी रही है और विशेषकर इसके लगभग हाल के दिनों के विकास में, जब उसमें पश्चिमी प्रभावों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही थी। इस विकास-कथा में राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, शरतचन्द्र चटर्जी और कुछ दूसरे ढंग से काज़ी नज़रुल इस्लाम, शिखरों की तरह खड़े थे। पर इन सबको आच्छादित करता हुआ यह महत्त्वपूर्ण परिवार सामने आया, जो साहित्य, चित्रकला, संगीत और कला के हर रूप में महान् था—टैगोर-परिवार।

बंगाल से बाहर हममें से अधिकांश लोगों के लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लगभग बाङ्ला साहित्य के उत्कर्ष का पर्याय हो गया है। मेरी पीढ़ी के लोग उनके विराट् व्यक्तित्व के प्रभाव में बड़े हुए हैं और सचेत या अचेत रूप से उसके हाथों गढ़े

हुए हैं। वह एक ऐसा व्यक्तित्व था, जो भारत के किसी प्राचीन ऋषि के सदृश हमारे प्राचीन विवेक में गहराई तक गया था। साथ ही, वर्तमान समस्याओं से जूझ रहा था और भविष्य की ओर देख रहा था। उसने बाङ्ला में लिखा, परन्तु उसके मानस की व्यापकता को भारत के किसी भाग तक परिसीमित नहीं किया जा सकता। वह तत्त्वतः भारतीय था और इसके साथ ही सम्पूर्ण मानवता को घेरे हुए था। वह एक साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय था, और उसके साथ मिलने पर, या उसका लिखा हुआ पढ़ने पर, ऐसी अनुभूति होती थी, मानो हम मानवीय अनुभव और विवेक के उच्च पर्वत-शिखर के सामने खड़े हों। यह अनुभूति अत्यन्त विरल होती है।

अपनी महानता के बावजूद, रवीन्द्रनाथ एकान्त में रहने वाले व्यक्ति न थे। उन्होंने जीवन को स्वीकार किया था और वे उसे पूरी तरह जीना चाहते थे, और एक अर्थ में, उनके सभी क्रिया-कलापों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में जीवन से था। उन्होंने एक मित्र को लिखा भी था, "सत्य तभी शुभ और हितकर होता है जबकि वह मनुष्य के जीवन से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध हो।"

रवीन्द्रनाथ ने उस प्रक्रिया में भी औरों की अपेक्षा अधिक सहायता की—जिसका वर्णन प्रोफ़ेसर सेन ने लेखनी की भाषा और जबान की भाषा के बीच विद्यमान खाई पर सेतु-निर्माण की प्रक्रिया कहकर किया है। भारत में बहुत-से लेखकों को अभी भी पाठ पढ़ना बाक़ी है। महान् साहित्य वह है, जिसे लोग समझें, न कि वह जो पाण्डित्यपूर्ण, रहस्यात्मक और दुर्बोध हो।

जिन लोगों की रुचि भारतीय साहित्य में है, मैं उन सबसे इस पुस्तक की प्रशंसा करना चाहता हूँ।

—जवाहरलाल नेहरू

सर्किट हाउस, देहरादून
13 नवम्बर, 1959

आमुख

आगामी पृष्ठों में मैंने बाङ्ला भाषा के जन्म से आरम्भ होने वाली सम्पूर्ण साहित्यिक गतिविधियों का एक संक्षिप्त किन्तु मूलतः पूर्ण सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मेरा समापन-बिन्दु 1941 है, जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु हुई थी और जब दूसरा विश्व-युद्ध हमारा दरवाज़ा खटखटा रहा था। आरम्भ के अध्यायों में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं (जिनमें एक बाङ्ला भी है) के भाषा-शास्त्रीय और साहित्यिक सम्बन्धों का खाका खींचा गया है और बाङ्ला लिपि के उद्‌भव और विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

आद्यन्त विषय का वस्तुनिष्ठ निरूपण रहा है और पुस्तक लिखने में इस बात को कभी नहीं भूला कि इसकी रचना ऐसे सामान्य पाठक के लिए की जा रही है जो सम्भवतः बाङ्ला बिल्कुल न जानता हो।

मैं साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष, श्री जवाहरलाल नेहरू के प्रति प्रस्तावना लिखने के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ।

—सुकुमार सेन

अनुक्रम

1

भाषा और लिपि का विकास

बाङ्ला का सम्बन्ध भारोपीय भाषा-परिवार की उस सुदूर पूर्व शाखा से है, जिसे आर्य या भारत-ईरानी कहा जाता है। इसका जन्म सीधे प्राकृत या मध्य भारतीय आर्य भाषा के एक रूप से हुआ जो संस्कृत या प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से उत्पन्न हुई थी। संस्कृत लगभग 500 ई. पू. तक आर्यावर्त की साहित्यिक भाषा भी रही और बोल-चाल की भाषा भी, उसके बाद लगभग दो हज़ार वर्ष तक यह प्रमुख साहित्यिक भाषा रही और साथ ही सम्पूर्ण उप-महाद्वीप में संस्कृत और विद्वत्-समाज की सामान्य भाषा भी। भारतीय आर्य भाषा के विकास में भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक इतिहास की सभी अवस्थाओं में संस्कृत का प्रबल प्रभाव रहा है। संस्कृत का अत्यन्त समृद्ध शब्द-भण्डार सभी भारतीय भाषाओं के लिए, वे आर्य हों या अनार्य ऐसा उन्मुक्त और अक्षय कोष रहा है जिससे उन्होंने निरन्तर ग्रहण किया है।

पाँचवीं ई. पू. शताब्दी तक भारतीय आर्य भाषा (अर्थात् जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत) में बोलियों की विशेषताएँ विकसित हो गयी थीं और 250 ई. पू. तक इसकी संरचना में कुछ निश्चित परिवर्तन सम्पन्न हो चुके थे। संरचनागत परिवर्तन ऐसा था कि अब यह भाषा प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से भिन्न रूप का आभास दे रही थी फिर भी आपसी समझ का सम्बन्ध एकदम समाप्त नहीं हो गया था। भारतीय आर्यभाषा के इस नये दौर को मध्य भारतीय आर्य भाषा या व्यापक अर्थ में प्राकृत कहा जाता है।

सम्राट् अशोक के धर्मादेश (लगभग 250 ई. पू.) भारत में उस समय बोली जाने वाली आर्यभाषाओं के प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख हैं और इन अभिलेखों में मध्य आर्य भाषा के चार प्रकार या उपभाषाएँ मिलती हैं, अर्थात् पश्चिमोत्तर, दक्षिण-पश्चिम, पूर्व-मध्य और पूर्व। ये प्रादेशिक उपभाषाएँ समय के साथ रूप बदलती हुई, एक हज़ार वर्ष से ऊपर भारत की आर्य जनता की बोलचाल की भाषाएँ बनी रहीं। यह स्थिति तब तक रही जब तक इनमें एक और प्रबल गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ और उसके बाद इनका विकास उन तमाम नयी भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में हो गया जो अब बोली जाती हैं।

मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ (अधिक सही रूप में, उपभाषाएँ), स्वभावतः अपने डेढ़ सहस्राब्दी के इतिहास में संस्कृत के समान स्थिर नहीं रहीं। अपने प्राचीनतम रूप में, जैसा कि ईसा पूर्व शताब्दियों के शिलालेखों से ज्ञात होता है मध्य भारोपीय भाषा संस्कृत का विकृत या सरलीकृत रूप प्रतीत होती हैं, और उसकी उपभाषाएँ एक-दूसरे से इतनी सुनिश्चित रूप से अलग नहीं हुई थीं कि उनकी आपसी समझ समाप्त हो जाय। ईसा-पूर्व शताब्दियों के सभी शिलालेखों के रूप में प्राप्त अभिलेख मध्य भारतीय आर्य भाषा में लिखे गये थे। ईसा के बाद पहली दो शताब्दियों में, मध्य भारतीय आर्य भाषा का प्रयोग एकान्तिक रूप से होता रहा, किन्तु इन अभिलेखों में संस्कृत पदावली के उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव को क्रमशः लक्ष्य किया जा सकता है। इससे यह संकेत मिलता है कि उस समय मध्य भारतीय आर्य भाषा बड़ी तेज़ी से प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ढाँचे से पीछे हट रही थी और तब मध्य भारतीय आर्य उपभाषाओं के बीच आपसी समझ समाप्त होती जा रही थी। 400 ई. तक आते-आते संस्कृत सर्वोच्च भाषा हो गयी और इस समय तक कतिपय साहित्यिक मध्य भारतीय आर्य बोलियाँ अपने बोल-चाल के आदर्शों से हट गयीं और उन्होंने एक स्थिर साहित्यिक रूप का विकास कर लिया।

परन्तु इससे बहुत पहले, मध्य भारतीय आर्य भाषा ने संस्कृत के व्यापक प्रभाव के अन्तर्गत एक सशक्त साहित्यिक भाषा का विकास कर लिया था। यह भाषा दक्षिणी बौद्धो की पालि थी। पालि का आधार एक पश्चिमी या मध्य-पश्चिमी उपभाषा है। लेकिन बौद्ध मत के बाहर इस भाषा का एक अपेक्षाकृत सरल रूप आर्यभाषी भारत में सर्वत्र सामान्य भाषा के रूप में प्रयुक्त होता था। यह सामान्य साहित्यिक भाषा उड़ीसा में भुवनेश्वर स्थित उदयगिरि की गुफा मे खारवेल (ई. पू. प्रथम शताब्दी) के शिलालेख में मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका विकास मालवा में (उज्जैन-भेलसा प्रदेश) हुआ। यह प्रदेश न केवल वाणिज्य और विदेशी सम्पर्क का केन्द्र था बल्कि साथ ही धर्म और संस्कृति का भी केन्द्र था। विभिन्न मध्यभारतीय आर्य उपभाषाएँ बोलने वाले और भारत के बाहर और भीतर दूसरी भाषाएँ बोलनेवाले लोग यहाँ एकत्र होते थे इसलिए इस प्रदेश में एक सामान्य भारतीय भाषा के विकास की तत्काल आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरणीय है कि पालि, विशेष रूप से पिछले दौर में केवल दक्षिणी बौद्धों द्वारा प्रयोग में लायी जाती थी, जिनमें से अधिकांश भारतीय आर्य-भाषा-भाषी नहीं थे।

द्रविड़ भारत में हमेशा से दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा-कुल रहा है। संस्कृत के बहुत-से शब्द द्रविड़ से आये हैं और संस्कृत के संरचनात्मक विकास में द्रविड़ के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह बात काफी हद तक ठीक लगती है कि द्रविड़ भाषाओं के संघात ने ही भारतीय आर्य भाषा के प्राचीन से मध्य स्थिति में परिवर्तन को बहुत दूर तक प्रभावित किया। यह स्वीकृत तथ्य है कि संस्कृत में द्रविड़

शब्दों का अन्तरागम सबसे अधिक मात्रा में ई. सन् से तत्काल पूर्व की कुछ शताब्दियों में हुआ। यह मध्य भारतीय आर्य भाषा के रूप-निर्माण का काल था। इस प्रकार मध्य भारतीय आर्य भाषा में द्रविड़ प्रभाव सहज रूप से अन्तर्निहित था और बाङ्ला तथा उसकी सहोदरा भारतीय आर्य भाषाओं का प्रभाव मुख्यतः उत्तराधिकार के रूप में ही प्रकट होता है।

तीसरे भाषा-कुल 'आग्नेय' का प्रभाव भी द्रविड़ की अपेक्षा कम न था, यद्यपि भारतीय आर्य भाषाओं पर इस प्रभाव की सीमा अब भी पूरी तरह मापी नहीं गयी है। यह तो स्पष्ट ही है कि अनिवार्य शब्दों का आदान बड़ी मात्रा में किया गया, परन्तु भारत की आग्नेय भाषाओं में किसी साहित्यिक अभिलेख का अभाव है। यह बात भारतीय आर्य भाषाओं के स्वर-विज्ञान और व्याकरण पर उनके प्रभाव के निश्चित मूल्यांकन के मार्ग में बाधक है। फिर भी भारतीय आर्य साहित्य की विषय-वस्तु में, विशेषकर लोक-कथाओं में प्रयुक्त कथा-रूढ़ियों में और कुछ महत्त्वपूर्ण मिथकों में, एक ठोस आग्नेयक आधार का अनुमान किया जाता है।

भारत में चौथा भाषा-कुल तिब्बती-चीनी है। भारतीय आर्य भाषा पर इसका प्रभाव बहुत अल्प संख्या में शब्दों के आदान तक सीमित है। जो प्रदेश हिमालय के गिरिपाद के निकटतम है उनमें बोली जाने वाली नव्य भारतीय आर्य भाषाओं पर तिब्बती-चीनी भाषाओं का प्रभाव काफ़ी रहा है। पर यहाँ भी, असमिया और बाङ्ला कहा निकटवर्ती उपभाषाओं की छोड़कर, जहाँ मुख्य रूप से स्वर-विज्ञान ही कुछ-कुछ प्रभावित हुआ था, भारतीय आर्य भाषाओं की संरचना अप्रभावित ही रही है।

अपने प्राचीनतम रूप से अधुनातम रूप तक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास निम्नलिखित सोपानों में हुआ :

(क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा : (1) मौखिक, (2) साहित्यिक (वैदिक और लौकिक संस्कृत) और (3) मिश्रित संस्कृत।

(ख) मौखिक प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मध्य भारतीय आर्य भाषा के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं :

(1) प्राथमिक मध्य भारतीय आर्य भाषा, जिसका लिखित रूप अशोक के तथा अन्य प्रारम्भिक शिलालेखों में मिलता है तथा पालि;

(2) माध्यमिक मध्य भारतीय आर्य भाषा या प्राकृत के विभिन्न रूप—महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अर्धमागधी और मागधी और

(3) तृतीय मध्य भारतीय आर्य भाषा जिसका प्रतिनिधित्व अपभ्रंश और उसके पिछले दौर की भाषा लौकिक या अपभ्रंश (अवहट्ट) ने किया।

(ग) नव्य भारतीय आर्य भाषा, जिसका विकास अपभ्रंश और लौकिक से हुआ और जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने किया। उदाहरण के

लिए असमिया, अवधी, बाङ्ला, भोजपुरी, गुजराती, हिन्दी, कश्मीरी, मराठी, मैथिली, नेपाली, ओड़िया, पंजाबी, राजस्थानी, सिन्धी, उर्दू आदि।

संस्कृत की ही तरह लौकिक या अपभ्रंश—अवहट्ट व्यापक रूप से प्रयोग में लायी जाने वाली साहित्यिक भाषा थी और उपलब्ध अभिलेखों में उसके स्थानीय रूपान्तर असाधारण रूप से कम हैं, गुजरात और बंगाल में लिखी गयी कविताओं में भाषा का एक ही व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है। लेकिन मौखिक भाषा ने अपने प्रदेश के भाषिक और जातीय माहौल के अनुरूप विभिन्न प्रादेशिक विशेषताओं को अपना लिया और उनकी चरम परिणति विभिन्न प्रादेशिक नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के जन्म में हुई। इन नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव पूरी तरह समकालिक न था। उनमें से कुछ का उद्भव, जिनमें बाङ्ला भी शामिल है, यदि और पहले नहीं तो दसवीं शताब्दी के मध्य तक तो अवश्य हो गया था।

मौखिक लौकिक या अपभ्रंश—अवहट्ट से उद्भव के उपरान्त बाङ्ला भाषा ने विकास की दो क्रमिक अवस्थाओं को पार किया है जिन्हें प्राचीन और मध्य बाङ्ला कहा जा सकता है। यह अब अपनी नयी या आधुनिक अवस्था में है। प्राचीन बाङ्ला की व्याप्ति मोटे तौर से 950-1350 की अवधि तक है। मध्य बाङ्ला की अवस्था का प्रसार 1350 से 1800 तक था, और आधुनिक बाङ्ला की अवस्था का आरम्भ 1800 से हुआ। मध्य बाङ्ला की अवस्था में दो स्पष्ट स्तर दिखाई पड़ते हैं—पूर्व और उत्तर। मध्य बाङ्ला का पूर्व काल 1350-1500 था और उत्तर-काल 1500-1800। उत्तर मध्य बाङ्ला को पूर्व मध्य बाङ्ला से अलग करने वाली प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(1) संज्ञा और सर्वनामों के साथ बहुवचन विभक्तियों की सृष्टि,
(2) सामासिका क्रिया में वचन भेद का तिरोभाव,
(3) संयुक्त कालों की सृष्टि और
(4) बहुत बड़ी संख्या में फ़ारसी शब्दों का प्रवेश।

सम्पूर्ण मध्य बाङ्ला काल में हमें एक स्पष्ट काव्यात्मक भाषा या विशिष्ट शब्दावली मिलती है जिसका पोषण लगभग अनन्य रूप में वैष्णव गीति-कवियों ने किया था। इस काव्य-भाषा या 'कलात्मक भाषा' को ब्रजबुली अर्थात् ब्रज (वृन्दावन) की भाषा कहा जाता है और किसी भी अर्थ में इसका प्रयोग केवल बंगाली लेखकों द्वारा नहीं किया गया था। असम के वैष्णव कवियों ने और उड़ीसा के कुछ भक्त-कवियों ने भी ब्रजबुली में रचना की। इस भाषा का आधार अवहट्ट कविता की वह परम्परा है जिसे उमापति और विद्यापति जैसे आरम्भिक मैथिल कवियों द्वारा स्थिर आदर्शों से बल मिला। ये कवि इस पदावली का संवर्द्धन करने वाले कवियों में पहले थे। निस्सन्देह इस पर स्थानीय भाषा का प्रभाव भी पड़ा, लेकिन यह प्रभाव मध्य बाङ्ला काल के अन्त में उभकर आया। ब्रजबुली की लोकप्रियता का अन्त मध्य बाङ्ला के साथ नहीं हुआ। वैष्णव कविता की शक्तिशाली परम्परा के साथ पूरी

उन्नीसवीं शताब्दी भर इसका चलन रहा। इसके अन्तिम उत्कृष्ट लेखक युवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। (प्रगीत रचना के उनके आरम्भिक प्रयासों में सबसे अधिक सफल गीत वे हैं, जो उन्होंने ब्रजबुली में 'भानुसिंह' नाम से लिखे)।

प्राचीन बाङ्ला के एकमात्र अभिलेख में रहस्यात्मक *चर्या गीत* हैं जिनकी खोज हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल से उपलब्ध एक पाण्डुलिपि में की है, ऐसे गीतों और छन्दों के कुछ अंश कुछ पुरानी पाठ्य-पुस्तकों और टीकाओं में उद्धृत हैं, लगभग चार सौ शब्द *अमरकोश* की सर्वानन्द-कृत टीका में प्राप्त होते हैं और कुछ स्थानों के नाम तथा कुछ फुटकल शब्द नवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच के कुछ ताम्र-तत्र अनुदानों में प्राप्त होते हैं।

'चर्या गीतों' की भाषा में अवहट्ट के कुछ अवशेष दिखाई पड़ते हैं, किन्तु यह एक एकदम अप्रत्याशित नहीं है। संस्कृत के अतिरिक्त, अवहट्ट उस समय की एकमात्र दूसरी सामान्य साहित्यिक भाषा थी और चर्या गीतों के कुछ लेखकों ने अवहट्ट में भी लिखा (और संस्कृत में भी)।

चर्या गीतों की भाषा मूलतः बोली है, पर इसके साथ ही वह कुछ-न-कुछ साहित्यिक भाषा भी है ही। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य उपभाषा पश्चिमी बंगाल की रही, परन्तु उसमें बोलीगत रूप-भेद के पर्याप्त अवशेष हैं, जो इस बात का संकेत करते हैं कि सभी लेखक आज के पश्चिमी बंगाल के निवासी नहीं थे।

मध्य बंगाल समग्र रूप में, मुख्यतः पश्चिमी बंगाल की उपभाषा पर आधारित एक अखिल बाङ्ला साहित्यिक भाषा प्रतीत होती है। परन्तु देश के विभिन्न भागों और सीमाओं से आने वाले साहित्यिक लेखकों ने अपने शब्दों और मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, चैतन्य के कुछ अत्यन्त प्रभावशाली अनुयायी सिलहट और चटगाँव के निवासी थे और उनके लेखन के माध्यम से इन प्रदेशों की उपभाषाओं के बहुत-से शब्द लिखित भाषा में सम्मिलित हो गये। संस्कृत शब्दों का एक नियमित प्रवाह था (उत्तराधिकार में मिले शब्दों के अतिरिक्त, जो भाषा के शब्द-समूह के आधारभूत अंग हैं) और यह सामान्यतः उन लोक-प्रचलित पौराणिक और महाकाव्यों की कथाओं के माध्यम से आया था जिन्होंने मध्य बाङ्ला साहित्य को कुछ प्रमुख विषय प्रदान किए थे। संस्कृत से निरन्तर ग्रहण ने निस्सन्देह साहित्यिक भाषा को सशक्त बनाया पर साथ ही इससे बोल-चाल की भाषा से इस भाषा के अलगाव को और बल मिला।

आरम्भ में फ़ारसी (जिसमें अरबी और कुछ तुर्की भी शामिल थी) शब्दों के धीरे-धीरे लेकिन बढ़ते हुए प्रसार ने भिन्नता की प्रवृत्ति की कुछ रोक-थाम की और इससे भाषा के लिखित और मौखिक रूप काफ़ी निकट रहे। जब तक बंगाल एक स्वतन्त्र राज्य रहा तब तक फ़ारसी से ग्रहण की प्रवृत्ति मूल शब्दों तक सीमित रही अतः वे संख्या में भी सीमित थे। परन्तु सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जब अकबर

ने इस प्रदेश को अपने साम्राज्य के साथ जोड़ लिया तो बाङ्ला शब्द-समूह में इस प्रकार के विदेशी शब्द-प्रवाह को रोकने पर कोई बाधा नहीं रही।

अब प्रशासन मुख्य रूप से उन मुसलमान अफ़सरों के हाथ में था, जिनकी नियुक्ति दिल्ली और आगरा से होती थी, जो प्रान्तीय संस्कृति की बहुत कम परवाह करते थे और ऐसी भाषा की, जिसे वे नहीं जानते थे—बिलकुल परवाह नहीं करते थे। प्रशासन, कानून और वाणिज्य की सरकारी भाषा फ़ारसी थी। महत्त्वाकांक्षी और 'विशिष्ट' वर्ग के तौर-तरीकों का संचालन आगरा और दिल्ली से होता था और अन्तर-प्रान्तीय सम्पर्क और वाणिज्य काफ़ी मात्रा में निर्बाध रूप से चलता था। 1765 में जब से अंग्रेज़ों ने प्रान्त का शासन सँभाला, तभी से फ़ारसी शब्दों का अन्तःप्रवाह निरन्तर निर्बाधगति से चलता रहा। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक बंगाल ने लगभग दो हज़ार मूल विदेशी शब्द अपना लिए थे, फ़ारसी (या अरबी) से गृहीत एकाध विभक्तियों का भी विकास कर लिया था और एक ऐसी दस्तावेज़ी गद्य-शैली विकसित कर ली थी जो आधी बाङ्ला और आधी फ़ारसी थी। इसके उपरान्त अंग्रेज़ी शब्द, आरम्भ में केवल ऐसे शब्द जो व्यापार और प्रशासन के लिए बहुत ज़रूरी थे, बाङ्ला में अपनाए जाने लगे, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशाब्द, अर्थात् 1838 तक फ़ारसी की स्थिति और प्रभाव को कोई क्षति नहीं पहुँची जब तक कि कानून, राजस्व और सामान्य प्रशासन के क्षेत्रों में बाङ्ला और अंग्रेज़ी ने फ़ारसी को विस्थापित नहीं कर दिया। उसके बाद से क्रमशः फ़ारसी शब्द बाङ्ला से निकलने लगे।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के दौरान एक और योरोपीय भाषा के शब्दों ने काफ़ी ऐसे शब्द प्रदान किए जो बाङ्ला के मूल शब्द बन गये यह भाषा पुर्तगाली थी। पुर्तगाली व्यापारी और साहसिक यात्री भारत में बहुत-सी नयी वस्तुएँ लाएँ, और ये वस्तुएँ अपने पुर्तगाली नामों के साथ स्थायी रूप से यहीं रह गयीं। पुर्तगाली धर्म-प्रचारक बंगाल में ईसाई धर्म लाए और स्वभावतः गिरजाघर और उसकी पूजा से सम्बद्ध बहुत-से ऐसे पुर्तगाली शब्द साथ आ गये जिनका प्रयोग कैथलिक मत के बाङ्ला अनुयायी करते थे। किन्तु 'गिरजा'—चर्च और 'पादरी'-ईसाई पुजारी, इन दो शब्दों के अतिरिक्त, भाषा के सामान्य शब्द-समूह में ऐसे शब्द रिस नहीं पाए।

ब्रिटिश सत्ता के दृढ़ होने और अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के साथ अंग्रेज़ी भाषा का प्रभाव बढ़ चला जो मुख्य रूप से दो दिशाओं में प्रकट हुआ : एक, ऐसे अंग्रेज़ी शब्दों को ग्रहण जिनके पर्याय या पर्यायों के निकटवर्ती शब्द बाङ्ला में नहीं थे या फिर इन शब्दों के द्वारा सूचित वस्तुएँ इस भूमि के लिए अपरिचित थीं। दो, बाङ्ला की ऐसी साहित्यिक गद्य-शैली का विकास जिस पर अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का एकदम सीधा प्रभाव नहीं था। ऐसी स्थिति में सजग अनुकरण या ग्रहण का प्रश्न तो नहीं उठता, परन्तु आधुनिक बाङ्ला गद्य की अभिव्यक्ति में ऐसे बहुत-से मुहावरे, वक्रताएँ

और भंगिमाएँ हैं, जिनमें असंदिग्ध रूप से अंग्रेज़ी की विचार-पद्धति प्रतिबिम्बित होती है।

सत्रहवीं शताब्दी से बाङ्ला के मुख्य रूप से चार प्रान्तीय उपभाषा वर्ग दिखाई पड़ने लगते हैं। ये वर्ग हैं : (1) ठेठ पश्चिमी बंगाल की उपभाषा, (2) उत्तरी बंगाल की उपभाषा, (3) उत्तर-पूर्वी बंगाल की उपभाषाएँ, जिनके साथ किसी समय पुरानी असमिया का निकट सम्बन्ध था, और (4) पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी बंगाल की उपभाषाएँ इनमें से पहली दो के बीच का अन्तर हमेशा बहुत स्पष्ट नहीं रहता। इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि आरम्भ में पश्चिमी और उत्तरी बंगाल में एक ही उपभाषा बोली जाती रही हो। तीसरे, उपभाषा वर्ग पर आस-पास की अनार्य भाषाओं के प्रभाव की सम्भावना दिखाई पड़ती है। दक्षिण-पूर्वी बंगाल की बोली पर, उसके विशिष्ट स्वनिक विकास पर तिब्बती-बर्मी भाषाओं का काफ़ी प्रभाव दिखाई पड़ता है। पूर्व-बंगाल की बोली में पश्चिमी बंगाल की उपभाषा के साथ सम्बन्ध के कुछ संकेत मिलते हैं क्योंकि उच्च्व वर्ग के लोग निरन्तर पश्चिम से पूर्व की ओर आते रहे।

आज के युग में बाङ्ला की दो साहित्यिक शैलियाँ हैं। एक को 'साधु भाषा' (ललित भाषा) कहा जाता है और दूसरी को चलित भाषा (प्रचलित भाषा)। इनमें से पहली सोलहवीं शताब्दी की मध्य-बाङ्ला पर आधारित परम्परागत साहित्यिक शैली है। दूसरी वास्तव में वर्तमान शती की सृष्टि है और उसका आधार उस उपभाषा का परिनिष्ठित बोल-चाल की भाषा का परिष्कृत रूप है। जो कलकत्ता में ऐसे शिक्षित लोगों के द्वारा बोली जाती है जो आरम्भ में हुगली के निचले हिस्सों के चारों तरफ़ के इलाकों से आये थे। इन दोनों शैलियों के बीच अन्तर हमेशा बहुत स्पष्ट नहीं होता। दोनों का शब्द-समूह वस्तुतः एक ही है। अन्तर मुख्यतः सर्वनाम और क्रिया रूपों में है। साधु भाषा में ये प्राचीन और कठिन हैं जबकि चलित भाषा में आधुनिक और सरल रूपों का प्रयोग किया जाता है। साधु भाषा में कोशगत और संस्कृत के ढंग के समस्त पदों के प्रति पक्षपात दिखाई पड़ता है और चलित भाषा का झुकाव बोल-चाल के शब्दों, वाक्यों और मुहावरों की ओर रहता है। प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भिक वर्षों के दौरान रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुरोध पर चलित भाषा को पहले-पहल गम्भीरता से प्रमथ चौधुरी ने अपनाया। इसके उपरान्त जल्दी ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साधु भाषा का वस्तुतः परित्याग कर दिया और अब अपेक्षाकृत युवा लेखक जिनके मन में परम्परागत साहित्यिक शैली के लिए कोई विशेष मोह नहीं है, सामान्यतः इसी चलित भाषा को पसन्द करते हैं। साधु भाषा लिखने में सामान्यतः सरल है परन्तु अर्थ में क्षीण और लय में घिसी-पिटी है।

अन्य सब भारतीय लिपियों की ही तरह, बाङ्ला लिपि का उद्‌भव भी अशोक के शिलालेखों की ब्राह्मी वर्णमाला से हुआ। अशोक के शिलालेखों की प्राचीन मौर्य वर्णमाला दो प्रकार ही है, उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी ब्राह्मी से गुप्त साम्राज्य की उत्तर

भारतीय वर्णमाला का विकास हुआ। इस वर्णमाला का एक पूर्वी रूप था, जो कुमारगुप्त (432 ई.) के समय के घनाइदह में प्राप्त ताम्रपत्रीय अभिलेख में मिलता है। यह बंगाल में मिलनेवाले इस प्रकार के प्राचीनतम अभिलेखों में से है। इस पूर्वी वर्णमाला के विकास की बाद की अवस्थाएँ धर्मपाल (आठवीं शती का उत्तरार्ध) के लखीमपुर अनुदान पत्र में और महीपाल (दसवीं शती के उत्तरार्ध) के बनगढ़ अनुदान-पत्र में मिलती हैं। अन्तिम अभिलेख के अक्षरों को सही अर्थ में बाङ्ला का आदि रूप कहा जा सकता है। पूर्णतः विवक्षित बाङ्ला वर्णमाला बारहवीं शताब्दी में प्रकट होती है, उदाहरण के लिए लक्ष्मणसेन के तर्पणदीवी अनुदान पत्र में और 'योग रत्नमाला' और 'पंचरक्षा' (1200 ई.) की कैम्ब्रिज़-स्थित पाण्डुलिपियों में। निष्कर्ष रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि बाङ्ला लिपि और बाङ्ला भाषा का विकास लगभग साथ-साथ हुआ है।

बारहवीं शताब्दी के उपरान्त, बाङ्ला वर्णमाला स्वाभाविक विकास की स्थिति से होकर गुज़री, अर्थात् उसमें वे परिवर्तन हुए जो लेखन की सुगमता और सामग्री (पहले भोजपत्र, तदुपरान्त काग़ज़) की दृष्टि से होने ज़रूरी थे। एक तरह से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक दो लेखन-शैलियाँ थीं, अलंकृत और साधारण। अलंकृत शैली का संस्कार एक ओर पेशेवर लिपिकों ने किया, जो अभिलेख और दस्तावेज़ तैयार करते थे और दूसरी ओर उन ब्राह्मण पंडितों ने, जो मूल्यवान ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते थे। साधारण शैली सत्रहवीं शताब्दी और उसके बाद की बाङ्ला पाण्डुलिपियों में से अधिकांश में मिलती हैं। अलंकृत शैली स्वभावतः प्राचीन थी, वह वास्तव में मैथिली लिपि से अभिन्न थी और नागरी से उसका मूल सम्बन्ध किसी भी तरह अस्पष्ट नहीं था। जिज्ञासु पाठक यदि चाहें तो *श्रीकृष्ण कीर्तन* (अठारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रतिलिपि तैयार की गयी) की पाण्डुलिपि में उपलब्ध लिखने की प्राचीन शैली के साथ सोमसुन्दरसूरि-कृत *बालावबोधनी* (प्रतिलिपि 1456 में तैयार की गयी, द्रष्टव्य : *षष्टिशतक*, बड़ौदा, 1953) की नागरी पाण्डुलिपि की तुलना कर सकते हैं।

बाङ्ला वर्णमाला का आधुनिक मुद्रित रूप 1778 में उस समय तैयार हुआ जब चार्ल्स विल्किंसन ने पहली बार छपाई के टाइप तैयार किए थे। फिर भी, उसमें कुछ प्राचीन रूप बने रहे जिनका परित्याग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अन्तिम रूप से किया गया।



2

बाङ्ला भाषा : उत्पत्ति की पूर्व पीठिका

हमें यह ज्ञात है कि अपने आरम्भिक दौर में मध्य भारतीय आर्य भाषा, जो बोल-चाल की प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की सीधी उत्तराधिकारी थी, अपनी जननी से वस्तुगत रूप में भिन्न नहीं थी और कुल मिलाकर आरम्भिक मध्य भारतीय आर्य भाषा का बाह्य रूप संस्कृत के सरल लोक-प्रचलित रूप के बहुत निकट था। तथापि, मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के प्रचलित रूप का उपयोग केवल पुरालेखीय अभिलेखों में मिलता है, जिनका आरम्भ ई. पू. तीसरी शताब्दी में अशोक के फ़रमानों से होकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में शान-शान (चीनी तुर्की) के सरकारी दस्तावेज़ों तक चलता रहा। प्रशासनिक कार्यों के लिए बोल-चाल की भाषा का प्रयोग उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के सिवाय भारत-भूमि में बहुत दीर्घजीवी नहीं रहा। बहुत जल्दी संस्कृत इसकी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभरने लगी। किन्तु क्लासिकी भाषा और प्रचलित भाषा के बीच संघर्ष दीर्घकालिक हो गया और संस्कृत का प्रथम पुरालेखीय-अभिलेख, रुद्रदमन (ईसा की दूसरी शताब्दी) का जूनागढ़ का शिलालेख, इस दृष्टि से एक-मात्र उपलब्धि होकर रह गया। फिर भी लिखित मध्य भारतीय आर्य भाषा पर संस्कृत का प्रभाव ई. पू. पहली शताब्दी के शिलालेख में पहले से ही स्पष्ट है। कलिंग राजा के उदयगिरि के शिलालेख में मध्य भारतीय आर्य भाषा की एक ऐसी साहित्यिक शैली दिखाई पड़ती है जिसकी रचना बिलकुल संस्कृत के आदर्श पर हुई है और जिसकी पालि से बहुत निकट की समानता है।

आरम्भिक शिलालेखीय अभिलेखों के बाहर मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ विशुद्ध साहित्यिक उपज हैं, जिन पर संस्कृत की न्यूनाधिक छाया है। ये साहित्यिक मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ पहले-पहल बौद्ध और जैन-जैसे शास्त्र-विरुद्ध धर्म-संघों द्वारा अत्यन्त प्रबल रूप में प्रयोग में लायी गयीं। परन्तु संस्कृत भी एकदम उपेक्षित नहीं रही। बौद्ध मत की कुछ शाखाओं ने केवल संस्कृत का उपयोग किया और कुछ अन्य शाखाओं ने एक संकर भाषा का, जो प्राचीन और मध्य भारतीय आर्य भाषा का विचित्र मिश्रण था, अब उसे बौद्ध (संकर) संस्कृत नाम से जाना जाता हैं। थेरवाद शाखा के हीनयान बौद्धों ने पालि का लगभग ऐकान्तिक विकास किया। जैनों ने पहले अर्धमागधी में और बाद में अपभ्रंश में भी लिखा। पालि एक मध्यदेशीय उपभाषा पर

आधारित हैं। यह निस्सन्देह एक कलात्मक भाषा है जिसका विकास आरम्भ में अधिकतर ऐसे लेखकों ने किया जो कोई विदेशी भाषा बोलते थे। फिर भी आरम्भिक पालि कविता में मध्य भारतीय आर्य भाषा की लोक-प्रचलित कविता के कुछ प्रच्छन्न उदाहरण मिलते हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण 'धनियासुत्त' है। यह एक समृद्ध किसान, धनिया और बुद्ध के बीच संवाद है, जिसमें सांसारिक हित की तुलना में आध्यात्मिक कल्याण की श्रेष्ठता की पुनर्गणना की गयी है। कविता की संरचना में *ऋग्वेद* के संवाद-स्रोतों की शैली की अनुगूँज सुनाई पड़ती है :

पहले दो छन्दों का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :

> धनियाँ : मेरा चावल उबल गया है, मेरी गाएँ दुही जा चुकी हैं, मैं पीढ़ियों से माही के तट का वासी हूँ, मेरी कुटिया का छाजन बहुत पक्का है, दीए की लौ प्रदीप्त है। हे वरुण देव, तुम जितना चाहो, बरसो।
>
> बुद्ध : मैं विगत क्रोध हूँ, मेरी वासना समाप्त हो गयी है, मैं नदी के किनारे केवल रात-भर का वासी हूँ, मेरे सिर पर छाजन नहीं है, मेरे भीतर की ज्वाला शान्त हो चुकी है। हे वरुण देव, तुम जितना चाहो, बरसो।

पालि-कविता में ऐसी अनेक आदेशात्मक कथाओं के प्राचीन रूप सुरक्षित हैं, जो *पंचतंत्र* की प्राचीन कथाओं की अग्रदूत हैं। बौद्ध संग्रह-कर्त्ताओं या सम्पादकों ने इन नीति-कथाओं को एक साम्प्रदायिक रंग दिया। ऐसा उन्होंने हर कथा के नायक का बुद्ध के किसी पूर्व जन्म या अवतारों के साथ तादात्म्य करके किया, चाहे वह पशु रूप में हो या मानव रूप में। इसी कारण बौद्ध साहित्य में ऐसी कथाओं को 'जातक' अर्थात् जन्म (बुद्ध की) कथाएँ कहा जाता है।

बौद्ध धर्म की कुछ अन्य शाखाओं ने अपनी आरम्भिक कृतियों में एक मिश्र भाषा का प्रयोग किया, प्राचीन और मध्य भारतीय आर्य भाषा के मिश्र रूप का; ऐसी कृतियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं *महावस्तु* और *ललितविस्तर*। इनमें से पहली रचना में *सुत्तनिपात* की कुछ प्राचीन पालि-कविताओं के और कुछ जातक कथाओं के प्राचीन रूपों के अवशेष प्राप्त होते हैं। *ललितविस्तर* के छन्दोबद्ध अंश भाषा और छन्द की दृष्टि से विशिष्ट हैं, इन दोनों में अपभ्रंश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

मध्य भारतीय आर्य भाषा में स्वतन्त्र रचना का एकमात्र आरम्भिक उदाहरण तीन पंक्तियों का एक पद्य है, जिसकी रचना किसी पूर्वी या मध्य-पूर्वी बोली में हुई है। इसकी भाषा प्राकृत वैयाकरणों की मागधी से लगभग पूरी तरह मेल खाती है। यह पद्य रामगढ़ की पहाड़ियों (जो पहले सरगुजा राज्य में थी) में स्थित एक गुफा की दीवार पर उत्कीर्ण है। यह पद्य वैदिक जगती छन्द में है और एक परित्यक्त प्रेमी का अन्तःस्फूर्त विस्फोट है। इसका अनुवाद इस प्रकार है :

सुतनका नाम की एक देवदासी से,
बनारस निवासी एक पुरुष ने प्रेम किया है–
वह, देवदिन्न नाम का एक मुद्रा-पारखी है।

लिपि के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि शिलालेख ई. पू. तीसरी शताब्दी का है।

प्राकृत भाषाओं का कोई ऐसा सामान्य रूप कभी नहीं था जिसका प्रयोग समस्त आर्यभाषी भारत में किया जा सकता हो। परन्तु अपभ्रंश, जो सामान्यतः प्राकृत भाषाओं की उत्तर-अवस्था मानी जाती है, हालाँकि वास्तव में यह बोल-चाल की मध्य भारतीय आर्य भाषा का साहित्यिक रूप है, उत्तर भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिना विशेष रूप-भेद के व्यवहार में लायी जाती थी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अपभ्रंश के कुछ स्थानीय रूपान्तर थे। परन्तु संस्कृत की एक सामान्य प्रतिद्वन्द्वी की हैसियत से साहित्यिक अपभ्रंश अखिल भारतीय साहित्यिक भाषा थी।

गुजरात और राजपूताना के जैन अपभ्रंश-काव्य के अत्यन्त उत्साही और अथक लिक्खाड़ थे। उनकी कृतियों की आत्मा साम्प्रदायिक है और रूप पौराणिक। पश्चिमी भारतीय प्रदेशों में नव्य भारतीय आर्य भाषा के उदय और प्रतिष्ठा के बाद भी अपभ्रंश (और उसके परवर्ती बोली रूप 'पिंगल') की निरन्तरता बनाए रखने की ज़िम्मेदारी मुख्यतः जैन-परम्परा पर है। इस प्रदेश में अपभ्रंश-परम्परा इतनी सशक्त थी कि एक मुसलमान लेखक को भी उसमें प्रेम-काव्य-रचना के प्रयास का लोभ हो आया।

जहाँ तक हमारी जानकारी है विशुद्ध अपभ्रंश में छन्द-रचना करनेवाला प्राचीनतम कवि कालिदास था, बशर्ते कि *विक्रमोर्वशीय* में उसके तुकान्त गीत अप्रामाणिक न हों। परवर्ती अपभ्रंश या लौकिक काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरण उन स्फुट पद्यों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ का संकलन हेमचन्द्र (बारहवीं शती) ने अपने प्राकृत व्याकरण में कुछ नियमों के उदाहरण स्वरूप किया था। इस प्रकार की कविता का सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषा के सामान्य साहित्यिक भण्डार से था। अग्रलिखित अनूदित द्वन्द्वों में परवर्ती अपभ्रंश गीति-काव्य की अर्थगर्भित मार्मिकता का उदाहरण देखा जा सकता है :

"दिन झटपट बीत रहे हैं और मनोरथ पिछड़ रहे हैं। जो है उससे सन्तोष करो।
हो जाएगा, हो जाएगा–ऐसा करते हुए मत रहो।
यदि किसी प्रकार प्रिया को पा जाऊँ, तो अकृत क्रीड़ा करूँगी जैसे नए सकोरे में पानी भिंद जाता है वैसे मैं उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँगी।"

अपभ्रंश का वह रूप जो पश्चिम में सिन्ध और गुजरात से लेकर पूर्व में बिहार और बंगाल तक ईसवी सन् के दूसरे सहस्राब्द की कुछ शताब्दियों में लोकप्रिय कविता

के माध्यम के रूप में प्रकट होता है, कुछ-कुछ नव्य भारतीय आर्य भाषा का पूर्व रूप है, जिसे समसामयिक लेखकों ने प्रायः लौकिक (अर्थात् जो जनता का हो) कहा है। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के आविर्भाव के बहुत समय बाद तक लौकिक का प्रचलन बना रहा, और यह भाषा स्वयं परवर्ती संदूषण से अपने को बचा न सकी। यह बोल-चाल की लौकिक, समसामयिक भाषाओं के विपरीत जो देशी (अर्थात् प्रादेशिक) कहलाती थी, 'अवहट्ट' (अर्थात् पतित) नाम से जानी जाती रही। पूर्वी प्रदेश में रचित परवर्ती लोक-प्रचलित अवहट्ट काव्य का एक श्रेष्ठ संग्रह *प्राकृत पैंगल* (सम्भवतः आरम्भिक पन्द्रहवीं शताब्दी में संकलित) है, जो प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द-शास्त्र का ग्रन्थ है। निम्नलिखित उद्धरण इस ग्रन्थ में संकलित कुछ छन्दों के प्रगीतात्मक प्रकर्ष के उदाहरण हैं :

> "वह, मेरा प्रिय, क्षितिज के पार बहुत दूर है। वर्षा ऋतु आ पहुँची है और मेरा दिल घबरा रहा है।
> आम्र वृक्ष कोमल मंजरियों से घिरे हैं। उधर लता-कुंज से आलिंगित सेमल वृक्ष फूलों से दहक रहा है। फिर भी तुम ओ मेरे प्रिय मुझसे दूर क्यों हो? प्रेम-सरीखा अनुभव और वसन्त-जैसी ऋतु दूसरी नहीं होती।"

पण्डितों ने हमेशा संस्कृत का प्रयोग किया। परन्तु कालिदास के बाद से ही संस्कृत की साहित्यिक कृतियों की प्रवृत्ति वैयाकरणिक, शाब्दिक और छन्द कला-बाज़ियों और शब्दाडम्बर के ज्वलन्त उदाहरण बनने की ओर होने लगी और भवभूति के उपरान्त संस्कृत नाटक मात्र सामान्यतः नीरस अनुकरण होकर रह गया। संस्कृत साहित्यिक गद्य की हत्या उदय काल में ही बाणभट्ट के चमत्कारपूर्ण कौशल के कारण हो गयी। संस्कृत में कोई दीर्घ साहित्यिक प्रयास करना अब अधिकाधिक कठिन होता जा रहा था क्योंकि क्लासिकी भाषा और बोल-चाल की भाषा के बीच खाई तेज़ी से बढ़ रही थी। जो लेखक समझदार थे और जिनकी महत्त्वाकांक्षा सीमित थी उन्हें चार पंक्तियों के मुक्तक और सुसंहता काव्य-रूप (श्लोक) को अपनाना अधिक सुविधापूर्ण लगा। नव्य क्लासिकी संस्कृत कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि बंगाल के दो प्राचीनतम और श्रेष्ठतम संकलनों *कवीन्द्र वचनसमुच्चय* (या 'सुभाषितरत्नकोश' जो उसका उचित शीर्षक है) और *सदुक्तिकर्णामृत* में संगृहीत इसी प्रकार की मुक्तक रचनाओं में मिलती है।

बंगाल की साहित्यिक गतिविधि का इतिहास अनुमानतः उतना ही प्राचीन है जितना पश्चिम के आर्य-भाषी लोगों का वहाँ पहले-पहल बसना। बंगाल में लिखित बोली का प्राचीनतम ज्ञात उदाहरण उत्तर-मध्य बंगाल से प्राप्त एक शिलापट्ट पर अंकित संक्षिप्त और विकृत अभिलेख है। इसकी भाषा आरम्भिक मध्य भारतीय आर्य भाषा का पूर्वी रूप है। लिपि में अशोककालीन ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ परिलक्षित

होती हैं। यह दस्तावेज़ मूलतः उत्तरी बंगाल का है यह बात पुण्ड्र (अर्थात् पुण्ड्रवर्धन) नगर के उल्लेख से प्रमाणित होती है। इसके बाद अगला अभिलेख संस्कृत का एक संक्षिप्त शिलालेख है, जिसमें पश्चिमी बंगाल में बाँकुड़ा के पास पर्वत (सुसुनिया) शिखर पर स्थित एक गुफा विष्णु को समर्पित की गयी है। दाता एक स्थानीय शासक था जिसका समय लिपि के साक्ष्य पर ईसा की चौथी शताब्दी माना गया है। पाँचवीं शताब्दी के ताम्रपत्रों के रूप में ऐसे अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं जिनमें मन्दिर और विहारों के निमित्त दान के लिए या पश्चिम के धर्मपरायण ब्राह्मणों को अर्पित करने के लिए भूमि के विक्रय की अनुमति प्रदान की गयी है। किन्तु पाल राजाओं के अनुदान-पत्रों में पहली बार एक निश्चित साहित्यिक रस मिलता है। वस्तुतः पाल शासकों के और बंगाल और असम में उनके समसामयिक तथा उत्तराधिकारी राजाओं के ताम्रपत्रीय अनुदान-पत्र जितने सरकारी दस्तावेज़ हैं उतने ही साहित्य भी क्योंकि उनमें ऐसे अनेक छन्द वर्तमान हैं जिनमें सुन्दर काव्यात्मक कल्पना की झलक दिखाई पड़ती है। यह बात आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि इन शासकों ने इन दस्तावेज़ों के साहित्यिक और प्रशस्तिपरक अंशों के प्रारूप तैयार करने का काम अपने दरबार के सर्वश्रेष्ठ कवियों और पंडितों को सौंपा था।

साहित्यिक मध्य भारतीय आर्य भाषा (प्राकृत के विभिन्न रूपों) का विशेष विकास पूर्वी लेखकों ने नहीं किया। वे केवल संस्कृत में रचना करते रहे। सामान्य भारतीय आर्य ध्वनियों का पूर्वी लोगों का उच्चारण स्पष्टतः मध्य भाग और पश्चिम के सामान्य उच्चारण से भिन्न था। इस कारण पूर्वी बोली शेष रूपों से एक हद तक भिन्न रही। कवि राजशेखर (नवीं शताब्दी) ने इस बात का उल्लेख किया है कि बनारस के पूर्व में स्थित इलाकों के संस्कृत का धाराप्रवाह पाठ करते थे किन्तु उनकी प्राकृत उतनी अच्छी नहीं थी। फिर भी यह स्वीकार करना ग़लत होगा कि मध्य भारतीय आर्य भाषा में बंगाल ने कोई उल्लेखनीय साहित्यिक योगदान नहीं किया। बंगाल में लौकिक (अवहट्ट) के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेखक कतिपय रहस्यवादी सम्प्रदायों के स्वामी अर्थात् सिद्धाचार्य थे। भारतीय आर्य बोली, बाङ्ला में गीत-रचना पहले-पहल इन्हीं आचार्य ने की। इनसे कुछ पहले प्राकृत, अपभ्रंश और लौकिक भाषाओं में उन कूट पदों की रचना हुई थी जिन्हें बौद्ध पण्डित धर्मदास ने उद्धृत किया है।

बंगाल (जिसमें असम, उड़ीसा के निकटवर्ती भाग और पूर्वी, दक्षिणी तथा उत्तरी बिहार का बहुत बड़ा भाग शामिल था) नवीं शताब्दी में पाल राजवंश की स्थापना के बाद ही एक स्पष्ट प्रादेशिक इकाई का रूप धारण कर सका। तुर्की प्रभाव से कुछ ही पहले सम्पूर्ण बंगाल पर राज्य करने वाले अन्तिम हिन्दू राजा लक्ष्मण सेन के समय में इस देश ने नव्य क्लासिकल साहित्य की अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण कृति प्रदान की। यह रचना जयदेव का *गीत गोविन्द* थी। यह रचना, बल्कि वे चौबीस

गीत जो इसका मूल आधार हैं, केवल बाङ्ला का ही नहीं बल्कि अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के प्रगीत काव्य का मूल स्रोत होने का दावा कर सकते हैं। जयदेव राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन और सम्भवतः कुछ समय तक उनके दरबार के कवि भी थे। पश्चिम बंगाल में स्थित केन्दुबिल्ब उनका जन्म-स्थान माना जाता है। इस स्थान पर अब भी उनके सम्मान में वैष्णव भक्तों का वार्षिक समागम होता है।

गीत गोविन्द के गीतों की रचना संस्कृत में हुई है, किन्तु उनकी पदावली, लय और अन्त्यानुप्रास लौकिक कविता की है। संस्कृत कविता की जनता को लोक-प्रचलित संगीतात्मक गीतियों की कोमलता और मधुरता प्रदान करके जयदेव ने संस्कृत कविता के पुनरुत्थान का अंतिम प्रयास किया। जयदेव की कविता ने राधा-कृष्ण के प्रेम को शताब्दियों तक भारतीय आर्य भाषाओं के गीति-काव्य के एक प्रमुख विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। जयदेव से पूर्व इस विषय का ग्रहण साहित्य और अन्य कलाओं में केवल शृंगारिक विषय के रूप में किया जाता था। *सुभाषितरत्नकोश* (बंगाल के बौद्ध कवि विद्याकर द्वारा 1100 ई. के लगभग संगृहीत संस्कृत-काव्य का प्राचीनतम संग्रह) में राधा-कृष्ण की प्रेम-कविताओं का संकलन *असती-व्रज्या* (अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियों के प्रेम-सम्बन्ध) खंड के अन्तर्गत किया गया है। जयदेव भी अपनी रचना के आरम्भिक पदों में इस तथ्य की स्वीकृति इन शब्दों में करते हैं :

यदि हरि-चिन्तन-रस आतुर मन, यदि रति-भाव हुलासे।
तो मधु कोमलकान्त पदावलि, सुनो, स्वर्ग-सुख-भासे ॥

राधा नाम का उल्लेख सबसे पहले कुछ कश्मीरी कवियों की रचनाओं में मिलता है। यह मूलतः एक जातिवाचक संज्ञा है जिसका अर्थ है 'प्रेयसी' या 'प्रेमिका'। इसका पुल्लिंग प्रतिरूप 'राध' (जिसका अर्थ है प्रेमी) 'अवेस्ता' में मिलता है। राधा-कृष्ण की प्रेम कथा पर रचित प्राकृत या अपभ्रंश के गीत उत्तर भात में अवश्य लोक-प्रचलित रहे होंगे। जयदेव के गीतों का एक आदि रूप कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती) की एक कविता में मिलता है। ईसा के प्रथम सहस्राब्द की पिछली शताब्दियों में बंगाल का कश्मीर से निकट सम्पर्क रहा। तभी राधा-कृष्ण के शृंगारिक-प्रेम के विषय का विकास बंगाल में किया गया और वहाँ इसका विस्तार असाधारण रूप से हुआ। मिथिला और बंगाल की वैष्णव कविता के विकास पर जयदेव के गीतों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। सम्पूर्ण भारत में जयदेव के गीतों के तात्कालिक और उत्साहपूर्ण प्रचार (जैसा कि उनकी अनुकृतियों और व्याख्याओं की विपुलता से प्रमाणित होता है) से उन प्रदेशों के भाषा-साहित्य पर इसका प्रभाव परिलक्षित होने लगा जिन्होंने अपनी प्रादेशिक बोलियों के विकास में कुछ प्रगति कर ली थी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण पुरानी गुजराती-राजस्थानी का है।

नव्य भारतीय आर्य भाषा-साहित्य के मुख्य स्रोत इस प्रकार हैं : (अ) पौराणिक और लोक-प्रचलित स्रोतों से गृहीत कृष्ण-विष्णु से सम्बद्ध आख्यान (आ) *रामायण*

और *महाभारत* की कथाएँ, (इ) शिव और शक्ति की पौराणिक और लोक-प्रचलित कथाएँ, (ई) लोक-प्रचलित (अपौराणिक) देवताओं के आख्यान, (उ) रोमानी प्रेम-कथाएँ, (ऊ) उपदेशात्मक पद, (ए) कतिपय भक्ति और गुह्य साधना के धार्मिक सम्प्रदायों की रहस्यात्मक (कूट) कविता। इनमें से अन्तिम वर्ग के काव्य को मूलतः साहित्य का उपजात कहा जा सकता है, परन्तु इस वर्ग के अन्तर्गत आरम्भिक और परवर्ती नव्य भारतीय आर्य भाषा-साहित्य के कुछ बेहतरीन नमूनों की रचना हुई है। इसी वर्ग ने भाषाओं के प्रगीत-काव्य की आरम्भिक परिष्कृत रचनाएँ प्रदान कीं।

भाषा-काव्य को क्लासिकल संस्कृत का निश्चित योगदान केवल संक्षिप्त 'बारहमासा' कविताओं के रूप में मिलता है और परवर्ती संस्कृत के फुटकर ('प्रकीर्ण', 'उद्भट्ट') छन्दों में प्रयुक्त बिम्बों, प्रसंगों और कुछ घिसी-पिटी अभिव्यक्तियों के अनुसरण के रूप में दिखाई पड़ता है। 'बारहमासा' कविताओं में वर्ष के बारह महीनों के दौरान अपने प्रेमी से संयुक्त अथवा वियुक्त नायिका के आह्लाद-विषाद का वर्णन किया जाता है। ये कविताएँ वस्तुतः कालिदास के *ऋतु-संहार* के द्वारा आरम्भ की गयी परम्परा का बढ़ाव हैं। सामान्यतः इस प्रकार की कविताओं का समावेश लम्बी समाख्यानात्मक कथाओं में कर लिया जाता है, परन्तु उनकी रचना स्वतन्त्र कविताओं के रूप में भी की गयी है।

नव्य भारतीय आर्य भाषा विषय और रूप दोनों दृष्टियों से मध्य भारतीय आर्य भाषा की सीधी उत्तराधिकारिणी है पर इन दोनों ही दृष्टियों से उस पर देशी बाह्य दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ा है। नव्य भारतीय आर्य भाषा की संरचना में अनार्य प्रभाव के कारण काफ़ी तात्त्विक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी नव्य भारतीय आर्य भाषा में अनार्य परम्पराओं और आस्थाओं के पर्याप्त तत्त्व प्रकट रूप से दिखाई पड़ते हैं। मध्य भारतीय आर्य भाषा से प्राप्त साहित्यिक विरासत में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं मुख्य विषय कृष्ण, राम, शिव, पाण्डवों आदि पौराणिक देवताओं और वीरों के आख्यान। अनार्य विरासत का एक बहुत बड़ा अंश अपभ्रंश और लौकिक के रास्ते आया है, उदाहरण के लिए शिव के विवाहित जीवन की कथा, बाल कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ, मनसा और बेहुला की कथा, माधवानल और कामकंदला की कथा, और इसी प्रकार की अन्य रोमानी प्रेम-कथाएँ, कुछ काव्य और उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद जनश्रुतियाँ। इनमें से अन्तिम वर्ग में उपयोगी सूचनाओं या सरल गणितीय नियमों को छोटे छन्दों में बाँधा गया है। बंगाल में पद्यबद्ध गणितीय नियमों को आर्या कहा जाता है। यह नाम ठेठ प्राकृत के छन्द से लिया गया है जिसमें सम्भवतः इनकी मूल रचना रही होगी। इनमें से कुछ पद्यों की भाषा में अब भी प्राचीन रस पर्याप्त मात्रा में बाकी है। जिन पद्यों में व्यावहारिक समझ, उपयोगी सूचना और मौसम-सम्बन्धी टिप्पणियाँ दी गयी हैं, उन्हें बंगाल में 'डाकेर वचन' (अर्थात् पण्डितमन्य आदेश) और हिन्दी में 'माडली पुराण' (अर्थात् भाट की परम्परा से प्राप्त भण्डार) कहा जाता है। कूट पद्यों

का अन्तर्भाव लम्बी आख्यान कविताओं में प्रेमियों की प्रतियोगिता के सन्दर्भ में किया गया है। प्रेम कहानियों में अपने मध्य भारतीय आर्य भाषा मूल को दृष्टि से कभी पूर्णतः ओझल नहीं होने दिया गया। मनसा और बेहुला की कथा बंगाल की विशिष्टता है। वहीं से वह पश्चिमी सीमा पर स्थित प्रान्त बिहार में स्थानान्तरित होकर आयी है। अपभ्रंश में इसके अस्तित्व की सम्भावना का अनुमान बेहुला नाम से लगाया जा सकता है जो संस्कृत शब्द 'विह्वल' का लौकिक रूप है। कृष्णाख्यान के कुछ शृंगारात्मक प्रसंग लौकिक काव्य में दिखाई पड़ते हैं।

बंगाल में शक्ति, सम्प्रदाय के सबसे उल्लेखनीय आख्यान वे हैं जिन्होंने मध्य बाङ्ला की चंडी मंगल कविताओं के लिए मुख्य विषय प्रदान किए। अपभ्रंश में इन आख्यानों के पूर्व अस्तित्व का आभास फुल्लरा (फूल के सदृश) और खुल्लना (ठिगनी) जैसी नायिकाओं के नामों के रूप में मिलता है। इन नामों पर भी बेहुला की ही तरह, अपभ्रंश या लौकिक की छाप है।

3

आरम्भिक काव्य के रूप

नव्य भारतीय आर्य भाषा को विरासत में 'लौकिक' से तुकान्त मात्रिक छन्द मिला, जिसके दो प्रमुख रूप थे : एक में 16 मात्राओं (या स्वरिक इकाइयों) की पंक्तियाँ थीं, हर पंक्ति में आठ मात्राओं के बाद यति थी, और दूसरे में 13 मात्राओं पर यति के साथ 25 मात्राओं की पंक्तियाँ थीं। दो तुकान्त द्विपदियों से युक्त पहले प्रकार के छन्द को 'चौपाई' या 'चतुष्पदी' कहा जाता था और दूसरे को 'दोहा' या 'दोधक'। इस प्रकार के पद्य के लिए 'दोहा' नाम सामान्यतः प्रचलित हो गया।

नव्य भारतीय आर्य भाषा अब तक मात्रिक छन्दों की व्यवस्था से बाहर नहीं निकल पायी थी। प्राचीन बाङ्ला के आध्यात्मिक गीतों में निस्सन्देह मात्रिक छन्द-विधान का प्रयोग किया गया था पर उस आरम्भिक स्थिति में भी बाङ्ला में बड़ी तेज़ी से द्वित्त्व व्यंजनों का लोप हो रहा था और इस प्रकार वह दीर्घ स्वरों और सन्ध्यक्षरों की नियत मात्रा-मूल्य से भी मुक्त हो रही थी। बाङ्ला में मात्रिक योजना का प्रतिस्थापन शीघ्र ही आक्षरिक योजना से कर लिया गया (जिसमें सामान्यतः अक्षरों का मात्रा-मूल्य एक समान होता है) और इस प्रकार ठेठ बाङ्ला (असमिया, उड़िसा और विशेषकर भोजपुरी) 'पयार' का विकास 'चौपाई' से हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रक्रिया तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक पूरी हो गयी थी।

गुजराती और राजस्थानी (और हिन्दी भी)—जैसी पश्चिमी भाषाओं ने मध्य भारतीय आर्य भाषा के अतुकान्त छन्द को बनाए रखा। इसे 'सोरठा' ('सौराष्ट्र' स्थान के नाम के आधार पर) या कभी-कभी पुराने नाम से 'आर्या' कहा जाता है। इस प्रकार के पद्य की रचना जब प्राकृत, अपभ्रंश और लौकिक में होती है, तब उसे 'गाहा' (संस्कृत का 'गाथा') कहते हैं।

आरम्भ में ही बाङ्ला में मात्रिक छन्द से अमित्राक्षर छन्द का विकास हुआ जिससे बाङ्ला को ऐसी गति और लचीलेपन की क्षमता प्राप्त हुई कि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही बाङ्ला कविता आश्चर्यजनक रूप से फूली-फली। बाङ्ला के आधार छन्द पयार में परित्यक्त मात्रिक योजना की संगीतात्मक भक्ति भी है, गृहीत अमित्राक्षर योजना की कोमलता और लचीलापन भी है और साथ ही समर्थ गद्य की नमनीयता भी है।

'मनसामंगल', 'चंडीमंगल', 'धर्ममंगल' और 'चैतन्यमंगल' जैसी लम्बी समाख्यानक कविताओं की रचना किसी भी पश्चिमी भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, सोरठा-जैसे छोटे छन्दों में सम्भव नहीं होती; परन्तु बाङ्ला में उनकी रचना उस लचीलेपन के कारण सम्भव हुई जिसके कारण आधुनिक बाङ्ला में मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विपुल छन्द-वैविध्य और कलात्मक वैभव की सिद्धि की।

नव्य भारतीय आर्य भाषा-काव्य तीन रूपों में सामने आया : मुक्तक, गीत और आख्यान। मुक्तक छन्द अधिकतर लोक-प्रचलित ढंग के थे। गीत अपनी उस आरम्भिक स्थिति में बहुत-कुछ परिष्कृत रचनाओं के रूप में थे। गीतों की धुनों का प्रायः संकेत कर ही दिया जाता था। छन्द की पंक्तियों की संख्या आठ और चौदह के बीच रहती थी। दूसरी द्विपदी प्रायः टेक ('ध्रुवपद') होती थी जिसे आगे आने वाली हर द्विपदी के बाद दोहराया जाता था। कवि का नाम प्रायः अन्तिम द्विपदी में आता था। बाङ्ला की कवि-रूढ़ि में इसे 'भणिता' ('भणई', भणे) कहा जाता था। नव्य भारतीय आर्य भाषा के गीतों के प्राचीनतम उदाहरणों का विषय या तो कृष्ण-विष्णु आख्यान रहता था या कुछ गुह्य सम्प्रदायों के रहस्यात्मक या कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विषय। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य आख्यानात्मक विषयों पर भी गीत-रचना की गयी होगी किन्तु उनके आरम्भिक उदाहरण नहीं मिलते।

कुछ विस्तारयुक्त साहित्यिक रचना का सामान्य निश्चित नाम 'प्रबन्ध' था। *गीत गोविन्द* को उसके कवि ने इसी नाम से अभिहित किया है। पश्चिम में, समाख्यानात्मक रचनाएँ तीन प्रकार की थीं : ऐतिहासिक काव्य, रोमांचक काव्य और धार्मिक काव्य। पहली दो का सम्बन्ध सीधे अपभ्रंश से जोड़ा जा सकता है या फिर किसी ऐसे अज्ञात केन्द्र से जिस पर लोक-वार्ता का गहरा रंग चढ़ा था। एक हद तक ये प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय महाकाव्यों और पौराणिक आख्यानों की कथाओं का बढ़ाव भी थीं। धर्म से इतर प्रकार के अपेक्षाकृत 'लम्बे' समाख्यान और प्रगीत कविताओं को अपभ्रंश में प्रायः 'रासो' (संस्कृत शब्द 'रासक' से, जिसका अर्थ प्रेम-लीला गीत है) कहा जाता है। अतः नव्य भारतीय आर्य भाषा के ज्ञात ऐतिहासिक काव्यों में सर्वश्रेष्ठ काव्य के लिए *(पृथ्वीराज-रासो)* इस नाम को अपना लिया गया। इसमें दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-सम्राट् के युद्धों का वर्णन किया गया है।

बंगाल में ऐतिहासिक वीरगीतों की अपेक्षा भव्य धर्माख्यानों पर अधिक ध्यान दिया गया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पाल और सेन राजाओं के कतिपय श्लाघनीय कार्यों का छन्दों में गायन किया जाता था। सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी के बाङ्ला और संस्कृत के मिश्र रूप में रचित एक कृति में सुरक्षित कुछ द्विपदिगों के अतिरिक्त बाङ्ला ने अपनी आरम्भिक ऐतिहासिक रचनाओं को खो दिया है, ब्रजबुली में रचित एक ऐसी कविता को छोड़कर जिस पर कृत्तिवास के हस्ताक्षर हैं, बाङ्ला में किसी कृति की रचना 'रासो' या 'रास' नाम से नहीं की गयी।

मिथिला में अवश्य पन्द्रहवीं शताब्दी तक ऐतिहासिक काव्य-परम्परा पर्याप्त जीवित थी। *कीर्तिलता* विद्यापति की आरम्भिक और सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से है। इसकी रचना लोकभाषा अवहट्ट में गद्य और पद्य में हुई है। कवि ने इसमें अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के कारनामों का विवरण प्रस्तुत किया है।

सत्रहवीं शताब्दी से पहले बाङ्ला में केवल ऐसी रचनाओं के अतिरिक्त जिनमें देवताओं और देवोपम नायकों के कृत्यों का यशोगान किया कोई समाख्यान-काव्य नहीं मिलता। बाङ्ला के इन 'धार्मिक' काव्यों का कुछ सम्बन्ध पश्चिमी भारतीय आर्य भाषा के समाख्यान-काव्यों या वीर गीतों से हैं। बाङ्ला और पश्चिमी भारतीय आर्य-भाषा-काव्यों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) इनका आरम्भ सिद्धिदाता गणेश की, विद्या और संगीत की देवी सरस्वती की, और कुछ अन्य देवताओं की (जिनमें कवि का निजी आराध्य भी रहता है) वन्दना से होता है, तदुपरान्त कवि आत्मपरिचय देता है।

(2) नायक और नायिका को अस्थायी शाप-ग्रस्त विष्णु-लक्ष्मी या किसी अर्ध दैवी-युगल के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

(3) नगर, राजदरबार आदि का वर्णन और वनों और उद्यानों में पेड़-पौधों की परिगणना रहती है।

(4) नायक और नायिका अथवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण पुरुष और नारी के बीच पहेली बूझने की प्रतियोगिता होती है और

(5) प्रेमियों के उल्लास (संयोगजन्य) और विषाद (वियोगजन्य) का मास-दर-मास पूरे वर्ष का (बारहमासा) वर्णन किया जाता है।

लिखित रूप ग्रहण करने से पहले इन कथाओं का वाचन या पाठ पेशेवर कथावाचक (जिन्हें 'कथक' या 'वाचक' कहा जाता है) करते थे। ये या तो धनिकों के आश्रित होते थे या मन्दिरों से संलग्न रहते थे। इन काव्यों के लिखित रूप में से भी कुछ हिस्से का पाठ और कुछ हिस्से का गायन किया जाता था, लेकिन तब भी कथावाचकों के शिल्प से इनके मूल सम्बन्धों के अवशेष सर्वथा लुप्त नहीं हुए थे। मैथिली के एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर के *वर्णनरत्नाकर* की रचना विशुद्ध तुकान्त गद्य में हुई है। यह रचना इस प्रकार के कथावाचकों की पुस्तिका का प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण है। इसी प्रकार की रचनाओं ने आरम्भिक आख्यान कवियों को उनका तकनीकी ढाँचा प्रदान किया था।

बाङ्ला से इतर आख्यानों की रचना आरम्भ में दोहा, चौपाई तथा अन्य प्रकार के मात्रिक छन्दों में की गयी, किन्तु बाद के काव्य केवल दोहे या चौपाई में लिखे जाने लगे। अतः इन काव्यों को 'दुहा' या 'चौपाई' कहा जाने लगा; उदाहरण के लिए, *ढोला मारू रा दुहा, माधवानल काम-कंदला चौपाई* आदि। बाङ्ला के आख्यान-काव्य वर्णिक पयार और त्रिपरी छंद में लिखे गये। पयार (छोटी द्विपदी) की पंक्तियों में काव्य का

अधिकांश भाग लिखा जाता था। ये मुख्यतः समाख्यानात्मक होती थीं और कथा को आगे बढ़ाती थीं। मुख्य गायक इनका संगीतात्मक पाठ किया करता था, अतः इन्हें 'शिकलि' (अर्थात् गीतों को जोड़ने वाली आख्यान-शृंखला) कहा जाता था। ठीक इसी अर्थ में पुरानी गुजराती के 'कान्हड दे प्रबन्ध' में 'पवारू' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह सम्भव है कि 'पयार', 'पवारू' सजातीय शब्द हों जिनका मूल अर्थ समान रहा हो (सम्भवतः 'पदवृत्तक पद-संचालन' से)। त्रिपदी (दो यतियों वाली दीर्घ द्विपदी) या पयार में रचित गीतों का गायन मुख्य पात्र या मुख्य गायक (मूल गायन) करता था और उसके सहयोगी या सहायक ('दोहार' या 'पाली') उसकी सहायता करते थे। इन संगीतात्मक अंशों को 'नाचारी' ('नृत्यवृत्तिका'—'नृत्य' शैली से) कहा जाता था। मुख्य गायक नूपुर (अपने बाएँ पग में) पहनता था, उसके दाएँ हाथ में चँवर और बाएँ में मंजीरे की जोड़ी रहती थी। बाङ्ला के भक्तिपरक आख्यान-काव्यों में गायक, कथावाचक और अभिनेता तीनों के कौशल का संयोग रहता है। सृष्टि-शास्त्र और सम्बद्ध विषयों से सम्बन्धित आरम्भिक आख्यानों के लिए (जो केवल मनसा, चण्डी और धर्म जैसे महाकाव्येतर देवताओं के प्रति समर्पित कविताओं में प्राप्त होते हैं) वे पुराणों के वाचकों ('पाठक' या 'कथक') के ऋणी हैं।

बाङ्ला के इन आरम्भिक भक्तिपरक आख्यान-काव्यों को 'पांचाली' या 'पंचालिका' कहा गया है, जिसका मूल अर्थ है 'गुड़िया' या 'पुतली'। यह नाम इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आरम्भ में जब भक्तिपरक गीतों का गायन और कविताओं का पाठ होता था तो उसके साथ कठपुतली के नाच का सहयोगी आयोजन किया जाता था। बंगाल में अब भी कठपुतली के नाच के साथ पद्यबद्ध कथा-वाचन होता है, जिसकी संगत ढोल-मंजीरे से की जाती है। कठपुतली के ऐसे नाच का संक्षिप्त और चित्र-रूपान्तर चित्रांकित पट ('पट्ट') के रूप में मिलता है जिन पर भक्तिपरक आख्यानों की कहानियाँ अंकित रहती हैं। पट का प्रदर्शन करने वाला व्यक्ति उसे खोलते समय अनगढ़ (प्रायः आशु) छन्दों में कथा-वाचन करता जाता है। किसी समय यह पट-प्रदर्शन पश्चिमी बंगाल में बहुत प्रचलित था। बाण ने *हर्षचरित* में 'यमपट' के इस प्रकार के प्रदर्शन का उल्लेख किया है।

राजस्थानी के पिंगल तरह, की चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में पूर्वी हिन्दी की एक उपभाषा मैथिली का विकास हुआ। अवहट्ट-परम्परा पर आधारित इस परिष्कृत काव्यात्मक पदावली में स्थानीय उपभाषा का पर्याप्त मिश्रण था। मैथिली कविता का प्राचीनतम नमूना उमापति उपाध्याय के प्रगीतों में मिलता है। ये मिथिला के अन्तिम हिन्दू राजा (पूर्व 1324) हरसिंह के मन्त्री थे। इन गीतों की संख्या इक्कीस है और वे संस्कृत के एक लघु नाटकीय ढाँचे में बँधे हैं। रचना का शीर्षक है *पारिजात हरण*। समसामयिक नव्य भारतीय आर्य भाषा, साहित्य में पारिजात के ये गीत अपनी परिष्कृति में अद्वितीय हैं।

आरम्भिक नव्य भारतीय आर्य भाषा साहित्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवियों में से विद्यापति ने अगली शताब्दी में उमापति के पद-चिह्नों का अनुसरण किया। उमापति और विद्यापति के प्रभाव ने (सम्भवतः कुछ कवि और भी रहे होंगे) तिरहुत की सीमाओं का अतिक्रमण किया। उनकी शैली और पदावली को नेपाल ले जाया गया, जो बंगाल और उत्तरी बिहार पर तुर्कों और पठानों की विजय के बाद, इन प्रदेशों के विद्वानों और कवियों की मुख्य शरण-भूमि बन गया था। उसके बाद बंगाल होता हुआ यह प्रभाव आसाम पहुँचा। सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक के बाङ्ला के वैष्णव प्रगीत-कवियों ने उत्कंठापूर्वक मैथिली के कवियों की पदावली का परिष्कार किया। इस पदावली में मात्रिक छंद की नियतलयता को और प्राचीन और मध्य भारतीय आर्य भाषा के अलंकृत और शृंगारपरक छन्दों की भास्वर चित्रात्मकता को बनाए रखते हुए उसे एक काव्यात्मक भाषा का रूप दे दिया गया था। आशा के अनुरूप बंगाल में इस काव्य-भाषा ने बाङ्ला रूपों और मुहावरों का परित्याग नहीं किया और अठारहवीं के अन्त अथवा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इसे 'ब्रजबुली' कहा जाने लगा, मानो यह राधा-कृष्ण-आख्यान की जन्मभूमि ब्रज की भाषा हो। उड़ीसा में यह आयातित पदावली विशेष फलीभूत नहीं हुई, क्योंकि वहाँ व्यवहार में प्रगीत काव्य की कोई परम्परा न थी। असम में ब्रजबुली उतनी ही फली-फूली जितनी बंगाल में।

दण्डी और बाण के कारण क्लासिकी संस्कृत ने साहित्यिक गद्य को विशेष प्रोत्साहित नहीं किया। मध्य भारतीय आर्य भाषा में व्यावहारिक और प्रचलित गद्य लोक-कथाओं के संग्रहों में मिलता हैं। सौभाग्य से इनके लेखकों और संग्रह-कर्ताओं ने उच्च कोटि की साहित्यिक सिद्धि के लिए प्रयत्न नहीं किया। आरम्भिक नव्य भारतीय आर्य भाषा में साहित्यिक गद्य के विकास की सम्भावना कम थी, क्योंकि इस साहित्य का आरम्भ गीत और छन्द-रचना से हुआ और पूर्व आधुनिक युग के अन्तिम समय तक यही स्थिति बनी रही। फिर भी कतिपय आरम्भिक नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में व्यावहारिक, गद्य-रचना के कुछ फुटकर अनमने ढंग के प्रयास सुरक्षित हैं। निश्चय ही ये साहित्यिक गद्य के असली उदाहरण नहीं हैं; ये नौसिखियों के उपयोग के लिए काव्य-रूढ़ियों की पुस्तिकाएँ हैं। किन्तु इनमें से कुछ पुस्तिकाओं में और कुछ कविताओं में भी कभी-कभी ऐसी पदावली दिखाई पड़ जाती है, जो पद्य और गद्य की मध्यवर्तिनी है, सानुप्रासिक गद्य (जिसे राजस्थानी में और कभी बाङ्ला में भी 'वचनिका' कहा जाता है)। नव्य भारतीय आर्य भाषा में सानुप्रासिक गद्य का प्राचीनतम रूप कथा-वाचकों के उपयोग के लिए लिखी गयी ज्योतिरीश्वर की पुस्तिका में दिखाई पड़ता है। यह रचना संकर मैथिली गद्य में है। इस रचना में, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, आरम्भिक नव्य भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम और दीर्घतम नमूने दिखाई पड़ते हैं।

आशा की जाती थी कि बाङ्ला, जो नव्य भारतीय आर्य भाषा की सर्वाधिक विकसित भाषाओं में से है, अपने इतिहास के आरम्भ में ही गद्य-साहित्य का विकास कर लेगी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं, कुछ तो लोगों की पद्योन्मुखता के कारण और कुछ उसके ठेठ अपने छन्द के लोच और अभिव्यंजकता के कारण। गद्य-शैली की कोई आवश्यकता अनुभव ही नहीं की गयी, जबकि कृष्णदास के *चैतन्यचरितामृत*-जैसी दुर्बोध और कठिन रचना के लिए भी पयार पर्याप्त हो गया।

बाङ्ला की साहित्यिक गद्य-शैली को अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में यूरोप से नये विचारों और दृष्टिकोण के प्रकट होने की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

□

4

प्राचीन बाङ्ला-काव्य और रहस्यवाद

नव्य भारतीय आर्य भाषा की प्राचीनतम साहित्यिक रचनाओं का एकमात्र संगत और विपुल उदाहरण प्राचीन बाङ्ला में रचित 'चर्या गीतों' के रूप में मिलता है। इनके रचना-काल में प्राचीन बाङ्ला अपभ्रंश की पूर्व भाषा-अवस्था लौकिक (या अवहट्ट) से विकसित हो रही थी। गीतों की भाषा में स्वभावतः कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जो स्पष्टतः लौकिक हैं और साथ ही कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो पूर्वी और पश्चिमी नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की आरम्भिक अवस्था से समानता रखती हैं। परन्तु उसके व्याकरण, मुहावरे और वाक्य-रचना पर असंदिग्ध रूप से बाङ्ला की छाप है। इसके अतिरिक्त इन गीतों के कथ्य से भी इस बात का संकेत मिलता है कि इनके कवि बंगाली जीवन और वातावरण से भली-भाँति परिचित थे। इन गीतों का रचना-काल निश्चित नहीं है। परन्तु इनका रचना-काल 1000 से 1200 के बीच रहा होगा। कवियों की निश्चित रूप से दो और सम्भावित रूप से चार पीढ़ियाँ रही होगीं। प्राचीन साहित्य में इन चर्या गीतों की समानता केवल दो गीतों के अंशों से की जा सकती है। एक में विष्णु के दशावतारों का यशोगान किया गया है और दूसरे का विषय कृष्णाख्यान है। इनकी रचना अंशतः पुरानी मराठी में और अंशतः पुरानी राजस्थानी-गुजराती में की गयी है। ये दोनों गीत जो हमें जयदेव के *गीत गोविन्द* के गीतों का स्मरण दिलाते हैं, 1130 ई. के एक संस्कृत-विश्वकोश में सम्मिलित हैं, जिसका संग्रह महाराष्ट्र के दूसरे चालुक्य वंश के राजा सोमेश्वर मुलोकमल्ल के अनुरोध पर किया गया।

संस्कृत की विस्तृत टीका के बीच इन रहस्य-गीतों के मूल पाठ की खोज नेपाल दरबार के पुस्तकालय में सुरक्षित एक पाण्डुलिपि में हरप्रसाद शास्त्री ने की है। टीका और गीत—दोनों का अनुवाद चौदहवीं शताब्दी में तिब्बती में किया गया था। तिब्बती अनुवाद में दो पूरे गीतों और एक गीत के कुछ अंश का पाठ सुरक्षित है, जो पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठों के खो जाने के कारण अनुपलब्ध हो गया था। नेपाल की पाण्डुलिपि में जिन पचास गीतों पर टीका की गयी है, उनमें से अड़तालीस मिलते हैं। मूल संग्रह में सम्भवतः पचास से अधिक गीत न रहे होंगे। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य चर्या गीत भी प्रचलित थे, क्योंकि टीका में कुछ अन्य चर्या गीतों से पंक्तियाँ

उद्धृत हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्धरण एक चतुष्क है, जिसकी रचना का श्रेय मीननाथ को दिया जाता है। कुछ ऐसे चर्या गीतों की खोज, जो विषय-वस्तु और पदावली दोनों दृष्टियों से परवर्ती रचनाएँ हैं, राहुल सांकृत्यायन ने की और उन्हें *दोहा-कोश* में प्रकाशित किया।

चर्या गीतों के रचना-विधान में जयदेव के आदर्श का अनुकरण है। राग का नाम सर्वत्र गीत के आरम्भ में और कवि का नाम अन्तिम द्विपदी में दिया गया है। दूसरी द्विपदी की आवृत्ति प्रायः टेक के रूप में की जाती है। गीतों में प्रायः दस पंक्तियॉ हैं, केवल तीन में चौदह पंक्तियाँ हैं। छन्द-योजना अक्षरोन्मुख मात्रिक है। छन्दों के केवल दो रूप मिलते हैं। अधिकांश गीतों की रचना आठ पर यति से पन्द्रह (सोलह) मात्राओं की पंक्तियों में हुई हे। यह योजना, जो लगभग हिन्दी-राजस्थानी-गुजराती की चौपाई के समान है, सरलता से पयार में रूपान्तरित हो गयी। जब मात्रिक इकाई का परिवर्तन पूर्णतः आन्तरिक इकाई मे हुआ तो पूर्ण विराम ने एक मात्रा या अन्तर को आत्मसात कर लिया। छन्द के दूसरे प्रकार में, बाद में जिसका विकास त्रिपदी (वाङ्ला का दूसरा निजी छन्द) में हुआ, आठवें और सोलहवें अक्षर पर यति के साथ पच्चीस (छब्बीस) मात्राओं की पंक्तियॉ होती हैं। विश्वास किया जाता हे कि चर्या गीतों की रचना नितान्त रूप से कुछ बौद्ध तान्त्रिको ने की थी। परन्तु पाठ से इस प्रकार के अनुमान का समर्थन नहीं होता। इन गीतो में केवल बौद्ध तान्त्रिको की ही नहीं, बल्कि कुछ अबौद्ध योगियों की रहस्यानुभूतियों का भी अन्तर्भाव मिलता हे। बंगाल में तन्त्र का प्रतिपादन मुख्य रूप से महायान-बौद्धों ने किया, पर केवल उन्हींने नहीं किया। इनके अतिरिक्त शैव तान्त्रिक भी थे और सम्भवतः वैष्णव तान्त्रिक भी। शेव तन्त्र की अनुगूँज दो अनाम गीतों में सुनाई पड़ती है जिनमे एक मे शबर युग्म के प्राणान्तक प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन किया गया है और सम्भवतः कान्ह के कुछ ऐसे गीतों में भी, जिनमें अपनी डोम प्रेमिका के प्रति उसका प्रेम व्यक्त हुआ है। तन्त्र और योग दोनों गुह्य साधनाओं पर आधारित रहस्यवादी सम्प्रदाय हैं, परन्तु दोनों में अन्तर है। तन्त्र में आत्मसंयम अनिवार्य नहीं है और स्त्रियों का सहवास वर्जित नहीं है। दूसरी ओर योग में परम संयम का आदेश दिया गया है और उसमें कठोर ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। लुइ, सरह, भुसुकु, दारिक, महिंडा, आजदेव और कामलि-जैसे कुछ कवियों के गीतों में निश्चित रूप से तन्त्र की उपेक्षा योग के विचारों और प्रक्रिया की गूँज सुनाई पड़ती है। बौद्ध मत की निश्चित छाप केवल कुछ संज्ञाओं और शब्दावली पर दिखाई पड़ती है। जैसे कान्ह के कुछ गीतों में 'दशबल', 'एवमकार', 'पंच तथागत', 'निर्वाण', 'जिन के नगर' आदि आये हैं, इसी प्रकार महिंडा के गीत में 'मार', एक अनाम गीत में 'हेरुक' और 'बुद्ध', चाटिल और कंकण के गीतों में 'बोधि' और जयनन्दी के गीत में 'तथता'। अनेक गीतों में आने वाला शब्द 'शून्य' कम-से-कम उस युग में केवल बौद्ध प्रयोग नहीं था। गीतों के रचयिताओं में से अनेक

असन्दिग्ध रूप से बौद्ध मत के दूसरे तन्त्र-सम्प्रदाय सहज यान के थे। उस समय पूर्वी भारत में यौगिक रहस्य-वाद का प्रचार था।

चर्या गीतों में से तीन किसी अज्ञातनामा लेखक के हैं : टीकाकार ने उन्हें 'वीणा' और 'शबर' की रचना कहा है और कम-से-कम चार ऐसे हैं, जिनकी रचना उल्लिखित गुरुओं द्वारा नहीं की गयी बल्कि वे उनके शिष्यों द्वारा लिखे गये हैं : दो में 'कुक्कुरी' का उल्लेख है और बाकी में 'ढेंढण' और 'चाटिल' का। गीतों की पुष्पिका[1] में सम्मानसूचक क्रिया के प्रयोग से यह माना जा सकता है कि तीन अतिरिक्त कविताओं का श्रेय उन कवियों के शिष्यों को दिया जा सकता है, जिनका उनमें उल्लेख हुआ है, जैसे बिरुआ और महिंदा का गीत, और सरह के गीतों में से एक। अगर हम 'वीणा', 'शबर', 'ढेंढण', 'चाटिल', 'बिरुआ' और 'महिंडा' आदि नामों को निकाल दें तो हमारे पास प्राचीन बाङ्ला के रहस्यवादी गीतकारों के चौदह व्यक्तिगत नाम बचे रहते हैं : लुइ, भुसुकु, कान्ह, कामलि, डोम्बी, शान्ति, सरह, आजदेव, दारिक, भादेया, ताड़क, कंकण, जयनन्दी और धाम। इनमें से कम-से-कम दो उपनाम प्रतीत होते हैं : ताड़क ('ताटंक'), बाजूबंद और कंकण (कंगन)। काव्यात्मक उपनाम 'कंकण' बाङ्ला की निजी विशेषता है। कंकण नाम के एक कवि द्वारा रचित संस्कृत के दो पद्य *सदुक्तिकर्णामृत* (1206) में मिलते हैं। मध्य वाङ्ला साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध कवियों में से एक कवि कंकण नाम से प्रसिद्ध था।

चार कवियों के अतिरिक्त शेष में से प्रत्येक ने केवल एक गीत की रचना की है, लुइ ने दो गीतों की रचना की है, सरह ने चार (या तीन), भुसुक ने आठ और कान्ह ने बारह। हरप्रसाद शास्त्री को दारिक द्वारा रचित एक और गीत नेपाल के एक बौद्ध भिक्षु से मिला है। सिद्धाचार्यों में कान्ह नाम के एकाधिक व्यक्ति थे। इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि कान्ह नाम से रचित बारह गीत कम-से-कम दो अलग-अलग व्यक्तियों की लेखनी से निःसृत हुए हों। विषय-वस्तु और भंगिमा दोनों दृष्टियों से स्पष्ट अन्तर इस सुझाव के लिए आधार प्रस्तुत करता है कि तीन गीत, जिनमें एक डोम-कन्या के प्रेम-सम्बन्ध का संकेत किया गया है, उसी व्यक्ति की लेखनी से निःसृत नहीं हुए जिसने शेष गीतों की रचना की है। तिब्बती परम्परा में कान्ह (या कृष्ण) नाम के अनेक व्यक्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इनमें से एक बिरुआ या बिरूप (कुरूप) नाम से ज्ञात था।

चर्या-कवियों में हमें गीतकारों की कम-से-कम दो पीढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। लुइ दारिक के गुरु थे। अपने एक गीत में कान्ह ने जालन्धरी का उल्लेख इस रूप में किया

1. पुष्पिका में सामान्य विन्यास इस प्रकार होता है 'क कहता है' (उदाहरणार्थ, लू भनइ, लुइ कहता है) सत्रहवीं शताब्दी से कवि के हस्ताक्षरयुक्त पुष्पिका द्विपदी को 'भणिता' कहा जाने लगा।

है मानो वे उसके गुरु हों। परवर्ती योगी-परम्परा में जालन्धरी का दूसरा नाम या उपनाम हाड़िपा ('श्रद्धेय भंगी') था। यदि ये जालन्धरी सरह की *शुद्धिवज्रप्रदीप* के टीकाकार रहे होंगे, तो हमें प्राचीन बाङ्ला के रहस्यवादी गीतों में कवियों की कम-से-कम तीन पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व मिलता है। कंकण का असली नाम सम्भवतः कोकदत्त था और तिब्बती-परम्परा के अनुसार वह कामलि का शिष्य या वंशज था। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि डोम्बी और नाड या नाड-डोम्बी एक ही व्यक्ति था। इसका एक गीत रहस्यवादी गीतों के मूल संग्रह में मिलता है, परन्तु टीकाकार से वह छूट गया है। कान्ह के शिष्य या वंशज एक कनिष्ठ सरह थे, जिन्होंने कान्ह के *दोहाकोश* पर टीका लिखी थी। वरिष्ठ सरह का उल्लेख तिब्बती-परम्परा में महान् शबर, एक सिद्ध योगी और महान् ब्राह्मण के रूप में किया गया है। रहस्यवादी गीतों के कुछ और लेखक भी थे जिनकी रचनाओं का अस्तित्व केवल तिब्बती अनुवादों में है। इनमें तीलो या कीलो (लुइ के शिष्य या वंशज), दीपंकर श्री ज्ञान, बैरागीनाथ और उनके शिष्य या वंशज स्थगन उल्लेखनीय हैं।

चर्याओं की नेपाली पाण्डुलिपि में अत्यन्त समृद्ध प्रतीत होने वाली साहित्य-सृष्टि का केवल एक अंश सुरक्षित है। कुछ ऐसे कवियों ने नेपाली पाण्डुलिपि में, जिनकी केवल एक-एक प्रतिनिधि रचना है, पर्याप्त संख्या में गणनीय गीतों और अथवा द्विपदियों की रचना की थी। यह बात निम्नलिखित शीर्षकों से समझी जा सकती है: सिद्ध योगी ('योगीश्वर') शान्ति की 'सहजगीति', आजदेव की 'काणेरी-गीतिका', बिरुआ की 'पद-चतुरशीति', भादेया की 'सहजानन्ददोहाकोश-गीतिका' आदि। हमारी जानकारी में चर्याओं पर लिखित टीका के रचयिता मुनिदत्त रहस्यवादी गीतों के एकमात्र टीकाकार न थे। अन्य टीकाएँ केवल तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं।

रहस्यवादी गीतों के लेखकों को सामान्यतः 'सिद्धाचार्य' कहा जाता था; क्योंकि वे आध्यात्मिक सिद्ध-पुरुष या शिक्षक ('आचार्य') थे और विश्वास किया जाता था कि उन्होंने चरम लक्ष्य ('सिद्धि') को सिद्ध कर लिया है। कुछ की ख्याति महान् योगियों ('महायोगी' 'योगीश्वर') के रूप में थी, अन्य लोगों को 'अवधूत' (शाब्दिक अर्थ, शुद्धिकृत, अर्थात् अज्ञान और मोह से प्रक्षालित) कहा जाता था।

सच तो यह है, कि चर्या गीतों को सही अर्थ में साहित्यिक रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। उनकी रचना सीमित श्रोता-समुदाय के लिए की गयी थी, जिसकी दिलचस्पी उनके रूप और पदावली में उतनी नहीं थी, जितनी उनके कथ्य में थी। इन गीतों का अर्थ हमेशा दोहरा होता है, आन्तरिक आशय बाह्यार्थ मे आवृत्त रहता है और इस द्व्यर्थकता को संधा वचन, अर्थात् कूट भाषा कहा जाता था। गीतों का बाह्यार्थ निश्चित रूप से साहित्यिक गन्ध लिये रहता है, क्योंकि उनमें किसी परम्परागत आदर्श का अनुसरण किया जाता है, परन्तु बाह्यार्थ का लक्ष्य केवल उस आन्तरिक अर्थ को आवृत्त करना होता है, जिसमें आत्म-सिद्धि की प्रक्रिया में सिद्धों की

रहस्य-साधना, अनुभव और संवेग का वर्णन होता है। बाह्यार्थ में सामान्य जीवन का दृश्य उसी प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे नाटकों के अभिनय में (कुछ योगी नाटक के अभिनेता भी थे) इसीलिए इन गीतों को 'चर्या' नाम से अभिहित किया गया है।

इन साधकों के अनुसार, मानव शरीर और मानस एक लघु ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं और बाह्य विश्व या ब्रह्माण्ड केवल इसका प्रतिरूप होता है। जब कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने में सफल हो जाता है, जब वह अपने श्वास को अवरुद्ध कर लेता है और जब अपने जैविक और मानसिक व्यापारों पर उसका पूर्ण अधिकार होता है और जब वह पूर्ण तटस्थता या सन्तुलन की आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त कर लेता है (जिसे पारिभाषिक शब्दावली में अन्तर्जात 'सहज' कहा जाता है) तब अपनी इच्छा-शक्ति का परित्याग करके वह वास्तव में अमर हो जाता है—इस अर्थ में कि उसके लिए जीवन और मृत्यु समान हो जाते हैं। सम्भवतः अपने किसी ऐसे समर्पित शिष्य को सम्बोधित करते हुए, जो गुरु के आसन्न मृत्यु होने पर विषादग्रस्त है, कान्ह ने एक गीत में कहा है :

> "तटस्थता की स्थिति में आत्मा शून्य में समा जाती है। इसलिए जो तत्त्व एक व्यक्तिगत इकाई का निर्माण करते हैं, उनके विलयन पर विषादग्रस्त नहीं होना चाहिए। कान्ह नहीं रहेंगे, तुम ऐसा कैसे कहते हो, जबकि वह चिर व्यक्त रहकर तीनों लोकों में क्रीड़ारत है? प्रतीतिमात्र के मिट जाने पर केवल मूर्ख दुःखी होता है। क्या भग्नोर्मियाँ कभी समुद्र को सुखा सकती हैं? जब तक लोग अज्ञान में रहते हैं तब तक वे सही ढंग से नहीं देख सकते, ठीक वैसे ही जैसे दूध में निहित घी दिखाई नहीं पड़ता। इस व्यक्त संसार में, वास्तव में न कोई आता है, न जाता है। योगी कान्ह इसी विचार से आनन्दलीन रहता है।"

इन गीतों के रचयिताओं ने एक साहित्यिक परम्परा का अनुसरण किया, वे प्राचीन और मध्य भारतीय आर्य भाषा से परिचित थे और उनमें से कुछ इन भाषाओं में अच्छी तरह लिख लेते थे। रहस्यवादी होने के कारण उनका मानस काव्य कल्पना में प्रवण था। इसलिए यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि उनके चर्या गीतों के, बाह्यार्थ में, कविता का अभाव नहीं मिलता। मेरा मतलब केवल अभिव्यक्ति या विचार से नहीं है। आज के सामान्य पाठक के लिए इन गीतों का वास्तविक आकर्षण मुसलमानी सम्पर्क से पहले की शताब्दियों में बंगाल के निवासियों के सामान्य ग्राम्य जीवन की नाना रूपात्मक झलकियों में निहित है। यह एक ऐसी झलक है जो हमें न तो समसामयिक साहित्य में अन्यत्र कहीं मिलती है और न ही परवर्ती शताब्दियों के साहित्य में विशेष मिलती है। चर्या गीतों के कवि अपने गीतों के वास्तविक अर्थ को एक ओर तो मात्र जिज्ञासु व्यक्तियों के कुतूहल से छिपाना चाहते थे और दूसरी ओर मात्र विद्वान् लोगों के संदेहवाद से। इसलिए उन्होंने अपने गुह्य विचारों और अनुभवों

को एक ओर तो निजी पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से और दूसरी ओर निम्न वर्ग के जीवन और अवांछनीय व्यवसायों से बिम्बों और रूपकों को ग्रहण करके छद्म रूप दिया। इनमें शराब बेचना, लकड़ी के पुल बनाना, द्यूत कर्म, जलदस्युता और डकैती, बटमारी, व्यभिचार, मल्लाही, बढ़ईगीरी, रुई धुनना आदि शामिल थे। कुछ अन्य दिलचस्प बिम्ब किसी अभागी युवा पत्नी की वेदना, शतरंज का खेल, विवाह की रस्म, संगीतात्मक प्रदर्शन, आग में जलता घर आदि हैं। कुछ गीतों में कूटपदों की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का बड़े उत्साह से पालन किया गया है। कुछ गीत विशुद्ध उपदेशात्मक या फिर दार्शनिक हैं। कान्ह के निम्नलिखित गीत में समसामयिक जीवन के अभद्र रूप का वर्णन किया गया है। एक डोम कन्या के साथ एक तान्त्रिक भिक्षु के अवैध सम्बन्ध का :

> "मैंने तीनों लोकों का अनायास उपभोग कर लिया है; अब मैं चरम सुख के नीड़ में विश्रामलीन हूँ। हे डोम कन्या, तुम्हारे नखरे कितने अद्भुत हैं। उच्चवर्गीय लोग एक ओर डाल दिए गये हैं, जबकि एक भिक्षुक केन्द्र में है। मेरी प्रिया तुमने सब गड़बड़ कर दिया : बिना किसी कारण के रस बिखर गया है। कुछ लोग तुम्हें कुरूप कहते हैं पर अनुभवी पुरुष तुमसे लिपट जाने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। कान्ह का कहना है : तुम पेशे से चाण्डाली हो, ए डोम कन्या ऐसी कोई व्यभिचारिणी स्त्री नहीं है जो तुमसे अधिक चतुर हो।"

निम्नलिखित गीत पहेलियों की शृंखला है। किसी अज्ञातनामा कवि ने, जो सम्भवतः सिद्ध का शिष्य रहा होगा, इसका श्रेय ढेंढण को दिया है ·

> "मेरी कुटिया सघन बस्ती के बीच है, पर पड़ोसी नही हैं। पतीली में चावल का एक कण भी नहीं बचा है, पर प्रेमी हमेशा (दरवाज़ा खटखटाते रहते है) जीवन का प्रवाह तेज़ी से बहता जाता है : पर क्या एक बार दुह लिया गया दूध वापस (गाय के) थनों में लौट सकता है? गाय बॉझ खड़ी है, पर एक बेल ब्याया हे और वह दिन में तीन बार बाल्टी भर दूध देता है। कौन समझता है कि इसमें आनन्द की अनुभूति है : जो चोर है वही जासूस है, (और) हर रोज़ एक गीदड़ शेर से लड़ता है। ढेंढण के इस गीत को विरले ही समझते हैं।"

चर्या-कवियों में सम्भवतः सबसे बड़े कवि लुइ के दो गीतों में से एक में सामान्य अनुभव की शब्दावली में, चरम आध्यात्मिक सत्य को अभिव्यक्त करने की असम्भाव्यता का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

> "न उसका अस्तित्व है, न अनस्तित्व है; ऐसे अनुभव से कोन आश्वस्त हो सकता है? लुइ कहते है : हे बालक सत्य दुर्ग्राह्य है; वह तीनों तत्त्वों में व्याप्त है पर उसका अता-पता अज्ञात है। वह रूप, रंग और आकार में अगोचर है : तब विभिन्न वेदों में वह कैसे वर्णित मिल सकता है? मैं क्या कह सकता

हूँ और मैं किसको आधिकारिक वक्तव्य दे सकता हूँ, जबकि पानी की सतह पर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की भाँति, वह न सत्य है और न असत्य। लुइ कहते हैं : मैं किसका चिन्तन करूँ? जिसमें मैं तन्मय हूँ, उसका कोई सूत्रगोचर नहीं है।"

कुछ कवियों और उनके पूर्ववर्तियों ने अवहट्ट की पुरानी साहित्यिक पदावली (पूर्व-भाषा) में गीत-रचना की। इन गीतों का उपयोग केवल तांत्रिक साधना के गुह्य कर्मकांड में किया जाता था और इन्हें 'वज्रगीति' कहा जाता था। वज्रगीति के पवित्र और गुह्य स्वरूप के कारण कवि का उल्लेख वर्जित था। परन्तु रागों का निर्देश किया गया है। जो थोड़े-से गीत हमें प्राप्त होते हैं वे सब वज्र के देवता हेरुक के प्रति उनकी प्रेमिका योगिनी के आह्वान-गीत हैं, जिनकी रचना अपने सोए हुए साथी को जगाने के लिए एक प्रेमिका की आवेशपूर्ण प्रार्थना के रूप में की गयी है। इनमें से दो-एक रहस्य-साधनापरक गीत उत्तप्त प्रेम-गीतियों के रूप में अत्यन्त प्रभावशाली हैं। निम्नांकित अनुवाद में इसका कुछ आभास मिल सकता है :

"जागो, हे मेरे दयालु स्वामी, मेरी विवशता को देखो। प्रेम का मधु समाधियोग में है। तुम शून्य प्रकृति से उसे खोज निकालो। तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। ओ, वज्र, उठो। शून्य के व्यामोह को दूर करो। शबरकन्या की लालसा को तृप्त होने दो। ओ प्रेम-क्रीड़ा के सिद्ध, अतिथियों को आमंत्रित करके तुम स्वयं क्यों निष्क्रिय बने रहते हो? मैं चांडाली हूँ और चतुर नहीं हूँ : तुम्हारे बिना मुझे राह नहीं मिलती। तुम इस जादुई सम्मोहन को तोड़ दो। मैं तुम्हारे हृदय को जानती हूँ। मैं एक नीचहृदया डोम-कन्या हूँ। सदयता का परित्याग न करो।"

तांत्रिक (और योगी) रहस्यवादियों की रचनाओं का तीसरा वर्ग उसी अवहट्ट भाषा में लिखा गया जिसमें वज्र गीतों की रचना हुई थी। ये नवदीक्षितों के लिए रचित उपदेशात्मक और निदेशात्मक द्विपदियाँ और चतुष्पदियाँ हैं। इन्हें दोहा और इनके संग्रह को *दोहा कोश* कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन छन्दों को दोहा कहा गया है, तथापि इनमें से अधिकांश का छन्द चौपाई है और शेष थोड़ी-सी रचनाएँ दोहा छन्द में हैं। केवल तीन सिद्धों—तीलो, सरह और कान्ह के दोहा संग्रह (दोहा कोश) हमें प्राप्त हुए हैं। इस वर्ग के अन्य सिद्ध जिनकी रचनाएँ केवल तिब्बती अनुवादों में मिलती हैं—लुइ, कंकण और रत्न (नृसिंह) हैं। दोहा-संग्रहों पर संस्कृत-टीकाएँ अद्वयवज्र (सरह के दोहों पर), अमिताभ (कान्ह के दोहों पर) और मोक्षकर गुप्त (तीलो के दोहों पर) ने लिखी हैं। जिन तीन कवियों के दोहा छन्द हमें उपलब्ध हैं उनमें सरह असन्दिग्ध रूप से सर्वश्रेष्ठ और सम्भवतः प्राचीनतम कवि हैं। नेपाल में 1101

ई. की एक पाण्डुलिपि में सरह का दिवाकरचन्द्र-कृत संग्रह प्राप्त होता है। इसमें प्रसंगवश सरह के संकेत-सूत्र मिलते हैं। कवि का अस्तित्व संग्रह से बहुत पहले रहा होगा, सम्भवतः एक शताब्दी या उससे भी कुछ अधिक, क्योंकि दिवाकरचन्द्र ने उल्लेख किया है कि सिद्ध के दोहा संग्रह का बहुलांश खो गया है।

इन दोहा छन्दों में कभी-कभी चर्या गीतों में मिलने वाले विचारों और अभिव्यंजनाओं की अनुगूँज सुनाई पड़ती है; और ये दिलचस्प हैं। निम्नलिखित चतुष्क विनोद के 'अनायास' स्पर्श से जीवन्त हो उठा है :

> "सफलता प्राप्त करो—यह सूत्र मेरा पहला पाठ था।[1] पर केवल दलिया खाते-खाते मैं वर्णमाला भूल गया। अब मैंने केवल एक अक्षर सीख लिया है; लेकिन बन्धु मैं उसका नाम नहीं जानता।"

चर्या गीतों की 'सांकेतिक' भाषा में जो आसानी से छिपाया जा सकता है वह दोनों के लिए उचित विषय नहीं हो सकता। सरह का कहना है :

> लक्षण, तत्त्व, शरीर, इन्द्रिय और उनके विषय, जल और अग्नि—इन सबकी परिचर्या मैं नये दोहा छन्दों में करता हूँ और कुछ छिपा नहीं रहता। विद्वज्जन, मुझे क्षमा करें। मैं छल नहीं कर रहा। पर मैने जो अत्यन्त रहस्यमय बातें अपने गुरु के मुख से सुनी हैं मैं उनका उल्लेख कैसे कर सकता हूँ? प्रेम-क्रीडा जो कमल और कुलिश के बीच व्यक्त होती है, इस ससार में ऐसा कौन है जो सम्मोहित नहीं हो जाता? ऐसा कौन है जो परितुष्ट अनुभव नही करता?

दोहा छन्दों में बहुत-कुछ ऐसा था जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और रहस्यवादी वर्गो में सामान्य विषय और सामान्य अभिव्यक्ति के रूप में बाद तक चलता रहा। शैव योगी रामसिंह के *पाहुड़ दोहा* और एक अज्ञात जैन योगी एवं नवदीक्षित के लिए पाठ के रूप में रचित दोहे *(सावयधम्म दोहा)* निश्चित रूप से सरह, कान्ह और तीलो के 'दोहाकोशों' के अवशेष हैं, पर इनमें से पहले विशुद्ध उपदेशात्मक हैं और इसलिए उनमें तांत्रिक सिद्धों के आत्मीय, साहित्यिक रस का अभाव है।

कुछ तांत्रिक रहस्यवादी कवियों को संस्कृत गद्य और पद्य पर अच्छा अधिकार था। उनकी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ अनिवार्यतः संस्कृत मे लिखी गयी हैं। उनके प्रवचन अवहट्ट छन्दों में व्यक्त किये गये है। किन्तु उनके आन्तरिक विचार और चिन्तन केवल देश भाषा में अभिव्यक्त किये गये।

केवल रहस्यवाद नहीं, बल्कि समग्र रूप से भारतीय धार्मिक विचार-धारा का बौद्ध तंत्रवाद के माध्यम से उल्लेखनीय विकास हुआ। विशुद्ध भक्ति-भावपूर्ण समर्पण

---

1 भारतीय बालक का प्रथम पाठ इस या इसी प्रकार के सूत्र की पुनरावृत्ति से होता है 'सिद्धिरस्तु' ('सफलता प्राप्त करो')।

की प्रवृत्ति और गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा, जो सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के वैष्णव आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ हैं, कुछ बौद्ध रहस्यवादियों की रचनाओं में पहले से ही मिलती हैं। बौद्ध तंत्रवाद के लोप के साथ चर्यागीतों के, रूप और विषय का विलोप नहीं हुआ। कुछ आवश्यक परिवर्तन के साथ वे एक बार सोलहवीं शताब्दी में प्रकट हुए और तदुपरान्त वैष्णव तांत्रिकों के, जिन्हें सामान्यतः बाउल (विक्षिप्त जन) कहा जाता है, 'रागात्मक' (आध्यात्मिक प्रेम से सम्बद्ध) गीतों में। परन्तु रहस्यवादी कविता को 'उच्च कोटि' के साहित्य की परिधि के बाहर माना जाता था।

□

5

अँधेरी सदियाँ और साम्प्रदायिक विषयों का उदय

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में तुर्की आक्रमण से बंगाल को एक गहरा धक्का लगा—उस बंगाल को, जिसने पाल, चन्द्र, वर्मन, सेन और अन्य शासकों के राज्य-काल में एक विलक्षण सांस्कृतिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थीं। विशेषकर साहित्य और संगीत में बंगाल की उपलब्धियाँ अत्यन्त विख्यात थी। मूर्तिकला और लघु चित्रों में उसका योगदान सर्वथा नगण्य था। बंगाल ने मन्दिरों की वास्तुकला की एक निजी शैली विकसित की थी। साहित्य की ही भाँति, धार्मिक और सामाजिक चिन्तन में बंगाल अग्रणी रहा : तांत्रिक रहस्यवाद की बंगाली शाखा उस भक्ति-आन्दोलन की अग्रदूत थी, जिसने पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों में सामान्य जनता को आध्यात्मिक और सामाजिक मुक्ति का मार्ग दिखाया। यह सही है कि कुछ वर्षों या दशाब्दों तक सम्पूर्ण बंगाल तुर्की आक्रांताओं के हाथ नहीं पड़ा। एक शताब्दी या उससे कुछ अधिक समय तक पूर्वी बंगाल और उत्तरी और पश्चिमी बंगाल के कुछ हिस्से स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतन्त्र बने रहे। परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग, जिन्हें ज्ञान और संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र कहा जा सकता है, इस आक्रमण के तत्काल शिकार हो गये। नालन्दा, विक्रमशिला (धर्मपाल द्वारा स्थापित) ताड़ीबाड़ी, जगद्दल (रामपाल द्वारा स्थापित), पाण्डुभूमि (पाण्डुदास द्वारा स्थापित) आदि महान् विश्वविद्यालयों एवं अन्य स्थानों और विहारों के पतन से दक्षिणी बिहार और पश्चिमी बंगाल में उच्चतर शिक्षा और उन्नत चिन्तन का समापन हो गया। ब्राह्मण पंडित सामान्यतः स्वयं बौद्ध 'महाविहारों' की तरह मठों में नहीं रहते थे, परन्तु उनका हश्र भी बहुत भिन्न नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें संरक्षण देने वाले धनी आश्रयदाता भी नहीं बचे थे। देश के क्रमशः पतन के साथ बहुत-से बचे हुए बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों में से, जिनके लिए सम्भव हो सका वे नेपाल, तिरहुत (जिसने चौदहवीं शताब्दी में प्रथम चतुर्थांश के अन्त तक अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखा) या पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी बंगाल के सरहदी इलाकों में चले गये। नेपाल और उत्तरी बिहार ने, और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी बिहार के पतन के बाद नेपाल ने अकेले बंगाल और बिहार से आने वाले पंडितों और

कवियों का स्वागत-सत्कार किया। ये लोग अपने साथ अपनी वह बहुमूल्य सामग्री, जो वे बचा सके थे, ले गये; इस सामग्री में वे पाण्डुलिपियाँ भी शामिल थीं, जिन्हें उन्होंने जैसे-तैसे बचाया था।

आक्रमणकारियों ने नृशंसतापूर्वक नगरों को लूटा; मन्दिरों, मठों, भक्ति और शिक्षा-केन्द्रों को क़िले और महल समझकर उनका ध्वंस किया। परिणाम यह हुआ कि बंगाल में बौद्धिक कार्य-कलाप लगभग दो शताब्दियों के लिए विनष्ट हो गया और इस प्रकार प्रदेश के साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास में पूर्णतः सन्नाटा व्याप गया। बाङ्ला में साहित्यिक रचना की एक भी ऐसी पंक्ति नहीं है, जिसे निश्चयपूर्वक आरम्भिक मुसलमानी शासन के इस अन्धकार-युग अर्थात् तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी से जोड़ा जा सके।

परन्तु जब बंगाल ने दिल्ली से अपने प्रशासनिक सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया और एक बार फिर वह एक स्वतन्त्र राज्य हो गया, तो उस भूमि के निवासियों को कुछ ऐसा लगा जैसे साहित्यिक और अन्य बौद्धिक क्रिया-कलापों के लिए समुचित वातावरण मिल गया हो। गौड़ के मुस्लिम दरबार में पाल और सेन दरबार की कुछ पुरानी परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया गया। हिन्दू काल की उस अफ़सरशाही ने, जो इस आक्रमण से बच रही थी, भले ही साधारण ढंग से, किन्तु निजी छाया दरबारों को बनाए रखने का अथक प्रयास किया। इन दरबारों के साथ सम्बद्ध सभी कवि और चारण संस्कृत के विद्वान् थे, क्योंकि भद्र समाज में अब तक भाषा की स्थिति सम्मानजनक नहीं थी। जब किसी प्रभावशाली हिन्दू को सुलतान के दरवार में कोई सम्मानित ओहदा मिल जाता था तो वह स्वभावतः अपने आश्रितों के लिए सरकारी मान्यता प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल में एक बार फिर धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से सांस्कृतिक और साहित्यिक क्रिया-कलाप ने अपनी जगह बनानी शुरू की। इस बात में सन्देह है कि इस प्रकार की सक्रियता कब तक प्रभावशाली बनी रहती, यदि कुछ समय के लिए हिन्दू राजा कंस (गणेश)–दनुजमर्दन और उसके पुत्र महेन्द्र–जलालुद्दीन ने राजगद्दी पर अधिकार करके सुलतान के दरबार के वातावरण को अनुकूल न बना दिया होता। परवर्ती सुलतानों के राज्य-काल में दरबार का प्रधान रूप से हिन्दू (और बंगाली) रंग और लहजा एकदम लुप्त नहीं हुआ था। ये सुलतान शासक जितने अपने हिन्दू मन्त्रियों और अफ़सरों की प्रेरणा से पंडितों और कवियों से प्रसन्न रहते थे, उतने ही अपनी इच्छा से। बाङ्ला के प्राचीनतम समाख्यान-काव्यों में से एक के रचयिता ने सुलतान रुकनुद्दीन बारबक शाह के संरक्षण को स्वीकार किया है। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से प्रशासन के कुछ दूरवर्ती केन्द्रों ने और कुछ स्वतन्त्र एवं अर्धस्वतन्त्र राज्यों ने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्रिया-कलाप में गौड़ दरबार का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। किन्तु चैतन्य के प्रकट होते ही साहित्यिक उच्छलता का मूल स्रोत तत्काल सरकारी और अभिजात संरक्षण से व्यक्तिगत प्रेरणा में स्थानान्तरित हो गया।

सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं की तरह, तुर्की आक्रमण और बंगाल पर मुस्लिम आधिपत्य का पर्याप्त दुष्प्रभाव पड़ा। अन्धविश्वास और पतनशील रीति-रिवाज धीरे-धीरे उच्च और निम्न दोनों वर्गो के लोगों के उत्साह को बाधित कर रहे थे। जब युद्ध अपरिहार्य हो जाता था तो सेनानायकों के स्थान पर ज्योतिषियों की सहायता ली जाती थी। आर्थिक और सामाजिक दोनों कारणों से उच्च और निम्न वर्ग के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। मुस्लिम प्रभाव से शासक वर्ग की आत्मकेन्द्रित वृत्ति को और मठाधीशों की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा। सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण की व्यवस्था बिखर गयी तथा उस 'मलबे' से एक नयी बंगाली जनता का उदय हुआ। बंगाल का यह पुनरुज्जीवन अपनी शक्ति और सीमा, दोनों के साथ, चैतन्य में मूर्तिमान हुआ है।

संस्कृत में रचना करने वाले पण्डित और कवि एकदम चुप हो गये पर रहस्यवादी सम्प्रदायों के गायक और लोक-प्रचलित देवताओं के चारण, जिनका विशेष महत्त्व नहीं था, रचना करते रहे। इन उपेक्षित ग्रामीण कवियों और गायकों के क्रिया-कलाप, जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं, उस समय अभिव्यक्त नहीं हुए, परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में वे कलात्मक रूप में जैसे धरती के भीतर से प्रकट हो गये। मध्य-बाङ्ला के इन समाख्यानो और गीति-काव्य के रूप एवं विषय दोनों में शताब्दियों तक निर्बाध साधना की सम्भावना दिखाई पड़ती है। पूर्ववर्ती प्रयासों की रक्षा एकाधिक कारणों से नहीं की गयी। लगभग एकान्ततः 'धार्मिक' काव्य होने के कारण इनका गान और पाठ प्रायः कर्मकाण्ड के अग के रूप में किया जाता था और ये बहुधा 'आशु' रचनाएँ होती थीं; इनको स्थायी रूप तभी दिया गया जब ये धार्मिक क्रियाएँ व्यापक रूप से स्वीकार कर ली गयीं और जब इन्होंने उच्च समाज में अपना स्थान बना लिया और ब्राह्मणों द्वारा भी ये स्वीकार कर ली गयीं। कवि के कलात्मक प्रयासों की अभिव्यक्ति में धनी व्यक्तियों का संरक्षण आर्थिक दृष्टि सें सहायक हुआ। कुछ स्थितियों में ऐसी पूर्ववर्ती रचनाएँ, जो प्रायोगिक और अपूर्ण रूप में थीं, बाद के किसी बेहतर लेखक की श्रेष्ठ कृति में आत्मसात कर ली गयीं या उससे आवृत हो गयीं।

बंगाल के साहित्यिक इतिहास का जो लम्बा दौर एकदम शून्य है, उसमें ऐसी देशज पुराकथाएँ और आख्यान जो सीधे या घूम-फिरकर प्राचीन और मध्य भारतीय आर्यों से विरासत में आयी थीं और जिन्हें विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक समुदायों से ग्रहण किया गया था, लोकप्रिय देवताओं और अर्ध-पौराणिक चरित्रों के इर्द-गिर्द और निश्चित रूप ग्रहण करने लगीं। सृष्टि-रचना की एक नयी कथा का विकास किया गया, जो संस्कृत परम्परा से भिन्न थी किन्तु *ऋग्वेद* (10.129) की सृष्टि-रचना-सम्बन्धी ऋचा से जिसका निश्चित सम्बन्ध है; साथ ही सृष्टि की

पोलिनीशियन कथा भी संस्कृत पुराणों की ही तरह लोकप्रिय देवी-देवताओं (जैसे मनसा, चण्डी और धर्म आदि) पर लिखे गये मध्य बाङ्ला के आख्यान-काव्य निरपवाद रूप से सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध सृष्टि-रचना के वर्णन से आरम्भ होते हैं। कृष्ण-कथा पर लिखे काव्य या फिर *रामायण* और *महाभारत* की कहानियों पर आधारित काव्यों में इस सृष्टि-विज्ञान का संकेत भी नहीं किया गया है। संक्षेप में वह कथा इस प्रकार है--

विश्व के सृजन से पहले केवल अन्धकारग्रस्त शून्य का अस्तित्व था। सृष्टि का पहला स्पन्दन शून्य में बुदबुद के रूप में प्रकट हुआ और उसने क्रमशः अण्डे का रूप ग्रहण कर लिया जिसमें से धर्म प्रकट हुआ--निराकार, निष्कलंक आदि देव ('अनाद्य देव')। अण्डे के उस खण्डित कोष में सर्वत्र जल था, जिससे विश्व का निर्माण हुआ और धर्म उसमें निस्संबल तिरने लगा। तदुपरान्त उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ा (एक अन्य व्याख्या के अनुसार जम्हाई ली) जो उल्लू (सलेटी कौए) को खींच लाया। पक्षी पर सवार होकर धर्म कल्पों के लिए भटकने लगा परन्तु कल्प की गति में विराम नहीं आ सका। आख़िर उसने अपने शरीर से थोड़ी-सी रज उतारकर पानी में डाल दी, रज के इस अंश से त्रिकोण धरती का निर्माण हुआ। निरन्तर उड़ते-उड़ते थककर धर्म विश्राम के लिए पृथ्वी पर उतरा। उसके स्वेद की एक बूँद से (या उसकी एक पसली से) उसकी पत्नी ('आद्या देवी') केतका प्रकट हुई।

धर्म ने तिकोनी पृथ्वी के एक कोने के मध्य में बल्लुका नदी की सृष्टि की और उसके किनारे पर एक कदली वृक्ष उग आया। केतक़ा को अकेली छोड़कर धर्म नदी तट पर बहुत दूर तप के लिए निकल गया। उल्लू ने उसका पीछा किया और कदली वृक्ष की टहनी पर बैठकर पहरा देने लगा। उधर केतका को अपने सहचर की अनुपस्थिति अत्यधिक खल रही थी। उसके आवेशमय विचार 'काम' के रूप में प्रकट हुए। उसने काम को धर्म को लौटा लाने के लिए नदी तट पर भेजा। काम के निकट पहुँचने से धर्म की मनःशान्ति में विघ्न हुआ और उसका तेज स्खलित हो गया। उलूक ने उसे एक मिट्टी के पात्र में एकत्र कर लिया और केतका के पास उसे अत्यन्त सांघातिक विष कहकर सावधानीपूर्वक सुरक्षा के लिए छोड़ दिया। धर्म की निरन्तर उदासीनता ने केतका को पात्रगत विष को निगलकर आत्महत्या के लिए प्रेरित किया। किन्तु उसका परिणाम हुआ मृत्यु के स्थान पर गर्भ-धारण। यथोचित समय पर उसने तीन पुत्रों, अर्थात् तीन मुख्य देवताओं ('आदि देव') ब्रह्मा, विष्णु और शिव को जन्म दिया। ब्रह्मा उसके मुख से निःसृत हुए, विष्णु ललाट से, और शिव का जन्म स्वाभाविक रूप में हुआ। पिता को न पाकर, उन्होंने माँ से उनका अता-पता पूछा। केतका ने उन्हें बल्लुका की ओर प्रेषित कर दिया। तीनों भाई अपने पिता की खोज में वहाँ पहुँचे, किन्तु धर्म ने अपने पुत्रों के सामने आत्मज्ञापन नहीं किया और जब तीनों भाई वहाँ पहुँचे तो वह अन्तर्धान हो गया। पिता को वहाँ न पाकर वे तीनों नदी

के तट पर तप करने लगे। कुछ समय के उपरान्त धर्म में अपने पुत्रों की परीक्षा लेने की इच्छा हुई। वह नदी में एक सड़े हुए शव के रूप में उनके पास बहता हुआ पहुँचा। वह पहले उस स्थान पर आया जहाँ ब्रह्मा स्थित था। दुर्गन्ध से क्षुब्ध होकर ब्रह्मा ने उसे परे धकेल दिया तब वह विष्णु के पास पहुँचा और उसने भी ऐसा ही किया। जब वह शव बहता हुआ शिव के पास पहुँचा उसे पहले ज्ञात हो चुका था कि वह शरीर उनके पिता का है लेकिन उसके भाइयों को तब तक इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, जब तक उलूक ने उन्हें ज्ञान नहीं दिया। उन्होंने पक्षी को एक ऐसा पवित्र स्थल ढूँढ़ने के लिए भेजा जहाँ शरीर का दाह-संस्कार किया जा सके। पक्षी ने लौटकर सूचना दी कि ऐसा एकमात्र स्थल जहाँ अब तक कुछ भी नहीं जलाया गया है, दक्षिणी समुद्र तट पर एक बहुत छोटा-सा टुकड़ा है, परन्तु वह कलियुग में धर्म के अवतार के लिए आरक्षित है। पक्षी के परामर्श पर धर्म के शव का दाह-संस्कार शिव की गोद में किया गया, विष्णु ने ईधन की व्यवस्था की और ब्रह्मा ने अग्नि प्रज्वलित की। जब धर्म के शरीर का दाह हो रहा था तो पुत्रों ने पिता की वाणी सुनी। उन्होंने उनमें से किसी एक को केतका से विवाह करने का आदेश दिया। ब्रह्मा और विष्णु अपनी माँ से विवाह करने को तैयार नहीं थे, परन्तु शिव के लिए अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन सम्भव न था। उन्होने केतका से तभी विवाह किया जब मृत्यु के उपरान्त चण्डी[1] के रूप में उसका पुनर्जन्म हुआ। तदुपरान्त देवता नश्वर और अलौकिक संसार के सृजन में संलग्न हो गये।

इस 'विधा' की सभी रचनाओ मे कथा का इतना अंश समान है। इसके उपरान्त कथा में कई गौण उत्तर कथाएँ है (1) नाथ सम्प्रदाय के आख्यान, (2) मनसा के आख्यान और (3) धर्म की उपासना के आख्यान। 'नाथ सम्प्रदाय' का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि लगभग सभी गुरुओ के नाम का अन्त 'नाथ' शब्द से होता है। यह एक रहस्य-योग का सम्प्रदाय है, जिसका आधार कठोर ब्रह्मचर्य, एकान्त आत्म-निग्रह और जैवी, मानसिक एवं संवेगात्मक क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण है। अपने मूल रूप में यह आरम्भिक बौद्ध धर्म की भाँति अनीश्वरवादी था, परन्तु यह क्रमशः शैव तपश्चर्या और तांत्रिक योग के प्रभाव में आ गया। मूल कथा के अनुसार, गोरखनाथ पहले नाथ गुरु प्रतीत होते हैं और उनके गुरु मीननाथ का सम्बन्ध मूलतः एक अन्य परम्परा से था। इन दोनों की चर्चा एक साथ ही कथा में उसके बाद की गयी जब शिव की उपासना का प्रभाव नाथ सम्प्रदाय में प्रवेश कर गया। तांत्रिक योग के गुप्त प्रवेश के कारण जालन्धरी, कान्ह और कुछ अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों को सम्प्रदाय के आरम्भिक ग्रहण के लिए गुरुओं के रूप में स्वीकार किया गया। बंगाल

---

1 एक अन्य मतानुसार केतका सती हो गयी और शिव ने उसकी अस्थियाँ एकत्रित कर उन्हे कण्ठी के रूप में धारण किया।

में नाथ सम्प्रदाय का पहला उल्लेख चौदहवीं शताब्दी में मिलता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी भारत और बंगाल में इसका उद्भव बहुत पहले हो चुका था। परन्तु उसके आख्यानों और मिथकों ने अँधेरी शताब्दियों में ही निश्चित रूप ग्रहण किया। बंगाल से इस सम्प्रदाय और इसके आख्यानों का प्रसार सभी दिशाओं में हुआ। कनफटे योगी सारे भारत में ज्ञात हैं—पंजाब में, राजपूताना में, महाराष्ट्र में और अन्यत्र भी। अ-बंगाली योगियों के परम्परागत काव्य में उनके बाङ्ला मूल के पर्याप्त भाषावैज्ञानिक संकेत वर्तमान हैं।

गोरखनाथ के नाम का उल्लेख बौद्ध और अबौद्ध तांत्रिक परम्परा में नहीं मिलता। सबसे पहले यह नाम ज्योतिरीश्वर के *वर्णरत्नाकर* में चौंसठ सिद्धों की सूची में आता है। यह सम्भव है कि गोरखनाथ के पन्थ का मूल स्रोत हिमालय की तराई के निवासियों में रहा हो, जातीय नाम गोरखा भी इसी ओर संकेत करता है। गोरखनाथ की ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता किन्तु रहस्यवादी बौद्ध किन्हीं मीननाथ को जानते थे। एक चर्या गीत की व्याख्या में मुनिदत्त ने मीननाथ की रचना से एक बाङ्ला चतुष्पदी उद्धृत की है, जिसका अनुवाद इस प्रकार है :

> "गुरु परमार्थ का मार्ग दिखाता है, अर्थात् वह कर्मरूपी कुरंग पर समाधि कपाट लगा देता है। घोंघा कमल-कली के खिलने की घोषणा नहीं करता, परन्तु भौंरा कमल रस के पान में संकोच नहीं करता।"

गोरख-मीन कथा से सम्बद्ध प्राचीनतम ज्ञात कृति विद्यापति द्वारा रचित एक संक्षिप्त संगीत-नाटक *(गोरक्षविजय)* है। इसकी रचना 1403 ई. के लगभग संस्कृत और देशभाषा में हुई थी।

सिद्धों की परम्परा बौद्ध तांत्रिकों के बीच रूप ग्रहण कर रही थी। महाप्रभु (परस्वामिन) रत्न ने, जो राजपुत्र थे, और जिनका नाम नृसिंह था, एक योगिनी (डाकिनी) के अनुरोध पर पचास सिद्धों और पैंतीस ज्ञान—डाकिनियों के चमत्कारपूर्ण क्रिया-कलापों ('अवदान') का वर्णन करते हुए दो कृतियों की रचना की। इन रचनाओं का अनुवाद चौदहवीं शताब्दी या उससे भी पहले तिब्बती भाषा में हुआ था। यह माना जा सकता है कि इन रचनाओं में जालन्धरी, कान्ह, गामुर, चौरंगी एवं अन्य सिद्धों से सम्बद्ध आख्यानों के और 'ज्ञान-डाकिनी' माया-नामती की कथा के बीज मिलते हैं—वे कथाएँ जिनका आख्यान मध्य बाङ्ला के कतिपय नाटकीय और समाख्यान-काव्यों में हुआ है।

नाथ गुरुओं के उद्भव की कथा धर्म सम्प्रदाय के सृष्टि-कथा-वर्णन का ही विस्तार है। यह कथा एक तो मध्य बाङ्ला के उन काव्यों में मिलती है, जिनमें गोरखनाथ के माहात्म्य का वर्णन किया गया है और दूसरे उन आख्यानों में भी,

जिनका सम्बन्ध धर्म देवता की आराधना से है। नाथ-सिद्धों की कथा संक्षेप में इस प्रकार है–

धर्म (नाथ कथाओं के अनुसार 'आदिनाथ') के देह-दाह की भस्म से पाँच प्रमुख सिद्धों का जन्म हुआ–मीननाथ (जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ भी कहा जाता है, जिसका हिन्दी रूप मछिन्दर और बाङ्ला रूप मोचंदर है) नाभि से उत्पन्न हुए, ललाट से गोरखनाथ, कान से जालन्धरी (बाङ्ला में जिन्हें हाड़िपा भी कहते हैं, यह नाम ज्योतिरीश्वर की सिद्ध-सूची में भी मिलता है), अस्थियों से कान्ह (बाद में कान-पा) और पैरों से चौरंगी पैदा हुए। नामों की लौकिक व्युत्पत्ति पर आधारित ये स्रोत स्पष्ट है, बाद के हैं। हाड़िपा का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वह भंगी था। कान का यह रूप 'कर्ण' से नहीं बल्कि 'कृष्ण' से बना। चौरंगी का यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वे चार रंग ('चतुरंग') के वस्त्र से बनी पोशाक पहनते थे। 'चरण' अपने नाम के प्रथम दो अक्षरों की मद्धिम-सी अनुगूँज है। मीननाथ शिव के शिष्य हो गये, गोरख मीन के, और कान जालन्धरी के। शिव और चौरंगी के साथ जालन्धरी के सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इन पाँचों ने शिव का नेतृत्व स्वीकार किया, जो अकेले परम ज्ञान ('महाज्ञान') के अधिकारी थे। शिव की अर्द्धांगिनी चण्डी उनसे परम ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर थीं। परन्तु वे एक ऐसी स्त्री को यह ज्ञान देने के लिए तैयार न थे, जो उसे अपने तक गुप्त न रख सके। परम ज्ञान का अधिकारी अमर हो जाता है और यदि उसे सामान्य ज्ञान का विषय बना दिया जाए, तो संसार के सृजन का लक्ष्य ही विफल हो जाता है। परन्तु शिव अपनी पत्नी के निरन्तर आग्रह को बहुत समय तक झेल न सके। वे उन्हें समुद्र पर ऊँचे मंच या घाट पर ले गये ताकि कोई दूसरा न सुन सके। मीननाथ को इस बात की हवा लग गयी थी और वे पहले ही घाट के नीचे शिव के रहस्य को गुप्त रूप से ग्रहण करने के लिए छिपे बैठे थे। चण्डी द्वारा शिव को मोहित कर परम ज्ञान की उपलब्धि के अभिप्राय का बोध धर्म के सेवक उलूक को हो गया। उसने यह सूचना परब्रह्म को दे दी और उन्होंने देवी को निद्रालीन कर दिया–शिव का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया। वे लगातार बोलते रहे। उन्होंने किसी बात की ओर ध्यान नहीं दिया क्योंकि मीननाथ बीच-बीच में हुंकार भरते रहे। जब बात पूरी हो गयी तो चण्डी जाग उठी और उसने शिव से बात आरम्भ करने के लिए कहा। शिव जान गये कि उन्हें छलकर मीननाथ ने परम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उन्होंने मीननाथ को श्राप दिया कि वह चरम आवश्यकता के क्षणों में उसे भूल जायगा।

चण्डी को यह उचित नहीं लगता था कि शिव के अनुयायी सिद्ध लोग एकाकी रहें जबकि उनके गुरु विवाहित जीवन व्यतीत करते हों। परन्तु सिद्ध लोग उसकी बात पर ध्यान नहीं देते थे और वह उनमें काम-वासना जाग्रत करने के लिए नीचतापूर्ण चालों पर उतर आती थीं। गोरखनाथ के सिवाय सभी उसकी चालों से मात खा गये

और परिणामतः वे कम-से-कम अस्थायी रूप से, अपनी लालसाओं के अनुरूप जीवन बिताने के लिए दण्डित हुए। मीननाथ काम रूप में धूर्त स्त्रियों (कदली) के राज्य पर शासन करने के लिए गये। जालन्धरी ने पातिका की विधवा रानी मैनावती के अस्तबल में जमादार के रूप में नौकरी की। कान को दाहुका भेज दिया गया परन्तु वहाँ उस पर क्या बीती इसका कोई विवरण नहीं मिलता। पाँचवें सिद्ध को अपनी सौतेली माँ के साथ व्यभिचारपूर्ण जीवन बिताना पड़ा।

गोरखनाथ की प्रतिरोध शक्ति ने देवी को और अधिक घृणित प्रयास करने के लिए उत्तेजित किया। योगी गायकों के द्वारा इस प्रसंग में निश्चित रूप से नारी जाति की भर्त्सना करने का सचेष्ट प्रयत्न किया गया है। स्त्रियों को उन्होंने सदा नीच और कुत्सित उद्देश्यों से प्रेरित कहा है। चण्डी का अहं पराजित हुआ और शिव के यथासमय हस्तक्षेप से ही वे गोरखनाथ द्वारा दण्डित होने से बच सकीं। सिद्ध शिष्यों में से चार पहले ही अलग हो चुके थे। गोरखनाथ को लौकिक संसार में स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़कर शिव और चण्डी कैलास पर्वत पर चले गये। विजयनगर में एक 'बकुल' वृक्ष की छाया में उनका नियमित बसेरा था। एक दिन वहाँ कान से उनकी भेंट हुई। यह भेंट नितान्त शत्रुवत् थी, किन्तु इसका अन्त अपने-अपने गुरुओं के बारे में सूचनाएँ प्राप्त करने में हुआ। कान को ज्ञान हुआ कि उनके गुरु जालन्धरी को मैनामती के पुत्र गोविन्दचन्द्र (या गोपीचन्द्र) के आदेश पर जीवित दफ़ना दिया गया है। गोरख को सूचना मिली कि उनके गुरु मीन गृहस्थ-जीवन के सुख-दुःखों में डूबे रहने के उपरान्त अब मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं। गोरख ने तुरन्त स्त्रियों के उस राज्य की ओर प्रस्थान किया, जहाँ मीन एकमात्र पुरुष के रूप में रह रहे थे। योगी शिष्यों के द्वारा मीन के उद्धार का प्रयास किया जाएगा इस बात का पूर्वानुमान करके मीन की स्त्रियों ने किसी भी वयस्क पुरुष के प्रवेश पर कड़ी रोक लगा दी थी, योगी का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। गोरख एक 'नर्तकी' के छद्म वेष में सहज प्रवेश पा गये। यह सुनकर कि एक अजनबी नर्तकी का आगमन हुआ है, मीन ने उसे सामने लाए जाने का आग्रह किया। गोरख अपने गुरु की परिवर्तित स्थिति देखकर भौंचक्के रह गये। मीन परम ज्ञान को भूल चुके थे और विलासी जीवन जी रहे थे। उनका शरीर जर्जर हो चुका था और मानस अपंग; और उनका अन्त बहुत दूर नहीं प्रतीत होता था। गोरख को आशा थी कि उनके गुरु देखते ही उन्हें पहचान लेंगे और तब सब-कुछ सरल हो जाएगा। पर मीन ने उन्हें नर्तकी मानकर उनसे अपने कला-प्रदर्शन के लिए कहा। गोरख की स्थिति बड़ी विषम हो गयी। वे शिष्य के रूप में अपने गुरु को नाच-गाने के माध्यम से शिक्षा देने के लिए विवश थे। वे अपने वास्तविक रूप को प्रकट करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे, क्योंकि उसका अर्थ होता उनका तत्काल निष्कासन। उन्होंने प्रदर्शन आरम्भ किया। वे अपने गुरु को जगाने की और घुँघरुओं की झंकार और ढोल की थाप के द्वारा उन्हें परम ज्ञान का लाभ कराने का भरसक

प्रयत्न कर रहे थे। जब मीन की रुचि जाग्रत हो गयी तो गोरख ने आध्यात्मिक शिक्षा वाले इन कूट-पदों को गाना आरम्भ किया :

"सरोवर में एक बूँद भी जल नहीं है; तब वह तट का अतिक्रमण करके कैसे बह रहा है? घोंसले में कभी एक भी अण्डा नहीं था; तब वहाँ नन्हें शावक पंख कैसे फड़फड़ा रहे हैं? नगर में एक भी आदमी नहीं है, परन्तु वहाँ छप्परों की धका-पेल है। एक अन्धा आदमी दुकान चला रहा है और उसका ख़रीददार बहरा है। वर्षा रुक जाए और मछलियाँ तालाब के तल में पहुँच जाएँ। गहरे समुद्र को एक छोटी-सी डोंगी से पार करना है।"

इन पदों को सुनकर बिजली की कौंध की तरह मीन का परम ज्ञान लौट आया; शिष्य के द्वारा गुरु को पूर्ण प्रबोध हुआ।[1] स्त्रियों की मोहिनी तत्काल खण्डित हो गयी। गोरख विजयनगर में 'बकुल' वृक्ष के नीचे अपने निवास पर लौट आये और मीननाथ ने महानद जाकर एक विहार की स्थापना की।

इससे पहले कि हम गोरख से भेंट के बाद कान के क्रिया-कलाप से सम्बद्ध आख्यान का वर्णन करना आरम्भ करें, मैनावती की कथा कहना आवश्यक है। अपनी युवावस्था के आरम्भ में मैनामती की भेंट एक सिद्ध से हुई, जिससे उसे रहस्य तंत्र (या योग) की दीक्षा दी। कुछ विवरणों के अनुसार उसके गुरु का नाम मीननाथ था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यक्ति जालन्धरी के अतिरिक्त कोई और न था, जो शिव के द्वारा निकाले जाने पर मैनामती के पास आकर अस्तबल-जमादार के रूप में अज्ञातवास कर रहा था। मैनामती पाटिका के राजा मानिकचन्द्र की पत्नी थी। विवाह के बाद मैनामती ने अपने पति को तंत्र (या योग) मार्ग में दीक्षित करने का प्रयास किया। मानिकचन्द्र उसे ज्ञान-डाकिनी समझकर उसकी गुह्य शक्तियों से भयभीत हो गया। अपनी पत्नी की इच्छा के प्रति समर्पण करने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी। गोविन्दचन्द्र का जन्म पिता की मृत्यु के उपरान्त हुआ। यथासमय उसका विवाह दो अत्यन्त सुन्दर कन्याओं से हो गया और वह निर्बन्ध एवं विलासपूर्ण जीवन बिताने लगा।

मैनामती अपने पति की वंश-परम्परा के लिए चिन्तित थी। पर उसे ज्ञात था कि उसके पुत्र के भाग्य में सन्तान नहीं है। वंश की परम्परा बनाए रखने का एकमात्र उपाय यह था कि गोविन्दचन्द्र की आयु का अनियत विस्तार किया जाय। ऐसा केवल किसी सिद्ध योगी से दीक्षा लेकर, भिक्षुक के रूप में योग के व्यवहार से किया जा सकता था। उसने अपने पुत्र से जालन्धरी का शिष्य बनकर गृहस्थ-जीवन को कम-से-कम कुछ समय के लिए त्याग देने के लिए कहा। एक राजा का पुत्र और स्वयं राजा होकर एक नीच जन्मा ('हाड़ी') अस्तबल के जमादार के चरणों में झुकने के

1. यह आख्यान मीन-चेतन ('मीननाथ का जागरण') कहलाता है।

प्रस्ताव से गोविन्दचन्द्र हक्का-बक्का रह गया। उसने समझाया कि 'हाड़ी' शब्द का वास्तविक अर्थ है वह व्यक्ति जिसके शरीर में हड्डियाँ (हाड़) हों।

गोविन्दचन्द्र ने अनमने भाव से अपने को माँ की सेवा में समर्पित कर दिया। उसने जालन्धरी से दीक्षा ले ली, किन्तु सहज गृहस्थ-जीवन का उपभोग करता रहा। योग-मार्ग में इस नव-दीक्षित ने बहुत जल्दी उन रहस्य-शक्तियों का उपहास करना शुरू कर दिया जो उसे प्राप्त हो गयी थीं। गुरु को इस उपहास का ज्ञान हुआ, तो उन्होंने अपने शिष्य से शक्तियाँ वापस ले लीं। यह पत्नियों के सामने राजा का अपमान था। गुरु से अत्यन्त कुपित होकर उसने उसे ज़िन्दा गड़वा दिया। कान को अपने गुरु की इस विपत्ति का ज्ञान गोरख से हुआ। उसने तत्काल वाटिका को प्रस्थान किया और एक बाल-योगी के वेष में नगर में प्रवेश पा लिया। वह राजा के दरबार में पहुँचा और उसे अपनी गुह्य शक्तियों के प्रदर्शन से अभिभूत कर दिया। गोविन्दचन्द्र ने जालन्धरी की समाधि खोदने का आदेश दिया। समाधि से बाहर निकलकर गुरु ने राजा के साक्षात् दर्शन की इच्छा प्रकट की। कान के परामर्श पर गोविन्दचन्द्र की एक स्वर्ण-प्रतिमा (पश्चिमी भारत के एक विवरण के अनुसार, एक मटर पात्र में) सिद्ध के सामने रख दी गयी। जैसे ही उसकी दृष्टि प्रतिमा (या मटर के पात्र) पर पड़ी, वह जलकर भस्म हो गई। ऐसा दो बार होने पर, गुरु का क्रोध निःशेष हो गया। गोविन्दचन्द्र, अब दण्डित और विनत होकर, गुरु के आदेश के पालन के लिए पूरी तरह तत्पर थे। जालन्धरी ने अब उन्हें योग की पूरी दीक्षा दी। राजा ने राजकीय वस्त्रों को चीथड़ों में बदला, सिर मुँडा दिया, कानों में शंख के बाले और योगियों के शेष सब चिन्ह धारण कर लिए और भभूति रमाकर घर छोड़ दिया। उसके बाद गोविन्दचन्द्र के क्रिया-कलाप सामान्य लोक-गाथा-पद्धति के अनुसार वर्णित मिलते हैं, जिन्हें स्थानीय रुचि और लोक-प्रवृत्ति के अनुसार गढ़ लिया गया है।

मैनामती और गोविन्दचन्द्र की कथा की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के प्रयास किए गये हैं। लेकिन उपलब्ध सामग्री के आधार पर किसी ऐतिहासिक परिकल्पना को निर्मित करने की गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती। हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि प्राचीन पट्टीकेर या टिप्पेराह-स्थित आधुनिक मेहेरकुल में माणिकचन्द्र और गोविन्दचन्द्र जैसे राजा हुए थे। परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि आरम्भिक नेपाली परम्परा में तांत्रिक सिद्ध भुसुकु के आरम्भिक जीवन की कथा का विवरण जिस रूप में मिलता है, वह बहुत-कुछ हमारी कथा के आरम्भ के समान है। चौदहवीं या पन्द्रहवीं शताब्दी में नेपाल में लिखित एक छोटी-सी संस्कृत पोथी में वर्णित भुसुकु की कथा का आरम्भ इस प्रकार होता है :

भुसुकु, एक राजा मंजुवर्मन का पुत्र था। उसका वास्तविक नाम अचलसेन था। जब युवराज रूप में उसका अभिषेक किया जाने लगा, तो उसकी माता ने, जो एक वज्र डाकिनी थी, उस पर गरम पानी डाल दिया। युवराज पीड़ा से चिल्ला उठा और

उसने अपनी माँ से इस कर्म का कारण पूछा। माँ ने उत्तर दिया : "मेरे बेटे, तीन व्यक्ति कभी स्वर्ग के अधिकारी नहीं होते—राजा, चित्रकार और कवि; और अगर तुम्हें राजा बनना है, तो तुम्हें इससे कहीं बड़े कष्टों से गुज़रना होगा। बेहतर होगा कि तुम घर छोड़कर देव मंजुघोष को समर्पित विहार के स्वामी से जाकर दीक्षा ले लो।" युवराज ने अपनी माँ के परामर्श के अनुसार कार्य किया।

एक माँ के द्वारा अपने इकलौते बेटे को, जो एक राजा था, परिव्राजक भिक्षु का जीवन व्यतीत करने के लिए, घर से भेजने की यह कठोर और भव्य कथा स्वभावतः ऐसे लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय हो गयी, जिनका सम्पर्क रमते योगियों से हुआ और इस प्रकार यह कथा आर्य-भाषी भारत के कोने-कोने में फैल गयी। यह बात सोलहवीं शताब्दी से बहुत पहले की है, क्योंकि जायसी ने *पद्मावत* में इस कथा का उल्लेख किया है। तारकनाथ ने भी सिद्धों के वृत्तान्तों में इसका उल्लेख ही नहीं किया है बल्कि बाङ्ला मूल से दो वाक्य भी उद्धृत किए हैं। आरम्भिक सोलहवीं शताब्दी के एक कवि ने अपने वक्तव्य में पन्द्रहवीं शताब्दी के बंगाल में इसकी लोकप्रियता का कृपापूर्वक उल्लेख किया है। मैनावती-गोविन्दचन्द्र की कथा पर प्राचीनतम ज्ञात बाङ्ला रचना एक नाटक है, जिसकी रचना नेपाल में सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी। परन्तु बंगाल में रचित कविताओं का समय अठारहवीं शताब्दी का अन्त या उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ है।

नाथ योगियों और उनके साधारण शिष्यों को इसलिए अछूत समझा जाता था, क्योंकि वे परम्परागत ब्राह्मण-समाज के नियमों का पालन नहीं करते थे। परिणामस्वरूप उनके गीतों को उच्च वर्ग के लिए पर्याप्त सुरुचिपूर्ण नहीं समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य बाङ्ला के सशक्त कवि, देश के प्राचीन साहित्य के एक भव्यतम विषय को नहीं अपना सके। बहरहाल, यह कहा जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी के कवियों को चैतन्य के जीवन में इस कथा का एक अच्छा स्थानापन्न मिल गया।

नागों की रानी मनसा की कथा अपने मूल रूप में जटिल है। धर्म-सम्प्रदाय से सम्बद्ध सृष्टि की उत्पत्ति के आख्यान से इस कथा का सम्बन्ध-सूत्र अत्यंत क्षीण है। केतका मनसा का पर्याय है और मनसा नाम में शिव की कामेच्छा से उसकी उत्पत्ति का संकेत निहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः मनसा एक व्यभिचारिणी देवी होगी; शिव के साथ उसके व्यभिचार-सम्बन्ध का संकेत *मनसामंगल* काव्य में ही नहीं मिलता बल्कि अन्य मध्य बाङ्ला कविताओं में भी मिलता है। बेहुला की कथा में भी, जो *मनसामंगल* काव्य का अन्तिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आख्यान है, मनसा की विलासी प्रकृति को पूरी तरह धोया नहीं जा सका।

मनसा की कथा में उस पद्धति के स्पष्ट संकेत हैं, जिससे विभिन्न आख्यानों और मिथकों का संग्रथन किया गया है। इसके तीन भाग हैं : 1. देवी का जन्म, चण्डी

से उसका संघर्ष और समझौता तथा जरत्कारु से विवाह। 2. मनसा के द्वारा मानव-उपासना की खोज पहले चरवाहों पर, फिर एक मुसलमान किसान पर और फिर एक मछुए के परिवार पर दबाव और 3. अन्ततः व्यापारी राजकुमार चाँदो के द्वारा उसके देवत्व की पहचान। अन्तिम भाग में सबसे अधिक लोकप्रिय आख्यान है—बेहुला की कथा, जिसका स्वरूप अंशतः लोक-कथा से और अंशतः प्राचीन स्वदेशी पुराकथाओं से मिलाकर बनाया गया है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

मनसा का जन्म कमल-पत्र पर स्खलित शिव के वीर्य से हुआ (इसलिए उसका नाम पद्मा या पद्मावती पड़ा)। उसका पालन-पोषण नागदेव वासुकि की माँ ने किया, जिसकी प्रजा के लोग कुशल शिल्पी थे, (कारु, 'तक्षण' बाङ्ला निर्माणी)। 'नाग' लोग उसे अपनी रानी मानते थे और उनका विष-भंडार उसके अधीन रहता था। एक दिन जब वह जल-क्रीड़ा कर रही थी उसके पिता शिव ने उसे देखा और बिना जाने कि वह उनकी पुत्री है, उसके प्रति प्रेम-निवेदन कर दिया। उसने उन्हें अपना परिचय दिया और उनके साथ घर चलने की इच्छा प्रकट की। शिव उसे घर ले जाने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि वे जानते थे कि उनकी पत्नी चण्डी उसे पसन्द नहीं करेगी। किन्तु वे उसके अनुनय का विरोध न कर सके और उसे गुप्त रूप से घर ले आये। चण्डी को जल्दी ही उसका पता चल गया और उसे सपत्नी समझकर उसने उसके साथ झगड़ा करना आरम्भ कर दिया। झगड़े का अन्त हाथापाई में हुआ, जिसे परिणामस्वरूप मनसा की एक आँख जाती रही। शिव के यह वचन देने पर कि वे अपनी पुत्री को निर्वासित कर देंगे, गृह-कलह शान्त हुआ। शिव ने मनसा के साथ चलने के लिए कहा। उन्होंने घर छोड़ दिया और लम्बी यात्रा के उपरान्त वे एक वन में पहुँचे। वन के बीच में एक पहाड़ी थी, जिसकी चोटी पर एक छायादार पेड़ था। वहाँ पहुँचकर वे विश्राम के लिए बैठे। मनसा पृथ्वी पर लेटकर सो गयी। शिव इस अवसर का लाभ उठाकर वहाँ से खिसक गये। चलते समय उनके मन में उस कन्या को असहाय छोड़ने के कारण करुणा उमड़ आयी और आँसू की बूँद टपक गयी। उस बूँद से नेता (या नैत्रवती)[1] निकली। उन्होंने उसे मनसा की संरक्षिका और सलाहकार नियुक्त किया। फिर उन्होंने अपने स्वेद से घामाई का सृजन किया और उसे मनसा का पुरुष रक्षक नियुक्त किया। इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा का परितोष करके शिव घर लौट गये।

देवताओं के राज्य में एक कठिनाई पैदा हो गयी। देव गाय कपिला का नवजात वत्स, समय पर दूध न मिलने के कारण, बल्लुका सागर का पानी पी गया, जिससे देवताओं के पवित्र वर्ग को पानी दिया जाता था। शिव के परामर्श पर देवताओं ने कपिला का प्रसादन किया और उसने समुद्र-भर दूध दे दिया। परन्तु इतने से ही

---

1. इस मूल का आधार सम्भवतः लोक-व्युत्पत्ति है। नेता ब्राह्मण तांत्रिक उपदेवी नित्या का नाम था।

कठिनाई का अन्त नहीं हुआ। समुद्र पर उड़ते हुए एक तोते ने एक इमली गिरा दी, जो वह एक ऋषि के लिए ले जा रहा था। फल इतना खट्टा था कि बल्लुका सागर का दूध दही हो गया। देवगण फिर असमंजस में पड़ गये। दही फिर से दूध में पिघल जाए, इसके लिए उनके पास समुद्र-मन्थन के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। (कथा इस बिन्दु के बाद पौराणिक आख्यान के अनुसार चलती है)। समुद्र-मन्थन से निकलने वाली श्रेष्ठ वस्तुओं को विष्णु, इन्द्र एवं अन्य प्रमुख देवताओं ने ले लिया। जब शिव और असुर आये तो उनके लिए कुछ नहीं बचा था। उन्होंने पुनः मन्थन का आग्रह किया, जिससे केवल विष उफनकर आया और उससे विश्व के नाश की आशंका उत्पन्न हो गयी। देवताओं ने शिव से विषपान करके सृष्टि की रक्षा का अनुरोध किया। विष का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे मूर्च्छित होकर गिर गये। मनसा को अपने पिता को पुनर्जीवित करने के लिए बुलाया गया। उसने कार्य पूरा कर दिया और पुरस्कार के रूप में उसे देवसभा में स्थान दे दिया गया। परन्तु देवी के लिए भी विवाह अनिवार्य है। उसका विवाह जरत्कारु से कर दिया गया, जो उससे भयभीत होकर कुछ ही दिनों में भाग निकले। परन्तु इस बीच एक पुत्र का जन्म हुआ। इस पुत्र का नाम आस्तिक था। उसने जनमेजय को नागयज्ञ पूरा करने से किस प्रकार रोका, यह कथा *महाभारत* में वर्णित है। यहाँ इस आख्यान के प्रथम या पौराणिक अंश का अन्त होता है।

देवताओं का देवत्व मनुष्य के द्वारा उसकी स्वीकृति पर निर्भर करता है। कोई देवता तब तक देवता नहीं होता, जब तक मनुष्य द्वारा उसकी पूजा नहीं की जाती। अतः मनसा मानव-उपासकों को पाने के लिए आतुर थी। एक दिन नेता को साथ लेकर वह पृथ्वी पर उतर आयी और उसकी भेंट पशुओं के झुंड को चराते हुए कुछ चरवाहों से हुई। वह एक लड़खड़ाती हुई वृद्धा ब्राह्मणी के वेश में उने पास पहुँची और उनसे अपनी पूजा करने के लिए कहा। लड़कों ने उसे दुष्ट डायन समझकर भगाने के लिए उस पर पत्थर फेंके। उन्हें सबक़ सिखाने के लिए मनसा ने उनके पशुओं को एक गहरे पोखर में गिरा दिया। पशुओं को गड्ढे से निकलने के लिए उन लड़कों को मनसा को तुष्ट करना पड़ा। मनसा ने पशुओं को बाहर निकाल दिया और पीने के लिए दूध माँगा। क्योंकि वहाँ कोई बर्तन नहीं था। इसलिए मनसा ने उन्हें दूध दुहने के लिए अपने हाथ की टोकरी दे दी। लड़कों के मुखिया ने टोकरी ले ली और ऐसी गाय को दुहा जिसने बहुत पहले से दूध देना बन्द कर दिया था और उस पेय को मनसा को पीने के लिए दे दिया। देवी ने अपना सिर झुकाकर टोकरी से दूध पी लिया। चरवाहों को अब उसकी अलौकिक शक्ति में विश्वास हो गया। वे प्रति वर्ष ज्येष्ठ (मई-जून[1]) मास की शुक्ला दशमी को उसकी पूजा करने के लिए तैयार हो

1. विभिन्न रूपान्तरों में गर्मी के अलग-अलग महीनों का उल्लेख मिलता है।

गये। एक छोटे-से बर्तन में पानी भरकर उस पर सीज के पौधे की एक टहनी रखकर देवी का प्रतिनिधित्व करना तय हुआ। मनसा की पूजा से उनके यहाँ श्रीवृद्धि हुई।

किन्तु एक नयी देवी की उपासना के प्रति उनके उत्साह के कारण पड़ोस के एक मुसलमान किसान से इन चरवाहों का संघर्ष हुआ। मनसा ने यह अवसर नहीं छोड़ा और काफ़ी उठा-पटक के बाद अन्ततः उसे स्वीकार कर लिया गया। मुसलमान किसान हुसैन और उसका भाई हसन स्थायी रूप से मनसा की उपासना का प्रबन्ध करने के लिए राजी हो गये। उन्होंने देवी के लिए मन्दिर बनवाकर धर्मार्द में दे दिया। इसमें अगले साझीदार मछेरे भाई जालू और मालू हुए। उनके जाल में नदी तल से मनसा से सम्बद्ध दो पवित्र स्वर्ण पात्र आ गये और उन्होंने उन्हें अपनी माँ को दे दिया, जिसने उनकी उपासना की। मछुओं का परिवार खूब फला-फूला। कथा का दूसरा भाग यहाँ समाप्त होता है।

मनसा का अगला और अन्तिम लक्ष्य उच्चतर वर्ग से मान्यता प्राप्त करना था, विशेषकर मालदार व्यापारी वर्ग से। व्यापारियों का मुखिया चाँदो शिव का कट्टर भक्त था। उसे परम ज्ञान सिद्ध था और शिव ने उसे अपने सिर की एक उलझी लट और उत्तरीय से पुरस्कृत किया था। इन वस्तुओं पर अधिकार होने से चाँदो किसी भी देवता के लिए दुर्जेय प्रतिस्पर्धी था। मनसा की इच्छा थी कि चाँदो उसकी उपासना करे, लेकिन वह उससे प्रत्यक्ष प्रस्ताव नहीं कर सकती थी। चाँदो की पत्नी ने जालू-मालू की माँ ने मनसा की पात्रों की उपासना सीख ली थी। चाँदो को इसका ज्ञान नहीं था। परन्तु यह बात उसकी दृष्टि से बहुत दिन तक छिंपी न रह सकी। एक दिन उसने अपनी पत्नी को पवित्र पात्रों की पूजा करते देख लिया और क्रोध में उन पर लात मारी। मनसा इस बात पर नाराज़ हो गयी। उसने नाना प्रकार से चाँदो को हानि पहुँचाने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु इस प्रयास में उसे सफलता न मिली। तब नेता ने उसे परामर्श दिया कि वह किसी तरह उसे शिव से प्राप्त उपहारों और परम ज्ञान का अपहरण कर ले। इस परामर्श के अनुसार आचरण करते हुए, वह चाँदो के पास एक सुन्दरी युवती के वेश में पहुँची। उसने अपने को उसकी साली बताया और अन्ततः उसे भ्रष्ट करने में सफल हो गयी। धर्माचरण के मार्ग से भ्रष्ट होकर चाँदो न तो अपने अलौकिक उपहारों को बनाए रख सका और न परम ज्ञान को। मनसा के नागों ने तदुपरान्त व्यापारी राजकुमार के छः वयस्क पुत्रों की हत्या कर दी। फिर भी चाँदो मनसा को देवी मानने के लिए राज़ी नहीं हुआ। कुछ वर्षों में उसका सबसे छोटा पुत्र लखाई (या लखिन्दर) बड़ा हुआ। चाँदो ने उसके लिए एक अत्यन्त प्रवीण वधू खोजने के लिए कठिन प्रयास किया। यह कन्या बेहुला थी। वह एक बड़े व्यापारी की, जिसके बेहिसाब पुत्र थे, इकलौती पुत्री थी। चाँदो को ज्ञात था कि मनसा ने उसकी वंश-परम्परा को समाप्त कर देने का संकल्प किया है। अतः उसकी ओर से घातक आक्रमण के भय से उसने नवदम्पति की सुहागरात के लिए एक ऐसा

लौह-कक्ष बनवाया जिसमें वायु भी प्रवेश न कर सके। परन्तु मनसा ने उसके निमाता। को फुसला लिया और उसने उनमें सुई के बराबर सुराख छोड़ दिया। इस सूक्ष्म रूप के छिद्र के रास्ते मनसा के सूक्ष्मतम और सबसे अधिक घातक जीव ने कक्ष में प्रवेश किया और बेहुला के गर्भाधान का अवसर पाने से पहले ही लखाई को प्राणान्तक रूप से डस लिया। चाँदो की वंश-परम्परा के अन्तिम व्यक्ति, उसे सर्वाधिक प्रिय पुत्र की इस प्रकारण कारुणिक मृत्यु हो गयी। फिर भी चाँदो दृढ़ बना रहा। नाग के डसने की दुर्घटना से मरनेवाले व्यक्ति को नाग देवी का शिकार समझा जाता था। क्योंकि नाग-पूजा (जल-सम्प्रदाय) का अग्नि-सम्प्रदाय से विरोध था, अतः जिस व्यक्ति की मृत्यु नाग के डसने से होती थी, उसका दाह वर्जित था। ऐसे शव को नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था। शोकग्रस्त परिवार के मन में कहीं यह धुँधली आशा बनी रहती थी कि मृत व्यक्ति अकस्मात् सम्पर्क में आनेवाले—किसी दक्ष व्यक्ति की परिचर्या से अथवा किसी धार्मिक भिक्षुक की तांत्रिक शक्ति से, शायद किसी-न-किसी प्रकार पुनर्जीवित हो जाए। अतः लखाई के शव को एक काठ की पेटी में रखकर बल्लुका में प्रवाहित कर दिया गया। बेहुला अपने पति के शव को आँख से ओझल नहीं होने देना चाहती थी, अतः वह स्वयं भी उस पेटी में बैठ गयी। नदी के प्रवाह में उसे निरन्तर प्रलोभनों और कठिन शक्तियों का सामना करना पड़ा। अन्ततः पेटी त्रिवेणी पहुँच गयी। वहाँ किनारे लगकर उसने देखा कि एक धोबिन ने पहले अपने पुत्र को मारकर कपड़े धोए और फिर उसे जिलाकर वापस लौट गयी। यह स्त्री देवताओं की धोबिन[1] और मनसा की सखी नेता थी। जब वह दूसरे दिन फिर आयी तो बेहुला ने उससे मित्रता कर ली और उसे इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह उसे देवसभा में ले जाकर उसका परिचय अपनी ऐसी भतीजी के रूप में कराये जो एक अच्छी धोबिन भी है और कुशल 'नर्तकी' भी। बेहुला देव-सभा में पहुँची तो उसे नृत्य करने के लिए कहा गया। शिव और अन्य सभी देवता उसके प्रदर्शन से अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसने उन्हें अपनी दुखःभरी गाथा कह सुनाई। देवताओं के उत्साहपूर्ण अनुरोध पर और बेहुला के बार-बार वचन देने पर कि वह अपने श्वसुर से मनसा की उपासना कराएगी, देवी ने लखाई और उसके बहुत समय से मृत भाइयों को जिला दिया। वे घर लौट आये और चाँदो को समुचित विधि से मनसा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए अधिक बाध्य नहीं करना पड़ा।

धर्म देव[2] से संबद्ध आख्यान और कर्मकांड की कहानी अपने मूल रूप में जटिल है। इसमें वैदिक और पूर्व-वैदिक रीति-रिवाजों के साथ विविध अनार्य सम्प्रदायों और

---

1. मनसा की सखी के रूप में उसकी यह भूमिका सम्भवतः नाम की लोक-व्युत्पत्ति पर है (बाङ्ला शब्द 'नेता' जिसका अर्थ है, बढ़िया कपड़ा)।
2. धर्म देव है, राजा है। पुराणों में उसे धर्मराज कहा गया है। धर्म धर्मराज का ही संक्षिप्त रूप है।

मिथकों का विचित्र मिश्रण है। धर्म *ऋग्वेद*-विहित अन्ततः वरुण और अंशतः यम है;[1] वह आंशिक रूप से परवर्ती वेदों और ईरानी परम्परा का सूर्य देव भी है और आदि देव भी (जिसकी मृत्यु सृष्टि-रचना की प्रक्रिया आरम्भ करते ही हो गयी थी), जिसका सम्बन्ध किसी पूर्व-वैदिक लोक-कथा से है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि धर्म (और उसकी बहन एवं पत्नी केतका-मनसा, जो वैदिक यमी का ही प्रतिरूप है) किसी समय पूरे उत्तर-पूर्वी भारत में ग्राम-देवता के रूप में पूजे जाते थे।

आज भी बंगाल में धर्म की पूजा जिस रूप में की जाती है, उसमें वे सब रीति-रिवाज शामिल हैं जिनका सम्बन्ध समाज के सभी प्रमुख कार्य-कलापों से है। धान की खेती से औज़ार बनाने तक, और वेद-पाठ से लेकर पिशाच-नृत्य तक। इसमें मुस्लिम शासन से पूर्व राज दरबार के रीति-रिवाजों को भी बनाए रखा गया है। बौद्ध धर्म के किसी सम्प्रदाय से धर्म-पूजा का शायद ही कुछ सम्बध था, जैसाकि आरम्भ में हरप्रसाद शास्त्री ने सुझाया था और उनका यह मत निर्विवाद रूप से स्वीकार भी कर लिया गया था। शास्त्री जी का मत दो मान्यताओं पर आधारित था : 1. धर्म संज्ञा बौद्ध 'सद्धर्म' (सत्य धर्म) से ग्रहण की गयी है, और 2. कछुए की मूर्ति बौद्ध 'स्तूप' की प्रतिकृति है। ये दोनों मान्यताएँ अशुद्ध प्रमाणित हो चुकी हैं। धर्म का पूरा नाम धर्मराज है और ब्राह्मण तथा बौद्ध, दोनों परम्पराओं के अनुसार वह यम का नाम है।

मध्य बंगाल की वे कविताएँ, जिनमें धर्म-पूजा का उल्लेख मिलता है, दो प्रकार की हैं : एक पूजा से सम्बद्ध कर्मकाण्ड का वर्णन प्रस्तुत करने वाले प्रबन्ध हैं, जिनमें प्रासंगिक रूप से उसके मिथकीय इतिहास से सम्बद्ध परम्परागत कथाएँ भी दे दी गयी हैं, दूसरे में समाख्यानात्मक काव्य आते हैं, जिनमें धर्म के प्रिय एक पौराणिक वीर लाउसेन के साहसिक कृत्यों का वर्णन किया गया है।

आनुष्ठानिक प्रबन्ध (जिन्हें 'धर्म पुराण' या 'अनिल पुराण' या 'धर्ममंगल' तक कहा जाता है) सृष्टि-कथा से आरम्भ होते हैं, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। सृष्टि के आरम्भ की कथा से सम्बद्ध खंड को सामान्यतः 'शून्य-शास्त्र' या 'शून्य-पुराण' कहा गया है, क्योंकि उसमें 'शून्य' से विश्व की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे खंड में मानव-उपासकों की खोज में रत धर्म के क्रिया-कलापों का वर्णन है। उनका पहला अनुयायी सदा नाम का एक डोम था, जिसे धर्म के भोग के लिए अपने पुत्र की बलि देनी पड़ी थी (बाद में पुत्र को पुनर्जीवित कर दिया गया)। धर्म की पूजा करनेवाले अगले व्यक्ति राजा हरिश्चन्द्र[2] थे। उनका पुरोहित रामाइ-पण्डित था। तीसरे

1. इन दो देवताओं को विशेष रूप से 'राजा' कहा गया है।
2. हरिश्चन्द्र की कथा, *आत्रेय-ब्राह्मण* में हरिश्चन्द्र-शुनःशेप की कथा से बहुत मिलती है। इस बात में बहुत कम सन्देह है कि दोनों कथाओं का मूल स्रोत एक ही था।

खंड में रामाइ की कथा का वर्णन है। रामाइ एक ऐसे ब्राह्मण पंडित का पुत्र था, जिसे उसके सहयोगी पसन्द नहीं करते थे। पंडित की मृत्यु के बाद उसके सहयोगियों और पड़ोसियों ने रामाइ को बिरादरी से बाहर घोषित करके प्रतिशोध लिया। रामाइ को उसके सम्बन्धियों और दूसरे ब्राह्मणों ने दीक्षा देने से इनकार कर दिया। किन्तु धर्म ने उसे ताँबे का एक पवित्र बाजूबन्द प्रदान किया, जो जनेऊ से भी अधिक पवित्र था। फिर भी ब्राह्मणों ने उसे अपने समाज में स्वीकार नहीं किया। अपने आश्रित की उपेक्षा करने के दण्डस्वरूप धर्म ने विरोधी पक्ष के नेता मार्कण्डेय को कोढ़ी बना दिया। मार्कण्डेय को रामाइ के सामने झुकने के लिए बाध्य होना पड़ा और रामाइ को सूर्य-देव धर्म के सर्वोच्च पुरोहित का पद प्रदान किया गया। तीसरे और अन्तिम खंड में वे कविताएँ और छन्द सम्मिलित हैं, जिनका उपयोग धर्म की विस्तृत वार्षिक पूजा में किया जाता है। इन्हें गाजन (गर्जन 'चिल्लाना' से) कहा जाता है, क्योंकि सबसे पहली विधि ही धर्म से जागकर उनकी प्रार्थना सुनने की एक सघोष विनती[1] होती है। इस पूरे अनुष्ठान को 'बारमोटी' (द्वारमौक्तिक से द्वार खोलना) कहा जाता था, मानों धर्म एक राजा के सदृश द्वार खोलकर इन प्रार्थियों को अपने सम्मुख उपस्थित होने देगा। यहाँ 'बार' शब्द के दूसरे अर्थ की भी अनुगूँज है। धर्म-पूजा में 'बारह' की संख्या का विशेष महत्त्व है : सूर्यदेवता (आदित्य) संख्या में बारह हैं।

लाउसेन के कारनामों का वर्णन *धर्ममंगल* नाम के काव्य में किया गया है। इसकी कथा परस्पर सम्बद्ध लोक-कथाओं की एक शृंखला के रूप में है और मध्य बाङ्ला में महाकाव्यात्मक रूप के सर्वाधिक निकट है। इसके कथ्य और संरचना, दोनों में बहुत-कुछ ऐसा है जो प्राचीन है, यद्यपि उपलब्ध काव्यों में से प्राचीनतम का रचना काल सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से पहले नहीं है। *धर्ममंगल* का पाठ अब भी वार्षिक धर्म-पूजा की रसम का उसी प्रकार अंग है, जिस प्रकार किसी समय में क्रमशः मनसा और चण्डी की विस्तृत पूजा में *मनसामंगल* और *चंडीमंगल* का पाठ अनुष्ठान का अनिवार्य अंग होता था। मनसा, चण्डी और धर्म को समर्पित इन तथाकथित मंगल-काव्यों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि कथा की चरम घटना सबसे अधिक विस्तृत और आख्यानों में सर्वाधिक उत्तेजित करनेवाली होती थी और अन्तिम अनुष्ठान वाले दिन के पहले पूरी रात बैठकर इसका गायन और पाठ होता था। इसीलिए कथा के इस अंग का नाम 'जागरण' (नैश जागरण) पड़ा। वृन्दावनदास का कहना है : मंगलाचण्डी का गीत सुनने के लिए पुरुष सारी रात जागते हैं। *धर्ममंगल* की कथा इस प्रकार है :

कर्णसेन गौड़ के राजा का जागीरदार था, जिसकी राजधानी रमती (अर्थात् राजा रामपाल द्वारा स्थापित रामावती) थी। ग्वाल जाति का एक स्थानीय मुखिया

1 बौद्ध तांत्रिक विधि 'वज्जडाक' से तुलनीय।

सोमघोष और उसका पुत्र इछाई शक्तिमय हो गये और उन्होंने कर्णसेन की भूमि पर अधिकार कर लिया। राजा की सहायता से कर्णसेन और उसके छः पुत्रों ने खोयी हुई भूमि लौटा लेने का कठिन प्रयास किया। किन्तु अपने वंश की आराध्या देवी श्यामरूपा (अर्थात् चण्डी) के अनुग्रह के कारण इछाई उनकी तुलना में कहीं अधिक प्रबल सिद्ध हुआ। कर्णसेन के छः पुत्र और पत्नी मारे गये और वह बुरी तरह ध्वस्त हो गया। राजा ने उसने अपनी शरण में ले लिया और अपनी छोटी साली के साथ उसका विवाह कर दिया। राजा के साले माहुद्या ने, जो उसका मुख्यमंत्री भी था, अपनी बहन के विवाह का समर्थन नहीं किया। विवाह के बाद कर्णसेन और उसकी युवा पत्नी रंजावती सुदूर दक्षिण में स्थित मैनागढ़ की जागीर में चले गये जो राजा ने उन्हें दहेज के रूप में प्रदान की थी। कर्णसिंह वृद्ध होने के कारण पुत्रोत्पत्ति में असमर्थ था, किन्तु दम्पति पुत्र के लिए लालायित थे। अपनी बूढ़ी धाय के परामर्श से रंजावती ने कठोर तपस्या करके धर्म को प्रसन्न कर लिया। धर्म के अनुग्रह से उसके यहाँ लाउसेन ने जन्म लिया। माहुद्या ने चूँकि इस विवाह का समर्थन नहीं किया था इसलिए उसे इसके परिणामस्वरूप पुत्र-जन्म भी अच्छा नहीं लगा। लाउसेन के प्रति उसका रुख़ वैसा ही था जैसा अपने भानजे कृष्ण के प्रति कंस का था। माहुद्या ने बालक का अपहरण कर लाने के लिए कुछ चतुर चोरों को भेजा, पर वे असफल भी हुए और अपयश के भागी भी। थोड़े से समय के लिए बालक से अलग हो जाने के कारण रंजावती अत्यन्त अधीर हो उठी और धर्म ने धीरज बँधाने के लिए अस्थायी स्थानापन्न के रूप में कर्पूर धवल नाम के एक पोष्यपुत्र को उसने पास भेज दिया। दोनों बालक राम-लक्ष्मण या कृष्ण-बलराम की तरह, साथ-साथ बड़े होने लगे। जब लाउसेन ने गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर ली और साथ ही मल्ल-युद्ध और शास्त्र-विद्या में निपुणता प्राप्त कर ली तो वह रमती जाकर गौड़ के राजा के सामने अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करने के लिए आतुर हो उठा। दोनों बालक राजधानी की ओर चल पड़े, जो सीधे उत्तर दिशा में पड़ती थी। उनका पहला साहसिक अनुभव जालन्दार (जालन्धर?) में हुआ। यह नगर एक ऐसे चीते से सन्त्रस्त था, जिसने वहाँ के शासक, उसके परिवार और सारी आबादी को मार डाला था। लाउसेन ने चीते को मारकर, नगर को फिर से बसा दिया। अपने अगले पड़ाव तारादिथी में लाउसेन ने एक दुष्ट मगरमच्छ को मारा, जिससे वहाँ की झील उत्पीड़ित थी। दोनों भाई इसके बाद जामती पहुँचे जो बारुइ (पान की खेती करने वाले) जाति का गढ़ था। वहाँ एक स्त्री ने लाउसेन के प्रति अनुचित प्रेम-प्रस्ताव किया। लाउसेन ने तुरन्त अस्वीकार कर दिया। यह स्त्री एक अत्यन्त प्रभावशाली परिवार की थी। उसने लाउसेन को अपने प्रति प्रेम-निवेदन का प्रयास करने के अपराध में गिरफ़्तार कराने का प्रबन्ध करा दिया। परन्तु धर्म के संरक्षित पात्र को बहुत समय तक रोक रखना सम्भव नहीं था। लाउसेन का अगला पड़ाव गोलाहाट था। यह सुरिक्षा नाम की एक गणिका का क्षेत्र

था, जो भी युवक उस नगर में प्रवेश करता था, उसे इस महिला के साथ पहेली बूझने की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता था। यदि वह जीत जाता था तो उसे प्रेमी का दर्जा देकर स्वीकार कर लिया जाता था और यदि पराजित होता था तो उसे दास बनाकर रोक लिया जाता था। लाउसेन ने अन्तिम पहेली को छोड़कर बाक़ी सबके सही उत्तर दिए। अन्तिम पहेली इस प्रकार थी :

कामरूप की काम-चण्डी कामता आती है।
बताओ तो देखें नारी की धातु कहाँ बसती है?

यह पहेली लाउसेन के लिए ही नहीं, धर्म एवं अन्य देवताओं के लिए भी बहुत कठिन थी। सही उत्तर केवल चण्डी को ज्ञात था। उसने लाउसेन की सहायता की और सही उत्तर इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया :

वह न पशु है न पक्षी, बल्कि अंडे में निहित भ्रूण है। वह निमिष मात्र में मार डालती है, यद्यपि उसके न हाथ हैं और न पैर। वह सब कुछ देखती है, पर स्वयं अगोचर है। वह यत्न से रक्षणीय परम रत्न है। वह ऊर्ध्व भाग में सिन्दूर राग है अधोभाग में काजल। वह सदा ही चंचल है, अश्रु-कण की तरह उलेकती है। कामरूप की काम-चण्डी कामता आती है। आठ अंगों को छोड़कर नारी की धातु उसकी बायीं ऑख में बसती है।

सुरिक्षा ने पराजय स्वीकार कर ली।

गौड़ पहुँचने पर लाउसेन को मामा का घोर विरोध सहना पड़ा। इसके बावजूद वह राजा से सम्मानित होकर प्रसन्न मन घर लौट आया। उसकी श्रेष्ठतम उपलब्धि कालू डोम और उसकी पत्नी लखिया की मित्रता और निष्ठा थी। वे लोग उसके साथ मैनागढ़ आकर वहीं बस गये। परन्तु लाउसेन बहुत समय तक शान्ति से नहीं रह सका। महुद्या निरन्तर अपने भानजे का दमन करने की चतुर युक्तियाँ खोज रहा था। मन्त्री के परामर्श पर राजा ने लाउसेन को अभियान पर कामरूप भेजा। लाउसेन ने कामरूप के राजा को पराजित करके उसकी कन्या कलिंगा से विवाह कर लिया। घर लौटते समय उसने दो राजकन्याओं—अमला और बिमला से भी विवाह किया।

कुछ समय बाद, लाउसेन को आदेश दिया गया कि वह राजा हरिपाल के दरबार में उपस्थित होकर उनकी सुसंस्कृत कन्या कानड़ा से गौड़ के राजा के विवाह का प्रस्ताव करें। राजकुमारी चण्डी की संरक्षिता थी। किसी अनुपयुक्त वर से अपनी भक्त का बचाव करने के लिए देवी ने एक लौह-निर्मित गेंडा प्रदान करके यह शर्त लगा दी थी कि कानड़ा उसी पुरुष से विवाह करेगी, जो एक बार में उसका सिर धड़ से अलग कर देगा। कानड़ा की धाय और सेविका घुमसी पर भी देवी का अनुग्रह था। लाउसेन ने शर्त पूरी कर दी और कानड़ा को अपने लिए जीत लिया। कुछ समय उपरान्त उसके पुत्र चित्रसेन का जन्म हुआ।

लाउसेन को इसके उपरान्त अपने पिता के पुराने शत्रुओं सोमघोष और उसके पुत्र इघाई का दमन करने का कार्य सौंपा गया। इघाई चण्डी का विशेष कृपापात्र था। इस संघर्ष के द्वारा चण्डी-पूजा के विरुद्ध धर्म-पूजा को अपनी अन्तिम विजय सिद्ध करनी थी। भयंकर युद्ध के बाद इधाई लाउसेन के हाथों मारा गया। कुछ समय के बाद लाउसेन को भयंकर तूफ़ान से हुई बरबादी से रक्षा करने के लिए गौड़ को बुलाया गया। धर्म के अनुग्रह से लाउसेन ने कार्य सम्पन्न कर दिया। माहुधा ने इसके उपरान्त अपने भानजे को रास्ते से हटाने के लिए सबसे गहरी चाल चली। लाउसेन से, जिसे अब सूर्य-देव धर्म का सबसे प्रिय भक्त स्वीकार किया जाता था, सूर्य को पश्चिम से उदित करने के लिए कहा गया। अगर वह ऐसा करने में असफल होगा तो उसके माता-पिता को, जो गौड़ में बन्धक के रूप में बन्दी थे, मृत्यु के घाट उतार दिया जायेगा और उसकी संपत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी। अपनी माँ की बूढ़ी धाय के साथ, जो स्वयं भी धर्म की कट्टर अनुयायी थी। लाउसेन सुदूर स्थित बल्लुका नदी पर धर्म-पूजा के पवित्र स्थल पर पहुँचा और दीर्घ काल तक वहाँ तप करता रहा। इसी बीच लाउसेन और उसके माता-पिता की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर माहुद्या ने मैनागढ़ पर आक्रमण कर दिया। कालू डोम और उसके पुत्र ने पराक्रमपूर्वक गढ़ की रक्षा की, परन्तु अन्ततः वे वीरगति को प्राप्त हुए। कालू की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी लखिया ने टक्कर ली, और जब वह वीरगति को प्राप्त हुई, तो रानी कलिंग सेना की रक्षा करने के लिए आगे आयी। किन्तु वह भी लड़ते-लड़ते काम आयी। तदुपरान्त कानड़ा और उसकी बूढ़ी धाय घुमसी ने शस्त्र सम्हाले और उसकी प्रचण्डता के सामने माहुद्या और उसकी सेना भाग खड़ी हुई।

दीर्घ और कठिन तपस्या के बावजूद, धर्म ने लाउसेन की पश्चिम में सूर्योदय की प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। अन्त में वृद्धा धाय सामुला ने उससे कहा कि अन्तिम आहुति के रूप में वह अपना शिरच्छेद करके बलि की अग्नि में समर्पित कर दे। लाउसेन ने संकोच नहीं किया और उसने इस बलिदान के साक्षी[1] सभी जीवों को व्यथित करते हुए अपना सिर काट दिया। इस चरम बलिदान से धर्म अविचलित नहीं रह सका। उसने पश्चिम में सूर्योदय का विधान कर दिया। इस चमत्कार के केवल दो साक्षी थे, वृद्धा धाय सामुला और ढोलकिया हरिहर। लाउसेन रमती लौट आया लेकिन माहुद्या ने उसका विश्वास करने से इंकार कर दिया। सामुला को सपक्षीय होने के कारण, अविश्वसनीय गवाह मानकर सहज ही बर्ख़ास्त कर दिया गया। उसने हरिहर को फुसलाने का प्रयत्न किया परन्तु वह व्यर्थ गया। हरिहर ने पश्चिम में सूर्योदय की साक्षी दी। लाउसेन इस प्रकार सच्चा सिद्ध हुआ, लेकिन हरिहर को सच बोलने का

1. उनकी दुःख-कातर चीख़ के कारण इस घटना को 'हाकंड' (संस्कृत के आक्रन्द से) कहा जाने लगा और इस सामयिक आख्यान को 'हाकंड पाला' कहा जाता है।

मूल्य अपने जीवन में चुकाना पड़ा। अपने माता-पिता के साथ लाउसेन मैनागढ़ लौटा। लौटने पर उसने पाया कि उसकी अधिकांश प्रजा मारी जा चुकी है। परन्तु धर्म की कृपा से उन सबको पुनर्जीवन मिल गया। अपने सांसारिक जीवन का शेष समय लाउसेन ने शांतिपूर्वक बिताया।

देवी चण्डी पर लिखित आख्यानक काव्यों में (जिन्हें *चण्डीमंगल* कहा जाता है) दो स्वतन्त्र कथाएँ हैं। इनमें से पहली कथा पुरानी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा मूल रूप से कलिंग से (उत्तर पूर्वी उड़ीसा) आयी है, जहाँ यह देवी वन्य पशुओं को संरक्षण प्रदान करनेवाली वन देवी के रूप में बहेलियों और शिकारियों ('व्याध' जातियों) द्वारा पूजी जाती थी। दूसरी कथा सामान्यतः प्रचलित पद्धति पर लिखी गयी है। इसका नायक एक प्रभावशाली व्यापारी है। वह और उसका पुत्र ऐसी देवी को श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिए बाध्य किये जाते हैं, जिसे आपाततः उच्च वर्गो में तब तक मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। यहाँ देवी खोए हुए पशुओं और मनुष्यों की संरक्षिका के रूप में प्रकट होती है। पहली कहानी में लगभग लोक-कथा का मूल, सहज रूप रक्षित है। दूसरी कहानी की संरचना जटिल है। अपने प्राचीन और सरल रूप में यह एक 'व्रत-कथा' थी।[1] दूसरी कथा की विशिष्टता एक चमत्कारपूर्ण दृश्य है—समुद्र की सतह पर, पूर्ण विकसित कमल पर आसीन एक अलौकिक कन्या का, जो दो हाथियो को क्रमशः उगलती और निगलती रहती है।[2] इस दृश्य का जब वर्णन किया गया, तो नायक और उसके पुत्र पर, जिन्होने इसे देखा था, विपत्ति टूट पड़ी। व्यापारी वर्ग देवी कमला का भक्त था, जिसे सामान्यत· ऐसी कमलासना देवी के रूप मे अकित किया जाता था, जिसके सिर पर दो हाथी पानी ढालते रहते थे ('गजलक्ष्मी')। चण्डी के प्रभाव से उन्हें जो दृश्य दिखाई दिया, वह व्यापारी वर्ग के व्यक्ति के लिए अत्यन्त अशुभ था। क्योंकि इसमें गंगाचिह्नात्मक (?) पशु के साथ प्रतिकूल व्यवहार किया गया था और संरक्षिता देवी ने विरोधी मुद्रा धारण कर ली थी।

पहली कथा का सम्बन्ध एक अत्यन्त निर्धन बहेलिया परिवार से है जिसका देवी के अनुग्रह से भाग्योदय हुआ। कालकेतु, कलिंग के बीहड़ और ऊसर क्षेत्र में आखेट से जीविका उपार्जन करके रहता था। उसकी पत्नी फुल्लरा बाज़ार में और घर-घर जाकर मांस और पशु-चर्म बेचती थी और अपने पति के लिए छोटी-मोटी सुविधाओं का ख़याल रखती थी। हत्या करने में कालकेतु की बर्बरता और शिकार का पीछा करने में उसकी कुशलता से कलिंग के वन्य प्राणियों के हृदय में आतंक व्याप गया था। उन्होंने एकत्र होकर चण्डी से प्रार्थना की और उसने उन्हें कालकेतु के जाल

1 व्रत-कथा एक लघु आख्यान होता है, जिसका पाठ महिलाओ के रीति-रिवाजो के अवसर पर घर मे प्राय ब्राह्मण पुरोहित की सहायता के बिना किया जाता है।

2 इस चमत्कार को 'कमले कामिनी' (कमल पर आसीन कामिनी) कहा जाता है।

और प्रक्षेपास्त्रों से अभयदान दिया। कालकेतु बड़े असमंजस में पड़ा। लगातार दो दिन तक उसके हाथ कुछ नहीं आया, एक मक्खी भी नहीं। तीसरे दिन भी उसे कुछ नहीं मिला, पर जब वह लौट रहा था तो उसे भूरे रंग की बड़ी गोधा दिखाई दी, जिसे उसने अपनी खोज आरम्भ करते समय भी देखा था। निराशा के उस क्षण में वह उस जन्तु को पकड़कर घर ले आया।[1] उस जन्तु को एक ऐसे खूँटे से बाँधकर, जिस पर उसकी झोंपड़ी का छप्पर टिका था, कालकेतु अपनी पत्नी की खोज में निकल गया जो घर पर नहीं थी। जब कालकेतु चला गया तो गोधा ने, जो छद्म वेष में चण्डी थी, एक आकर्षक और भव्य युवा रमणी का रूप धारण कर लिया। फुल्लरा पड़ोस से चावल उधार लाने गयी थी। घर लौटने पर सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित एक अत्यन्त सुन्दर युवती को, जो किसी समृद्ध ब्राह्मण-परिवार की प्रतीत होती थी, द्वार पर बैठा देखकर फुल्लरा को बहुत आश्चर्य हुआ। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उस कन्या को फुल्लरा का पति घर लाया है और वह उनके साथ रहना चाहती है। जब वे बात कर रही थीं, इसी बीच कालकेतु लौट आया। फुल्लरा को पहले पति पर सन्देह हुआ और फिर उसने अपने मन की बात उस कन्या से भी कह दी। उसने जब देखा कि इस शाब्दिक आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो उसने अपनी नीति बदली और उस लड़की को अपने घर की स्थायी निर्धनता का अपनी समझ से सही ब्यौरा कह सुनाया। उस स्त्री की निष्ठुरता से कालकेतु भी उत्तेजित हो गया। वह उसकी हत्या करने को तत्पर हो गया और देवी उस पर दयार्द्र हो गयी। वह उस निर्धन दम्पति की ईमानदारी और निष्ठा से सन्तुष्ट हो गयी और उनसे अपनी पूजा आरम्भ करने के लिए कहा। विदा लेने से पहले उसने कालकेतु को एक ऐसी मूल्यवान अंगूठी और गुप्त स्वर्ण राशि देकर धनवान बना दिया। उस धन से कालकेतु ने कलिंग के वन्य क्षेत्र के एक भाग को कृषि योग्य बना लिया और वहाँ अपनी प्रमुख नगरी गुजरात की स्थापना की। पूर्व और दक्षिण-पूर्व से बाढ़ग्रस्त लोग आकर इस नये प्रदेश में बस गये। इन नवागन्तुकों में भामडू दत्त नाम का एक कपटी व्यक्ति था। वह व्यापारी वर्ग के ग़रीब लोगों पर अत्याचार करते हुए पकड़ा गया और कालकेतु ने उसकी खबर ली। प्रतिशोध लेने के लिए भामडू कलिंग-नरेश के पास पहुँचा और उसे कालकेतु पर आक्रमण करने के लिए भड़काया। कलिंग-नरेश ने गुजरात पर आक्रमण किया। कालकेतु पराजित हुआ और भामडू के विश्वासघात के कारण पकड़ा गया। कालकेतु को अगले दिन फाँसी देने के लिए बन्दीगृह में डाल दिया गया। अन्तिम क्षण में देवी ने हस्तक्षेप किया।

1. यह कार्य अत्यन्त मजबूरी में किया गया था, क्योंकि 'गोधा' कालकेतु की जाति का गणचिह्न था। कोणार्क के मन्दिर के बाहर घोड़े को थामे एक योद्धा की मूर्ति है जो एक ऐसी ढाल धारण किये है, जिस पर दो गोधा अंकित हैं। यह मूर्ति मुकुन्दराम के काव्य में कालकेतु के वर्णन से मेल खाती है।

उसने राजा को स्वप्न में डरा दिया। राजा ने तत्काल कालकेतु को मुक्त कर दिया और स्वयं इसी कार्य के लिए बनवाए गये एक विशाल मंदिर में चण्डी की स्तुति आरम्भ कर दी।

दूसरी कथा का नायक धनपति, उज्जैन का एक धनवान व्यापारी था। उसकी पत्नी से कोई सन्तान नहीं हुई इसलिए उसने दुबारा खुल्लना नाम की एक सुसंस्कृत युवती से विवाह कर लिया। उसकी पहली पत्नी लहना दुष्ट स्त्री न थी परन्तु वह अपनी दासी दुरबला की मुट्ठी में थी, जिसे अपनी मालकिन की सपत्नी पसन्द नहीं थी। अपने दूसरे विवाह के तुरन्त बाद धनपति को व्यापार के लिए यात्रा पर जाना पड़ा। दुरबला की सलाह से लहना ने अपनी सौत को नगर से बाहर बीहड़ क्षेत्र में बकरियाँ चराने का आदेश दिया। एक दिन एक बकरी कहीं भटक गयी और खुल्लना को लगा कि बकरी खो गयी है। घर लौटने पर उसके साथ कैसा व्यवहार किया जायगा इसका अनुमान करके वह बहुत दुःखी हुई। देवी चण्डी को उस असहाय लड़की पर दया आ गयी और उन्होंने अपनी आठ परिचारिकाओं (विद्याधरी) को उसके सहायतार्थ भेज दिया। उन्होंने खुल्लना को आदेश दिया कि वह जल-पात्र में देवी का आह्वान करे और उन्हें घास की आठ पत्तियाँ और धान के आठ कण अर्पित करके उनकी पूजा करे। खुल्लना ने उसी स्थल पर देवी-पूजा की और उसे खोई हुई बकरी वापस मिल गयी। जब व्यापारी घर लौटा तो उस समय सब ठीक-ठाक था। पर शीघ्र ही उसे पता चल गया कि उनकी अनुपस्थिति में उनकी युवा पत्नी बकरियाँ चराया करती थी। उसे खुल्लना के चरित्र पर सन्देह नहीं था पर उसकी बिरादरी उसे तब तक चैन नहीं लेने देती जब तक बिरादरी की प्रतिनिधि सभा के समक्ष कठोर परीक्षाओं द्वारा खुल्लना अपनी पवित्रता प्रमाणित नहीं कर दे। चण्डी की कृपा से खुल्लना सभी परीक्षाओं में गौरवपूर्ण ढंग से उत्तीर्ण हो गयी।

कुछ समय बाद धनपति पुनः व्यापारिक यात्रा पर लंका के एक बन्दरगाह पर गया। अपने प्रस्थान से पहली सन्ध्या को उसने देखा कि उसकी पत्नी उसकी सुरक्षित यात्रा और वापसी के लिए चण्डी की पूजा कर रही है। धनपति शिव का कट्टर भक्त था। जब उसने देखा कि उसकी प्रिय पत्नी एक नये ढंग की देवी की पूजा कर रही है तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने पवित्र जलपात्र को ठुकरा दिया (जैसा कि चाँदो ने *मनसामंगल* कथा में किया था)। चण्डी ने उसके इस अहंकार के लिए उसे सही मानों में कठिन पाठ पढ़ाने का निश्चय किया। व्यापारी की यात्रा कुछ समय तक सहज रूप से जारी रही। पर जब वह लंका के निकट पहुँचा तो देवी ने उसे क्रम-क्रम से दो हाथियों को उगलती और निगलती हुई कमलासना स्त्री का चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाया। यह दृश्य जहाज़ के चालक दल को नहीं दिखाया गया। वह बन्दरगाह पहँचा, उसने बड़ा लाभप्रद व्यापार किया और राजा ने उसका स्वागत किया। यहाँ से

उसका भाग्य परिवर्तित होना आरम्भ हुआ। उसने राजा से समुद्र पर हाथी निगलने वाली लड़की के दृश्य का उल्लेख किया। राजा को स्वभावतः उस पर विश्वास नहीं हुआ। उसके आग्रह करने पर राजा स्वयं समुद्र में जाकर वह दृश्य देखने को राज़ी हो गया। पर दृश्य की पुनरावृत्ति नहीं हुई। राजा ने धनपति को मूर्ख और झूठा मानकर आजीवन कारावास का दंड दे दिया।

जब धनपति घर से निकला था तो खुल्लना गर्भवती थी। यथासमय उसके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम श्रीपति (या श्रीमंत) रखा गया। वह बालक बड़ा होनहार था। परन्तु उसका जन्म ऐसे समय हुआ था, जब उसका पिता एक लम्बे समय से घर में नहीं था। इसलिए उसके जन्म की वैधता सन्देह से परे नहीं थी। जब इस प्रकार की अफ़वाहें श्रीपति के कान तक पहुँचीं तो अपने पिता को खोजकर अपनी वैधता प्रमाणित करने के लिए उसने लंका की यात्रा आरम्भ की। समुद्र-यात्रा में उसको ठीक वैसे ही अनुभव हुए, जैसे बीस वर्ष पहले उसके पिता को हुए थे। श्रीपति ने भी वही दृश्य देखा और वह भी राजा को उसे दिखाने में असमर्थ हुआ। राजा ने अत्यन्त क्षोभ प्रकट करते हुए, उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया। जब वह फाँसी पर चढ़ाया जाने वाला था, तभी देवी उसकी वृद्धा दादी का वेष धारण करके प्रकट हुई। उसने अत्यन्त कारुणिक ढंग से जल्लाद से अपने पौत्र का जीवन-दान माँगा। झिड़की खाकर उसने अपनी असुर सेना बुला ली जिसने राजा के रक्षकों को पराजित कर दिया। देवी से भयभीत होकर, राजा को श्रीपति और उसके पिता को मुक्त करने पर बाध्य होना पड़ा और उसने अपनी लड़की का विवाह, व्यापारी के पुत्र से कर दिया। धनपति अपने पुत्र और पुत्र-वधू के साथ बहुमूल्य माल से भरी नौकाएँ लिये घर लौटा। अब उसने चण्डी-पूजा का विरोध नहीं किया।

लोक-प्रचलित देवताओं से सम्बद्ध समाख्यान-काव्यों की इन कथाओं ने, जिनकी रूपरेखा ऊपर दी गयी है, अँधेरी शताब्दियों में रूप ग्रहण किया। इन कहानियों से एक सम्प्रदाय (सामान्यतः प्राचीनतर) के विरोधी दूसरे सम्प्रदाय (सामान्यतः नवीनतर) के संघर्ष और ऊपर उठने के संकेत मिलते हैं। मनसा की कथा से प्रतीत होता है कि चण्डी के विरुद्ध नाग-देवी के सम्प्रदाय को खड़ा किया गया था। लाउसेन के आख्यान में चण्डी के आरक्षित पर धर्म के आरक्षित की विजय होती है। *चण्डीमंगल* काव्यों की दूसरी कथा में शिव-पूजा की तुलना में चण्डी-पूजा की श्रेष्ठता वर्णित है।

मध्य बाङ्ला के लम्बे आख्यानक काव्यों का नामकरण देवता विशेष के नाम पर 'मंगला' या 'विजया' शब्द जोड़कर किया गया है। 'मंगला' से नारी वर्ग के विवाह या प्रायश्चित्त जैसे किसी घरेलू रीति-रिवाज के साथ कथा के सम्बन्ध का बोध होता है। दूसरी और 'विजय' से पौराणिक पद्धति के साथ कथा के मूल सम्बन्ध का संकेत

मिलता है, जैसे *भागवत पुराण* के या *महाभारत* के साथ जिसे जय[1] कहा गया है, अतः 'विजय' शीर्षक कृष्ण-आख्यान और *महाभारत* कथा-सम्बन्धी काव्यों को दिया गया है, और ये साम्प्रदायिक काव्य नहीं हैं। 'मंगल' या 'विजय' नाम के समाख्यानक काव्य 'पांचालिका' (या पांचाली) विधा के अन्तर्गत आते हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

कुल मिलाकर ये सामाजिक रचनाएँ हैं। यह बात 'पुराण' काव्यों की अपेक्षा साम्प्रदायिक काव्यों के बारे में और भी अधिक सही है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्यों के कथ्य और रूप सामाजिक स्थिति से निर्धारित होते हैं और लोक-रुचि द्वारा संशोधित। ये काव्य चाहे किसी धनवान व्यक्ति के आश्रय में लिखे गये हों या नहीं इनकी रचना जन-सामान्य के लिए की गयी थी। इसलिए इनका आस्वादन केवल विशिष्ट श्रोता वर्ग द्वारा एकान्त में ही नहीं किया जाता था बल्कि पूरे ग्राम-समाज के द्वारा भी उस समय किया जाता था जब वह ग्राम देवता की सार्वजनिक पूजा के लिए या कोई त्योहार मनाने के लिए एकत्र होता था। इसलिए यह अनिवार्य था कि इस प्रकार की कथा के पात्र प्रायः सामान्य वर्ग के होते थे और इनमें काफ़ी संख्या में सामाजिक रीति-रिवाजों और उक्तियों का अन्तर्भाव कर लिया जाता था।

□

1. पुराण-पद्धति की सभी रचनाओं के प्रारम्भिक छन्द (ततो जयम् उदीरयेत्)।

6

पन्द्रहवीं से आरम्भिक सोलहवीं शताब्दी तक

समाख्यानक काव्यों का सबसे लोकप्रिय विषय *रामायण* की कथा थी, जिसे सार्वजनिक रूप से सराहा गया, यहाँ तक कि मुसलमानों द्वारा भी राम की महाकाव्यात्मक कथा के भारत और भारत के बाहर विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न धार्मिक वर्गों में थोड़े से अन्तर और संशोधन से अनेक रूप प्रचलित हैं। *वाल्मीकि रामायण* की कथा से सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर मध्य बाङ्ला रूपान्तर में मिलता है। इसमें संस्कृत की *अद्भुत रामायण* की तरह रावण के वीर्य से सीता की उत्पत्ति की कथा है। कथा का निरूपण हमेशा भक्तिपरक दृष्टिकोण से किया गया है क्योंकि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से पहले राम-भक्ति की प्रतिष्ठा बंगाल में दृढ़तापूर्वक हो चुकी थी। चैतन्य के कुछ प्रमुख अनुयायी राम-भक्त थे। चैतन्य के प्रभाव के प्रसार के परिणामस्वरूप राम-भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी कृष्ण-भक्ति को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में राम-भक्ति लगभग बंगाल की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित प्रदेशों तक परिसीमित हो गयी जहाँ पश्चिम से निरन्तर नियमित रूप से राम-भक्तों का आगमन होता रहता था। फिर भी मध्य बाङ्ला में राम पर रचित आख्यान-काव्यों की लोकप्रियता, जिसका परम्परागत शैली में पाठ और गायन किया जाता था, जनता में कभी क्षीण नहीं हुई। यह सही है कि राम-कथा का कोई रूपान्तर प्राचीन बाङ्ला या लौकिक में नहीं मिलता। लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इसे एक प्रचलित कथा के रूप में जाना जाता था और इसका प्रचलन उच्च वर्ग में था जो इसे संस्कृत में (और प्राकृत में भी) सुनना पसन्द करता था। एक बंगाली नाट्यशास्त्री सागर नन्दी (1400 ई. पू.) ने बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत (और प्राकृत) में लिखे गये नाटकों का उल्लेख किया है जिनकी रचना आपाततः बंगाल में और उसके आस-पास हुई थी। इनमें से अनेक का सम्बन्ध राम-कथा से है। केवल शीर्षकों के अध्ययन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि राम-कथा, कृष्ण-कथा से कम लोकप्रिय नहीं थी और ये दोनों पांडव-कथा तथा अन्य पौराणिक कथाओं की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय थी। रूपात्मक कथा में भी राम-कथा की लोकप्रियता कृष्ण-कथा के साथ समान रूप से बनी रही—बारहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जब बाङ्ला-पद्धति के ईंट (टेराकोटा) के मन्दिरों में से अन्तिम का निर्माण

हुआ था। ज़ाफर ख़ाँ ने गाज़ी (उत्तर तेरहवीं शती) की सतगाँव (सप्तग्राम) स्थित क़ब्र पर, जिसका निर्माण एक प्राचीन हिन्दू-प्रस्तर-मन्दिर के खण्डहर पर हुआ था, संगमूसा पर कुछ शिलालेख दिखाई पड़ते हैं। इनमें कुछ आख्यान हैं, जिनमें *रामायण, भागवत* और *महाभारत* के दृश्यों का वर्णन किया गया है। मूर्तियों को घिसकर बिलकुल साफ़ कर दिया गया था, परन्तु सौभाग्य के समाधि का निर्माण करने में, शिलाओं का उपयोग करने से पहले कुछ शिलालेख छोड़ दिए गये थे। इस समय उपलब्ध आख्यान इस प्रकार हैं : सीता-स्वयंवर; खर और त्रिशरा का पतन; रावण-वध; सीता-बनवास : राम का राज्याभिषेक; भरत का राज्य-भार ग्रहण; चामूर-पतन; कंस-पतन; कृष्ण-वाण युद्ध; और धृष्टद्युम्न-दुःशासन युद्ध।

बाङ्ला में राम-कथा का प्राचीनतम ज्ञात कवि पण्डित कृत्तिवास नाम का एक कुलीन ब्राह्मण है। एक पर्याप्त परवर्ती पाण्डुलिपि में उपलब्ध जीवनीगत विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पूर्व पितामह नरसिंह पूर्वी बंगाल से आकर हुगली के पूर्वी तट पर स्थित फुलिया में बस गये थे। नरसिंह दनुज नामक राजा के दरबारी थे। कृत्तिवास छः भाइयों और एक सौतेली बहन में सबसे बड़े थे। जब कृत्तिवास का जन्म हुआ, उस समय उनके पितामह मुरारी, उड़ीसा की तीर्थयात्रा की तैयारी कर रहे थे। इसलिए उन्होंने उसका नामकरण निकटतम तीर्थ-स्थल उड़ीसा के प्रमुख देवता शिव के नाम पर कर दिया। जब यह बालक ग्यारह साल का हो गया तो उसे उत्तरी बंगाल भेज दिया गया जहाँ उसके कुछ सम्बन्धी राजा के अधीन महत्त्वपूर्ण पदों पर थे। अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त उसने राजा से साक्षात्कार की इच्छा प्रकट की। राजा ने भारतीय पद्धति से—एक पुष्पमाल, चन्दन से सुगन्धित और रेशमी उत्तरीय अर्पित करके, उसका सम्मान किया। वह प्रसन्नमना घर लौटा और शीघ्र ही राम-कथा को बाङ्ला पदावली में निबद्ध कर दिया। कुछ अप्रामाणिक जीवनीपरक पंक्तियों से, जिनमें परवर्ती विशेषताएँ स्पष्ट हैं, जो बहुत थोड़ा-सा और नितान्त सन्देहास्पद ब्योरा इकट्ठा किया गया है, उसके आधार पर कुछ विद्वान् कृत्तिवास का जन्म 1398 ई. मानने के पक्ष में हैं। यह निर्णय दो अनुमानों पर आधारित है : (1) नरसिंह के आश्रयदाता राजा दनुज, और मुस्लिम इतिहास में उल्लिखित तेरहवीं शती के 'राय दनुज' एक ही व्यक्ति थे, और (2) कृत्तिवास राजा गणेश (कंस) के दरबार में गये थे। इस धारणा के विरुद्ध दो गम्भीर आपत्तियाँ हैं। राजा गणेश का राजकीय नाम (अर्थात् उसके सिक्कों पर) दनुजमर्दन था, तथा विविध स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि कुछ समय बंगाल पर शासन करनेवाला यह हिन्दू राजा श्रद्धेय और विद्वान् ब्राह्मणों को गंगा तट पर बसाने में सहायता देता था। कृत्तिवास के जीवनीपरक छन्दों में प्रस्तुत वंशावली की तुलना प्रसिद्ध वैष्णव दार्शनिक जीव गोस्वामी द्वारा प्रस्तुत सूची से करने पर यह संकेत मिलता है कि नरसिंह का आश्रयदाता गणेश-दनुजमर्दन के अतिरिक्त कोई और व्यक्ति नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कृत्तिवास, पन्द्रहवीं

शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे, और वे किसी पठान सुलतान के दरबार में आये थे, जो रुकनुद्दीन बारबंकशाह, यूसुफ़ शाह या फिर हुसैन शाह में से कोई भी हो सकता था। 'जीवनीगत' विवरण में राजा के जिन दरबारियों का उल्लेख मिलता है, वे हुसैन शाह के दरबार के मन्त्री या अफ़सर थे; उदाहरण के लिए केदार राय, नारायण और जगदानन्द राय। केदार खान के एक और दरबारी का उल्लेख भी किया गया है। बंगाल में हिन्दू अफ़सरों को 'खान' ख़िताब केवल पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से दिया जाने लगा था, उससे पहले नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पं. कृत्तिवास की तिथि निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है। हमें नयी सामग्री या नये प्रमाणों की प्रतीक्षा करनी होगी। इस बीच बहुत उदारतापूर्वक अनुमान करके कवि का समय पन्द्रहवीं शताब्दी में कहीं निश्चित किया जा सकता है।

सम्भव है कि कृत्तिवास बाङ्ला में *रामायण* काव्य के पहले लेखक न रहे हों। पर असन्दिग्ध रूप से वे सबसे अधिक स्वीकृत रहे हैं। इस लोकप्रियता का उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ा है। जैसे-जैसे समय बीतता गया कवि का नाम अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया और काव्य का विषय कम-से-कम। उनके काव्य के गायकों ने सायास अथवा अनायास भाषा को अपनी बोलियों के अनुरूप बदल लिया। इसके अतिरिक्त विविध लघु कथाओं का प्रक्षेपण तथा लोक-रुचि के अनुरोध और अपेक्षाओं के अनुसार अनुकूलन करके, उन्होंने अपनी समझ से मूलपाठ में संशोधन करने का अवसर भी नहीं छोड़ा। इस प्रकार प्रकट रूप से बहुत-सी परवर्ती वैष्णव प्रवृत्तियाँ और आख्यान क्रमशः काव्य में इस सीमा तक अन्तर्भुक्त हो गये कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक उसमें कवि के नाम और शायद कुछ फुटकर द्विपदियों के अतिरिक्त मूल कृति का कुछ नहीं बचा।

कृत्तिवास के नाम से उपलब्ध बाङ्ला *रामायण* की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत अधिक संख्या में मिलती हैं, पर उनमें से अधिकांश अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की हैं, और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से पहले की कोई नहीं है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सरकारी नौकरों के प्रादेशिक भाषा सीखने के लिए इस काव्य को सर्वाधिक उपयुक्त समझकर इसका मुद्रण 1802 में सेरामपुर के मिशन प्रेस में किया गया। इस 'राज संस्करण' का पाठ वस्तुतः अधिकांश प्राचीनतर पोथियों से, और सभी परवर्ती मुद्रित संस्करणों से बेहतर है।

भारतीय मानस और मूल्यों के निर्माण में राम-कथा का प्रभाव हमेशा बहुत अधिक रहा है। बंगाल में अनेक कवियों (और गायकों) के प्रयास से यह कार्य सिद्ध किया गया, जिनमें कृत्तिवास का नाम प्राचीनतम और सर्वाधिक समादृत है।

बाङ्ला का प्राचीनतम आख्यान-काव्य जिसकी तिथि निश्चित रूप से निर्धारित की जा सकती है, कृष्ण-आख्यान पर रचित प्राचीनतम काव्य भी है। यह उन मालाधर

वसु-कृत *श्रीकृष्ण विजय* काव्य है जिन्हें सुलतान रुकनुद्दीन बारबक शाह ने 'गुणराज-खान' उपनाम प्रदान किया था। यह काव्य मुख्य रूप से *भागवत* और *विष्णु-पुराण* पर आधारित है। इस काव्य को पूरा करने में सात वर्ष (1473-80) का समय लगा था। मालाधर पश्चिमी बंगाल में स्थित कुलीनग्राम के सम्पन्न कायस्थ थे। वे सम्भवतः राज्य के एक राजस्व अधिकारी थे और कुछ समय सुलतान के दरबार में रहे थे। प्रगीतात्मक उद्‌गारों से रहित यह काव्य पूर्णतः समाख्यानात्मक है। लेकिन भक्तिपूर्ण चेतना और लेखक की निष्कपट शैली के कारण इसका स्तर सामान्य से ऊँचा उठ गया है। इस काव्य ने तत्काल लोकप्रियता प्राप्त की होगी परन्तु यह सहृदय वर्ग तक ही सीमित रहा। चैतन्य ने अपने आरम्भिक जीवन में बहुधा इसका गायन सुना था अतः वे इससे पूर्णतः परिचित थे। इस परिचय के कारण उड़ीसा में प्रथम भेंट के अवसर पर ही चैतन्य के मन में कवि के पुत्रों के लिए प्रेम उमड़ आया। इस काव्य की रचना सामान्य जन के लिए की गयी थी किन्तु इसका स्वर नितान्त भक्तिपरक होने के कारण इसका प्रचार भक्तों और शिक्षितों के वर्ग के बाहर बहुत अधिक नहीं हुआ। अतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इस काव्य के कुछ अंशों को अपने में समाविष्ट करके कुछ ऐसी रचनाएँ इस पर हावी हो गयीं जिनमें स्वर के हल्केपन के कारण लोक-प्रचार के गुण की कमी नहीं थी।

मालाधर ने अपनी कृति *श्रीकृष्ण विजय* में *रामायण* की कथा का अन्तर्भाव किया है। काव्य के इस अंश का विशेष रूप से प्रचार हुआ और यह सत्रहवीं शताब्दी की पाण्डुलिपि में मिलता है।

सुलतान हुसैन शाह के एक अफ़सर यशोराज ख़ाँ ने, जिसका वास्तविक नाम दामोदर सेन प्रतीत होता है, कृष्ण पर एक समाख्यान-काव्य की रचना की थी। अब इस *कृष्णमंगल* काव्य की कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। इसके अस्तित्व की जानकारी सत्रहवीं शती के अन्त में वैष्णव अलंकार शास्त्र पर रचित एक ग्रन्थ के एक उद्धरण से होती है। इस उद्धरण में चार वर्णनात्मक काव्य-पंक्तियों के साथ एक छोटा-सा प्रगीत है। इसमें गोधूलि वेला में गाएँ चराकर लौटते हुए कृष्ण के दर्शन के लिए एक ब्रजबाला (सम्भवतः राधा) की आतुरता का वर्णन है। अन्तिम द्विपदी में कवि के हस्ताक्षर और उनके आश्रयदाता सुलतान हुसैन शाह का नाम है। यह ब्रजबुली के दो प्राचीनतम उदाहरणों में से एक है (दूसरा त्रिपुरा के राजा धन्यमाणिक के राजकवि ज्ञान की रचना है)।

किन्तु कृष्णाख्यान पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य बड़ु चण्डीदास की कृति है, जिसकी एकमात्र और अंशतः खण्डित हस्तलिखित प्रति की खोज और सम्पादन बसन्तरंजन राय ने किया है, और इसका प्रकाशन बंगीय साहित्य परिषद् से हुआ (1916)। पाण्डुलिपि में कोई शीर्षक नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु सम्पादक ने एक शीर्षक प्रदान किया है—*श्रीकृष्ण कीर्तन*। यह काव्य एकाधिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण

है। पाण्डुलिपि में अत्यन्त प्राचीन लेख मिलता है, यद्यपि सर्वत्र एक-जैसा नहीं है; भाषा में मध्य बाङ्ला का प्राचीन रूप दिखाई पड़ता है; काव्य की संरचना सामान्य आख्यान-काव्यों से काफ़ी भिन्न है; काव्य का स्वर सर्वथा लौकिक है, जो प्रायः फूहड़पन और अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करने लगता है। इसके महत्त्वपूर्ण आख्यान, प्रसिद्ध पुराणों में नहीं मिलते। लेख की प्राचीन शैली के साक्ष्य पर इस पाण्डुलिपि को सामान्यतः पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना माना गया है, किन्तु कभी-कभी प्राचीन लेख के साथ एक ही पन्ने पर लेखन का परवर्ती रूप भी दिखाई पड़ता है। लिपि की यह परवर्ती शैली, काग़ज़, स्याही सब ऐसे समय की ओर संकेत करते हैं जो अठारहवीं शती भी हो सकता है। कुछ विद्वान् भाषा को प्रमाण मानते हुए काव्य का समय पन्द्रहवीं शती का आरम्भ मानेंगे, किन्तु यह निष्कर्ष पूर्णतः उचित नहीं है। इसकी भाषा यद्यपि कुल मिलाकर काफ़ी पुरानी है तथापि उसमें निश्चित रूप से ध्वनि-परिवर्तन और व्याकरण की दृष्टि से सही अर्थ में कुछ परवर्ती प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त उसमें फ़ारसी और अरबी के कुछ देशीकृत शब्द हैं, यहाँ तक कि एक संकर शब्द भी है जिसमें फ़ारसी मूल में बाङ्ला प्रत्यय का संयोग है। कुल मिलाकर, यह माना जा सकता है कि *श्रीकृष्ण कीर्तन* की भाषा, जैसी कि मूल रूप में लिखी गयी होगी—सोलहवीं शताब्दी की है, किन्तु मूल रूप और भी पुराना हो सकता है।

पाण्डुलिपि, आदि और अन्त, दोनों छोरों पर खण्डित है और बीच से भी कुछ पृष्ठ ग़ायब हैं। कवि के बारे में केवल इतनी भर सूचना मिलती है कि उसका नाम चण्डीदास था और उसकी व्यावसायिक उपाधि (?) बड़ु (अर्थात् मन्दिर की सेवा में नियुक्त व्यक्ति) थी। इस बात का भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वह एक गौण पुजारी था या देवी बासली (चामुण्डा या काली का एक और नाम) के मन्दिर का परिचारक था। बासली का यह मन्दिर कहाँ था, इसका कोई पता नहीं। दक्षिण-पश्चिम (बाँकुड़ा स्थित चातना) और उत्तर-पश्चिम (बीरभूम-स्थित नानुर)· दोनों ही उसके दावेदार हैं, और दोनों के पक्ष में अपने-अपने तर्क हैं। रूप और शिल्प दोनों में *श्रीकृष्ण कीर्तन* कृष्ण-कथा पर रचित और सभी आख्यान-काव्यों से भिन्न है। इसमें ऐसा बहुत कम है, जिसे समाख्यान कहा जा सके। कथा आद्यन्त दो या तीन पात्रों के बीच गीतों में संवाद के माध्यम से बढ़ती है, और ये गीत प्रायः हमेशा ही संस्कृत के एक या दो छन्दों से जोड़े गये हैं, कुछ-कुछ जयदेव के *गीत-गोविन्द* की पद्धति पर। दो या तीन व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में रचित इन समाख्यानात्मक या नाटकीय काव्यों को उच्च (अर्थात् संस्कृत और प्राकृत) साहित्य में 'बागृवेणी' या वाक्केलि और निम्न (अर्थात् देशभाषा) साहित्य में 'झुमुर' नाम से जाना जाता था। शृंखला के रूप में रचित संस्कृत के इन छंदों में से कुछ छन्द काफ़ी अच्छे हैं, और उनसे इस बात का

अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि (बशर्ते कि ये छन्द उसीके हों) संस्कृत छन्द-रचना में भी कुशल था।

काव्य का स्वर मानवीय है, भक्तिपरक एकदम नहीं है। कथ्य का वर्णन करते हुए परम्परागत शृंगारिक रूढ़ियों पर उसी प्रकार पूरी तरह बल दिया गया है, जिस प्रकार जयदेव के गीतों में (वस्तुतः बड़ु चण्डीदास ने जयदेव के दो गीतों की व्याख्या भी की है)। इस कवि के लिए कृष्ण और राधा मात्र ऐसे पात्र नहीं हैं, जिन्हें पुरा-कथाओं या पुराणों के पृष्ठों से ग्रहण कर लिया गया हो। न ही वे भक्तिपूर्ण उद्गारों के प्रतीक हैं। उनका वर्णन सामान्य प्रेमियों की तरह किया गया है जो एक हद तक अनगढ़ और सरल भी हैं। राधा आरम्भ में तेरह-चौदह वर्ष की एक छोटी बालिका के रूप में प्रकट होती है जो कृष्ण के एक सम्बन्धी से विवाहित है, और कृष्ण लगभग अन्त तक एक उपद्रवी, अकालपक्व, देहाती, झगड़ालू पात्र के रूप में आते हैं।

कृष्ण की दृष्टि एक दिन राधा के उभरते उरोजों पर पड़ जाती है और वे उससे प्रेम करने लगते हैं। वे राधा की दादी या बड़ी-मौसी बड़ाइ के माध्यम से अपना अनुनयपूर्ण प्रस्ताव पहुँचाते हैं। बड़ाइ राधा के पास प्रेमी की ओर से सामान्य उपहार लेकर सन्देश पहुँचाती है। राधा बुरी तरह क्रोधित होती है और वृद्धा को यह अनुचित प्रस्ताव करने के कारण घर से निकाल देती है। बड़ाइ और अधिक संख्या में उपहार लेकर फिर लौटती है और यह दावा करती है कि कृष्ण चूँकि विष्णु के अवतार हैं, इसलिए उनसे प्रेम करने में अनौचित्य या पाप का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस बार भी बड़ाइ को भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा। उसने राधा की अस्वीकृति को व्यक्तिगत अपमान के रूप में लिया और उसे डिगाने का संकल्प कर लिया। उसकी सलाह से कृष्ण ने सड़क के टैक्स-कलक्टर की आक्रामक भूमिका धारण कर ली, और अपनी सखियों के साथ दूध-दही बेचने मथुरा जाती हुई राधा से भारी कर की माँग की। स्वभावतः राधा कर नहीं चुका सकी, और कृष्ण ने बदले में उससे प्रेम की माँग की। परिणामतः दोनों में गर्म बहस होने लगी। इसी समय, बड़ाइ वहाँ पहुँच गयी और उसने कृष्ण का पक्ष लिया। इस संयुक्त मोर्चे के सामने राधा विचलित हो गयी, और आँसू भरकर उसने अपनी बड़ी मौसी से अनुनय की, पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आख़िर एक अनुभवहीन, अप्रौढ़ लड़की, एक कामुक और आक्रामक युवक और धूर्त वृद्धा स्त्री के संयुक्त आक्रामक का सामना कब तक कर सकती थी? ज़बरदस्ती उसे कृष्ण के आक्रमण के सामने समर्पण करना पड़ा और इस प्रकार सबसे दीर्घ और सबसे अधिक नाटकीय आख्यान 'कर-वसूली' ('दान-खंड') पर पटाक्षेप हुआ।

कृष्ण ने राधा के शरीर पर अधिकार कर लिया पर वह उसका प्रेम नहीं जगा सका। अब वह उससे अकेले में मिलने के बारे में सावधान हो गयी। उसने और उसकी सखियों ने मथुरा जाने के लिए मुख्य मार्ग को छोड़कर, यमुना की धारा के

किनारे-किनारे जानेवाला चक्करदार मार्ग अपना लिया। कुछ समय तक कृष्ण चकराये रहे। उन्होंने फिर बड़ाइ की सलाह ली, और उसका पालन करते हुए वे नदी पर मल्लाह के रूप में प्रकट हुए। राधा उनकी नाव में बैठ गयी। जब नाव नदी तट से कुछ दूर पहुँच गयी तो कृष्ण ने जान-बूझकर उसे डुबा दिया। मृत्यु के भय से राधा कृष्ण से लिपट गयी और कृष्ण का लक्ष्य सिद्ध हो गया। वे तैरकर तट पर वापिस आ गये। यहाँ 'नौकाखंड' समाप्त होता है।

राधा के व्यवहार से उसकी सास को सन्देह हो गया और उसके बाहर जाने पर रोक लगा दी गयी। कृष्ण को फिर बड़ाइ की सलाह लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। बड़ाइ राधा की सास के पास पहुँची और राधा को मथुरा के बाज़ार में जाने से रोककर घर की अर्थ-व्यवस्था गड़बड़ कर देने के लिए उसे आड़े हाथों लिया। उसने राधा की सास को विश्वास दिला दिया कि राधा को अब ज़ोखिमभरी नाव-यात्रा से डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब शरद के महीनों में आसानी से नदी के किनारे-किनारे पगडंडी से जाया जा सकता था। राधा को पहले की तरह जाने की अनुमति मिल गयी। इस बार कृष्ण उसके पास कुली के रूप में पहुँचे, और राधा ने उन्हें मथुरा तक सामान ले जाने के लिए तय कर लिया। उन्हें लौटते समय सन्तोषजनक पारिश्रमिक देने का आश्वासन दे दिया गया। इससे पूर्व कि कृष्ण अपने किराए के लिए ज़ोर दें उन्हें लौटते समय सारे रास्ते राधा के सिर पर छतरी पकड़कर आना पड़ा। ये आख्यान 'भार खंड' और 'छत्र-खंड' से सम्बद्ध हैं।

इसके उपरान्त कृष्ण ने राधा की सखियों पर कुछ ध्यान देना शुरू किया। इनका व्यक्तिगत रूप से उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। कृष्ण ने एक सुन्दर वनस्थली की स्थापना करके, उसका नाम वृन्दावन रखा। उन्होंने बड़ाइ से कहा कि वह राधा और उसकी सखियों को वहाँ आकर विश्राम करने का निमन्त्रण दे। वे सब वहाँ एकत्र हुई और कृष्ण ने सबके साथ एक-सा व्यवहार किया जिससे राधा अप्रसन्न हो गयी, और जब वे उसकी ओर बढ़े तो उसने उन्हें झिड़क दिया। कृष्ण क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपना स्वर बदल दिया और राधा पर फूल-पत्ते तोड़ने और उनके बहुमूल्य बगीचे को नुक़सान पहुँचाने का दोषारोपण किया। राधा के लिए अपनी सफ़ाई देने का यह पहला अवसर था। उसने अपना रुख़ बदलकर बदमिज़ाजी के अपराध को स्वीकार कर लिया :

> "माफ़ करना स्त्री का स्वभाव है पर नागर को इससे रोष नहीं करना चाहिए। तुम्हारे इस वचन से मेरा सब कोप इसी क्षण खंडित हो गया। तुम्हारे चरणों में मेरी यह निरन्तर प्रार्थना है कि तुम किसी और को मेरे समान न मानना। मदन ने तुम्हारे और मेरे, दो मनों को एक कर साथ गूँथ दिया है। वृन्दावन में इस

बात की परीक्षा हो चुकी है। मैं अब तुम्हारी बात अमान्य नहीं करूँगी। विधि ने तुम्हारे और मेरे बीच ऐसा विधान किया है कि हमारे एक ही प्राण और एक ही देह हैं। ऐसा नेह किसी तीसरे व्यक्ति को नहीं सह सकता, और यह मेरा दोष नही है। तुम्हारे गुणों की गणना कौन कर सकता है? वे मेरे हृदय में एक-एक करके बस गये हैं। बड़ु चण्डीदास कहते हैं कि अब तो मेरे समीप आकर बैठ जाओ!"

वृन्दावन का आख्यान ('वृन्दावन खंड') प्रेमियों के सुखमय मिलन में समाप्त होता है।

अगला आख्यान ('कालिय-दमन-खंड') यमुना के एक कुंड में बाधा उपस्थित करनेवाले कालिय नाग के दमन की पौराणिक कथा है। इसके उपरान्त नदी कुंड का आख्यान ('यमुना-खंड') है। कृष्ण ने ऐसा व्यवहार किया मानो कुंड उनकी सम्पत्ति हो। वे राधा और उसकी सखियों को उसमें से केवल अपनी शर्तो पर पानी ले जाने की अनुमति देने को तैयार थे। काफ़ी लम्बी सन्धि-वार्ता के बाद राधा राज़ी हो गयी। कृष्ण ने राधा और अन्य गोपियों के साथ जल-क्रीड़ा का खूब सुख लूटा। यह चीर-हरण का पौराणिक आख्यान है ('वस्त्राहरण-खंड')।

जल-क्रीड़ा के समय कृष्ण ने राधा का हार चुरा लिया। राधा ने उनकी मॉं यशोदा से शिकायत की। कृष्ण की कटु भर्त्सना की गयी। बदला लेने के लिए कृष्ण ने कामदेव के घातक बाण को राधा की ओर साधकर छोड़ दिया और राधा मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। बड़ाइ ने कृष्ण पर नारी-हत्या का आरोप लगाकर उन्हें बन्दी बना लिया। कृष्ण ने उससे तत्काल मुक्ति के लिए अनुनय की क्योंकि इस प्रकार की दुर्दशा उनके लिए बड़ी लज्जाजनक थी। बड़ाइ अन्ततः उन्हें मुक्त करने के लिए राज़ी हो गयी। कृष्ण बहुत व्यथित थे और उन्हें वास्तव में राधा के लिए पश्चात्ताप हो रहा था। वे उस अभागी लड़की के अवसन्न शरीर पर पश्चात्तापपूर्ण विलाप कर रहे थे। कुछ समय के बाद राधा की संज्ञा लौट आयी और पश्चात्तापग्रस्त प्रेमी ने समुचित रूप से त्रुटि-मार्जन किया। 'बाण' का आख्यान ('बाण-खंड') यहॉं समाप्त होता है।

कुछ समय बाद, राधा कृष्ण के प्रति उदासीन हो गयी। कृष्ण ने तरह-तरह से उसका ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में उन्होंने एक सुन्दर बॉंसुरी बनवाई और उसे बजाना आरम्भ कर दिया। राधा बॉंसुरी के स्वरों से मुग्ध होकर आत्मसंयम खो बैठी परन्तु कृष्ण ने उसके प्रति उदासीनता का रुख़ अपना लिया, और उससे दूर बने रहे। राधा ने तब बड़ाइ से कृष्ण को पास लाने के लिए कहा। बड़ाइ ने अपनी वृद्धावस्था की दुहाई देकर अनिश्चित यात्रा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की, और उसने राधा से कहा कि वह अपने होश में रहे और अपने परिवार के सम्मान का ध्यान रखे। पर राधा तो अब सब सीमाएँ पार कर चुकी

थी, उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रह गयी थी; उसका प्रेम ही अब उसका सर्वस्व था। बड़ाइ ने तब राधा के द्वारा कृष्ण की मुरली चोरी करा दी। मुरली अब राधा के कब्ज़े में थी, अतः वह कृष्ण से अपनी शर्तें मनवाने की स्थिति में हो गयी थी। कृष्ण ने मन का भाव दक्षता से छिपाते हुए, रूखाई से समर्पण कर दिया। यह 'मुरली आख्यान' ('वंशी-खंड') की कथा है।

कृष्ण का प्रेम अब उतार पर था जबकि राधा प्रेम में बही जा रही थी। कृष्ण जान-बूझकर राधा से दूर रहने लगे क्योंकि अब वे सदा के लिए वह स्थान छोड़ देने का विचार कर रहे थे। राधा ने बड़ाइ से अनुनय की कि वह उसके विमुख प्रेमी को चाहे जैसे बन पड़े, लौटा लाए। बड़ाइ ने तरह-तरह के बहाने बनाए, पर अन्त में उसे कृष्ण को ढूँढ़कर राधा के पास ले आने की पूरी कोशिश करनी पड़ी। कुछ असफल प्रयासों के बाद वह सफल हो गयी और प्रेमी एक बार फिर वृन्दावन में मिले। राधा ने अपने प्रेमी के सामने मान विसर्जन कर दिया और आरम्भ से ही अपने प्रेमी की इच्छा के विरुद्ध व्यवहार करने के अपराध को स्वीकार किया। कृष्ण शिकायत करते रहे और उनका व्यवहार रूखा और अनिश्चित बना रहा। उन्होंने कहा कि अब मैंने अपने को सुधार लिया है, और योगाभ्यास आरम्भ कर दिया है। उन्हें अब अवतार रूप में अपने कर्तव्य का पालन करना है, जिसके कारण उन्हें अब मथुरा और अन्य स्थानों पर जाना पड़ेगा। इस प्रकार का प्रेम-सम्बन्ध राधा की प्रतिष्ठा के भी अनुकूल नहीं है, और उसे अब उन्हें भूलने का प्रयास करना चाहिए। राधा ने उनसे दीनतापूर्वक विनय की :

> "जब तुम सब-कुछ त्यागकर योगी हो गये हो, तो मैं भी योगिनी बनकर तुम्हारी सेवा करूँगी।"

कृष्ण ने जब देखा कि इस प्रपंच से मुक्त होना कठिन है, तो उन्होंने, द्रवित हो जाने का बहाना किया और उसके प्रति प्रेम का अभिनय करने लगे। राधा निंदियाने लगी और उसने अपने प्रेमी की गोद में सिर रखकर धरती पर पाँव फैला लिए। वह शीघ्र ही गहरी निद्रा में डूब गयी और कृष्ण सावधानी से उसका सिर धरती पर रखकर हमेशा के लिए वहाँ से चल दिए।

बड़ाइ ने एक बार फिर खोए हुए प्रेमी की खोज आरम्भ की परन्तु सफलता नहीं मिली। दिन और महीने गुज़र गये। राधा अपने भागे हुए प्रेमी के लिए घुलने लगी। उसकी दयनीय प्रार्थना से प्रेरित बड़ाइ मथुरा पहुँची और वहाँ कृष्ण से मिलने में सफल हो गयी। किन्तु उन्होंने आने से साफ़ इंकार कर दिया क्योंकि उन्होंने राधा को उसके पिछले व्यवहार के लिए अब तक पूरी तरह क्षमा नहीं किया था। इसके अतिरिक्त उन्हें तत्काल कंस के पराभव का प्रबन्ध करना था। कथा इस बिन्दु पर सहसा समाप्त हो जाती है क्योंकि पाण्डुलिपि के शेष पृष्ठ अप्राप्य हैं। काव्य के इस

सबसे दीर्घ आख्यान का शीर्षक है 'राधा-विरह'।[1] इस भाग के गीतों की शैली, इसी विषय पर रचित परवर्ती प्रगीतों की शैली से साम्य रखती है। इस भाग के कम-से-कम कुछ गीतों की लोकप्रियता अठारहवीं शती के अन्त तक बल्कि उसके भी बाद तक बनी रही।

बड़ु चण्डीदास का काव्य मध्य बाङ्ला साहित्य के नाटकीय काव्य के निकटतम पहुँचता है। उसमें केवल तीन पात्र हैं और वे पहले से रूढ़िबद्ध रूप धारण कर चुके हैं। परन्तु कवि ने इस रूप में उनकी स्वरूप-रचना की है कि वे जीवन्त प्रतीत होते हैं। कृष्ण में मानवल्लभ अनगढ़ता और अभद्रता मिलती है; इस बात के बावजूद कि वे राधा और बड़ाइ को प्रायः स्मरण दिलाते रहते हैं, उनकी अलौकिकता को कोई गम्भीरता से नहीं ले सकता। वे एक ओजस्वी नवयुवक हैं जो परिणाम की चिन्ता किये बिना भोग करने के लिए कटिबद्ध हैं। राधा के चरित्र का वर्णन करने में कवि ने अधिक कुशलता का परिचय दिया है; उन्होंने बड़े कौशल से उन सामान्य स्थितियों का उद्घाटन किया है जिनसे गुज़रकर एक अनुभवहीन किशोरी का मन प्रौढ़ता को प्राप्त करता है। इन दोनों चरित्रों की तरह बड़ाइ पौराणिक चरित्र नहीं है। उसका आधार समसामयिक साहित्य में बहुत प्रचलित[2] एक ऐसा पात्र-वर्ग है, जिसका मुख्य उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना होता था, किन्तु बड़ाइ न तो केवल एक मसखरे पात्र की भूमिका करती है और न ही वह हमेशा दुष्ट वृद्धा के रूप में सामने आती है। कथा के आरम्भ में उसका रूप कुछ भी रहा हो, लेकिन यह निश्चित रूप से महसूस होता है कि उसके मन में दोनों प्रेमियों के प्रति हित की भावना थी और कथान्त से पूर्व उसका पूर्णतः हृदय-परिवर्तन हो गया था। जब राधा को उसके कपटी प्रेमी ने अनिश्चय में छोड़ दिया तो वह राधा को लेकर वस्तुतः बहुत चिंतित हुई।

काव्य की शैली और पदावली मनोहर है और उसकी नाटकीय गति प्रगीतात्मक प्रभाव को और भी तीव्र बनाती है। सभी गीत बाङ्ला में लिखे गये हैं, ब्रजबुली में नहीं। लेकिन ब्रजबुली की पदावली के कुछ अंश, कुछ इक्के-दुक्के रूपों में दिखाई पड़ते हैं।

चैतन्य की रुचि कृष्ण-सम्बन्धी गीत सुनने में थी और जैसा कि उनके प्राचीन जीवनीकारों का कहना है, उन्हें जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के गीत विशेष प्रिय थे। इसी कारण चण्डीदास के नाम को विशेष महत्त्व मिला और वह स्थायी रूप से शेष

---

1. इसका उल्लेख 'खंड' के रूप में नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसी लेखक के द्वारा रचित मूलतः स्वतन्त्र काव्य रहा होगा। प्रगीतात्मक-काव्यों के स्वतन्त्र विषय के रूप में 'राधा-विरह' का उल्लेख सोलहवीं शताब्दी की अनेक रचनाओं में मिलता है।
2. ज्योतिरीश्वर के *वर्णरत्नाकर* में एक कुटनी का संक्षिप्त वर्णन है, जो मानो बड़ु चण्डीदास की बड़ाइ का हूबहू प्रतिरूप प्रतीत होता है। विद्यापति के एक प्रगीत में भी इस प्रकार का एक चरित्र मिलता है।

दो नामों के साथ जुड़ गया। एक धोबिन के साथ (जिसका नाम अलग-अलग तारा, रामतारा या रामी मिलता है) चण्डीदास के साहचर्य और प्रेम की अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। लेकिन ये कथाएँ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व की नहीं हैं। चण्डीदास के मोह की यह कथा उतनी ही अप्रामाणिक है जितनी रानी लछिमा के साथ विद्यापति की घनिष्ठता की। इस कथा का विकास सम्भवतः इस तथ्य या कल्पना के कारण हुआ कि चण्डीदास तांत्रिक देवी बासुली के पुजारी थे। बासुली देवी की परिचारिका 'योगिनियों' को 'नित्या' (देशभाषा में नेता) कहा जाता था। एक नेता देवताओं की भी धोबिन थी, जैसा कि बेहुला की कथा में मिलता है। इस प्रकार चण्डीदास की निप्ठा और प्रेम की सहचरी के रूप में अन्ततः एक धोबिन की कथा का विकास हुआ। एक वैष्णव तांत्रिक के बहुत बाद में लिखित काव्य की पहली पंक्ति से संकेत मिलता है :

> "बाशुली के आदेश पर नित्या के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए अग्रसर हुई।"

जब चण्डीदास की ख्याति वैष्णव तांत्रिकों के बीच खूब प्रतिष्ठित हो गयी तो समय बीतने के साथ-साथ उनका नाम विस्मृत और अर्ध-विस्मृत तथा प्रसिद्ध कवियों की कविताओं और गीतों के साथ उसी तरह जोड़ दिया गया, जैसे ब्रजवुली के गीत विद्यापति का नाम ग्रहण करते गये। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के संग्रहकारों ने ऐसे तमाम गीतों का संग्रह किया जिन पर चण्डीदास के हस्ताक्षर (भणिता) हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर शेष में से कोई भी बड़ु चण्डीदास की रचना नहीं मानी जा सकती। पुरानी पाण्डुलिपियों में उपलब्ध श्रेष्ठतम गीतों में सोलहवीं शताब्दी के कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध वैष्णव कवियों का नाम मिलता है। शेष गीतों की संख्या बहुत बड़ी है, किन्तु उनका विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं है। या तो चण्डीदास नाम के दूसरे कवि हुए हैं या उनके नाम से लिखते रहे हैं। किन्तु एक बहुत घटिया लेखक को छोड़कर, जिसने परिमाण में बहुत अधिक लिखा है, इन लोगों के अस्तित्व को असन्दिग्ध रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन अनुमानित चण्डीदासों में से एक का उल्लेख 'द्विज' चण्डीदास कहकर किया गया है। पुराने कवि चण्डीदास को काफ़ी विश्वास के साथ बहुत थोड़े-से गीतों की ही रचना का श्रेय दिया जा सकता है। चण्डीदास के नाम से रचित रहस्यवादी गीतों की संख्या भी काफ़ी है। यह असम्भव नहीं है कि इनमें से कुछ की रचना बड़ु चण्डीदास ने की हो, क्योंकि जैसा कि *श्रीकृष्ण कीर्तन* से हमें ज्ञात होता है, वे योगमार्ग से अनभिज्ञ न थे। किन्तु ये गीत अब जिस रूप में मिलते हैं, उसमें ये परवर्ती वैष्णव सिद्धान्तों से सराबोर हैं और विदेशी शब्द और आधुनिक पद उनमें बिखरे हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि सोलहवीं शताब्दी के कुछ प्रमुख वैष्णव कवियों ने कुछ ऐसे रहस्यवादी गीत लिखे थे। वैष्णवों में इन्हें 'रागात्मिका पदावली' (भक्तिपरक प्रेम से सम्बद्ध गीत) कहा जाता था।

अपौराणिक विषय पर रचित सबसे प्राचीन और पूर्णतः समरूप ज्ञात समाख्यान काव्य विप्रदास द्वारा रचित *मनसाविजय* है। विप्रदास हुगली के पश्चिमी तट के निकट स्थित एक गाँव के ब्राह्मण निवासी थे। काव्य के आरम्भ में विप्रदास ने अपने और अपने परिवार के बारे में एक अत्यन्त संक्षिप्त-सा ब्यौरा दिया है। इसके उपरान्त उन्होंने काव्य-रचना के समय (1495) और अवसर का उल्लेख किया है :

> वैशाख मास में शुक्ल पक्ष की दशमी की रात्रि को पद्मा ने सिरहाने बैठकर मुझे उपदेश दिया। पद्मा ने पांचाली काव्य की रचना का आदेश दिया। उनके आदेश का ही मुझे भरोसा है। मैं तो कुछ विशेष जानता नहीं। मैंने कवियों, गुरुओं और ज्ञानियों के प्रति क्षमा-निवेदन करके देवी पर शास्त्र के अनुसार गीत-रचना की है। यह शक वर्ष है जिसकी गणना समुद्रों (7), चन्द्रमा (1), वेदों (4) और पृथ्वी (1)[1] के द्वारा की गयी है, जब राजा हुसैन शाह गौड़ के प्रधान हैं।

पुस्तक की हस्तलिखित प्रतियाँ बाद की हैं, ओर चूँकि यह काव्य उस इलाके में लोकप्रिय था, इसलिए कुछ प्रक्षेप उसमें प्रवेश कर गये हैं। लेकिन वे बहुत मामूली क़िस्म के हैं और आसानी से दिखाई पड़ जाते हैं। मनसा देवी की कथा यहाँ जिस रूप में प्रस्तुत की गयी है वह वास्तव में प्राचीन है और वह उस रूप में इस वर्ग के अन्य एवं परवर्ती काव्यों में नहीं मिलती। शैली सरल और सपाट है, ओर कथा में रुचि कभी मन्द नहीं होती।

कुछ लोगों का विश्वास है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में इसी देवी पर एक और काव्य की रचना हुई थी। यह विजयगुप्त-कृत *मनसामंगल* है। परन्तु अनुमानित रचना-काल शक 1416 (ई. 1494) के समर्थन में कोई हस्तलिखित सामग्री नहीं मिलती। मूल पाठ के अनेक प्रकाशित संस्करण हैं, उत्तरोत्तर हर संस्करण में सम्पादकों द्वारा संशोधन दिखाई पड़ते हैं। इस पर अनेक कवियों और गायकों के हस्ताक्षर हैं। भाषा निश्चित रूप से बहुत आधुनिक है। यह बात ध्यान देने की है कि इनमें से श्रेष्ठतम और प्राचीनतम संस्करण में रचना का कोई समय नहीं दिया गया। परन्तु कुछ आख्यानों में किसी प्राचीन स्रोत की ओर संकेत मिलता है। कवि पूर्वी बंगाल के निचले भाग (बारिसाल) का निवासी था।

कम-से-कम अन्तिम पाल राजा के समय से, राजाओं और सामन्तों के दरबारों में मनोरंजन के लिए *महाभारत* के पाठ का प्रचलन था। सदियों के अन्धकार के बाद इस प्रथा के पुनरारम्भ की झलक हुसैन शाह के अधीन एक प्रादेशिक क्षत्रप के छाया-दरबार में दिखाई पड़ती है। इस बीच ब्राह्मणों की जगह, जो विशेषकर *रामायण*

---

1. इन अंकों को बाईं ओर से दाईं ओर पढ़ने पर पंक्ति से शक वर्ष, 1417 (ई. 1495-96) निकलता है।

के पाठ के विशेषज्ञ होते थे, कायस्थ *महाभारत* के लगभग पेशेवर वाचक हो गये। मध्य बाङ्ला साहित्य में 'महाभारत' पर आधारित आख्यान-काव्यों के लेखक जाति से केवल कायस्थ लोग होते थे। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि *श्रीकृष्णविजय* का लेखक मालाधर बसु कायस्थ था।

बाङ्ला में *महाभारत* की कथा लिखनेवाला प्राचीनतम कवि परमेश्वर दास था, जिसके पास 'कवीन्द्र' की उपाधि थी। वह हुसैन ख़ाँ के 'लसकर' और चटगाँव के गवर्नर परागल ख़ाँ का दरबारी कवि था। अपने आश्रयदाता के अनुरोध पर, जो कौरव-पाण्डवों के संघर्ष से सम्बद्ध कथाओं से कभी नहीं ऊबता था, कवि ने महाकाव्य की कथा को बाङ्ला में छन्दोबद्ध कर दिया। यह काव्य अभी तक मुद्रित नहीं हुआ। किन्तु हस्तलिखित प्रतियों से जिनका समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य है, ज्ञात होता है कि इसमें कथा संक्षेप में कही गयी है। स्पष्ट है कि यह कृति लोकप्रिय रही होगी, क्योंकि हस्तलिखित प्रतियाँ देश के सभी भागों से पायी गयी हैं।

परागल के पुत्र नसरत ख़ाँ, जिसे उसके पिता के जीवन-काल में ही 'छुटि ख़ाँ' कहा जाता था, पिता के समान ही कथा का पक्षपाती था। नसरत भी सेनानायक था। टिप्परा पर आक्रमण में उसकी सफलता ने उसे हुसैन शाह का विशेष कृपा-पात्र बना दिया। परमेश्वर के काव्य में अश्वमेध खंड के संक्षिप्त विवरण से उसका सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए उसने *जैमिनीय-संहिता* में प्राप्त अधिक वैविध्यपूर्ण रूपान्तर का अपने दरबारी कवि श्रीकर नन्दी से बाङ्ला में अनुवाद कराया। श्रीकर ने अपनी कथा के आरम्भ में इस प्रकार कहा है :

> एक दिन महामति खान पण्डितों से मंडित सभा में अपने बाँधवों के सहित बैठा था। वह *महाभारत* की अति पुण्य कथा सुन रहा था; जिस रूप में वह पुराण-कथाओं के आधार पर महर्षि जैमिनी द्वारा संगृहीत है। अश्वमेध की कथा सुनकर प्रसन्न होकर खान महाशय ने सभा में आदेश दिया : "व्यास द्वारा रचित *महाभारत* मैंने सुना, जिसे चारुतर-रूप में मुनिवर जैमिनी ने कहा है। भारत में सभी लोग संस्कृत नहीं समझते अतः कवियो, मेरा निवेदन सुनो। देशी भाषा में इस कथा का प्रचार करके जगत् में मेरी कीर्ति का संचार करो।" उनके इस आदेश की माला को शिरोधार्य करके, श्रीकर नन्दी इस पांचाली की रचना करके कहता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि परागल और उसका बेटा नसरत दोनों *महाभारत* के संस्कृत पाठ के वाचन को समझते थे।

7

चैतन्य और उनका आन्दोलन

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में भक्ति-साधना का अत्यन्त जीवन्त विस्फोट हुआ जिसे 'भक्ति-आन्दोलन' कहा जाता है। इसके पूर्ववर्ती स्रोत तीन थे :

(1) वासुदेव कृष्ण की पूजा जो ईसा पूर्व शताब्दियों से चली आ रही थी; (2) गोप-कृष्ण की पूजा जो मधु-स्रोत और पशुओं के देवता के रूप में विष्णु की वैदिक परम्परा पर आधारित थी; और (3) बंगाल के बौद्ध मत की लोकनाथ पूजा, जिसमें अहिंसा और सर्व जीव-दया पर और अलौकिक विधान के प्रति पूर्ण समर्पण की वृत्ति पर विशेष बल दिया जाता था। भक्ति-साधना के ये तीनों स्रोत अँधेरी सदियों में निकट आने लगे और परिणामतः सोलहवीं शताब्दी में उमड़कर बह निकले। सूफ़ी रहस्यवाद ने भी इसके विकास में भौतिक रूप से योगदान किया।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्तिवाद के प्रसार की दो प्रमुख धाराएँ थीं, जिनके मूल स्रोत दो आचार्य—रामानन्द स्वामी और माधवेन्द्र पुरी थे। रामानन्द की गतिविधि का केन्द्र बनारस था। उनका सिद्धान्त अद्वैत दर्शन (स्रष्टा और सृष्टि के बीच अभेद) पर आधारित था, वे उस रूढ़िग्रस्त जाति-प्रथा के पूरी तरह समर्थक नहीं थे, जिसके अनुसार भक्ति-चर्चा और आध्यात्मिक मुक्ति की साधना के मार्ग में केवल ब्राह्मणों को प्रवेश का अधिकार था। रामानन्द के शिष्यों में निम्न जातियों के और यहाँ तक कि अछूत जातियों के लोग शामिल थे। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने सामान्यतः 'निर्गुण ब्रह्म' को राम नाम से अभिहित किया है।

सम्भवतः सिन्ध और पंजाब के (दिल्ली सहित) सूफ़ियों ने पहले देशभाषा को अपनी आध्यात्मिक उत्कंठाओं के काव्यात्मक उद्रेक का माध्यम बनाया। रामानन्द और उनके शिष्यों ने इनका अनुसरण किया। आचार्य निस्सन्देह संस्कृत के विद्वान् थे, किन्तु उनका सन्देश जनसामान्य के लिए था, इसलिए वे बोलचाल की भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उनके सर्वोत्तम शिष्य सम्भवतः जन्मना मुसलमान और जाति के जुलाहे थे। उनके कुछ पदों और दोनों में भक्ति-चेतना की अभिव्यक्ति रहस्यवादी योग-साधना के पुराने माध्यम से की गयी है और इस प्रकार उन्होंने चर्या पदों की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

भक्तिपरक रहस्यवाद की पूर्वी शाखा ने 'बाल-गोपाल' की आराधना की। जहाँ तक हमें ज्ञात है, इसका आरम्भ माधवेन्द्र पुरी ने किया था। वे 'संन्यासियों के अद्वैत' सम्प्रदाय के होकर भी, अनन्य भक्ति-भाव से बाल-कृष्ण की एक मूर्ति की उपासना करते थे, जो उन्हें मथुरा में मिल गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि माधवेन्द्र मथुरा में वैष्णव केन्द्र के संस्थापक थे, जिसे चैतन्य के अनुरोध पर सनातन और रूप ने वृन्दावन में स्थापनान्तरित किया था। चैतन्य ने ब्रज के आख्यान से सम्बद्ध कुछ धार्मिक स्थल खोज निकाले थे। इस स्थानान्तरण के कुछ और भी कारण थे। माधवेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ शिष्यों में से एक ईश्वर पुरी थे। वे गंगा के किनारे कुमार हट्ट (कलकत्ता से लगभग 40 किलोमीटर उत्तर) के निवासी थे। ये चैतन्य के गुरु थे। ऐसे गुरु, जिन्होंने एक अत्यन्त उत्साही और तेजस्वी युवा पण्डित को एक ऐसे आवेगमय 'भक्त' में परिवर्तित कर दिया था, जो हर सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति का हृदय मोह लेता था। चैतन्य के दो सर्वाधिक प्रभावशाली शिष्य अद्वैत और नित्यानन्द थे। ये दोनों ब्राह्मण थे, और उनसे वय में कई वर्ष बड़े थे। उनका माधवेन्द्र से निकट सम्पर्क हुआ था। माधवेन्द्र समय-समय पर बंगाल और उड़ीसा से होते हुए मथुरा से दक्षिण भारत तक और वापस लम्बी पदयात्रा किया करते थे और अपने साथ अपनी मूर्ति की उपासना के लिए चन्दन की लकड़ी लाया करते थे। इस प्रकार माधवेन्द्र ने दक्षिण और उत्तर भारत की दो भक्ति-धाराओं का परस्पर संयोग किया। इस बोध से इस बात का अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है कि इस यात्रा के दौरान माधवेन्द्र की भेंट *भागवत पुराण* के पहले बाङ्ला रूपान्तर के लेखक मालाधर बसु से हुई होगी।

माधवेन्द्र ने ग्रन्थ-रचना नहीं की, किन्तु उनके द्वारा लिखित संस्कृत के कुछ छन्द मिलते हैं। उनके छन्दों में से एक विलक्षण है। ऐसा माना जाता है कि यह उन्होंने अपनी मृत्युशय्या पर कहा था, उसमें ईश्वर के अत्यन्त भावप्रवण प्रेमी के हृदय का उद्‌घाटन हुआ है :

> "हे मेरे स्वामी, दीन दयार्दनाथ, हे मथुरानाथ, तुम मेरी ओर कब निहारोगे? मेरे प्रियतम, तुम्हारे विरह में मेरा हृदय घुल रहा है और बैठा जा रहा है। मैं अब क्या करूँ?"

बंगाल के इस वैष्णववाद ने अपनी प्रेरणा *भागवत* के उस पाठ से ली, जिसका मूल सम्भवतः दक्षिणी भारत (कर्नाटक) था। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल में यह कर्नाटक से आनेवाले आप्रवासियों के द्वारा लाया गया था, जो बहुत समय से मिथिला में बसे हुए थे। उनमें से कुछ सुलतान के दरबार में उच्च पदाधिकारी थे। हुसैन के दो अत्यन्त विश्वास-पात्र अधिकारी सनातन और रूप, भाई थे, जिनके पूर्वज कर्नाटक के निवासी थे, और हमें यह ज्ञात है कि चैतन्य से मिलने से पूर्व ये भाई 'भागवत' वैष्णव मत को हृदयंगम कर रहे थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भक्त वैष्णवों के द्वारा *भागवत* का अध्ययन शान्तिपुर और नवद्वीप (नदिया) पहुँच चुका था, जो

ब्राह्मणवाद और संस्कृत विद्या के सर्वोत्तम केन्द्र बन चुके थे। केवल दरबार से सम्बन्ध रखनेवाले महत्त्वाकांक्षी विद्वान् गौड़ आते थे और दरबारी वातावरण से दूषित होने का और विदेशी सम्पर्क के लांछन का ख़तरा उठाते थे।

चैतन्य (या विश्वम्भर, जो घरेलू जीवन में उनका वास्तविक नाम था) का जन्म नवद्वीप में मार्च 1486 में हुआ था। दो भाइयों में वे छोटे थे। उनके पिता जगन्नाथ मिश्र मूलतः उत्तर-पूर्वी बंगाल (सिलहट) के रहनेवाले थे। उनकी माँ शाकी अद्वैत आचार्य की शिष्या थीं। वे अत्यन्त प्रभावशाली और विद्वान् पण्डित थे, और स्वयं भी सिलहट-निवासी थे। चैतन्य के बड़े भाई विश्वरूप उनसे दस-बारह वर्ष बड़े थे, और वे अद्वैत के गम्भीर शिष्य थे। विश्वरूप को जब ज्ञात हुआ कि उनके पिता उनके विवाह का आयोजन कर रहे हैं, तो वे घर छोड़कर संन्यासी हो गये, क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक विचारों को पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था, और वे गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करना चाहते थे। उनके माता-पिता को इस घटना से कठोर आघात पहुँचा, क्योंकि उन्होंने अपने विद्वान् पुत्र से बहुत ऊँची आशाएँ बाँध रखी थीं। पहले उन्होंने अपने छोटे बेटे को पाठशाला नहीं भेजा क्योंकि उनको आशंका हुई कि संस्कृत की शिक्षा से कहीं उसका भी सिर न फिर जाए। पर बालक के ज़िद करने पर पिता द्रवित हो गये। वह उनका लाड़ला था। किन्तु पाठशाला की शिक्षा से उसकी प्रकृति नहीं बदली। चैतन्य घर के भीतर और बाहर छोटे-से तानाशाह की तरह बड़ा होने लगा, लेकिन फिर भी उस गौरवर्ण सुन्दर बालक और उसके सम्मोहक व्यवहार से कोई मुग्ध हुए बिना नहीं रह पाता था। जगन्नाथ अपने बड़े पुत्र के बिछोह का दुःख बहुत समय नहीं झेल सके, और चैतन्य पर उनकी मृत्यु का प्रभाव संयमकारी हुआ। पूरा मन लगाकर उसने ज्ञान-साधना की। थोड़े ही समय में चैतन्य की ख्याति एक वैयाकरण और साथ ही एक सामान्य. विद्वान् के रूप में हो गयी।

सोलह वर्ष की आयु में चैतन्य का विवाह, उनकी अपनी पसन्द की एक विनीत और आज्ञापरायणा लड़की लक्ष्मीप्रिया से हो गया, और उन्होंने अपना विद्यालय आरम्भ कर दिया। इसके उपरान्त उन्होंने पूर्व बगाल की यात्रा की, सिलहट में अपने पैतृक घर को देखा, और वहाँ अपने पूर्वजों के धनवान शिष्यों से मिले। घर लौटने पर उन्होंने पाया कि उनकी बालिका-वधू की मृत्यु हो चुकी थी। कुछ समय बाद चैतन्य को पुनर्विवाह के लिए राज़ी कर लिया गया। उनकी दूसरी पत्नी, विष्णुप्रिया नवद्वीप के एक समृद्ध और प्रभावशाली परिवार की थी। दूसरे विवाह के कुछ ही समय उपरान्त वे अपने पिता का श्राद्ध करने गये। वहाँ उनकी भेंट माधवेन्द्र पुरी के शिष्य ईश्वर पुरी से हुई; और उनकी आध्यात्मिकता से आकर्षित होकर, उन्होंने उनसे दीक्षा ले ली। यह सम्भवतः चैतन्य के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। युवा अवस्था में यह ब्राह्मण लड़का, जो जीवन में सुखी-सम्पन्न है, नवद्वीप के युवा विद्वानों का स्वीकृत नेता है, अपने विलक्षण रूप और तेजस्वी बौद्धिकता के कारण सबको प्रिय

है, एक क्षण में भावुक रहस्यवादी हो जाता है। चैतन्य यहाँ से सीधे वैष्णवों के सर्वाधिक पवित्र स्थल मथुरा को जाना चाहते थे। उनके साथी और परिचारक अपनी सेवा से जिन्हें सुरक्षित घर लौटा लाए वे प्रायः निमाई पण्डित के नाम से जाने जाते थे। उनके रुख़ में इस परिवर्तन से उनके कुछ मित्रों, पड़ोसियों और हितैषियों को प्रसन्नता हुई—ऐसे लोगों को जिनकी आस्था और रुझान वैष्णव धर्म में था और जो इस लड़के की मनमौजी आदतों के बावजूद हमेशा इसके प्रति आकर्षित रहते थे।

चैतन्य को नवद्वीप के इस छोटे-से मण्डल का नेता स्वीकार कर लिया गया, जिसका संगठन नवद्वीप के उन लोगों ने किया था, जिन्हें प्रच्छन्न वैष्णव कहा जा सकता है। चैतन्य के आरम्भिक शिष्यों में कुछ उनके विद्यार्थी थे जिन्हें वे अब और शिक्षा देने में असमर्थ थे। चैतन्य और उनके सम्प्रदाय के दूसरे साथी उपासना की एकमात्र विधि के रूप में केवल कृष्ण-विष्णु के विभिन्न नामों का उच्चारण करते हुए, इकट्ठे गाते और नृत्य करते थे। यह 'संकीर्तन' (एकत्र होकर ईश्वर के नाम का गान) का आरम्भ था, जिसकी शुरुआत चैतन्य ने सामूहिक उपासना की एकमात्र विधि के रूप में की थी। इससे जनता के द्वारा ईश्वर-उपासना में स्वतन्त्रता के अधिकार का आग्रह करने की शुरुआत हुई। संकीर्तन के अनूठेपन ने जनता की रुचि को आकर्षित किया। लोगों की मिली-जुली भीड़ से बाधा पाकर चैतन्य और उसके अनुयायी रात्रि के समय श्रीवास पण्डित के निवास पर एकत्र होकर ईश्वर के नाम और महिमा का भजन-कीर्तन करते थे। वे चैतन्य के पुराने पड़ोसी और पारिवारिक मित्र थे। दिन के समय जनता के लिए भ्रमण करते हुए कीर्तन[1] करने का दायित्व नित्यानन्द और हरिदास को सौंप दिया गया। मित्र लोग गौरवान्वित अनुभव करने लगे और फिर उन्होंने कानाफूसी करनी शुरू कर दी कि चैतन्य ही वह ब्राह्मण है, जिसके भाग्य में गौड़ का राजसिंहासन लिखा है। जो लोग चैतन्य से अप्रसन्न थे, उन्होंने इस अफ़वाह से लाभ उठाकर मोहल्ले के काजी से शिकायत की। परिणामस्वरूप जनता में संकीर्तन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

परन्तु चैतन्य ने प्रतिबन्ध के इस ग़लत आदेश के प्रति समर्पण नहीं किया। काज़ी को चुनौती देते हुए उन्होंने नवद्वीप की गलियों में एक संकीर्तन-मण्डल का नेतृत्व किया। इस मण्डली ने धीरे-धीरे विराट् जनसमूह का रूप धारण कर लिया और ऊँचे स्वर में ईश्वर का नाम का संकीर्तन करती हुई यह नगर में भ्रमण करते-करते अंततः काजी के निवास-स्थान पर पहुँची। विशाल जनसंख्या और उसके उग्र रूप से काजी आतंकित हो गया और उसने बन्द दरवाजों के पीछे शरण ली। चैतन्य ने उसे निडर होकर बाहर आने के लिए पुकारा। काजी अत्यन्त संयत भाव से बाहर आया,

1. संकीर्तन से कीर्तन इसलिए भिन्न है कि वह किसी एक व्यक्ति के द्वारा, सहायक के साथ या उसके बिना भी किया जाता है।

उसने विनम्रतापूर्वक अपने अन्यायपूर्ण आदेश के लिए क्षमायाचना की और उसे वापस ले लिया। इस घटना से चैतन्य की प्रतिष्ठा नवद्वीप के प्रमुख नेता के रूप में हो गयी। भारत के इतिहास में नागरिक अवज्ञा की सम्भवतः यह पहली घटना थी।

चैतन्य के भीतर यह अलौकिक चिनगारी क्रमशः एक अपूर्व लौ के रूप में भड़क रही थी। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि उनके शिष्य और प्रशंसक उन्हें अवतार समझने लगे। लेकिन चैतन्य को अवतार बनने की चिन्ता न थी। उनका कर्त्तव्य या लक्ष्य था—छोटे-से-छोटे व्यक्ति को ईश्वर-भक्त बनाना। वे जनता को हर प्रकार के सामाजिक बन्धनों, राजनीतिक दासता और जातीय एवं सैद्धान्तिक अन्तर्बाधाओं से मुक्त करना चाहते थे। उनके लिए एक मनुष्य के रूप में ऊँची जाति के ब्राह्मण पुरोहित और नीची जाति के भंगी में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि वे दोनों ईश्वर में और ईश्वर उनमें वास करता था। उनके अनुसार हर व्यक्ति के भीतर अन्तर्निहित अलौकिक चिनगारी को जगाने का सबसे अच्छा और सरल मार्ग है, विनय, समर्पण और निःस्वार्थ भाव से ईश्वर का नाम जपते-जपते ईश्वरमय हो जाना।

नित्यानन्द के (जिनका नाम चैतन्य के बाद सबसे अधिक सम्मान से लिया जाता है,) मत में सम्मिलित होने से पहले चैतन्य को अपने मत के प्रचार में अद्वैत आचार्य और हरिदास से सर्वाधिक सहायता मिली। आचार्य तो चैतन्य की बुद्धि के थे, और हरिदास वैष्णव मत में परिवर्तित एक सूफ़ी थे, जिनका व्यक्तित्व बहुत विलक्षण था। नवद्वीप अब एक धार्मिक महापरिवर्तन की हलचल में था। काजी के दमन के बाद, चैतन्य की सबसे भव्य विजय जगाई और माधाई नाम के दो ब्राह्मण भाइयों के हृदय-परिवर्तन के रूप में हुई; जो अत्यन्त दुश्चरित्र और कुख्यात थे। जिन्होंने लम्पटता और ग़ैरकानूनी ढंग से जीने का फ़ैसला कर लिया था।

आयु के चौबीसवें वर्ष में (1509) चैतन्य ने गृहस्थ जीवन का त्याग कर दिया और वे 'संन्यासी' हो गये। उन्होंने पुरी को अपना निवास बनाया, जो सबसे निकटस्थ ऐसा धार्मिक तीर्थ-स्थल था, जहाँ वैष्णव भिक्षुक शांतिपूर्ण जीवन बिता सकता था। इसके अतिरिक्त उड़ीसा अब तक मुसलमान शक्ति के अधीन नहीं हुआ था। उनके छह वर्ष उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी भारत में तीर्थाटन करते हुए बीत गये।

मथुरा जाने का उनका पहला प्रयास गौड़ के पास रामकली में समाप्त हो गया क्योंकि बंगाल से बहुत बड़ा जनसमूह उनका अनुसरण करता हुआ वहाँ चला आया। वहाँ पहली बार उनकी भेंट सनातन और रूप भाइयों से हुई। चैतन्य जब अगली बार तीर्थाटन के लिए निकले तो जनसमूह से बचने के लिए वे मयूरभंज और झारखंड के वन्य प्रदेशों से होते हुए काशी, प्रयाग और मथुरा गये। वृन्दावन में उन्होंने कुछ पवित्र स्थल खोज लिए और वहाँ वैष्णव क्रियाकलाप के बंगाली सम्प्रदाय की नींव डाली। उनसे पहले माधवेन्द्र पुरी ने मथुरा में कृष्ण की उपासना आरम्भ कर दी थी। वापसी यात्रा में उन्हें प्रयाग में रूप और काशी में सनातन मिले। दोनों भाइयों ने तब तक

सुलतान की नौकरी छोड़ दी थी और वैष्णव भिक्षुओं का जीवन अपना लिया था। चैतन्य ने दोनों भाइयों को वृन्दावन जाकर वहाँ सम्प्रदाय के शिक्षक के रूप में बस जाने का आदेश दिया। यह तीर्थ-यात्रा आरम्भ करने से पहले चैतन्य ने सम्पूर्ण दक्षिणी भारत, दक्खन और गुजरात की यात्रा पूरी कर ली थी। इस यात्रा के दौरान उनकी भेंट गंजम में रामानन्द राय से हुई, जो उड़िया राजा के वायसराय थे और हृदय से श्रद्धालु रहस्यवादी वैष्णव थे।

अपने जीवन के अन्तिम अठारह वर्षों में (1515-33) चैतन्य ने पुरी नहीं छोड़ी। वे प्रतिदिन मन्दिर आते थे, गरुड़ स्तम्भ के समीप खड़े हो जाते थे, घण्टों देवमूर्ति पर आँखें जमाए, उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहती रहती थी। तदुपरान्त वे घर लौट आते थे और अपने प्रियतम से विषण्ण वियोग की घड़ियाँ गदाधर पण्डित से, जो उनके बाल्यकाल के साथी थे *भागवत* का पाठ सुनकर बिताया करते थे। और साथ ही दामोदर स्वरूप से अपने प्रिय कृष्ण पर जयदेव एवं अन्य कवियों के द्वारा रचित गीतों का गायन सुना करते थे। उनकी रातें दुःखपूर्ण भाव-समाधि में बीतती थीं। हर वर्ष 'रथयात्रा' के अवसर पर, बंगाल के सुदूरतम भागों से उनके पुराने मित्र, शिष्य और भक्त पुरी में एकत्र होते थे और उनके साहचर्य में सुखपूर्वक चौमासा बिताते थे। इस वार्षिक तीर्थ यात्रा से बंगाल और उड़ीसा के निकट सम्पर्क स्थापित होता था।

चैतन्य अब देव-रूप हो गये थे, और बहुत से लोग उन्हें अवतार मानते थे। अद्वैत समेत उनके कुछ शिष्यों ने उनकी गौरांग रूप में (घरेलू जीवन में चैतन्य के अनेक नामों से एक : अभिधार्थ 'गौर वर्ण वाला') पूजा आरम्भ कर दी थी और निरन्तर पूजा के लिए बंगाल में अनेक स्थलों पर उनकी काष्ठ प्रतिमा स्थापित कर दी गयी थी। एक बार पुरी की वार्षिक यात्रा के अवसर पर अद्वैत ने सार्वजनिक रूप से चैतन्य को अवतारों में नवीनतम और महानतम घोषित किया और उनके नाम के कीर्तन का चलन आरम्भ कर दिया। चैतन्य को यह बात बिलकुल अच्छी नहीं लगी पर बात अब सबके वश के बाहर हो चुकी थी और साथ ही लोगों का उत्साह असीम था, जिसे नियन्त्रित करना सम्भव नहीं था। अद्वैत ने निम्नलिखित दोहे की रचना की जो चैतन्य पर सर्वप्रथम कीर्तन-छन्द है :

> "श्री चैतन्य, नारायण, करुणा के सागर, दुखियों के बन्धु प्रभु मुझ पर दया करो।"

चैतन्य ने बहुत नहीं लिखा। संस्कृत में आठ अनुच्छेदों में रचित काव्य, जिसे वैष्णवों में *शिक्षाष्टक* कहा जाता है, वस्तुतः उनकी एकमात्र प्राप्यलिखित रचना है, और इसमें उनकी निष्ठा का स्पष्टतम निरूपण मिलता है। यह काव्य, जिसका अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है, संक्षेप में, किन्तु भावपूर्ण ढंग से, भक्ति और प्रेम में चैतन्य के विश्वास की महिमा को व्यक्त करता है :

"ऐसे कृष्ण संकीर्तन की जय हो, जो चित्त रूपी दर्पण का मार्जन करनेवाला है, संसार की भयंकर दावाग्नि को बुझानेवाला है, श्रेयरूपी कुमुद के लिए चन्द्रिका के प्रसार में समान है, विद्यारूपी वधू का प्राण है, आनन्द रूपी समुद्र की वृद्धि करनेवाला है, जो पद-पद पर पूर्णामृत के स्वाद की अनुभूति करानेवाला है और सभी प्रकार से आत्मा को स्वच्छ करानेवाला है ॥1॥

तुमने अपने को नाना नाम देकर, प्रत्येक नाम में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की है, अपने भजन के लिए तुमने कोई समय निश्चित नहीं किया। हे भगवन्, तुम्हारी ऐसी कृपा है किन्तु यह स्थिति होने पर भी ऐसा अभागा हूँ कि मेरे मन में अनुराग ही उत्पन्न नहीं होता ॥2॥

अपने को तृण से भी तुच्छ समझते हुए, वृक्ष की भाँति अपने को सहनशील रखते हुए, निरभिमान होकर दूसरे को मान देते हुए सदा भगवान् का कीर्तन करना चाहिए ॥3॥

हे जगदीश, मैं धन, जन, सुन्दरी, अथवा कविता, किसी की कामना नहीं करता। केवल तुझ ईश्वर में जन्म-जन्मान्तर तक मेरी निष्काम भक्ति बनी रहे ॥4॥

हे नन्दनन्दन, मैं तुम्हारा किंकर, इस विषम संसार-सागर मे पड़ा हुआ हूँ। तुम मुझे अपने चरण-कमल की धूल के सदृश समझो ॥5॥

हे भगवन्, ऐसा समय कब आएगा जब तुम्हारा नाम लेकर मेरे नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगेगी। मेरा कंठ गद्‌गद वाणी से अवरुद्ध हो जाएगा और मेरा शरीर रोमांचित हो जाएगा ॥6॥

गोविन्द के विरह में मेरे लिए निमिष युग के समान है। आँखो से वर्षा की झड़ी लगी है। सारा जगत् शून्य दिखाई पड़ता है ॥7॥

मुझे चरणों में नत देखकर चाहे वह हृदय से लगा लें अथवा मुझे अपने दर्शन से दूर करके मार्मिक पीड़ा पहुँचाएँ—वह लम्पट मेरे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे, परन्तु मेरे प्राणों का स्वामी वही है, कोई दूसरा नहीं ॥8॥"

चैतन्य के उपरान्त बंगाल में वैष्णव मत के मान्य नेता अद्वैत और नित्यानन्द हुए। नित्यानन्द चैतन्य से कुछ वर्ष बड़े थे और वे उनके बाद दस-बारह वर्ष जीवित रहे। किशोरावस्था से ही नित्यानन्द प्रदत्त प्रकृत्या एक व्याकुल आत्मा थे। अपनी किशोरावस्था में उन्होंने एक भिक्षुक योगी की संगति में घर छोड़ दिया था पर उत्तरी भारत की दूर-दूर तक यात्रा की थी। इस दौरान उनकी भेंट माधवेन्द्र पुरी से हुई थी और उन्होंने स्वामी की भक्तिमय आस्था को आत्मसात् किया था। उनका यात्रा-क्रम नवद्वीप पहुँचकर समाप्त हुआ, जहाँ उनकी भेंट चैतन्य से हुई। चैतन्य ने उनके अतिरेक को संयमित करने का बहुत प्रयास किया पर कभी पूरी सफलता नहीं मिली।

चैतन्य ने नित्यानन्द को अपने घर लौटे बड़े भाई के रूप में स्वीकार कर लिया और इस प्रकार यह नवागन्तुक सहज ही दूसरे स्थान का अधिकारी हो गया। जब चैतन्य का जन्म हुआ तो अद्वैत पचास वर्ष के हो चुके थे (और वे नित्यानन्द के बाद कुछ वर्ष जीवित रहे)। उनका स्वभाव न तो नित्यानन्द की तरह चंचल था और न ही अत्यधिक भावुक। अद्वैत अपने समय के अत्यधिक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके लिए पूरी तरह परम्परायुक्त होकर जहाँ-तहाँ हरि नाम चिल्लाते हुए घूमते फिरना सम्भव न था, जो कि नित्यानन्द के लिए स्वाभाविक हो गया था। इसके कारण नित्यानन्द जनसामान्य को बहुत प्रिय हो गये थे इसलिए जब गुरु नहीं रहे तो उन लोगों ने नित्यानन्द का अभिनन्दन उनके स्थानापन्न के रूप में किया। अद्वैत के मित्र और शिष्य प्रभावशाली थे, किन्तु नित्यानन्द के अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में थे और वे बंगाल के हर भाग से आये थे। नित्यानन्द और अद्वैत की मृत्यु के बाद नेतृत्व बहुत दूर तक जाह्नवी देवी के हाथों में चला गया, और कुछ दूर तक सीता देवी के हाथ में। जाह्नवी देवी नित्यानन्द की छोटी पत्नी थी और सीता देवी अद्वैत की। उनके पुत्रों और पौत्रों ने बंगाल में वैष्णव गुरुओं की दो मुख्य प्रणालियाँ आरम्भ कीं, जो गोस्वामी उपनाम से जानी गयीं। अद्वैत और नित्यानन्द ने सरल पद्धति से चैतन्य की उपासना का प्रचार करने का पूरा प्रयत्न किया। नित्यानन्द के अनुयायियों ने एक पग और आगे बढ़ाया : उन्होंने चैतन्य और नित्यानन्द की युगल उपासना का समर्थन किया। ईश्वर के रूप में मनुष्यों की इस युगल उपासना का विरोध करने के लिए सनातन, रूप और जीव[1] के नेतृत्व में वृन्दावन के गोस्वामियों ने कृष्ण और राधा की युगल उपासना की पद्धति चलाई। उससे पहले अकेले कृष्ण की प्रतिमा की उपासना की जाती थी। बंगाल में राधा-कृष्ण की उपासना (चैतन्य नित्यानन्द की उपासना से अलग जिसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी) का प्रवर्त्तन मुख्य रूप से अद्वैत और नित्यानन्द की पत्नियों और उत्तराधिकारियों ने किया।

सनातन और रूप ने चैतन्य की मृत्यु के बाद वृन्दावन में वैष्णव धर्म-विज्ञान और ज्ञान का केन्द्र स्थापित किया। उन्होंने *भागवत* के सम्बन्ध में दृढ़ रवैया अपनाया। उन्होंने चैतन्य और नित्यानन्द के सम्प्रदाय को प्रोत्साहित नहीं किया और भक्तिपरक विषयों और दर्शन पर काव्य, नाटक, अलंकार-शास्त्र, प्रबन्ध आदि ग्रंथ लिख डाले और साथ ही वैष्णव मत की परिनिष्ठित कृतियों पर टीकाएँ भी लिखीं। यह इसलिए नहीं हुआ कि वे चैतन्य की उपासना का बहिष्कार करते थे बल्कि इसलिए कि वे चैतन्य के मत को केवल अवतार-पूजन के सम्प्रदाय के रूप में विकृत होने से रोकना चाहते थे। वृन्दावन के गोस्वामी चैतन्य के अवतार रूप पर विश्वास ही नहीं करते थे बल्कि इससे और आगे बढ़कर यह भी मानते थे कि चैतन्य राधा और

1 वस्तुतः उसका दायित्व अकेले जीव पर था। जब राधा-कृष्ण की युगल उपासना का प्रवेश बंगाल में हुआ तब सनातन और रूप की मृत्यु हो चुकी थी।

कृष्ण के संयुक्त अवतार थे और इसलिए पूर्णतम और निश्चित रूप से अन्तिम अवतार थे। पर वे यह भी मानते थे कि चैतन्य ऐसे अवतार थे, जिन्होंने अपने इस रूप में स्वीकार किये जाने से इन्कार किया था और जो केवल एक मनुष्य के रूप में जाने जाना चाहते थे। उनके अनुसार, चैतन्य का प्रकट लक्ष्य इस अन्धकारग्रस्त युग में मानव-जाति को मोक्ष का सरल मार्ग दिखाना था परन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य स्वयं देवत्व के द्वारा अनुभूत अलौकिक प्रेम के कड़वे-मीठे अनुभव का प्रदर्शन करना था। चैतन्य के जीवन और क्रियाकलाप की यह व्याख्या पहले-पहल स्वरूप-दामोदर के द्वारा प्रचारित की गयी और फिर सिद्धान्त रूप में इसका विकास सनातन और रूप ने, और वृन्दावन में उनके सहयोगियों और अनुयायियों ने किया। इन लोगों ने चैतन्य के मत के विषय में अपनी समझ के आधार पर संस्कृत में पाठ्य-ग्रन्थ और टीकाओं की रचना की और अन्ततः कृष्णदास ने *चैतन्यचरितामृत* की रचना की।

चैतन्य के व्यक्तित्व और मत का प्रभाव आसाम की सीमाओं तक पहुँच गया था। शंकरदेव (मृ. 1568) जो मुख्य रूप से कामरूप और कूच बिहार में 'भागवत वैष्णव मत' के प्रचार के लिए ज़िम्मेदार थे, सम्भवतः चैतन्य से पुरी में मिले थे और उनसे प्रेरणा प्राप्त की थी। चैतन्य की भाँति, शंकरदेव भी बालकृष्ण के उपासक थे; राधा-कृष्ण की युगल उपासना की उन्हें जानकारी नहीं थी। उपासना की यह पद्धति आसाम में केवल सोलहवीं शताब्दी के अन्त में पहुँच पायी थी। इसके परिचय से उस देश में वैष्णव मत में एक विच्छेद पैदा हो गया। शंकरदेव ने (जो स्वयं कायस्थ होने के कारण परम्परागत ब्राह्मण वर्ग के विरुद्ध थे) 'महापुरुषिया' सम्प्रदाय का संगठन किया, और दामोदर देव (जो चैतन्य को कृष्ण और राधा का एक साथ प्रतिनिधित्व करनेवाला पूर्ण अवतार मानते थे) के अनुयायी 'दामोदरिया सम्प्रदाय' के नाम से जाने जाने लगे। 'दामोदरिया सम्प्रदाय' की प्रेरणा असन्दिग्ध रूप से वृन्दावन से उत्पन्न हुई और असम और नवद्वीप से यह मणिपुर पहुँची। उड़ीसा में सामान्यतः बंगाल का वैष्णववाद स्वीकार किया जाता था, परन्तु चैतन्य के प्रमुख अनुयायियों की मृत्यु के बाद, और विशेषकर राज्य के पतन के बाद इसे वहाँ आघात पहुँचा।

वैष्णव मत का वृन्दावनी सम्प्रदाय (छह स्वामी[1] जिसके अध्यक्ष थे, चार बंगाल के निवासी थे, और एक-एक बिहार और दक्षिण भारत के) भारत के सब प्रान्तों से आनेवाले गृहहीन वैष्णवों को शरण देता था। नित्यानन्द और अद्वैत की मृत्यु के कुछ समय बाद बंगाल के वैष्णव नेता वृन्दावन से निर्देशन लेने लगे, और क्रमशः बंगाल का वैष्णव मत रूढ़िवादिता का रंग ग्रहण करने लगा। वृन्दावन सभी वैष्णव भक्तों का आध्यात्मिक और भौतिक लक्ष्य हो गया, और परिणामस्वरूप स्थानीय केन्द्रों (जैसे नवद्वीप, शान्तिपुर, खरदाह और श्रीखंड आदि) का महत्त्व धीरे-धीरे क्षीण हो गया। □

1. षट्गोस्वामी अर्थात् सनातन, रूप, रघुनाथ भट्ट, रघुनाथदास, जीव और गोपाल भट्ट। इनमें से अन्तिम दो से चैतन्य परिचित नहीं थे।

8

साहित्य की नयी प्रवृत्ति

चैतन्य ने बंगाल और उड़ीसा के लोगों को और साथ ही भारत के अन्य भागों के एक बहुत विशाल जन-समूह को, जो उनके निजी सम्पर्क में आया था, एक सार्वजनिक मंच पर एकत्रित किया। यह मुक्त धार्मिक विचारों और आध्यात्मिक भावनाओं का मंच था, जिसने बौद्धिक क्रिया कलाप को प्रोत्साहन दिया और जीवन में नयी रुचि, नयी साहित्यिक एवं कलात्मक प्रेरणा पैदा की। यह सार्वजनिक मंच ऊँचे और नीचे, अमीर और ग़रीब, हिन्दू और मुसलमान सबके लिए खुला था। चैतन्य ने खुलकर जाति-प्रथा का बहिष्कार करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उन्होंने परोक्ष रूप से उसके दुष्प्रभावों को मिटाने का प्रयत्न किया। वे पुरोहिताई के जातिवाद का आदर करते थे, परन्तु उन्होंने स्वयं अपने हाथों से न तो जन्म से मुसलमान हरिदास के मृत शरीर को दफ़नाने में संकोच किया और न उसके अन्तिम संस्कार से सम्बद्ध रीति (उर्स) का पालन करने में। यहीं से मृत्यु से सम्बद्ध रस्म ('महोत्सव') का आरम्भ हुआ और भिक्षुक वैष्णव इसकी बरसी को नियमित रूप से मानने लगे। नित्यानन्द ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित नहीं किया और वे सब लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करते रहे। बाङ्ला के वैष्णववाद में जातिवाद का इस हद तक परित्याग कर दिया गया कि चैतन्य के कुछ ब्राह्मणेतर अनुयायी माने हुए गुरु हुए, जिनके शिष्यों में ब्राह्मण भी शामिल थे। लेकिन इस उदार प्रवृत्ति में वृन्दावन शाखा द्वारा नियत आचार-व्यवहार के कठोर नियमों के आरोप से रुकावट आयी।

सामाजिक स्वतन्त्रता की दिशा में प्रगति की दृष्टि से निश्चित रूप से इससे लाभ हुआ, परन्तु अधिक नहीं। किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव विलक्षण हुआ, इस रूप में कि इसके द्वारा राहत और कृतज्ञता का वातावरण तैयार हुआ और चिन्तनशील लोगों को अपने भावोद्वेलन की अभिव्यक्ति के लिए एक मार्ग मिला—जो निरन्तर काव्य और संगीत में प्रवाहित हुआ। चैतन्य—जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और अन्य कवियों के गीतों के प्रेमी थे और उन्होंने यह प्रेम अपने कुछ अनुयायियों को प्रदान किया था। यह प्रगीतात्मक आवेग का आरम्भ था, जिससे साहित्य और संगीत में जीवन्तता आयी।

चैतन्य का व्यक्तित्व इतना आकर्षक और अभिभूत करनेवाला था और उनका प्रभाव इतना व्यापक था कि अपने जीवन-काल में ही वे ईश्वर के अवतार के रूप में देखे जाते थे। अतः सार्वजनिक श्रद्धा और आस्था का आलोक-वृत्त परम्परागत देवताओं से एक समसामयिक मानव पर स्थानान्तरित हो गया। निष्ठावान लोग विश्वास करने लगे कि चैतन्य के रूप में ईश्वर पृथ्वी पर मानव-रूप में प्रकट हुए हैं। इस विश्वास को उन कृतियों में उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति मिली, जिनमें एक ऐसे मानव के जीवन की महिमा गायी गयी थी जो साक्षात् ईश्वर था।

कुछ फुटकर दोहों और गीतों के अतिरिक्त इस दिशा में आरम्भिक प्रयास संस्कृत में हुए। चैतन्य का पहला जीवन चरित मुरारी गुप्त ने लिखा, जो स्वामी के सबसे पुराने अनुयायियों में से एक थे और उनसे कुछ वर्ष बड़े थे। यह संस्कृत में आख्यान-काव्य के रूप में लिखा गया है और मुरारी गुप्त की दिनचर्या (*कड़चा*) के रूप में जाना जाता रहा है। बाद के सभी जीवनीकारों को इससे चैतन्य के आरम्भिक जीवन के बारे में सामग्री मिली है। अगली रचना एक संस्कृत नाटक है, जो पूर्वी या उत्तर-पूर्वी बंगाल के एक ब्राह्मण भक्त के द्वारा लिखा गया है। लेखक चैतन्य से मिलने और उनसे मान्यता प्राप्त कराने के लिए पुरी आया था, पर उसे प्रोत्साहन नहीं मिला और इसलिए यह कृति नष्ट हो गयी। एक जीवन-चरित में इसका एकमात्र आरम्भिक छन्द उद्धृत मिलता है।

संस्कृत की अगली महत्त्वपूर्ण रचना रघुनाथदास द्वारा रचित एक बहुत छोटा-सा काव्य है। वे एक बहुत बड़ी जागीर के एकमात्र उत्तराधिकारी थे, जिन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग करके पुरी में चैतन्य के चरणों में एक भिक्षुक का जीवन बिताया। रघुनाथ दास अपने स्वामी के जीवन के अन्तिम दस-बारह वर्ष के क्रियाकलाप के साक्षी थे। इसलिए उनके काव्य में हमारे लिए चैतन्य के अन्तिम दिनों के क्रियाकलाप का सर्वाधिक प्रामाणिक विवरण सुरक्षित है। परमानन्द सेन ने, जिनकी उपाधि 'कवि-कर्णपूर' (कवियों का कर्णालंकार) थी और जो चैतन्य के एक अनुयायी के सबसे छोटे पुत्र थे, स्वामी के जीवन पर एक नाटक (*चैतन्य-चन्द्रोदय*) और एक महाकाव्य (*चैतन्यचरितामृत*) की रचना की, जो क्रमशः 1538 और 1542 में पूरे हुए। इस विषय पर कवि का तीसरा प्रयास चैतन्य के अधिक महत्त्वपूर्ण अनुयायियों और उनके शिष्यों के नामों की एक छन्दोबद्ध सूची थी। इस कृति की रचना 1545 में हुई थी।

वृन्दावनदास-कृत *चैतन्यमंगल*, जो *चैतन्य-भागवत* नाम से अधिक प्रसिद्ध है, बाङ्ला में रचित चैतन्य का प्रथम जीवन-चरित है। यह तीन खंडों और बावन अध्यायों में विभाजित एक लम्बा आख्यान-काव्य है। *चैतन्यमंगल* नाम इस बात का संकेत करता है कि यह पौराणिक विषयों पर परम्परागत आख्यान-काव्यों की तरह वाचन और गायन के उद्देश्य से रचा गया था। वृन्दावनदास का यह काव्य आरम्भ से ही बहुत सफल हुआ और इसकी लोकप्रियता बनी रही है। दूसरा नाम *चैतन्य-भागवत*

(जिससे यह काव्य प्रायः जाना जाता है) इस बात का संकेत करता है कि यह चैतन्य की उपासना से उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार कृष्ण की उपासना से *भागवत* सम्बद्ध है। वृन्दावनदास उन श्रीवास पंडित के भाई के पौत्र थे, जो चैतन्य के बुजुर्ग पड़ोसी और सबसे आरम्भिक अनुयायियों में से एक थे। युवक वृन्दावन नित्यानन्द के शिष्य हो गये थे, जिनके अनुरोध पर इस काव्य की रचना की गयी। इसकी सामग्री नित्यानन्द, अद्वैत तथा चैतन्य के अन्य निकट अनुयायियों से प्राप्त की गयी थी। दस्तावेज़ के रूप में इस काव्य की मूल्यवत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता बशर्ते कि हम कवि के पक्षपात की उपेक्षा कर दें और उसके अधिक उद्‌गारों को निरस्त कर दें। रचना का समय ज्ञात नहीं है। न तो इसमें चैतन्य की और न ही नित्यानन्द अद्वैत की मृत्यु का कोई उल्लेख मिलता है। यह निरापद रूप से माना जा सकता है कि कृति का आरम्भ चैतन्य के जीवन-काल में हो गया था और पूर्ति चैतन्य की मृत्यु के उपरान्त और नित्यानन्द के जन्म से पहले। इसका अर्थ यह हुआ कि वृन्दावन का काव्य 1540 के आसपास पूरा हुआ था।

वृन्दावनदास कवि थे और वे अपने वर्णनों के बीच प्रगीतात्मक स्पर्श को बचा नहीं सकते थे। उनकी निष्ठा और उत्साह से अक्सर उनकी पदावली में दीप्ति आ गयी है, जिससे उनकी साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हल्केपन से बच गयी है। संयोग से, इस काव्य में कुछ ऐसे बहुमूल्य ब्यौरे मिलते हैं, जिनसे पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तर काल में चैतन्य के जन्म के समय के बंगाल की सामाजिक स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

वृन्दावन चैतन्य का पूर्णतः मानवीय चित्र प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। उन चरित्रों की विवर्ण और रूढ़िबद्ध कृत्रिमता के विरुद्ध, जो पुराकथाओं और लोककथाओं से लेकर समसामयिक 'मंगल' काव्यों में चित्रित किये गये थे, यह चित्रण कहीं अधिक स्फूर्तिदायक है।

कृष्णदास कविराज का *चैतन्यचरितामृत* अगली महत्त्वपूर्ण जीवनचरितात्मक रचना है। कम-से-कम एक दृष्टि से यह चैतन्य और उनके मत पर रचित किसी भी रचना से अधिक महत्त्वपूर्ण है : इसमें चैतन्य और उनके वैष्णववाद से सम्बन्धित उन साहित्यशास्त्रीय दार्शनिक सिद्धान्तों का अन्तर्भाव है, जिनको दामोदर स्वरूप ने प्रस्तुत किया और सनातन, रूप एवं वृन्दावन-जैसे अन्य वैष्णव नेताओं ने स्वीकृति दी। कृष्णदास ने अपेक्षाकृत छोटी उम्र में घर छोड़ दिया था और वृन्दावन जाकर रहने लगे थे। वहाँ वे रूप और रघुनाथदास के सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे और साथ ही उन्होंने सनातन द्वारा प्रतिष्ठित देव मदनगोपाल की सेवा में प्रभारी का कार्य सँभाल लिया था। कृष्णदास ने चैतन्य को विष्णु के मात्र अवतार के रूप में स्वीकार नहीं किया, जैसा कि वृन्दावनदास ने किया था। वृन्दावनदास से भिन्न, कृष्णदास संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और जैसा ऊपर देखा जा चुका है, वे सनातन, रूप, रघुनाथ और

वृन्दावन के अन्य पुराने वैष्णव नेताओं के साथ निकट सम्पर्क में आये थे, और वृन्दावनदास की तरह वे नित्यानन्द के अनुयायी थे। वृन्दावन-सम्प्रदाय के अनुभवी सदस्य होने के कारण कृष्णदास ने चैतन्य को कृष्ण और राधा का संयुक्त अवतार माना तथा इस नाते अवतारों में पूर्णतम अवतार माना। स्वामी के जीवन का अनेक वर्णन इसी दृष्टिकोण के अनुसार है। जीवन चरित के रूप में कृष्णदास की कृति का स्तर बहुत ऊँचा है क्योंकि अपने वक्तव्यों के बारे में वे कभी प्रमाण उद्धृत करने में नहीं चूके। बहरहाल, *चैतन्यचरितामृत* जीवन-चरित मात्र नहीं है; वह रहस्यवादी और दार्शनिक, दोनो दृष्टियों से वैष्णव मत का सार-संक्षेप है। रचना का समय ज्ञात नहीं है। पाण्डुलिपियों में यह तिथि 1616 स्वीकार की गयी है। लेकिन इतने बाद की तिथि स्वीकार करने के विरुद्ध सबल कारण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब कृष्णदास ने यह कार्य समाप्त किया, उस समय रघुनाथदास जीवित थे। सम्भावित तिथि 1575 और 1595 के बीच कहीं हो सकती है।

कृष्णदास गम्भीर विद्वान् थे और उनकी संस्कृत की रचनाओ में राधा और कृष्ण की 'नित्यलीला' की कथा पर एक विस्तृत महाकाव्य है, जिसका शीर्षक है *गोविन्दलीलामृत*। *चैतन्यचरितामृत*, जो उनकी अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है, उस समय लिखी गयी, जब वे बहुत वृद्ध हो गये थे। जैसा कहा गया है, बाड्ला में चैतन्य का यह जीवन चरित एक अत्यन्त असाधारण रचना है; यह बाड्ला में अब तक इस विषय पर रचित कृतियो में सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण रचना है, लेकिन वैष्णवोचित विनम्रता की प्रवृत्ति कहीं लुप्त नही हुई है। वृन्दावनदास ने चैतन्य के आरम्भिक जीवन का पूरा वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। कृष्णदास ने उस अंश की केवल रूपरेखा-मात्र प्रस्तुत की है ताकि उनके पूर्ववर्ती की इस श्रेष्ठ रचना की उपेक्षा न की जाय। दूसरी ओर उन्होने चेतन्य के जीवन के अन्तिम अठारह वर्षो का विस्तृत विवरण दिया है क्योंकि उनके पूर्ववर्तियों द्वारा यह कार्य नहीं किया गया था। चैतन्य के जीवन-चरित के रूप मे *चैतन्यचरितामृत* इस दृष्टि से भी अनुपम है कि इसमें आचार्य की व्यापक यात्राओं का विस्तृत विवरण मिलता है। भाषा पर अधिकार की दृष्टि से कृष्णदास अपने समय से बहुत आगे थे। वे छन्द-रचना उतनी ही सहजता और शक्तिमत्ता से करते थे जितनी से गद्य। अतः जीवनचरित के रूप में और एक विचारशील कृति के रूप में कृष्णदास-कृत चैतन्य का जीवन-चरित आधुनिक भारतीय साहित्य में एक ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है।

लोचनदास ने भी, जो सोलहवीं शताब्दी के मध्य के सर्वाधिक प्रसिद्ध गीतकार कवियों में से हैं, चैतन्य के जीवन-चरित (*चैतन्यमंगल*) की रचना की जो अधिकतर मुरारी गुप्त के संस्कृत-काव्य पर आधारित है। लोचन के काव्य का आरम्भ ठेठ 'पुराण' की शैली में होता है किन्तु इसके अतिरिक्त परम्परागत आख्यान (मंगल) का ढाँचा भी बनाए रखा गया है। यह प्रगीतात्मक अलंकरण से व्याप्त है और इसी कारण

जनता के बीच इसकी लोकप्रियता चैतन्य पर रचित किसी भी अन्य जीवन-चरितात्मक काव्य की अपेक्षा अधिक बनी रही है।

लोचन ने कुछ अत्यन्त ललित वैष्णव पदों की रचना की है। उन्होंने 'धामाली' (हल्के-फुल्के) पदों की पद्धति आरम्भ की। ये पद लोक-प्रचलित थिरकते छन्दों और अपरिष्कृत पदावली में लिखे गये हैं और इनमें ऐसे पदों के अनुकूल स्त्रियोचित रुचि दिखाई पड़ती है क्योंकि इनका सम्बन्ध स्त्रियों के संगीत-समारोहों से होता था। इन पदों का विषय लगभग निरपवाद रूप से गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन रहता था। लोचन ने चैतन्य पर रचित कुछ पदों के लिए भी 'धामाली' शैली का उपयोग किया। यह बात उल्लेखनीय है कि लोचन के गुरु नरहरिदास सरकार चैतन्य की उपासना के अग्रगामियों में से थे। लोचन ने कुछ रहस्यवादी गीतों की रचना भी की थी। उनके निम्नलिखित रहस्यवादी गीत का बाङ्ला मूल 'धामाली' शैली में है :

> "ब्रजपुरी में, रूप-सागर में रस की नदी बह रही है। लहरों ने तट पार कर गौर[1] के शरीर का स्पर्श कर लिया। इस गौर अंग में दिन-रात प्रेम की तरंगें उठ रही हैं। यतियों ने ज्ञान, कर्म, योग, धर्म, तप, सब छोड़ दिया है। मन-ही-मन लोग रूप या दोष मढ़ रहे हैं। अमृत कूप के समान वह रूप समा नहीं रहा है। इस रूप की शोभा स्वर्ण हार के समान है। यह मन की उलझनें दूर करता है। जाने क्यों रूप की पागल धारा अँधेरे विश्व में बह रही है जो चौदहों भुवनों सहित सारे विश्व को बहाये लिये जा रही है। उसे खाने से व्यक्ति तृप्त होता है, देखने से विभोर हो जाता है। लोचन कवि कहते कि जो स्वयं अहंकार का दमन कर कठिन सेवा करता है, वह निश्चित रूप से गौर को पाएगा।"

सोलहवीं शताब्दी में रचित चैतन्य की जीवनियों में से दो और उल्लेखनीय हैं। उनमें से एक की रचना नित्यानन्द के एक मुख्य अनुयायी के शिष्य चूड़ामणिदास ने की है। उसकी पुस्तक का नाम है *गौरांगविजय*। इसमें चैतन्य और नित्यानन्द के आरम्भिक जीवन के बारे में कुछ अतिरिक्त और मूल्यवान सूचनाएँ हैं। वर्णन अच्छा है। काव्य की रचना निश्चित रूप से 1560 से पूर्व हुई होगी। दुर्भाग्य से पुस्तक के तीन खण्डों में से केवल प्रथम उपलब्ध है।

दूसरी रचना जयानन्द-कृत *चैतन्यमंगल* है। यह आख्यान शैली का काव्य है, जो *श्रीकृष्ण कीर्तन* की तरह कई खण्डों में विभाजित है। जयानन्द दक्षिण-पश्चिमी बंगाल के थे और उनका काव्य लगभग केवल उसी प्रदेश में ज्ञात है। जयानन्द के पिता चैतन्य के सबसे आरम्भिक और निकटतम अनुयायियों में से एक गदाधर पण्डित के

---

1. शब्दार्थ : एक गौर वर्ण व्यक्ति, अर्थात् गौरांग (चैतन्य)।

शिष्य थे। अतः जयानन्द चूड़ामणिदास के कनिष्ठ समसामयिक थे। अपने काव्य के भूमिका खण्ड में जयानन्द ने इस क्षेत्र में अपने कुछ पूर्ववर्तियों का उल्लेख किया है। उनमें से हमें केवल वृन्दावनदास की कृति के बारे में जानकारी है। जयानन्द का *चैतन्यमंगल* एकमात्र ऐसी रचना है जिसमें चैतन्य की मृत्यु की घटना का उल्लेख है। स्वामी और उनके पूर्वजों के सम्बन्ध में कुछ अतिरिक्त सूचनाएँ भी हैं, जो हो सकता है कि प्रामाणिक न हों। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक चैतन्य के नाम से सम्बन्धित आख्यानों का अम्बार जमा हो गया था और शताब्दी के अन्त से बहुत पहले उनकी प्रतिष्ठा बाक़ायदा एक पौराणिक देवता के पूरे गौरव के साथ हो चुकी थी। जयानन्द ने एक दीक्षित और श्रद्धालु वैष्णव की दृष्टि से रचना नहीं की थी बल्कि उस जनसामान्य के लिए की थी, जिसकी रुचि ब्रह्मवैज्ञानिक व्याख्यानों में नहीं बल्कि गुरु की जीवन-कथा में थी। इसीलिए जयानन्द ने चैतन्य की जीवन-गाथा में ध्रुव, जड़-भरत और इन्द्रद्युम्न आदि की पौराणिक कथाओं का समावेश कर लिया था। जयानन्द का काव्य वृन्दावनदास की कृति की तरह आन्तरिक आवेग से आप्लावित नहीं था किन्तु उसमें उनकी निष्ठा और भक्ति का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। उसमें ऐसे अवतरणों की कमी नहीं है जो निष्ठा और समर्पण की गहरी अनुभूति से उत्पन्न होनेवाली अभिव्यक्ति की सहजता से युक्त हैं।

बाद की शताब्दियों में चैतन्य के जीवन पर कुछ लघु प्रबन्ध लिखे गये, जिनमें से एक का उल्लेख किया जा सकता है। यह प्रेमदास (वास्तविक नाम पुरुषोत्तम मिश्र)-कृत *चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी* है, जो परमानन्द सेन के संस्कृत नाटक *चैतन्यचन्द्रोदय* का बाङ्ला में छन्दोबद्ध रूपान्तर है। एक अन्य अपेक्षाकृत लघु रचना भगीरथ बन्धु-कृत *चैतन्य संहिता* है। इसमें आगम या तांत्रिक ग्रन्थों की पद्धति का अनुसरण किया गया है, जिसमें शिव पार्वती से कथा कहते हैं।

शताब्दी के समाप्त होने से पहले चैतन्य के देवत्व को जनता ने पूरी तरह स्वीकार कर लिया था, इसलिए जनता के बीच जिन कविताओं या पदों (वैष्णव अथवा अन्य) का पाठ या गायन किया जाता था, उन सबका आरम्भ निरपवाद रूप से चैतन्य-वन्दना से होता था। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरकाल से लेकर रचे जानेवाले 'पांचाली' काव्यों के इस प्रकार के 'वन्दना' खण्डों से स्वामी के जीवन के विषय में कुछ नयी सामग्री (ऐतिहासिक या अनुश्रुत) एकत्र की जा सकती है। सभी कीर्तन-सभाओं का आरम्भ स्वामी पर रचित इसी प्रकार के पदों से होता था जो विषय या अवसर के अनुकूल होते थे। ऐसे पद 'गौरचन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुए।

नित्यानन्द का पृथक् जीवन-चरित कभी नहीं लिखा गया। सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य के सभी जीवन-चरितों की रचना नित्यानन्द के अपने शिष्यों ने या उनके शिष्यों के शिष्यों ने की, और उनमें नित्यानन्द के जीवन और क्रिया-कलाप से सम्बद्ध सभी आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध हैं। अद्वैत के जीवन और क्रिया-कलाप पर संस्कृत

और बाङ्ला दोनों में लिखित छोटे-बड़े काव्य उपलब्ध हैं, किन्तु इन कृतियों की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं है। यह बात उन लघु-प्रबन्धों के बारे में और भी ज़ोर से लागू होती है जिनमें अद्वैत की कनिष्ठ पत्नी सीता देवी का और उनकी उन दो परिचारिकाओं की आध्यात्मिक महिमा का वर्णन किया गया है, जिनका यौन-परिवर्तन हो गया था।

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में और सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भिक दशाब्द में, बंगाल में वैष्णव क्रिया-कलापों को श्रीनिवास आचार्य, नरोत्तम (दत्त) दास, और श्यामानन्ददास (मृत्यु, 1630) की त्रयी के उत्साह से एक नयी प्रेरणा मिली। इन लोगों का प्रशिक्षण वृन्दावन में हुआ था, और वहाँ के नेता जीव गोस्वामी ने इन्हें वृन्दावन-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को बंगाल में प्रचारित करने का आदेश दिया था। श्रीनिवास ब्राह्मण थे। उनके क्रिया-कलाप पश्चिम बंगाल तक सीमित थे। नरोत्तम उत्तरी बंगाल के एक ऐसे धनाढ्य परिवार के कायस्थ थे, जिनके गौड़ से राजनीतिक सम्बन्ध थे। वे उपदेशक न थे बल्कि एक रहस्यवादी एकान्तवासी थे। परन्तु उनका प्रभाव और यश उत्तर और मध्य बंगाल तक सीमित नहीं था और वृन्दावन के गोस्वामियों के बाद होने वाले वैष्णव गुरुओं में वे सबसे अधिक स्मरण किए जाते हैं। श्यामानन्द, झारखंड में रहनेवाले, सद्गोप (किसान-जाति के) थे और उस प्रदेश में उन्होंने इस धर्म के प्रचार के लिए बहुत कार्य किया। इन तीनों नेताओं के अतिरिक्त नित्यानन्द की कनिष्ठ पत्नी जाह्नवी और उनकी ज्येष्ठ पत्नी से उनका पुत्र, वीरभद्र (या वीरचन्द्र) थे, जो बंगाल में वैष्णवों के सर्वोच्च नेता स्वीकार किए जाते थे। इनके और अन्य महत्त्वपूर्ण वैष्णवों के क्रिया-कलापों ने एकाधिक जीवन चरितों के लिए (जो प्रगीतात्मक नहीं, नीरस समाख्यान शैली के थे) सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में सामग्री प्रदान की।

समय बीतने के साथ वृन्दावन-सम्प्रदाय का प्रभाव परिमाण में बढ़ता गया। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में वैष्णव मत का बंगाल सम्प्रदाय, जिसके गुरु नित्यानन्द और अद्वैत के वंशज (और उनकी पत्नियाँ और पुत्रियाँ) और चैतन्य के कुछ अग्रणी अनुयायियों की सन्तान थे, सत्ता और प्रतिष्ठा खोने लगा। वृन्दावन के गोस्वामियों के कर्मकांड के भार से, जिससे अब ईश्वर-भक्त के आचार और साधना का स्वरूप निर्धारित किया जाता था, इस जीवन्त धर्म का क्रमशः गला घुटने लगा। गुरु, जो वस्तुतः ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में व्यक्ति का पथ-प्रवर्तक होता है, अब ईश्वर की दलाली की ओर उन्मुख होने लगा, और अन्ततः वह मनुष्य और ईश्वर के बीच में खड़ा होकर प्रायः उसकी पूरी तरह जाँच करने लगा। बंगाल के गुरु का पद पैतृक हो गया।

परन्तु वैष्णव मत का बंगाली-सम्प्रदाय पूर्णतः नष्ट नहीं हुआ था। उस पर तंत्र मत का रंग चढ़ गया। अतः वृन्दावन के गोस्वामियों से समर्थन न मिलने के कारण

उसने गुप्त संगठन का रूप ग्रहण कर लिया। उसके अनुयायियों को संस्कृत के अध्ययन की परवाह नहीं थी और वे प्रसन्न भाव से केवल देश-भाषा में लिखते थे। उनका सबसे अधिक सम्मानित पाठ्य-ग्रंथ था कृष्णदास-कृत *चैतन्यचरितामृत*, जिसमें गोस्वामियों के विद्वत्तापूर्ण ब्रह्मविज्ञान और रहस्यवादी दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयास किया गया है। इनके सर्वोत्तम गुरुनरोत्तमदास थे। बंगाली वैष्णववाद के इस गुप्त रहस्यवादी सम्प्रदाय में जो कुछ अवशिष्ट था, उसके सच्चे प्रतिनिधि परवर्ती शताब्दियों के बाउल कहे जा सकते हैं। इसमें सूफ़ी मत का उत्साह है, जिसका स्पर्श पहले से चैतन्य के मत में वर्तमान था। चैतन्य ने जब पहले-पहल नवद्वीप में अपने मत की प्रतिष्ठा की तो उनके विश्वास पात्रों में से एक हरिदास थे। वैष्णव-सम्प्रदाय में आने से पहले वे एक सूफ़ी पीर थे। सनातन और रूप भी निश्चय ही सूफ़ी मत से अपरिचित नहीं थे।

□

9

वैष्णव पदावली और समाख्यान-काव्य

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार वैष्णव गीति काव्य, अर्थात् कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्ध पर लिखे गये पद, गौड़[1] दरबार में विभिन्न पदों पर नौकरी करनेवाले बाङ्ला के कवियों ने लिखे थे। गौड़ और मिथिला के बीच अब भी सीधा राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क था। बंगाल के विद्वान् शिक्षा के लिए मिथिला जाते थे क्योंकि वह प्रदेश तब मुसलमान शासकों के सीधे शासन में नहीं था। इस बात की काफ़ी सम्भावना है कि मिथिला से, जहाँ वैष्णव पदावली की परम्परा लगभग दो शताब्दियों से अखंड रूप में चली आ रही थी, बाङ्ला-काव्य में गीति-रचना की प्रवृत्ति को नया जीवन मिला होगा। बंगाल में उपलब्ध वैष्णव काव्य के प्राचीनतम उदाहरण पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्दों से मिलते हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आरम्भ केवल पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ या फिर यह विद्यापति और मिथिला में पूर्ववर्तियों और समसामयिक कवियों का अनुकरण-मात्र था। बंगाल में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में वैष्णव विषयों पर लिखित अवहट्ट छन्द मिलते हैं। बंगाल के कवियों ने पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में, नेपाल में वैष्णव पदावली की रचना की थी। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि सोलहवीं शताब्दी में मिथिला में बंगाल गीति काव्य से लोग अनजान नहीं थे। शताब्दी से पूर्व बंगाल और मिथिला के बीच साहित्यिक सम्पर्क का मुख्य केन्द्र गौड़ था।

बंगाल की समग्र वैष्णव पदावली बाङ्ला में नहीं लिखी गयी। इसका बहुत बड़ा अंश, बल्कि इसका अधिकांश ब्रजबुली में लिखा गया है। अपने स्वर, मात्रा भेद, मात्रिक छन्द, आद्य शब्द भण्डार और व्याकरण के न्यूनतम प्रयोग के कारण इस भाषा ने अधिक समर्थ लेखकों को एक बना-बनाया सुरीला माध्यम प्रदान किया। वैष्णव पद, चाहे बाङ्ला के हों या ब्रजबुली के, गीत धर्मी के होने के कारण कभी लय से पूरी तरह विच्छिन्न नहीं होते। दूसरी द्विपदी, जिसमें प्रायः छोटी काव्य-पंक्ति होती है, टेक होती है। कवि का नाम अन्तिम द्विपदी में रहता है। संगीत की वह विशिष्ट शैली, जिसमें ये पद गाए जाते हैं, 'कीर्तन' कहलाती है। इस शैली का अनगढ़ रूप प्राचीन

1. यह परम्परा सेन राजाओं के राज्यकाल से चली आ रही थी।

काल से अवश्य प्रचलित रहा होगा। किन्तु इसका परिष्कार और विकास सोलहवीं शताब्दी के अन्त में नरोत्तमदास ने किया। राधा-कृष्ण और चैतन्य-नित्यानन्द आराध्य देवों की आनुष्ठानिक प्रतिष्ठा के अवसर पर उन्होंने एक उत्सव का आयोजन किया, और इस अवसर पर कीर्तन की नयी विधि का प्रदर्शन किया। वैष्णव इतिहास में इसे खेतरी उत्सव[1] कहते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में कीर्तन की दो अपेक्षाकृत सुगम शैलियों का विकास हुआ, जिन्होंने लोक-संगीत से बहुत-कुछ आत्मसात् किया था, इसलिए इन शैलियों में भारतीय संगीत के सर्वथा मौलिक और अत्यन्त अभिव्यंजक रूप के दर्शन होते हैं। जयदेव के पद अपने संगीत के कारण ही जीवित रह सके और वैष्णव पद-साहित्य के संगीत में यदि इतनी ताज़गी न होती तो वह कभी का अप्रचलित हो गया होता। इसके संगीत का आरोह-अवरोह पदों की छन्द-लय के सर्वथा अनुकूल है।

यदि निरपवाद रूप से नहीं, तो कम-से-कम अधिकांश रूप से इन पदों या गीतों का विषय राधा-कृष्ण का अविवाहित प्रेम है। इनकी विषयवस्तु अत्यन्त सीमित थी और रूप रूढ़ हो गया था, अतः कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति के लिए बहुत कम अवकाश था। फिर भी कुछ आरम्भिक रचनाओं में जहाँ-तहाँ भावोत्कर्ष दिखाई पड़ता है। कृष्ण के लिए राधा के गहन, सम्पूर्ण और आत्मोत्सर्गमय प्रेम की आवेगपूर्ण और विश्वसनीय अभिव्यक्ति केवल कुछ ही लेखकों में मिलती है और वे अधिकतर सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। जब चैतन्य के उपदेशों को परम्परागत पद्धति पर एक धार्मिक सम्प्रदाय के कठोर ढाँचे में ढाल दिया गया, और जब रूप गोस्वामी के ग्रन्थों में उन नियमों का आदेश दिया जाने लगा, जो स्वीकृत वैष्णव काव्य के लिए अनिवार्य हो गये, तो बाङ्ला गीतिकाव्य का भाग्य अवरुद्ध हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ प्रतिभाशाली रचनाकार सामने आए, किन्तु उनका काव्य आरम्भिक काव्य के स्तर तक नहीं पहुँच पाया। परवर्ती शताब्दियों में वैष्णव काव्य पुनरावृत्ति मात्र से अधिक शायद कुछ नहीं हो सका।

चैतन्य के अलौकिक आवेग ने कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम को एक नया आध्यात्मिक अर्थ दिया। यही कारण है कि सर्वोत्तम वैष्णव पदावली की रचना चैतन्य के सीधे अनुयायियों और उनके तत्काल अनुयायियों ने की, जिन्होंने स्वयं गुरु को देखा था। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोत्तम व्यक्ति मुरारी गुप्त था, जो उनके जीवनीकारों में प्राचीनतम था। उसने भाषा में बहुत अधिक नहीं लिखा, और उसके पदों की संख्या आधा दर्जन से भी कम है। उनमें से दो (पदावली-साहित्य के) सर्वोत्तम पदों में से हैं। एक में वर्जित प्रेम के विरोध में वकालत करती हुई अपनी सखी के प्रति राधा की मनोदशा का वर्णन है :

---

1. खेतरी : नरोत्तमदास का पैतृक गाँव।

"हे सखी, अपने घर लौट जाओ। जो जीते जी मेरी हुई है, अपने को जिसने नष्ट कर लिया है, उसे अब तुम क्या समझाती हो? मोहन के रूप को मैंने आँखों में पुतली और हृदय में प्राण बनाकर बसा लिया है। प्रीति की अग्नि जलाकर मैंने उसमें जाति-कुल-शील-अभिमान, सब-कुछ भस्म कर दिया है। (प्रेम से) अनजान मूर्ख लोग मुझसे न जाने क्या-क्या कहते हैं। मैं उनकी बातों पर कान ही नहीं देती। मैंने व्यथा के जल-स्रोत में इस शरीर को विसर्जित कर दिया। तट[1] के कुत्ते अब क्या कर लेंगे? खाते, सोते, रहते, कोई और चित्त में नहीं आता। बन्धु के बिना मुझे और कोई अच्छा भी नहीं लगता। मुरारी गुप्त कहते हैं कि ऐसी प्रीति होने पर उसका यश तीनों लोकों में गाया जाता है।"

दूसरे पद में प्रेम की पीर से अनुतप्त राधा के मनोभाव का वर्णन है, जब कृष्ण वृन्दावन छोड़कर चले जाते हैं। राधा की सखी कृष्ण के पास मथुरा आती है, और उनसे कहती है :

"तुमने (राधा से) कैसा प्रेम किया; तुमने जीवित का वध कर दिया। राधा के बचने में भी अब संशय है। सुनो-सुनो निष्ठुर माधव, आख़िर जल बिन शफरी कब तक जियेगी? तुम एक बूँद घी के सहारे, युग-युग जलने के लिए दीपक जला आये हो। ऐसी स्थिति में वह कब तक जलेगा? शीघ्र ही पवन आकर उसे बुझा जाएगी। जल्दी लौटकर उसे बचा लो। मैंने अब समझा कि आमने-सामने रहने पर ही प्रेम तुष्ट होता है और जब प्रिय दूर होता है तो वही वैरी हो जाता है। कमल और सूर्य इसका उदाहरण है : जब कमल पानी से अलग हो जाता है तो वह क्षीण हो जाता है, और जब वह सूख जाता है तो प्रीति भी नष्ट हो जाती है। तुमने सुख से उसे जितना विकसित किया, दुःख से उतना ही जला रहे हो; तुमने उसकी चन्द्रमा की-सी दुर्दशा कर दी है। गुप्त कवि कहते हैं : एक महीने में ही दो पक्ष समाप्त हो गये, और फलस्वरूप अमावस्या की रात्रि आ गयी।"[2]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, चैतन्य के जीवनीकारों में से लोचन अच्छे गीतकार थे। बोलचाल के शब्द-भण्डार पर उनका बड़ा अच्छा अधिकार था, जिसका उन्होंने पर्याप्त उपयोग किया। उन्होंने बोलचाल की लय को बाङ्ला-काव्य में प्रवेश कराने का साहसिक कार्य किया। लोचन के गुरु नरहरि ने भी कुछ अच्छे गीत लिखे

---

1. मूल में 'कुल' के दो अर्थ हैं, 'परिवार' (ल) और नदी 'तट' (कूल)।
2. भारतीय चिकित्सा की जनश्रुति के अनुसार गम्भीर रोगी को यदि अमावस्या या उससे पहली रात्रि को संकट उत्पन्न हो जाए तो वह उससे बच नहीं पाता। व्यवसाय से वैद्य रहे कवि द्वारा इस रूपक का प्रयोग उसकी दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है।

थे। यह ध्यान देने की बात है कि नरहरि और लोचन के कुछ गीत, बाद की पाण्डुलिपियों में चण्डीदास के हस्ताक्षर से मिलते हैं।

चैतन्य के सीधे अनुयायियों में (चैतन्य ने शिष्य नहीं बनाए) बहुत-से ऐसे थे जिन्होंने राधा-कृष्ण-विषय पर भी पद लिखे और अपने गुरु पर भी। उनमें से कुछ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वासुदेव घोष ने लगभग केवल चैतन्य के आरम्भिक जीवन पर ही लिखा। कृष्ण पर उसके पद बहुत कम थे और वे उसके दूसरे पदों के सदृश लोकप्रिय नहीं थे। वासुदेव की कविता का एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है :

> "एक अँधेरी रिमझिम बरसाती रात में राधा उत्सुकतापूर्वक अपने प्रिय से मिलने की आशा लगाए हैं :
> हे नवजलधर बरसो, उल्लासपूर्वक बरसो, श्याम से मेरा मिलन है। तुम मन्द फुहारों में बरसो। आज रात को मुझे नवजीवन मिलेगा। आकाश में सघन गर्जन हो रहा है; दादुर दुन्दुभि बजा रहे हैं; तरु शिखरों पर मोर शोर मचा रहे हैं। मैं देवों के देव की क्रोड़ में जीवन पाऊँगी। दोनों के प्रीति रस की आशा में वासुदेव घोष डूब रहा है।"

नित्यानन्द के अनुयायियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध कवियों में से दो थे, बलरामदास और ज्ञानदास। उन्होंने अधिकतर बाङ्ला में लिखा और कभी-कभी ब्रजबुली में। वे रूपगोस्वामी के आदेश के प्रभाव में आ गये थे। इसी बीच साहित्य या संगीत में रुझान रखनेवाले वैष्णवों के लिए पद-रचना, भक्ति की अभिव्यक्ति का स्वीकृत माध्यम हो गया था।

बलराम की सर्वोत्तम कविताओं में वे पद हैं, जिनमें बाल-गोपाल के प्रति माँ यशोदा के उत्कंठित प्रेम का वर्णन किया गया है। निम्नलिखित कविता में राधा के मन में कृष्ण के प्रति नवोदित प्रेम की गहनता की अभिव्यक्ति है :

> "किशोर वय में ही वह कितना विदग्ध है। वह अभिनव काम-मरकत से निर्मित मूर्ति-सा दिखाई पड़ता है। प्रत्येक अंग न जाने किस प्रकार और किस वस्तु से बनाया गया है। उसकी ओर देखने पर जैसे अमृत वर्षा होने लगती है। मैं तो सचमुच जैसे न्योछावर हो गयी हूँ। मैंने स्वप्न में कैसा रूप देख लिया है कि वह खाते, सोते, मेरे हृदय में बसा हुआ है। उसके अरुण अधर मन्द-मन्द मुस्काते हैं; अपने नेत्रों के चंचल कटाक्ष-मात्र से वह किसी भी कन्या को कुलनाशिनी बना देता है। उसका भ्रूभंग देखकर हृदय टूक-टूक हो जाता है। हाय रे हाय! यह रंगीला नागर अब तक कहाँ था? मन्थर गति से वह धीरे-धीरे जाता है। प्राण छटपटाने लगते हैं। किससे क्या कहूँ? उसके शरीर की गमक

---

1. अभिधार्थ, काले वर्णवाला, कृष्ण का पर्याय।

से तो पत्थर भी पिघल जाते हैं। बलरामदास कहते हैं, उसका एक स्पर्श-मात्र अवश करने के लिए पर्याप्त है।"

ज्ञानदास की सर्वोत्तम कविता में भी इसी प्रकार का भाव प्रकट हुआ है, जिसमें लगभग इसी अभिव्यक्ति की अनुगूँज है। निम्नलिखित अनुवाद से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। राधा सखी से अपने हृदय की बात खोलकर कहती है :

"हाय! मैं कालिन्दी[1] क्यों गयी थी? काला नागर मेरा चित्त हर ले चला। मेरी आँखें उसके रूप के बहाव में डूबकर रह गयीं। मेरा मन उसके यौवन के वन में खो गया। मेरा हृदय भीतर-ही-भीतर टूट रहा है; मेरे प्राण पुकार रहे हैं। चन्दन से अंकित चन्द्रमा[2] के बीच कस्तूरी बिन्दु की भूलभुलैया में मेरे हृदय की पुतली बँधकर रह गयी। उसकी कटि में लिपटा हुआ पीताम्बर करधनी से बँधा है। विधि ने उसे (कन्याओं के) कुल-कलंक का निमित्त बनाया है। लगता है, जाति, कुल, शील, सब नष्ट हुआ जाता है; समस्त भुवनों को गुँजाती हुई मेरी घोषणा है कि कुलवती सती होकर भी मैंने दोनों कुलों[3] को दुःख दिया है। ज्ञानदास कहते हैं, अपने हृदय को दृढ़ रखो।"

कवियों की अगली पीढ़ी अधिकतर नरोत्तमदास और श्रीनिवास आचार्य के अनुयायियों की थी। नरोत्तमदास स्वयं अच्छे लेखक थे। संगीत की कीर्तन-शैली को सूत्रबद्ध करने और परिनिष्ठित रूप देने का श्रेय उन्हीं को ज़ाता है। नरोत्तम एक धनवान व्यक्ति के इकलौते पुत्र थे और अपनी किशोरावस्था से ही वे नीरस पारिवारिक जीवन से विमुख थे। जितनी जल्दी सम्भव हो सका; वे वृन्दावन चले गये और वहाँ अद्वैत आचार्य के एक शिष्य से उन्होंने दीक्षा ले ली। वहाँ पहली बार उनकी भेंट श्रीनिवास आचार्य और श्यामानन्द दास से हुई, जो भविष्य में उनके मत और उसके प्रचार में सहयोगी हुए। इस तथ्य के बावजूद कि नरोत्तम ने वृन्दावन के वैष्णव शिक्षकों से शिक्षा ग्रहण की थी, उन पर उनकी विचार-पद्धति का इतना प्रभाव कभी नहीं पड़ा जितना श्रीनिवास का। नरोत्तम में वैष्णव विचारधारा की बंगाल और वृन्दावन शाखाओं के उपदेशों का सुखद संयोग था। वे कायस्थ थे इसलिए उन्हें अद्वैत के शिष्य लोकनाथ चक्रवर्ती के अतिरिक्त किसी प्रसिद्ध प्रतिष्ठित व्यक्ति ने वैष्णव मत में दीक्षा नहीं दी। भक्ति-मार्ग के बारे में उनकी वैयक्तिक दृष्टि का सूत्र शायद इसी बात में है। वृन्दावन के गोस्वामी नितान्त रहस्यवादी दृष्टिकोण के पक्ष में नहीं थे, इसके बजाय उन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम की प्रतीकात्मकता पर आधारित मनोवैज्ञानिक सूत्र को ग्रहण किया था। उनके अनुसार, अध्यात्म की ओर उन्मुख

---

1. यमुना का दूसरा नाम।
2. मस्तक पर अलंकृत लेप।
3. अर्थात् पिता और पति दोनों के परिवारों के लिए।

व्यक्ति के लिए केवल दो मार्ग हैं : ज्ञानमूलक और दार्शनिक या कर्मकाण्ड-मूलक और सामान्य। नरोत्तम ने पहला मार्ग छोड़कर दूसरा अपनाया। किन्तु इसके साथ ही उनके भीतर का रहस्यवादी अत्यन्त प्रबल था। यही कारण है कि अपने तमाम प्रख्यात समसामयिकों में से, अकेले वे ही वैष्णव मत और भक्ति-परक काव्य को एक नयी शक्ति प्रदान कर सके, और वे ही उन सबमें सर्वाधिक स्मरण किए जाते रहे हैं।

बाद में नरोत्तम की गणना वैष्णव मत की तांत्रिक शाखा के महान् गुरुओं में होने लगी और परिणामस्वरूप वे इस शाखा के अनुयायियों द्वारा लिखित अनेक छोटे-छोटे प्रबन्धों के जनक माने गए। *प्रार्थना-पदावली* और कुछ गीतों के अतिरिक्त नरोत्तम की प्रामाणिक रचनाओं में भक्ति और व्यवहार पर कुछ छोटे प्रबन्ध हैं, जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण रचना *प्रेमाभक्तिचन्द्रिका* की लोकप्रियता आज भी निःशेष नहीं है। उनके काव्य पर कृष्णदास के *चैतन्यचरितामृत* का प्रभाव असन्दिग्ध रूप से दिखाई पड़ता है। *प्रेमाभक्तिचन्द्रिका* का आदर्श रामचन्द्र कविराज-कृत *स्मरण दर्पण* था। रामचन्द्र एक अच्छे परिवार के श्रेष्ठ विद्वान् थे। उनके नाना यशोराज ख़ॉ हुसैन शाह के अफ़सर थे। रामचन्द्र पहले शक्ति के भक्त थे। प्रौढ़ावस्था में उन पर श्रीनिवास आचार्य का प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनसे वैष्णव मत में दीक्षा ले ली। हृदय और बुद्धि के गुणों के कारण उन्होंने नरोत्तम की मित्रता और सम्मान दोनों को जीत लिया। यह सम्भव है कि नरोत्तम के रहस्यवाद का उनके मित्र के तंत्रवाद से कुछ पोषण हुआ हो। रामचन्द्र ने कुछ गीतों की रचना की थी जिनमें से एक विशेष उत्कृष्ट है। उसमें राधा के वर्जित प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति है :

> मैं अपने मन की बात किससे कहूँ? भला कौन विश्वास करेगा? हृदय में मर्म वेदना है। चित्त सदा चौंकता रहता है। मैं गुरुजनों के सामने बैठ नहीं पाती। आँखें सदा छलछलाती रहती हैं; पुलक से आकुल रहती हूँ। जिस दिशा में देखती हूँ, मुझे सब श्याममय[1] दिखाई देता है। सखी के साथ यदि जल लेने जाती हूँ, तो ऐसी अनुभूति होती है, जिसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। यमुना जल और मेरा शिथिल केशपाश : ऐसी स्थिति में क्या जिया जा सकता है? मैं अपने कुल के धर्म को निभा नहीं पायी। मैंने सबके सामने यह बात कह दी है। रामचन्द्र कहते हैं कि मेरे हृदय में सदा ही श्याम नागर विराजते रहते हैं।

रामचन्द्र के छोटे भाई गोविन्ददास कविराज ब्रजबुली काव्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। वैष्णव मत को अपनाने से पहले, गोविन्ददास भी अपने भाई की तरह शक्ति के भक्त थे; उन्होंने शिव और शक्ति[2] की प्रशस्ति में गीतों की रचना भी की थी; और

1. यहाँ श्याम शब्द के दो अर्थ हैं : 'अँधेरा, अंधकार' या कृष्ण।
2. इन कविताओं या गीतों में से केवल एक बच रहा है।

अपने भाई की ही तरह वे भी श्रीनिवास के शिष्य हो गये थे। गोविन्ददास की साहित्यिक गतिविधि अपने चरमोत्कर्ष को तभी प्राप्त हुई जब एक लम्बी और गम्भीर बीमारी से स्वस्थ होकर उन्होंने धर्म-परिवर्तन किया। उन्होंने सैकड़ों पद लिखे—लगभग सभी ब्रजबुली में। गोविन्ददास संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, और उन्होंने अपने संस्कृत-ज्ञान का उपयोग स्थानीय काव्य के परिष्कार के लिए किया। स्वर साम्य और लय के प्रति उनके कान अत्यन्त सजग थे, उन्होंने लौकिक काव्य की चेतना को संस्कृत और प्राकृत में पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था और मैथिली और ब्रजबुली काव्य की अलंकृत शैली पर पूरा अधिकार कर लिया था। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव कवि माने जाते थे, और समस्त वैष्णवों के तत्कालीन नेता जीव गोस्वामी ने उन्हें 'कवीन्द्र या कविराज' कहकर सम्मानित किया था।

गोविन्ददास के पद ध्वनि और अर्थ के सामंजस्य से अनुनादित हैं, यद्यपि उनमें वैविध्य का भी अभाव है और अनुभूति की गहराई का भी। एक प्रकार से गोविन्ददास के काव्य ने वैष्णव कविता को तीव्र पतन की ओर उन्मुख कर दिया, क्योंकि उसके प्रभाव की दिशा हृदय से कान की ओर मुड़ गयी। ब्रजबुली गीतों के परवर्ती लेखकों ने केवल उनका अनुकरण करने की कोशिश की।

गोविन्ददास की कविता के उदाहरणस्वरूप उनकी सर्वोत्तम कविताओं में से एक नीचे दी जा रही है। दुर्भाग्य से अनुवाद के द्वारा मूल के संगीत का सम्प्रेषण सम्भव नहीं है :

> "एक अँधेरी, तूफ़ानी और बरसाती रात को राधा घर से अपने प्रियतम की खोज में खिसकने को है, और उसकी सखी उसे इस जोख़िम-भरे काम से रोक रही है :
>
> घर के बाहर कठिन कपाट लगे हैं। पंकिल मार्ग पर चलना दूभर हो रहा है। ऊपर से प्रबल प्रभंजन है। क्या तुम्हारा नीला वस्त्र वर्षा को रोक सकेगा? हे सुन्दरी, तुम अभिसार कैसे करोगी? हरि तो मानस-गंगा के पार रहते हैं। घन-घन झन-झन कर वज्रपात हो रहा है जिसको सुनने से कर्ण-पट जल जाता है। दसों दिशाओं में दामिनी-दहन का विस्तार है। देखने से तुम्हारी आँखें चौंधिया जाएँगी। ए सुन्दरी, ऐसे में यदि तुम घर तजोगी, तो तुम प्रेम के कारण देह की उपेक्षा करोगी। गोविन्ददास कहते हैं कि ऐसे में सजकर क्या होगा? छूटा हुआ बाण क्या कभी लौटाया जा सकता है?"

गोविन्ददास ने राधा-कृष्ण के कुछ प्रेम-प्रसंगों पर संस्कृत में एक लघु नाटक की रचना की। *संगीत मानव-नाटक* नाम के इस नाटक में असन्दिग्ध रूप से उनके संस्कृत गीत और सम्भवतः कुछ भाषा-गीत भी हैं। इस रचना की जानकारी इस छोटे-से उद्धरण से होती है।

गोविन्ददास नाम के और कवि भी थे। वे भी श्रीनिवास के शिष्य थे। ये दूसरे गोविन्ददास ब्राह्मण थे, जबकि पहले गोविन्ददास वैद्य थे। ब्राह्मण कवि गोविन्ददास चक्रवर्ती ने अधिकतर बाङ्ला में लिखा था। उनकी पदावली सरल और आडम्बरहीन है और उनके कुछ गीतों में प्रेम की पीर का निश्छल स्पन्दन मिलता है।

ऐसे कवियों की कमी नहीं है जिनमें से प्रत्येक को एक या दो कविताओं की रचना का श्रेय दिया जा सकता है। पर इनमें से कुछ कविताएँ काफ़ी अच्छी हैं। इस प्रकार की एक कविता निम्नलिखित गीत है जो किसी ऐसे कवि की रचना है, जिसने अपने हस्ताक्षर कविवल्लभ नाम से किए हैं। इसमें तीव्र वासना की अतोषणीय भूख और अगाध प्रेम की अनुगूँज सुनाई पड़ती है :

> "अरी सखी, मेरा अनुभव तुम क्या पूछती हो? उसी प्रीति को अनुराग कहते हैं, जो अनुक्षण नयी होती जाती है। मैंने जन्म से ही वह रूप निहारा है, पर नयन परितृप्त नहीं हुए। लाख-लाख युगों से, हृदय-हृदय से और ओठ-ओठ से मिले हैं, पर हृदय शीतल नहीं हुआ। मैंने उसकी वाणी का अमृत रस अनुक्षण पाया है, पर श्रुति-पथ में उसका स्पर्श भी नहीं हुआ। मैंने कितनी मधु-यामिनियाँ हर्षोन्माद में बिताई हैं; फिर भी केलि कैसी है? मैं यह नहीं समझी। कितने ही विदग्ध जन रस का अनुमोदन करते हैं, पर अनुभव किसको नहीं दिखता। कवि वल्लभ कहते हैं : हृदय शीतल करनेवाली अनुभूति करोड़ों में किसी एक को मिलती है।"

कृष्ण-कथा पर, सोलहवीं शताब्दी के बीसियों लेखकों ने लम्बे आख्यान-काव्य लिखे। इनमें से कुछ में पदों का विन्यास था, कुछ में नहीं। उनमें से कुछ सीधे चैतन्य के अनुयायी थे या उनके शिष्य थे। अनुयायियों में गोविन्द आचार्य,[1] रघु पण्डित, परमानन्द गुप्त और माधवाचार्य थे; और उनके शिष्यों में कृष्ण, 'कविशेखर', श्यामदास आदि थे। रघु पण्डित व्यवसाय से *भागवत पुराण* के वाचक (कथक) थे, अतः वे 'भागवताचार्य' नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी रचना *कृष्णप्रेमतरंगिनी* अध्याय-दर-अध्याय *भागवत पुराण* का रूपान्तर है। माधवाचार्य का *श्रीकृष्ण मंगल* ऐसे काव्यों से सबसे बृहत् है। इसमें *भागवत पुराण* के अनुसार कृष्ण आख्यान का वर्णन है। पर इस विषय पर लिखनेवाले अधिकतर समसामयिक लेखकों से भिन्न उसने इसमें लोक-साहित्य से कर-वसूली और नौकाप्रसंग-जैसे शृंगारपरक आख्यानों का समावेश कर लिया है। परन्तु ये आख्यान कथा में बड़ चण्डीदास के काव्य के समान पूरी तरह रम नहीं पाए हैं, बल्कि केवल विष्कम्भक की तरह बने रहे हैं। माधव ने *बड़ाइ* को केवल चलताऊ पात्र के रूप में नहीं, बल्कि एक युवती की कर्तव्यपरायण

1. गोविन्द आचार्य और परमानन्द गुप्त के कृष्ण मंगल काव्य केवल खण्डित पाण्डुलिपियों में मिलते हैं।

संरक्षिका के रूप में चित्रित किया है। प्रगीत-तत्त्व समाख्यान के अनुपात में हैं। कुल मिलाकर, यह काव्य उस लोकप्रियता के सर्वथा योग्य है जो इसने शताब्दियों तक पायी है। निम्नलिखित उदाहरण माधव आचार्य की वर्णन-शक्ति का प्रमाण है।

राधा और उसकी सखियाँ अपनी वस्तुएँ बेचने के लिए मथुरा जा रही हैं। वे यमुना-तट पर पहुँचती हैं और वहाँ मल्लाह के रूप में प्रतीक्षा करते हुए कृष्ण उनसे छेड़-छाड़ करते हैं। कृष्ण राधा से कहते हैं :

> "मेरी नौका बहुत सुन्दर है, जो भी इसमें चढ़ेगा, उसे हँसकर चौंसठ कोड़ी कौड़ियाँ गिन देनी होंगी। तुम्हारे नितम्ब और उरोज इतने भारी हैं कि तुम अकेली दस यात्रियों के बराबर हो। हे ग्वालिन, मैं जानता हूँ कि तुम बहुत सयानी हो। देना (मार्ग व्यय) चुकाकर, झटपट नौका पर चढ़ जाओ। तेरा लाखों का माल मेरी नाव में पार होगा, इसमें मुझे क्या मिलेगा? खुद ही सोच-समझकर बोलो, ताकि बाद में झगड़ा न हो, क्योंकि यही मेरी आजीविका है। तुम युवती हो, और मैं युवक नाविक हूँ। हास-परिहास में दिन बीता जा रहा है। मुझे दूसरे तट से लोग बुला रहे हैं; नाव यहाँ बेकार रुकी है। इतनी देर में तो तीन फेरियाँ हो जातीं। पहले दूध, मक्खन, दही कुछ खा लूँ, ताकि नाव खेने के लिए शरीर में बल आ जाय। माधव नाम के ब्राह्मण कहते हैं कि रसिक यादवराम मिथ्या ही वाक्-छल कर रहे हैं।"

'कविशेखर' देवकीनन्दन सिंह का उपनाम था। उन्होंने संस्कृत और बाङ्ला दोनों में लिखा। उनकी संस्कृत रचनाओं में कृष्ण-कथा पर एक 'महाकाव्य' और एक नाटक शामिल हैं। इसी विषय पर उनकी बाङ्ला रचनाओं में एक आख्यान-काव्य और काफ़ी संख्या में पद सम्मिलित हैं। उनकी अन्तिम रचना, *गोपालविजय* में बड़ु चण्डीदास के काव्य से कुछ समानता दिखाई पड़ती है, विशेषकर शृंगारिक प्रसंगों में। इन शृंगारिक और अपौराणिक कथाओं के समावेश के लिए उन्होंने क्षमा-याचना करते हुए कहा है कि कृष्ण ने स्वप्न में उन्हें ऐसा कहने का आदेश दिया था।

श्यामदास का *गोविन्दमंगल* सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है। वे अपने-आपको 'दुखी' कहते थे। कथा में कविशेखर की कृति की पद्धति का अनुसरण किया गया है। शैली सरल और शान्त है। कहीं-कहीं सच्ची कविता की झलक है। यह काव्य काफ़ी लोकप्रिय रहा है।

□

10

राजाश्रय की परम्परा

वास्तविक प्रमाणों के अनुसार, बंगाल में सबसे पहले ब्रजबुली में गीतों या पदों की रचना उन व्यक्तियों की क़लम से हुई, जो राजाश्रय भोग रहे थे। ऐसे काव्यों में प्राचीनतम ज्ञात रचना टिप्पेराह के धन्य-माणिक्य (राज्यकाल 1490-1526) में 'राज-पण्डित' की कविता है। अगला पद हुसैन शाह के कर्मचारी यशोराज ख़ॉ का है (जो श्रीखंड के दामोदर सेन से अभिन्न माना जाता है)। हुसैन शाह और उसके बेटों नसरत और गियासुद्दीन का उल्लेख उनके राजकवि (या कवियों) की गीति-कविताओं में मिलता है, जो अपने हस्ताक्षर कविशेखर के कविरंजन नाम से करते थे। कूच बिहार के नरनारायण के दरबार में शंकरदेव और धीरेश्वर राजा के सम्मान में ब्रजबुली पदों की रचना कर रहे थे। हुसैन शाह के पौत्र फिरूज ने अपने दरबारी कवि श्रीधर को, जो ब्राह्मण था, विद्यासुन्दर की कथा पर काव्य-रचना के लिए कहा था।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है बाङ्ला में *महाभारत* पर दो प्राचीनतम आख्यान हुसैन शाह के अधीन दो प्रान्तीय क्षात्रणों के आश्रय में लिखे गये थे। इस प्रकार का तीसरा काव्य (श्रीकर नन्दी के काव्य के ही समान) *जैमिनीय-संहिता* से अश्वमेध-कथा के एक लघु रूपान्तर के रूप में हुसैन शाह के एक प्रशासनिक अधिकारी, रामचन्द्र ख़ॉं ने लिखा था। धार्मिक भिक्षावृत्ति स्वीकार करने के बाद जब चैतन्य पहली बार पुरी गये, तो रामचन्द्र ख़ॉं ने, जो उस समय गंगा के निचले प्रदेश का सैनिक गवर्नर था, बंगाल-उड़ीसा की उत्पातपूर्ण सीमा को पार करने में उनकी सहायता की थी। रामचन्द्र का काव्य 1532 में लिखा गया। यह विशुद्ध रूप से समाख्यान-काव्य है। इसमें जहाँ-तहाँ स्फूर्तिप्रद यथार्थवाद का स्पर्श मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र ने बाङ्ला में सम्पूर्ण *महाभारत* काव्य की रचना की थी। बाङ्ला में *जैमिनीय-संहिता* का तीसरा रूपान्तर, 1567 के आसपास रघुनाथ नाम के एक ब्राह्मण ने किया था। रघुनाथ ने अपने काव्य का पाठ, उड़ीसा के अन्तिम स्वतन्त्र शासक मुकुन्ददेव के दरबार में किया था। *जैमिनीय-संहिता* की अश्वमेध-कथा की लोकप्रियता सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अर्ध-स्वतन्त्र शासकों और जमींदारों के दरबारों में बनी रही। विष्णुपुर में मल्ल राजाओं के आश्रय में और पूर्वी,

उत्तरी और पश्चिमी सीमा प्रान्तों के सरदारों के आश्रय में, कई व्यक्तियों ने इस विषय पर लिखा।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक कामता (कूच-बिहार) के दरबार में एक सीमा तक साहित्यिक परम्परा का निर्माण हो गया था। इसका आरम्भ विश्वसिंह के राज्यारोहण (1522) से हुआ, जिसने दरबार के 'वातावरण' का पूरी तरह आर्यीकरण आरम्भ कर दिया। उसका ज्येष्ठ पुत्र समरसिंह अपने पिता के जीवनकाल में ही बाङ्ला कविता का संरक्षक था। उनके अनुरोध पर दरबारी कवि पीताम्बर ने 1530 में *मार्कण्डेय पुराण* की कथाओं को बाङ्ला में छन्दोबद्ध किया। चौदह वर्ष बाद उन्होंने अपने *नलदमयन्ती चरित* के लिए *महाभारत*-कथा को ग्रहण किया। पीताम्बर की एक और विख्यात रचना *भागवत पुराण* से कृष्ण-कथा का रूपान्तर है। विश्वसिंह के उत्तराधिकारी उनके पुत्र नरनारायण (राज्यकाल 1554-87) हुए। नरनारायण के छोटे भाई और मुख्य सेनाध्यक्ष शुक्लध्वज (मृत्यु 1571) लगभग संयुक्त शासक थे। दोनों भाई कविता और विद्वानों के उदार आश्रयदाता थे। असम के निचले भाग में जिस देशभाषा-काव्य का प्रवर्त्तन कामरूप और कछार के दरबार में हुआ था, वह कामता दरबार के संरक्षण में फला-फूला।

शंकरदेव (मृ. 1568) ने, जो असम में नव-वैष्णववाद के अग्रदूत थे, माधव कंदली के *रामायण* काव्य को (जो कामरूप और कछार के वराह राजा महामाणिक्य के आदेश पर लिखा गया था) 'उत्तर-कांड' जोड़कर पूरा किया। शंकर के पितामह वराह नरेश के अधिकारी थे। उनका पैतृक गाँव ब्रह्मपुत्र के तट पर था। शंकर का ग़ैर-रूढ़िवादी सामाजिक व्यवहार, असम की ब्राह्मण रूढ़िवादिता के लिए असह्य था, और इसलिए उसे कामता के राजा नरनारायण के यहाँ आश्रय लेना पड़ा। शंकर की लगभग सभी देशभाषा-कृतियों की रचना यहीं हुई। शंकर के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने भी कामता दरबार की सुरक्षा और आश्रय का लाभ उठाया। माधव की देशभाषा-रचनाओं में भक्तिपरक कविताओं और पदों की एक पुस्तक और कृष्ण-कथा पर दो आख्यान-काव्य शामिल हैं।

नरनारायण और शुक्लध्वज का दरबार देश के सभी भागों से आनेवाले कवियों और पण्डितों का समागम-स्थल था। एक दरबारी कवि अनिरुद्ध ने कहा है :

> "राजाधिराज नरनारायण सदा यशस्वी हों, जिनके समान कोई दूसरा राजा नहीं है। धर्म, नीति, पुराण, *महाभारत* और ऐसे तमाम अन्य ग्रन्थ—वे रात-दिन सभा में बैठे उनकी चर्चा करते हैं। वे सारे पण्डित जो गौड़ और कामरूप राज्यों में रह रहे थे, उन सबको लाकर उन्होंने अपनी सभा में प्रतिष्ठित किया है। वहाँ कविगण केवल ग्रन्थों और वेदों की चर्चा करते हैं। उन्होंने मुझे भी स्वीकार करके इस दरबार के एक कोने में स्थान दिया है।"

शुक्लध्वज की रुचि विशेष रूप से काव्य में थी, संस्कृत और देशभाषा दोनों के। उनके आदेश पर दरबारी कवियों में से एक कवि अनिरुद्ध ने (जिनकी सरकारी पदवी 'राम सरस्वती' थी) *महाभारत* के अनेक खण्डों की कथा को बाङ्ला में छन्दोबद्ध किया। आरम्भ में अनिरुद्ध ने अपने आश्रयदाताओं के द्वारा दिये गये प्रलोभनों का वर्णन इस प्रकार किया है :

> "राजा के छोटे भाई और युवराज शुक्लध्वज, अत्यन्त बुद्धिमान हैं; वे अद्‌भुत सिद्धियाँ करते हैं। उन्होंने अत्यन्त उल्लसित होकर मुझे आदेश दिया—'तुम यत्नपूर्वक पयार छन्द में 'भारत' का रूपान्तर करो। मेरे घर में 'भारत' के सम्पूर्ण खण्ड हैं; तुम उन्हें अपने घर ले जा सकते हो; मैं वे सब तुम्हें प्रदान करता हूँ।' यह कहकर उन्होंने बैलगाड़ियों के लिए आदेश दिया और पुस्तकों की लाद को मेरे पास भिजवा दिया। उन्होंने प्रचुर खाद्य-सामग्री प्रदान की; मेरी सेवा के लिए उन्होंने दास-दासियाँ नियुक्त कर दीं और मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया, और कृष्ण के चरणों को अपने हृदय में बसाकर अब मैं छन्द-रचना करता हूँ, जो अनुपमेय है, अत्यन्त मधुर है, और जिसे 'वन-पर्व' कहते हैं।"

शुक्लध्वज ने लिखा था, कि किसी पण्डित ने उनके लिए जयदेव के *गीत-गोविन्द* की विस्तृत टीका लिखी थी। यही टीका अनिरुद्ध के काव्य 'जयदेव' का आधार थी, जिसमें *भागवत* कथा के सन्दर्भ में जयदेव के गीतों के कथ्य का वर्णन किया गया है।

कामता (बाद में बिहार, उसके और बाद कूच बिहार) दरबार के पण्डितों और कवियों को कभी राजाश्रय से वंचित नहीं किया। नरनारायण और शुक्लध्वज के सभी उत्तराधिकारी महाकाव्यों और पुराण-कथाओं के प्रेमी थे। इसलिए बाद की शताब्दियों में उनके दरबारी कवि मुख्यतः इन कथाओं को समाख्यानात्मक छन्दों में रूपान्तरित करने में ही व्यस्त रहे। *महाभारत* की कथाओं ने बीसियों कवियों को व्यस्त रखा, और लगभग एक दर्जन कवि *रामायण* से जूझते रहे। दरबार के भाषा-कवियों का ध्यान निम्नलिखित पुराणों ने भी आकर्षित किया : *ब्रह्मवैवर्त, धर्म, मार्कण्डेय, नारदीय, नृसिंह, पद्‌म, शिव, स्कन्द* और *विष्णु*।

उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी बंगाल के अन्य सरदारों और शासकों ने उन लेखकों की सहायता करने में कामता के दरबार से स्पर्धा की, जो वैष्णव पौराणिक कथाओं का बाङ्ला में रूपान्तर कर रहे थे। टिप्पेरा के गोविन्द माणिक्य ने अपने दरबारी कवि 'सिद्धान्त सरस्वती' को बाङ्ला छन्द में *बृहत्‌नारदीयपुराण* का अनुवाद (1669) करने के लिए नियुक्त किया। वे परिणाम से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपने दरबार के सदस्यों से और अपने कुछ प्रमुख प्रजाजनों से निजी उपयोग के लिए उसकी प्रतिलिपियाँ कराने के लिए कहा। दरंग के दुर्लभनारायण के एक मन्त्री के पुत्र,

हेम सरस्वती ने, कुछ पौराणिक कथाओं का बाङ्ला रूपान्तर किया। *अध्यात्म रामायण* पर आधारित एक कृति के रचयिता भवानीनाथ जगतमाणिक्य के वेतनभोगी लेखक थे। काव्य की रचना के लिए उन्हें प्रतिदिन दस मुद्रा पारिश्रमिक मिलता था।

इन राज-परिवारों की कुछ महिलाओं ने भी विद्या को संरक्षण दिया। कछार के ताम्रध्वज की विधवा चन्द्रप्रभा एक ऐसी ही महिला थीं। उनके आदेश पर 1730 में भुवनेश्वर वाचस्पति ने *नारदीरसामृत* नाम से 'नारदीय' पुराण का छन्दोबद्ध रूपान्तर किया। इसके उपरान्त कछार का राज-दरबार पूर्णतः वैष्णव अतः साहित्यिक मनोवृत्ति का हो गया। कछार के अन्तिम नरेश गोविन्द नारायण (राज्य-काल 1813-31) स्वयं सुगम वैष्णव पदों के लेखक थे और उन्हें ऐसे पदों के दो ग्रन्थों की रचना का श्रेय दिया जाता है।

चटगाँव की साहित्यिक परम्परा को, जिसका प्रवर्त्तन परागल ख़ाँ और उसके पुत्र ने किया था, एक शताब्दी के बाद अराकान के दरबार ने उस समय अपनाया जब उस पर बंगाल का सांस्कृतिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था। अराकान के दरबारी कवियों के, जो सभी मुसलमान थे, क्रिया-कलाप का विवेचन एक आगामी अध्याय में किया गया है।

दक्षिण-पूर्वी बंगाल के अर्द्ध-स्वतन्त्र सरदारों ने, जो लगभग मुग़ल शासन की परिधि के बाहर थे, विपदाग्रस्त बंगाली कवियों और विद्वानों को औपचारिक रूप से सहायता प्रदान की। विष्णुपुर के मल्ल शासकों को छोड़कर, जो सर्वाधिक प्रभावी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे, किसी ने भी अपने दरबार में साहित्यिक या पांडित्यपूर्ण परम्परा क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वैष्णववाद के माध्यम से संस्कृति ने मल्ल सरदारों की नियमविहीन सीमाओं को पहले-पहल तब पार किया जब श्रीनिवास आचार्य ने उस समय विष्णुपुर के शासक बीरहाम्बर का हृदय जीत लिया। एक शताब्दी से भी कम समय में वैष्णव मत का जंगलों और पहाड़ों के उस विस्तृत प्रदेश में आद्यन्त प्रसार हो गया जो अर्ध-बर्बर और ख़ूँख़ार लोगों से जहाँ-तहाँ बसा था। विष्णुपुर के दरबार का आतिथ्य भिक्षुक अथवा अन्य सभी वैष्णवों के लिए उन्मुक्त था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक, मल्ल दरबार में एक सांस्कृतिक परम्परा का पूरी तरह विकास हो गया था। दरबार के वास्तुकारों ने ईंटों के भव्य मन्दिरों का निर्माण किया और 'कविचन्द्र' की सामान्य उपाधि से विभूषित दरबारी कवियों ने बाङ्ला में *रामायण* और *महाभारत* की रचना की और कृष्णाख्यान भी विविध प्रकार के प्रगीतात्मक और समाख्यानात्मक छन्दों में लिखा।

इसकी पराकाष्ठा गोपालसिंह के राज्यकाल (1712-48) में हुई। वह कट्टर वैष्णव था, और वह अपनी प्रजा से भी यह अपेक्षा करता था। उसने अपनी प्रजा को नियमित रूप से प्रतिदिन सन्ध्या समय ईश्वर का नाम लेने के लिए बाध्य किया। इस कार्य में यदि किसी की चूक पकड़ी जाती थी, तो उसे भारी दंड भुगतना पड़ता था।

राज्य में यह भी कानून था कि एकादशी को (जिसे वैष्णव पवित्र मानते हैं) रोगियों, दूध पिलानेवाली माताओं, और बच्चों को छोड़कर दिन में कोई भोजन नहीं कर सकता था और राजा की घुड़साल और गोशाला में चारे पर रोक लगा दी जाती थी। गोपालसिंह की दान-वृत्ति से जन-जन लाभान्वित होता था, और उनमें लेखकों ने उसका प्रशस्ति-गान किया। उसके एक दरबारी कवि ने उसके लिए एक *कृष्णमंगल* काव्य लिखा। दरबार का ज्येष्ठ कवि ('कविचन्द्र') शंकर चक्रवर्ती विपुल मात्रा में लिखता था। विष्णुपुर की रानियाँ और राजकुमारियाँ पूर्वी भारत में अपने समय की सर्वाधिक शिक्षित महिलाओं में से थीं।

मल्ल दरबार के साहित्यिक संरक्षण से कुछ पड़ोसी सरदारों और ज़मींदारों ने धलभुम के अनन्तधवल के आदेश पर, प्रतिस्पर्धा की। उसके दरबारी कवि जगन्नाथ सेन ने, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ के आसपास *हितोपदेश* का बाङ्ला छन्द में अनुवाद किया।

उत्तरी बंगाल का सबसे पहला ज़मींदार, जो बाङ्ला काव्य के आश्रयदाता के रूप में प्रकट हुआ सान्तौल (पवन) का रामकृष्ण था, जिसका उत्कर्ष सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। नित्यानन्द आचार्य, जो 'अद्‌भुताचार्य' कहलाते थे, और जिन्होंने *अद्‌भुत रामायण* के विवरण के आधार पर एक *रामायण* काव्य लिखा था, उसी के आश्रित थे। नित्यानन्द का काव्य उत्तरी बंगाल में अत्यन्त लोकप्रिय था और उसके बहुलांश का अन्तर्भाव कृत्तिवास के काव्यों के प्रचलित पाठ में हो गया है। रामकृष्ण का एक अन्य आश्रित कृष्णजीवन दास था, जिसने *चण्डीमंगल* काव्य लिखा है।

□

11

चण्डी और मनसा पर रचित आख्यान-काव्य

वैष्णव काव्य के अलावा सोलहवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मुकुन्दराम चक्रवर्ती-कृत *चण्डीमंगल* है। ऐसे काव्यों के प्राचीनतम लेखक के रूप में माणिक दत्त का नाम प्रसिद्ध है, और मुकुन्दराम की *चण्डीमंगल* की कुछ प्रतियों में इस बात का उल्लेख है कि यह कृति माणिक दत्त के 'परिनिष्ठित आख्यान' ('डामड़ा') पर आधारित है। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरांश में उत्तरी बंगाल से माणिक दत्त के नाम पर जो पाण्डुलिपि मिली है, वह वही रचना नहीं हो सकती जिसने मुकुन्दराम को प्रेरणा दी। कुछ अन्य परवर्ती विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें चैतन्य और उनके मत के बारे में स्पष्ट संकेत है। फिर भी काव्य में कुछ ऐसी सामग्री का एकदम अभाव नहीं है जो स्पष्ट रूप से प्राचीन है।

इस *चण्डीमंगल* का लेखक 'चण्डीमंगल'-परम्परा का प्राचीन माणिक दत्त नहीं हो सकता, जिस 'मूल' माणिक दत्त ने चण्डी के धार्मिक पदों से दक्षिण-पश्चिमी बंगाल (या कलिंग) का परिचय कराया, उसकी कथा हमारे माणिक दत्त के काव्य में इस प्रकार दी गयी है :

असुरों पर चण्डी की विजय के उपरान्त देवताओं ने उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद देवी ने इच्छा प्रकट की कि पुरुषों को नृत्य-गान के उत्सव के द्वारा उसकी आराधना करनी चाहिए। नारद ने उसे सलाह दी कि वह अपने अनुष्ठान की विधि माणिक दत्त को बता दे जो विकलांग था—गूँगा-बहरा। एक अत्यन्त वृद्धा स्त्री के छद्म वेश में चण्डी माणिक दत्त के पास उस समय आयी जब वह गहरी नींद में था। देवी ने उसे आदेश दिया कि वह उनके प्रचलित कर्मकाण्ड को सूत्रबद्ध करे और उनकी कथा छन्द में लिखे। उन्होंने उसे विश्वास दिलाया कि उसके दोनों बेटे रघु और राघव उसके सहायक रूप में सर्वोत्तम सिद्ध होंगे। तदुपरान्त उन्होंने निद्रित व्यक्ति पर अपना हाथ फेरा, और उसकी विकृतियाँ ग़ायब हो गयीं। देवी उनके सिरहाने अपने कर्मकाण्ड की पुस्तक छोड़कर अन्तर्धान हो गयीं। सुबह जागने पर माणिक दत्त ने अपने-आपको एक नया आदमी पाया। चण्डी ने कर्मकाण्ड की जो पुस्तक उन्हें दी थी, वह संस्कृत में थी। क्योंकि वह संस्कृत नहीं जानता था अतः

उसने अपने मित्र श्रीकान्त पण्डित की सहायता ली। पण्डित ने संस्कृत छन्दों की व्याख्या की और माणिक दत्त ने उनको बाङ्ला छन्दों में रूपान्तरित किया। काव्य लगभग तीन सौ पद-बन्धों ('नाचारी') में पूरा हुआ। तदुपरान्त उन्होंने जनता में उसका गान करने के लिए एक मंडली का गठन किया। माणिक दत्त स्वयं उसमें प्रमुख 'गायक' थे, उनके पुत्र रघु और राघव सहायक गायकों ('पाली') की भूमिका निबाहते थे, और श्रीकान्त पण्डित मृदंग बजाते थे। यह मंडली कलिंग पहुँची और वहाँ द्वार-द्वार घूमकर उन्होंने इसका पाठ और गायन किया। बहुत शीघ्र इस काव्य का व्यापक रूप से प्रचलन हो गया। कलिंग के राजा को पता चला कि नृत्य और गान के माध्यम से उपासना की एक नयी पद्धति उसकी प्रजा को उसके कर्त्तव्य से विकर्षित कर रही है। माणिक दत्त को उसकी विशिष्ट प्रकार की कार्यवाही की सफ़ाई देने के लिए तलब किया गया। उसने राजा को अपनी कथा सुना दी; किन्तु राजा को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि चण्डी उसके जैसे क्षुद्र व्यक्ति पर अनुग्रह करेगी, और उन्होंने माणिक दत्त को सन्दिग्ध समझकर बन्दी बना लिया। रात को देवी सोते हुए राजा के सामने प्रकट हुई और अत्यन्त उग्र रूप में उसे प्रातःकाल कवि को मुक्त करने का आदेश दिया। इस घटना के उपरान्त राजा माणिक दत्त के सर्वश्रेष्ठ आश्रयदाता हो गये।

कथा एकदम कल्पित है। परन्तु सम्भव है कि इसमें पौराणिक तत्त्व रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि माणिक ब्राह्मण नहीं था (जैसा कि ऐसी कविता का कोई भी परवर्ती लेखक नहीं था) इस सम्प्रदाय का उद्भव या तो कलिंग में हुआ अथवा यह कलिंग के रास्ते आया।

माधव नाम के ब्राह्मण ('द्विज') ने *चण्डीमंगल* की रचना सम्भवतः 1579 में की; जब, कवि के अनुसार, महाभारत के नायक अर्जुन के अवतार के रूप में अकबर बंगाल का शासक था। (बाङ्ला साहित्य में एक मुग़ल शासक का यह सर्वप्रथम उल्लेख है)। कवि ने कहा है कि वह हुगली तट पर बसे सतगाँव का निवासी है, किन्तु इस कथन की सच्चाई के सम्बन्ध में कुछ सन्देह है। काव्य की सब हस्तलिखित प्रतियाँ (जिनमें से प्राचीनतम का समय 1759 है) सुदूर पूर्व बंगाल की मुख्यतः चटगाँव की हैं, और उनमें से एक भी पश्चिमी बंगाल की नहीं है। इसका केवल एक समाधान हो सकता है; वह यह कि चूँकि कवि और उसका परिवार पूर्वी-बंगाल में जाकर बस गया था और काव्य की रचना वहीं हुई थी, इसलिए पश्चिमी बंगाल में उसकी जानकारी की कोई सम्भावना नहीं थी।

माधव की कृति अपेक्षाकृत छोटी है। शिव और सती की आरम्भिक कथा, पार्वती से उनके विवाह और गृहस्थ-जीवन की कथा, सब अनुपस्थित है। इसके बजाय एक अत्यन्त संक्षिप्त-से आख्यान में मंगल नामक असुर पर देवी विजय की कथा कही

गयी है, जिससे उसके नाम मंगल चण्डी[1] की व्याख्या हो जाती है। धनपति की कथा की तुलना में कालकेतु की कथा अत्यन्त संक्षिप्त है। कवि का कथा-क्षेत्र अत्यन्त सँकरा होने के कारण चरित्रों के विकास के लिए कम अवकाश रहा है।

गंगा और पृथ्वी पर उसके अवतरण की कथा पर एक आख्यान-काव्य *गंगामंगल* की रचना हुई है। यह भी माधव नाम के एक ब्राह्मण कवि की कृति है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कवि चैतन्य का मत का अनुयायी रहा है। इस तथ्य के बावजूद कि *गंगामंगल* और *चण्डीमंगल* की पुष्पिकाएँ, जिन पर माधव ब्राह्मण के हस्ताक्षर हैं, प्रायः समरूप हैं, फिर भी दोनों के लेखकों को एक मानने का कोई विशेष कारण नहीं है।

मुकुन्दराम चक्रवर्ती 'कवि-कंकण' की रचना *चण्डीमंगल* अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं (यदि कोई हों तो) पर छा गयी और आगे इस दिशा में किसी गम्भीर प्रयास के लिए मार्ग अवरुद्ध कर दिया। वृहद् परिणाम की यह कृति गुणात्मक दृष्टि से भी प्रतिनिधि रचना है, और इसने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया, जिसका अनुसरण पश्चिमी बंगाल में 'मंगल' काव्य के सभी परवर्ती लेखकों ने किया। मुकुन्दराम ने अपने काव्य का आरम्भ प्राक्कथन के रूप में आत्मकथानक विवरण से किया जिससे पश्चिमी बंगाल के आख्यानक कवियों में एक पद्धति का आरम्भ हुआ, जिसमें 'स्वप्न के ब्याज' के स्थान पर देवता सीधे प्रकट होकर काव्य और गीत के माध्यम से अपने अनुष्ठान की आज्ञा देने लगा।

मुकुन्दराम पश्चिम बंगाल में दामुन्या (अब बर्दवान ज़िले के दक्षिणी कोने में स्थित) के एक ब्राह्मण-परिवार के थे। यह परिवार कुछ एकड़ पैतृक ज़मीन की पैदावार पर निर्भर था। यह स्पष्ट है कि यह ज़मीन एक प्राचीन शिव-मन्दिर से जुड़ी हुई थी। उस संकटपूर्ण समय में जब पश्चिमी-बंगाल में शेरशाह की शस्त्र-शक्ति के सामने पठान शक्ति हथियार डालनेवाली थी, पश्चिमी बंगाल की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था लगभग पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। पुराने पठान और हिन्दू ज़मींदारों की सम्पत्ति छीनकर अफ़गान सरदारों को दी जा रही थी और उन काश्तकारों ने, जो प्रमाण के रूप में दस्तावेज़ प्रस्तुत नहीं कर सके, सहसा अपने को भूमिहीन पाया। मुग़ल प्रशासन प्रान्त में बाहर से कर और भूमि-व्यवस्था के अधिकारी लाया। इसलिए उन्हें स्थिति की बहुत कम समझ थी और वहाँ के अभागे लोगों के लिए उनके मन में कोई सहानुभूति न थी। नये शासकों ने नये ज़मींदार पैदा किये, जो जितनी सम्भव हो सके उतनी अधिक भूमि हथियाना और लगान उगाहना चाहते थे। मुकुन्दराम अभागे व्यक्तियों में से था। कुछ एकड़ जुती हुई भूमि के रूप में उसका पैतृक उत्तराधिकार लगभग सात पीढ़ियों से उसके परिवार की सामान्य आवश्यकताओं के

1. जैसा नाम से ध्वनित होता है, चण्डी मूलतः एक क्रूर देवी है। उसकी दया-दृष्टि से शान्ति और समृद्धि उपलब्ध होती है और उस रूप में वह मंगल चण्डी है।

लिए पर्याप्त था। एक ऐसे हिन्दू ज़मींदार का काश्तकार होने के कारण, जो हुसैनशाह के परिवार के प्रति वफ़ादार था और अब अवज्ञा का पात्र था, मुकुन्दराम की ज़मीन ज़ब्त कर ली गयी। पर इस प्रकार के कष्ट झेलनेवाला वह अकेला नहीं था। उस पीड़ा का, जिसमें तमाम लोग उसके सहभागी थे, उसने इस प्रकार भावपूर्ण वर्णन किया है :

> "विष्णु के चरणकमलों के लोल भृंग-रूपी राजा मानसिंह धन्य हैं, जो अब गौड़ और उड़ीसा के समीप हैं। एक अधर्मी राजा के काल में प्रजा के पापों के फलस्वरूप महमूद शरीफ़ को जागीर मिली है। रायजादा वजीर बने जो व्याप क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैष्णव सभी के शत्रु सिद्ध हुए। ज़मीन कोने से नापकर, पन्द्रह कट्ठे[1] में बीघा पूरा कर देते हैं। प्रजा की गोहार नहीं सुनते हैं। कलक्टर काल बन गया और बंजर भूमि को उपजाऊ करके दर्ज कर लेता है। बिना किसी प्रकार की सहायता किये ही किश्त वसूल करता था। खजांची यम बन गया था। वह ढाई आना प्रति रुपये की दर से बट्टा काटता है। एक रुपये पर एक पाई प्रतिदिन की दर से ब्याज लेता है। चुंगी इकट्ठा करनेवाले बेईमान और धूर्त थे : वे दूसरे लोगों की वस्तुओं के लिए औरों पर जुर्माना करते थे; वे दिन-दहाड़े लूट-पाट मचाते थे। दूसरे अफ़सर इन सबसे अधिक दुष्ट थे; वे जनता का खून चूसने में जोंकों से कम न थे। वे देखते-देखते लोगों का धन हर तो जाते थे। स्थानीय अफ़सर बिलकुल निकम्मा था। पैसे देकर भी मज़दूर नहीं मिलते थे। न कोई धान ख़रीदता था, न मवेशी। मेरे स्वामी गोपीनाथ नन्दी दुर्भाग्य से कारावास झेल रहे थे। उनकी रिहाई का कोई उपाय नहीं था। हर दरवाज़े पर एक बेलिफ सख़्ती से पहरा देता था, ताकि अपराधी भाग न जाय, और लोग फ़सल ख़त्म हो जाने पर अपना ज़रूरी सामान और औज़ार तक बेच देते थे; रुपये की क़ीमत दस आना भर रह गयी थी।"

अपने पड़ोसी मित्रों की सलाह पर मुकुन्दराम ने अपनी पत्नी, शिशु पुत्र और एक छोटे भाई (सम्भवतः परिवार के एक मित्र भी) के साथ अफ़ग़ान राज्य के बाहर दक्षिण में, जहाँ ब्राह्मण निवासी एकदम अवांछनीय नहीं माना जाता था, अपना भाग्य आज़माने के लिए अपना पैतृक घर छोड़ दिया। घर से कुछ ही मील दूर वे एक ठग के शिकार हो गये और उसके पास जो थोड़ी-बहुत पूँजी थी, वह भी खो गयी। मोहल्ले के एक दानी व्यक्ति के द्वारा आतिथ्य प्रदान करने से तात्कालिक संकट टल गया। मुकुन्दराम ने डाकू और उस दानी व्यक्ति दोनों का नामोल्लेख किया है। तीन दिन रुकने के बाद कवि और उसका परिवार पुनः दक्षिण-पश्चिमी रास्ते पर चल दिए। कई नदियाँ पार करके और काफ़ी रास्ता तय करके वे मन और शरीर से एकदम थके-माँदे एक निर्णायक सुबह को, एक गाँव की बाहरी सीमा पर पहुँचे। दिन बहुत गर्म था और

---

1. बीस 'कट्ठों' का एक 'बीघा' (एक एकड़ का लगभग एक तिहाई) होता है।

वे एक सूखते हुए तालाब के ऊँचे तट पर तनिक-सी ओट में कुछ घण्टों के लिए बैठ गये। कवि ने बिना रोज़ की तरह तेल मालिश किये, स्नान किया और फिर गृह-देवता गोपाल की, जिन्हें वह साथ ले जा रहा था, प्रतिदिन की भाँति पूजा की, पर वह केवल खिले कमलपुष्पों और उनकी एक जड़ के अतिरिक्त उनके अर्पणार्थ कुछ न जुटा सका। खाने के नाम पर केवल तालाब का जल था और बालक भात के लिए रो रहा था। मुकुन्दराम एक कोने में सिकुड़ा ऊँघ रहा था कि उसे स्वप्न आया कि उसकी माँ उसके पास आयी हैं, और उन्होंने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया है। तदुपरान्त उन्होंने चण्डी का रूप ग्रहण कर लिया और उसे आशीर्वाद देकर, गीतों के द्वारा अपनी आराधना करने के लिए कहा। इस सुखद स्वप्न से कवि उत्साहित हुआ। यह घटना शक वर्ष 1466 (1544 ई.) की है। डेरा उखाड़कर वे शिलाइ को पार कर आरड़ा (घटल, मिदनापुर में चन्द्रकोना और खिरपाइ के बीच) आये, जहाँ उनकी यात्रा समाप्त हो गयी। मुकुन्दराम एक स्थानीय ब्राह्मण सरदार बाँकुड़ा राय के पास पहुँचे, जिसने तत्काल संकटग्रस्त परिवार की सहायता की और उन्होंने मुकुन्दराम को अपने युवा पुत्र रघुनाथ का शिक्षक और सहचर नियुक्त कर दिया।

व्यवस्थित जीवन की निश्चितता ने कवि को स्वप्न में देवी को दिये गये वचन के प्रति लापरवाह बना दिया, यद्यपि उसका साथी प्रायः उसे स्मरण दिलाता रहता था। अन्ततः परिवार में एक दुर्घटना ने मुकुन्दराम को उसकी लापरवाही के प्रति जाग्रत किया और तब उसने काव्य को पूरा करने में विलम्ब नहीं किया। यह घटना बाँकुड़ा के पुत्र और उत्तराधिकारी रघुनाथ राय के शासन-काल (1573-1603) में हुई। उड़ीसा पर मानसिंह के अभियान के उल्लेख से रचना की समाप्ति का समय 1589 निश्चित होता है। रघुनाथ के आदेश पर काव्य का पाठ और गान हुआ और वह रचना और उसकी प्रस्तुति से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इसका पहला सार्वजनिक प्रदर्शन कामेश्वर के मन्दिर में हुआ और उसके मुख्य गायक प्रसाद थे। पुरानी परम्परागत प्रथा के अनुसार रघुनाथ ने कवि को कंगन की जोड़ी,[1] अन्य आभूषण और कपड़े, जिसमें एक पगड़ी और सवारी के लिए घोड़ा भी शामिल था, भेंट किए। गायक और उसकी मंडली को भी यथोचित पुरस्कार मिला।

मुकुन्दराम का काव्य तीन खण्डों में है। पहला खण्ड स्वतन्त्र काव्य है। उसमें शिव, उनकी पहली पत्नी सती और दूसरी पत्नी पार्वती (गौरी, दुर्गा या चण्डी) की पौराणिक कथा का वर्णन है। इसकी बहुत-सी सामग्री स्थानीय लोक-काव्य से ली गयी है। उदाहरण के लिए शिव और पार्वती का विवाह-समारोह, शिव का अपने श्वसुर के परिवार के साथ बने रहना, और इस देव-युग्म का अभावग्रस्त और दुःखद गृहस्थ जीवन। हो सकता है कि इस भाग की रचना स्वतन्त्र *शिवायन* काव्य के रूप में उस

---

1. इसीलिए उनकी उपाधि 'कविकंकण' थी।

समय की गयी हो, जब कवि ने अपना घर नहीं छोड़ा था और वह प्रतिदिन ग्राम-देवता की पूजा करता था। शिव-कथा के वर्णन में इस विषय के परवर्ती लेखकों, जैसे रामेश्वर भट्टाचार्य और भारतचन्द्र राय (अठारहवीं शताब्दी) ने मुकुन्दराम का निकट से अनुकरण तो किया, पर वे उसे मात नहीं दे सके। काव्य का दूसरा खंड 'आखती' खंड (व्याध खंड) और तीसरा खंड वणिक खंड है। यह *चण्डीमंगल* के मुख्य खंड हैं।

मुकुन्दराम व्यक्तियों और उनके व्यवहार का अत्यन्त कुशल प्रेक्षक था। उसके विस्तृत काव्य में आद्यन्त अपनी शक्ति और सीमा के साथ विविध मानव-रूपों की यत्र-तत्र झलकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। कवि ने जीवन में पर्याप्त दुःख झेला था, और इसलिए जीवन के प्रति उसके कटु होने का समुचित कारण था। यह कटुता कुछ छिट-पुट पंक्तियों में ही अभिव्यक्त हुई है और इसने उसके कैनवस को विकृत नहीं किया। व्यक्ति-चरित्र और सामाजिक वर्ग दोनों बड़े तीखेपन से चित्रित किये गये हैं; साथ ही समझ और सहानुभूति से भी। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

कालकेतु वन-पशुओं को अन्धाधुन्ध मार रहा था और शिकार अवश थे। अन्ततः वे रोते हुए अपनी संरक्षिका देवी चण्डी की शरण में आये। देवी के सम्मुख अपना दुखड़ा रोते हुए पशुओं को मुकुन्दराम ने ऐसे प्रस्तुत किया है, मानो वे वैयक्तिकताओं और स्वभाव वैशिष्ट्य से युक्त मनुष्य हों। इस प्रसंग में निश्चय ही कवि को अपना पुराना घर छोड़ने से पहले अपने चिन्ताग्रस्त दिन स्मरण रहे होंगे।

> अभया का स्मरण करके सिंह आकर रोकर बोला :
>
> "माथे पर तिलक लगाकर, तुमने ही मुझे मृगराज बनाया था। मेरा प्राण प्रिय भाई परलोक सिधार गया। अब मुझे राज्य भी नहीं चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।
>
> (रीछनी ने कहा) : मैं दीमक और चारा खाती हूँ। जाति की पशु हूँ। न नियोगी हूँ न चौधरी, न मेरे पास कोई ताल्लुका ही है। मेरे सात वीर पुत्रों को जाल में बाँधकर मार डाला गया। माँ, तुम्हारे राज्य में मेरा सारा वंश नष्ट हो गया। पति मरा, पुत्र मरा, दो पौत्रों को पालना है।
>
> धूलि-धूसरित होकर हथिनी रो रही है : माता, मिथ्या वर देकर वध क्यों किया? मेरा श्यामल सुन्दर कमललोचन पुत्र, जिसकी भौंहें कामदेव के धनुष के समान थीं और रूप कामदेव को परास्त करनेवाला था। उसके कपाल का चन्द्रमा जंगल का उजाला था।...हमारा नाम, ग्राम, शरीर सभी बड़ा है फिर भी कालकेतु से छिपने के लिए कहीं स्थान नहीं है। क्या करें कहाँ जायँ? कहाँ जाने से त्राण मिलेगा? हमारे अपने दाँत ही हमारे शत्रु हो गये हैं।
>
> सेही और खरगोश हिचकियाँ ले-लेकर रो रहे हैं : कल्पतरु की सेवा करके भी हमारा दुःख मिटा नहीं। हम लोग गड्ढों में रहते हैं, छिपना खूब जानते हैं। पर

क्या करें, वीर गड्ढों में भी पानी डाल देता है। मेरे चार पुत्र और दो पुत्रियाँ मर गये, बुढ़ापे में पति मर गया। अब जीकर भी क्या लाभ?"

काव्य की विषय-वस्तु का स्रोत पौराणिक है और स्वरूप धार्मिक है। फिर भी, मुकुन्दराम ने इसमें पश्चिमी बंगाल के समसामयिक सामाजिक जीवन और वातावरण का एक सीमा तक सन्निवेश कर दिया है। बंगाल के जीवन ने, जो बच्चे के जन्मोत्सव से आरम्भ होकर विभिन्न जातियों और मतों की शहरी बस्तियों पर समाप्त होता है, मुकुन्दराम के ध्यान को बहुत क़रीब से आकर्षित किया है। उसके वर्णनों के बीच विनोद की ऐसी धारा प्रवाहित है जिसने इस लम्बे काव्य को नीरस और उबाऊ होने से बचा लिया है। कवि एक अच्छा हिन्दू था और इसलिए मुसलमानों के प्रति पक्षपात करने का कोई विशेष कारण नहीं था; परन्तु कालकेतु के द्वारा बसायी गयी नयी राजधानी के मुसलमान निवासियों के वर्णन यदि पक्षपात नहीं तो कम-से-कम घनिष्ठ ज्ञान, समझ और सहानुभूति को प्रकट करते हैं। पठानों की कवि ने प्रशंसा भी की है :

"वे अत्यन्त उदार हैं; वे किसी को तंग नहीं करते; वे मृत्यु की पीड़ा सहकर भी रोज़ा नहीं छोड़ते। वे पठानी वस्त्र पहनते हैं, उनके सिर मुँडे होते हैं, पर वे छाती तक झूलती हुई दाढ़ी रखते हैं। वे अपनी जीवन-पद्धति नहीं छोड़ते, अपने सिरों पर वे दस रेखावाली टोपी पहनते हैं; वे कसे कमरबन्द के ढीले पाजामे पहनते हैं। वे नंगे सिरवाले व्यक्ति से बात नहीं करते; जवाब में वे उसके सिर पर लाठी जमा देते हैं।"

प्रधान चरित्र कम हैं, परन्तु उनमें वह वैयक्तिकता नहीं है जो गौण पात्रों में निरपवाद रूप से मिलती है। प्रधान पात्रों का परम्परागत पद्धति पर प्रस्तुत करना आवश्यक था अतः कवि के पास उस स्थिति में बहुत कम विकल्प था। परन्तु गौण पात्रों में निहित गहराई को वह बड़ी निपुणता से एक-दो पंक्तियों में उद्‌घाटित कर देता है और इस प्रकार धुँधली रूपरेखाएँ स्पष्ट चरित्रों में परिवर्तित हो जाती हैं। मुरारी सील नाम का सुनार तब तक कालकेतु को घर में नहीं मिलता, जब तक उसे यह ख़याल रहता है कि वह व्याध अपने दिये हुए मांस के सिलसिले में तगादा करने आया है। पर जैसे ही उसने समझा कि कालकेतु एक रत्न बेचने आया है, वह अत्यन्त उल्लसित होकर बाहर निकल आया। घर की नौकरानी दुर्बाला ख़रीदारी का हिसाब देने में अपने ढंग से समय लगाती है। यह मुकुन्दराम की सहज और दक्ष लेखनी के कुछ दीप्त स्पर्श हैं। भामरू दत्त ठग का मुकुन्दराम ने जैसा सुखद चित्रण किया है, वह भारतीय साहित्य में अमर रहेगा।

अपवाद रूप में कुछ वैष्णव लेखकों को छोड़कर मुकुन्दराम अपनी शताब्दी का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मध्य बाङ्ला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि था, जिसमें बहुज्ञता और व्यापक संस्कृति के दर्शन होते हैं। उसने अपने ज्ञान का विवेकपूर्ण ढंग से

उपयोग किया परन्तु उसे कभी काव्य-कल्पना और शैली की स्पष्टता पर हावी नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप उसका काव्य उसके समय और प्रदेश के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के चित्रों की दीर्घा प्रस्तुत करता है। वहाँ ज्ञान का आडम्बर तो है ही नहीं; साथ ही कोलाहल और अभद्रता भी नहीं हैं। पदावली परिष्कृत है और शब्द-भंडार समृद्ध है। ऐसे विदेशी शब्दों का, जो लगभग देशज हो गये हैं, बचाव नहीं किया गया है।

मुकुन्दराम का *चण्डीमंगल* आख्यान-काव्य है, जिसका वाचन और गायन किया जाता था और यही उसकी रचना का उद्देश्य था। उसमें अन्तर्ग्रथित गीतों की संख्या बहुत कम है। इस प्रकार के गीतों का एक सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित लोरी है :

> "मेरे बच्चे, मेरे पास आओ। मेरा लाल क्यों रोता है? उसे कौन-सा धन चाहिए? मैं तुम्हारे लिए, एक-एक लाख के आकाश-कुसुम बीन लाऊँगी। उन फूलों की माला गूँथकर तुम्हें पहनाऊँगी। मेरे प्राणप्रिय, और मत रोओ! मैं आकाश पर जाल बिछाकर, उसमें शरद चन्द्रमा को पकड़ लाऊँगी, और तुम्हारे ललाट पर उसका टीका लगा दूँगी। मैं कल तुम्हारे खेलने के लिए सोने की गेंद गढ़वा दूँगी। मैं तुम्हें मलाई और मिठाई खिलाऊँगी और लगाने के लिए इत्र दूँगी। मैं तुम्हें कपूर, पान के कोमल पत्ते और चबाने के लिए सुपारी दूँगी। मैं तुम्हारा विवाह दो राज-कन्याओं से करूँगी और दहेज में रथ, हाथी और घोड़े लाऊँगी। कस्तूरी, कुंकुम और चन्दन का लेप करके मेरा श्रीमन्त सोने की तरी में जल-विहार करेगा। चँवर की हवा में वह पलंग पर सोएगा। मुकुन्दराम अपने *अम्बिकामंगल*[1] में इस प्रकार गाते हैं।"

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में कुछ और चण्डीमंगल काव्य लिखे गये थे। परन्तु मुकुन्दराम की कृति की सार्वजनिक और अभिभूत कर देनेवाली लोकप्रियता की तुलना में, जो 'मंगल' काव्यों का मानक बन गयी थी, बाक़ी रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं था। मनसा की कथा पर रचित काव्यों में से केवल एक को कुछ निश्चय के साथ सोलहवीं शताब्दी की रचना माना जा सकता है। यह नारायणदेव-कृत *मनसामंगल* है। कवि उत्तर-पूर्वी बंगाल का निवासी था, परन्तु उसके परदादा पश्चिमी बंगाल (राढ़) से आकर ब्रह्मपुत्र के समीप बस गये थे। सम्भवतः यही वह परिवार था, जिसने उत्तर-पूर्वी-बंगाल से मनसा की कथा का परिचय कराया। नारायणदेव के काव्य का व्यापक प्रचार हुआ तथा पूर्वी और उत्तर-पूर्वी बंगाल के सभी परवर्ती लेखक, जिन्होंने इस विषय पर लिखा, उसके ऋणी हैं। हस्तलिखित प्रतियाँ अठारहवीं शताब्दी से पुरानी नहीं हैं और वे सब, कुछ परवर्ती लेखकों की रचनाओं के साथ हैं और

1. अभिधार्थ 'देवी माँ का काव्य' जो *चण्डीमंगल* का दूसरा नाम है। काव्य का वास्तविक नाम अभया मंगल (संरक्षिका देवी का पवित्र काव्य) है।

मनसामंगल के गायकों द्वारा बनायी गयी प्रतिलिपियों के साथ मिल गयी हैं। नारायणदेव के काव्य के आरम्भिक अंश में शिव और पार्वती की कथा है और यह इस काव्य की निजी विशेषता है।

नारायण ने प्रायः अपने नाम के साथ 'सुकवि' विशेषण का प्रयोग किया है। इस कारण उसका नाम 'सुकवि-नारायण' पड़ गया। बाद में उसका काव्य इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में यह नाम 'सुकनान्नी'?[1] के रूप में विकृत हुआ। और अब असम के पश्चिमी ज़िलों में यह काव्य इसी शीर्षक से प्रसिद्ध है।

कामरूप (पश्चिमी असम) से दो *मनसामंगल* काव्यों की खंडित प्रतियाँ हाल ही में प्रकाश में आयी हैं। इनके लेखक मनकर और दुर्गावर, सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी भी या उससे भी पहले हुए थे। नारायणदेव के काव्य से इनका कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। पश्चिमी असम में नारायण देव के काव्य ने विशेष लोकप्रियता पायी थी।

□

1. सुकवि नारायणी से, जिसका अर्थ है 'सुकवि नारायण का काव्य'।

12

सत्रहवीं शताब्दी

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों से बंगाल स्वतन्त्र प्रदेश नहीं रहा और इस प्रदेश के प्रशासन की बागडोर स्वदेशियों के हाथ में नहीं रही। प्रान्त के गवर्नर और उनके उच्च अधिकारी भी अब दिल्ली और आगरा से आने लगे। भूमिपतियों और सामन्त-सरदारों की एक नयी पौध खड़ी हो गयी, जो हमेशा अनुग्रह के लिए मुग़ल दरबार की ओर उन्मुख रहती थी।

सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य की सबसे अधिक दर्शनीय विशेषता है, वैष्णव गीतों का लगभग यांत्रिक उत्पादन, पुनरुत्पादन और आख्यान ('मंगल')-काव्यों की नीरस पुनरावृत्ति, जो किसी प्रकार की नवीनता और ताज़गी से लगभग विरहित थी। नयी प्रवृत्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, पद्य में रोमानी और अधार्मिक कथाओं का आविर्भाव, जो गायन के बजाय वाचन के लिए लिखी जाती थीं ('पांचाली' पर 'मंगल' नहीं)। इनके मूल आधार हिन्दी और फ़ारसी के काव्य थे, और इस काव्य-शैली का पोषण सुदूर दक्षिण-पूर्वी बंगाल के केवल मुसलमान लेखकों द्वारा किया गया था। एक गूढ़ और लड़खड़ाती-सी सूत्रात्मक ढंग की गद्यशैली का ग्रहण वैष्णव रहस्यवादियों के भूमिगत सम्प्रदाय ने नवदीक्षितों के लाभार्थ अपने निदेश लिखने के लिए किया। परन्तु इन पुस्तिकाओं का साहित्य से विशेष सम्बन्ध नहीं है। कुछ रोमन कैथोलिक पादरियों और मिशनरियों ने और पुर्तगालियों तथा बंगालियों ने, जिन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया था, इसी पद्धति का अनुसरण किया। किन्तु इनके प्रयास अधिक विस्तारयुक्त होने पर भी और अधिक निष्फल सिद्ध हुए।

गुण की अपेक्षा संयोग के कारण इस शताब्दी की सबसे अधिक प्रसिद्ध साहित्यिक रचना काशीराम देव (या दास) का महाभारत काव्य है (जिसे *पांडव-विजय* कहा जाता है)। इसका स्थान कृत्तिवास की *रामायण* के बाद दूसरा है। काशीराम की कृति भाषा के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थों में से एक है। सम्पूर्ण काव्य लेखक के रूप में काशीराम के नाम से चलता है परन्तु वस्तुतः यह एक संग्रह है। काशीराम ने केवल पहले चार खण्डों ('पर्वों') की रचना की थी। अगले दो-तीन खंड काशीराम[1] के एक

1. काशीराम के तत्काल उत्तराधिकार के लिए दूसरे दावेदार भी हैं।

भतीजे नन्दराम ने लिखे थे। शेष खंडों में से कुछ नित्यानन्द घोष की रचनाओं से ले लिये गये हैं (जिसने सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के पूर्व किसी समय एक लघु *महाभारत* काव्य लिखा था) और कुछ अन्य कृतियों से। काशीराम ने अपने अपूर्ण काव्य की रचना शताब्दी के पहले दशाब्द में किसी समय की थी। वह दक्षिण-पश्चिमी बंगाल का निवासी था किन्तु उसका परिवार हुगली के पश्चिमी तट पर उत्तरी राढ़ से आया था।

काशीराम तीन भाइयों में मँझला था। बड़ा भाई श्रीकृष्ण किंकर एकान्तवासी वैष्णव हो गया था और उसकी ख्याति कृष्ण-कथा पर एक आख्यान-काव्य लिखने के लिए है। छोटा भाई गदाधर जब उसने *जगन्नाथ मंगल* (संक्षेप में *जगतमंगल*) नाम से पुरी के आराध्य देवता जगन्नाथ पर एक प्रशस्तिमूलक आख्यान काव्य लिखा, तब उड़ीसा में कटक में निवास करता था। यह काव्य एकाधिक पुराणों पर आधारित है और 1643 में पूरा हुआ था। इस प्रकार के काव्य लिखनेवालों में अन्य लोग चन्द्रचूड़ आदित्य (1676), ब्राह्मण मुकुन्द (आरम्भिक अठारहवीं शताब्दी) और विश्वम्भर दास (अठारहवीं शताब्दी के करीब) हैं।

वृन्दावन के स्वामियों की संस्कृत-रचनाओं का शीघ्र ही बाङ्ला छन्दों में अनुवाद या संक्षेपण किया गया। इस प्रकार के लेखकों में सबसे अधिक सफल हुए यदुनन्दन दास, जो श्रीनिवास आचार्य की सबसे बड़ी पुत्री हेमलता के अनुयायी थे। 'पुराणों' के देशभाषा-रूपान्तर भी बड़ी तेज़ी से प्रचलित हो रहे थे, विशेषकर पूर्वोत्तर और दक्षिण-पश्चिमी सीमा-प्रदेशों के सामन्ती सरदारों के दरबारों में। *मार्कण्डेय-पुराण* से चण्डी कथा के रूपान्तर उत्तर और पूर्वोत्तर बंगाल में विशेष रूप से प्रचलित थे *भगवद्गीता* की व्याख्या आधे दर्जन से अधिक लेखकों ने की थी।

कृष्ण-कथा पर रचित अनगिनत आख्यान-काव्यों में से केवल एक उल्लेखनीय है। उसके रचयिता भवानन्द, जो अपने काव्य को *हरिवंश* कहते थे, सम्भवतः सिलहट के निवासी थे। इस कृति में शृंगारिक कथा का आदिम रस काफ़ी मात्रा में बना रहा है और इसलिए 'बड़ु' चण्डीदास की रचना से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भवानन्द के काव्य की विशेषता वे प्रगीतात्मक अंश हैं जिनमें कहीं-कहीं अच्छी कविता की पंक्तियाँ मिल जाती हैं। लेखक सम्भवतः शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। इस काव्य की लोकप्रियता कुछ समय पहले तक, विशेषकर सिलहट और उसके आसपास बनी रही।

वैष्णव कवियों ने प्रगीतात्मक गीतों की रचना बड़े उत्साह से जारी रखी, भले ही उसमें हमेशा सन्तोषजनक कलात्मकता नहीं मिलती। अच्छे-से-अच्छे कवियों ने गोविन्ददास कविराज की पदावली का अनुकरण करके संगीतात्मक प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया। श्रोताओं पर इस पदावली का प्रभाव कीर्तन की नयी शैली की संगीतात्मक लय से और अधिक तीव्र हो जाता था। वैष्णव पद-लेखकों में कुछ

मुसलमान भी थे। उनमें अग्रणी थे सैयद मरतुजा और नासीर मामूद। ज़ाहिर है कि दोनों ने वैष्णव धर्म अपना लिया था।

वैष्णव पदों के संग्रह का आरम्भ केवल रूप गोस्वामी के अलंकार-सिद्धान्तों के उदाहरणों को संगृहीत करने के लिए हुआ। इस प्रकार की प्राचीनतम कृति *राधाकृष्णरसकल्पवल्ली* संक्षेप में *रसकल्पवल्ली* है। इसके संग्रहकर्त्ता रामगोपालदास (जो अक्सर स्वयं को गोपालदास लिखते थे) स्वयं पदों के लेखक थे।

मनसा के आख्यानों पर रचित सर्वोत्तम काव्य (पश्चिम बंगाल में सर्वाधिक लोकप्रिय) केतकादास का *मनसामंगल* है। इसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में किसी समय हुई थी। मुकुन्दराम चक्रवर्ती से संकेत ग्रहण करके, केतकादास (जो अपने को क्षेमानन्द भी कहते थे) अपने काव्य का आरम्भ आत्मकथात्मक विवरण से करते हैं। संक्षेप में वह इस प्रकार है :

कवि के पिता शंकर मंडल एक स्थानीय ज़मींदार के कर्मचारी थे। जब तीन किशोर पुत्रों को छोड़कर ज़मींदार की मृत्यु हो गयी तो जागीर के मैनेजर से उनकी अनबन हो गयी और उन्हें अपने परिवार-सहित अपना पुश्तैनी गाँव छोड़ना पड़ा। वे एक गाँव में पहुँचे जहाँ उन्होंने एक दूसरे ज़मींदार के अधीन नौकरी कर ली। एक दोपहर को माँ ने केतकादास और उसके छोटे भाई अभिराम से गाँव के बाहर कच्छी खेत से कुछ चारा लाने के लिए कहा। खेत में जाते हुए रास्ते में लड़कों का झगड़ा कुछ दूसरे लड़कों से हो गया जो पोखर में मछली पकड़ रहे थे। केतकादास ने उनकी सारी मछलियाँ छीन लीं और अपने भाई को देकर वापस घर भेज दिया। जब वह खेत पर पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था, और सूर्यास्त होनेवाला था। उसने काटना शुरू ही किया था कि आँधी आ गयी और सहसा उसने एक स्त्री को, जो जाति की मोची दिखाई पड़ती थी, अपने सामने ख़ड़ा पाया। स्त्री ने उससे बात की और उसके हाथ एक सुन्दर कपड़ा बेचने का प्रस्ताव किया, जो उसने अपने वक्ष से निकाला था। इससे पहले कि वह विस्मित युवक अपना मुँह खोल पाए, उसने कपड़ा वापस अपने वक्ष में खोंस लिया। इसी समय केतकादास को एक पैर में तीखा दर्द उठता हुआ महसूस हुआ और यह सोचकर कि शायद चींटे ने काट खाया है, उसने नीचे की ओर देखा। जब उसने ऊपर देखा तो स्त्री वहाँ नहीं थी। अगले दृश्य से वह स्तब्ध और आतंकित हो गया। सामने देवी का प्रकट रूप था (जिसका वर्णन कवि ने नहीं किया, क्योंकि उसको ऐसा करने से वर्जित किया गया था) जिस पर अनेक सर्प फिसल और तड़प रहे थे। मनसा ने स्वयं को केतकादास के समक्ष इस रूप में प्रकट किया। अन्तर्धान होने से पहले देवी ने उसे अपनी प्रशस्ति लिखने और घूम-घूमकर गाने का आदेश दिया। कवि के अनुसार यह उसके *मनसामंगल* का मूल था।

केतकादास के काव्य में कथा के उसी ढाँचे का अनुसरण किया गया है, जो पश्चिमी बंगाल में प्रचलित था। शैली सरल है और बिना अश्लील और फूहड़ हुए भी

जन सामान्य को प्रभावित करती है। चरित्र-चित्रण के लिए बहुत कम अवकाश होने पर भी केतकादास ने कुछ कौशल का परिचय दिया है।

'क्षेमानन्द' उपनाम का प्रयोग पश्चिम बंगाल में *मनसामंगल* के कुछ अन्य लेखकों ने भी किया है। उनमें से एक केवल क्षेमानन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वर्ग की रचनाओं में उसका काव्य लघुतम है, और दोनों ज्ञात पाण्डुलिपियाँ नागरी लिपि में हैं और दोनों मानभूम की हैं। काव्य की शैली सरल और अभिधात्मक है और चाँदो का चरित्र साहसपूर्वक अंकित किया गया है। इसकी रचना सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी।

विष्णुपाल पश्चिमोत्तर बंगाल का निवासी था और उसने अपने *मनसामंगल* की रचना उस प्रदेश की उपभाषा में की थी, बशर्ते कि उसकी एकमात्र ज्ञात पाण्डुलिपि मूल रचना के अनुसार हो। इस काव्य में कुछ प्राचीन विशेषताएँ बनी रही हैं, जो विप्रदास को छोड़कर और कहीं नहीं मिलतीं। विष्णुपाल का समय सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से पहले नहीं रहा होगा।

धर्ममंगल काव्य केवल राढ़ (पश्चिम बंगाल का वह भाग, जिसके उत्तरी और पूर्वी किनारे पर गंगा है) में लिखे गये, और कवि (जो सभी ब्राह्मण नहीं थे, उनमें से कुछ कायस्थ थे, और कम-से-कम एक-एक कैवर्त, शुंडि, वैद्य और बनिया जैसी जातियों में से थे) संख्या में लगभग दो दर्जन के करीब हैं। उनमें से किसी का समय भी विश्वासपूर्वक सोलहवीं शताब्दी या उससे पहले नहीं माना जा सकता।

जहाँ तक किसी प्रकार के निश्चित काल-क्रम का प्रश्न है रूपराम चक्रवर्ती का काव्य प्राचीनतम *धर्ममंगल* है, जो पूर्ण रूप में हमें उपलब्ध है। कवि दक्षिण-पश्चिमी बंगाल का निवासी था; उसका गाँव श्रीरामपुर दामुन्या के पश्चिमोत्तर में लगभग छह मील पर बसा हुआ था। अपने विख्यात देशवासियों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए रूपराम ने भी अपने काव्य का आरम्भ आत्मकथात्मक विवरण से किया, पर वे इससे कहीं आगे बढ़ गये। अपने पूर्ववर्ती की तरह, रूपराम को भी अपना पैतृक घर छोड़ना पड़ा, किन्तु सर्वथा भिन्न कारण से, और उनका स्थानान्तरण भी उल्टी दिशा में, दामोदर से परे उत्तर की ओर हुआ। रूपराम के निजी ब्यौरे का महान साहित्यिक मूल्य है। यह सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण-पश्चिमी बंगाल के निम्न-मध्य वर्ग के जीवन की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत करता है।

रूपराम श्रीराम चक्रवर्ती और दमयन्ती के तीन पुत्रों में से मँझले थे। उनके दो भाई थे, एक बड़ा (रत्नेश्वर) और दूसरा छोटा (जिसका नाम नहीं दिया गया), और दो छोटी बहनें सोना और हीरा थीं। पिता एक विख्यात पण्डित थे, जिन्होंने काफ़ी बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को शिक्षा दी थी। जब कथा आरम्भ होती है तो श्रीराम की मृत्यु हुए कुछ समय बीत चुका था और बड़ा भाई परिवार का मुखिया था। किसी ऐसे कारण से जिसे रूपराम ने छिपाया है, परन्तु जो स्थानीय परम्परा में सुरक्षित

है,[1] रूपराम का सम्बन्ध अपने बड़े भाई से ठीक नहीं था। जब बात बढ़ गयी तो वह घर छोड़कर अपनी शिक्षा के लिए अन्यत्र जाने पर बाध्य हुआ। इस किशोर ने अपनी किताबों और लिखने के सामान के अतिरिक्त घर से कुछ और नहीं लिया। एक दयालु पड़ोसी ने उसे एक जोड़ी कपड़े और कुछ पैसे दे दिए। वह आडुइ ग्राम पहुँचा। वहाँ के सर्वोत्तम पण्डित कोई रघुराम भट्टाचार्य थे। थके-माँदे असहाय लड़के ने उनके मन में करुणा जगा दी। उन्होंने उसे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया और रहने के लिए अपने ही घर में स्थान दे दिया। रूपराम का कहना है कि पण्डित की शिक्षा में उसने शीघ्र ही शब्द-भण्डार, व्याकरण, काव्य और छन्द-शास्त्र का पाठ्यक्रम समाप्त कर लिया। एक दिन जब पण्डित उसे व्याकरण की शिक्षा दे रहे थे तो रूपराम बार-बार उसमें अनावश्यक प्रश्नों से बाधा दे रहा था। पण्डित को क्रोध आ गया; उन्होंने पुस्तक को रूपराम के सिर पर दे मारा और कहा :

> "दो अक्षर पढ़ाने में ही पूरा दिन बीत जाता है। पढ़ाते समय में मानो इसके अधीन ही हो जाता हूँ। अन्य कक्षाओं के विद्यार्थी बैठे मेरा मुँह ताकते रहते हैं। सिर्फ़ इसी को पढ़ाने में दिन दोपहर बीत जाता है। कुछ शब्द सीखने में भी यह अन्त विवाद उठाता है और पढ़ाते समय हमेशा कोई झंझट खड़ा कर देता है। तुझे मैं पढ़ा नहीं पाया। तू अपने घर जा या कहीं और—चाहे नवद्वीप अथवा शान्तिपुर; या फिर जौग्राम में कणाद के पास चला जा, जिनके समान भट्टाचार्य शान्तिपुर तक में नहीं है।"

ऐसे विनम्र अध्यापक के, जो सीता के दुःखों पर आँसू बहाया करता था, इस आकस्मिक विस्फोट ने शिष्य को समुचित रूप से भयभीत कर दिया। उसने कहा :

> "जब गुरु बोल रहे थे तो उनके शब्द चिनगारियों की तरह चटक रहे थे, और उनके सुन्दर चेहरे पर चेचक के निशान दिख रहे थे। मैंने जब यह शब्द सुने तो मेरा दिल बैठ गया। मेरे गुरु सूर्य की भाँति थे, बहुत आकर्षक। ऐसा कौन है जो ऐसे सम्मोहक अध्यापक के आदेश का उल्लंघन कर सके?"

रूपराम नवद्वीप जाने के लिए तत्काल तैयार हो गये। वे कुछ सौ गज़ ही जा पाए थे कि सहसा उन्हें अपनी माँ का ध्यान आया और वे एकदम घर की दिशा में

1. उस परम्परा के अनुसार, जो इस शताब्दी के आरम्भ तक मुहल्ले में प्रचलित थी, रूपराम एक अत्यन्त नीच जाति की (झाड़ी) लड़की से प्रेम करने लगे थे। उन्हें इस मोह का इलाज करने के लिए घर से दूर भेज दिया गया था। लेकिन उनका प्रेम इस प्रकार के इलाज के लिए बहुत गहरा हो चुका था। कवि ने देश और घर छोड़ दिया परन्तु प्रेम नहीं छोड़ा, रूपराम ने अन्ततः लड़की से विवाह कर लिया और अपनी जाति से हाथ धो लिए। उनके काव्य की विषय-वस्तु में इस बात की कहीं-कहीं पुष्टि होती है : कवि ने कहीं-कहीं अपने को 'फ़क़ीर' कहा है।

घूम गये। कुछ मील चलने के बाद वे एक निर्जन और पुराने रास्ते पर पहुँचे और वहाँ उनका दिक्ज्ञान खो गया। कुछ समय के बाद उन्हें अहसास हुआ कि वे चक्राकार घूम रहे हैं। अपनी स्थिति सही करने के लिए उन्होंने ऊपर देखा तो देखा कि ब्रह्मिनि बत्तख़ों का एक जोड़ा उनके सिर पर ऊँचे चक्राकार उड़ रहा है। जब उन्होंने दृष्टि नीचे की तो देखा कि बाघों का एक जोड़ा कुछ दूर से चुपचाप उनकी ओर देख रहा है। युवक उनसे बचाव के लिए तेज़ी से आगे दौड़ा पर वह फिसल गया और एक तालाब के किनारे बुरी तरह जा गिरा। उसकी किताबें और लिखने की सामग्री चारों तरफ़ बिखर गयी। जब वह खड़ा हो रहा था तो उसे आभास हुआ कि कोई उसके लिए वे वस्तुएँ इकट्ठी कर रहा है। रूपराम ने उस व्यक्ति का (जो स्वयं धर्म था) वर्णन इस प्रकार किया है :

> "एक तो शनिवार था, ऊपर से ठीक मध्याह्न का समय। धर्म मेरे सामने खड़ा था; उसके गले में एक चन्द्रहार झूल रहा था। वह चम्पा के फूलों का हार भी पहने था; उसके हाथ में एक मज़बूत लाठी थी। ब्राह्मण के छद्‌म वेष में धर्म रास्ते पर खड़ा था।"

धर्म ने उस विस्मित युवक को पुस्तकें लौटा दीं[1] और आशीर्वाद प्रतीक के रूप में उसे कुछ फूल दिए और हड्डियों की कंठमाला दी और उसके बाद उसने युवक से पढ़ाई छोड़कर व्यवसाय के रूप में उसके 'बारह-दिवस गीत' (अर्थात् 'धर्ममंगल') गाने को कहा। वह दिव्य दृश्य इसके बाद लुप्त हो गया और युवक तेज़ी से अपने घर की ओर दौड़ा। जब वह श्रीरामपुर की बाहरी सीमा पर पहुँचा तो अपराह्न का समय था। उसने एक तालाब से जल पिया और विश्राम करने के लिए बैठ गया। वह अँधेरा होने पर ही घर जा सकता था ताकि बड़े भाई को ज्ञात न हो, और वह चुपचाप अपनी माँ से मिल सके। पर ऐसा कहाँ होना था। उसकी बहनें दरवाज़े पर खड़ी थीं और उन्होंने जैसे ही उसे देखा वैसे ही उल्लसित होकर चिल्लाना शुरू कर दिया। रत्नेश्वर पता लगाने के लिए बाहर निकल आये और रूपराम को वापस घर लौटा देखा। उसके बाद कवि कहता है :

> "मैं अपने घर में बैठने भी नहीं पाया था कि भाई ने मुझे दुर्वचन कहे, और मैं अपनी माँ के दर्शन भी नहीं कर सका।
> मेरा निष्ठुर भाई चिल्लाने लगा : तुम कल ही शिक्षा के लिए गये थे, आज ही वापिस भी लौट आये? उसने मेरी किताबें, व्याकरण और शब्दकोश दूर फेंक दिए। सुवन्त टीका लुढ़ककर बाहर जा पड़ी। मैंने अपनी किताबों को एक बार फिर समेटा; मैंने सोचा कि मैं रात-दिन पैदल चलकर तुरन्त नवद्वीप चला

---

1. क्या इसका (हाडेर-माला) संकेत हाडी के साथ कवि के संबंध की ओर है?

जाऊँगा। दोनों बहनें हीरा और सोना अब भी दरवाज़े पर खड़ी थीं, पर (बड़े भाई के भय के कारण) वे माँ से जाकर नहीं कह सकी कि मैं आया हूँ।"

उत्तर की ओर रूपराम की पद-यात्रा अपने दरवाज़े से उसी समय शुरू हो गयी। जब वह दामोदर पहुँचा तो उसने दो दिन से खाना नहीं खाया था। एक दयालु व्यक्ति ने उसे कुछ धान दे दिया जिससे उसने कुछ मुरमुरे ले लिए। उसने नदी में स्नान किया और प्रार्थना करनी आरम्भ की। इसी बीच वायु के एक प्रबल झोंके से मुरमुरे उड़ गये। कवि कहता है :

"हवा मुरमुरों को उड़ा ले गयी, और मुझे सिर्फ़ पानी पीकर रहना पड़ा : मेरे पास अपनी पुस्तकें और लिखने की सामग्री ले जाने की भी शक्ति नहीं बची थी।"

रूपराम ने नदी पार की और धीमी गति से आगे बढ़ने लगा। उसे भूखे रहते तीन दिन हो गये थे जब वह एक गाँव में पहुँचा, जहाँ एक जुलाहा-परिवार में प्रीतिभोज हो रहा था। कवि के शब्दों में :

"मुझे भाग्य ने दुःख दिया था, और मैं जल्दी ही कातर हो गया था। दक्षिणा माँगने के लिए मैं जुलाहों के घर पहुँचा। जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाकर मैं वहाँ उपस्थित हो गया। वहाँ चिउड़े और दही के भोज की व्यवस्था देखकर मेरा चित्त उल्लसित हो गया।"[1]

भूखे युवक ने अपना पेट भर लिया पर उसे मुरमुरे[2] का अभाव खटका। उसे रस्म के अनुकूल न्यौते हुए ब्राह्मण की दक्षिणा के रूप में कुछ कौड़ियाँ भी मिलीं। अगले दिन वह एड़ाल गाँव पहुँचा, जहाँ मुहल्ले का ब्राह्मण मुखिया गणेश राय रहता था। गणेश राय ने रूपराम का स्वागत किया और उसके लिए वहाँ रहकर धर्म पर काव्य-रचना के सारे प्रबन्ध कर दिये। जब वह पूरा हो गया तो मुखिया ने उसके प्रदर्शन का सब प्रबन्ध कर दिया।

रूपराम ने उल्लेख किया है कि जब उसने अपना काव्य पूरा किया, उस समय राजमहल में शुजा सूबेदार था। उसके बाद उसने वर्ष का (1571, शक-1649) उल्लेख एक तिथिबन्ध में किया है जो अपने-आपमें एक कठिन पहेली है।

पश्चिमी बंगाल में रूपराम का काव्य अत्यधिक लोकप्रिय था। उसने उन तमाम काव्यों का स्थान ले लिया, जिनका अस्तित्व शायद पहले रहा होगा, और बाद में लिखा गया कोई काव्य उसे मात नहीं दे सका। उसकी लोकप्रियता का संकेत उन अनगिनत पाण्डुलिपियों से मिलता है, जिनके बारे में जानकारी है। रूपराम ने कथा को

---

1. यह एक ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण को दिये जानेवाले प्रीतिभोज की कुछ वस्तुएँ होती थीं।
2. अब्राह्मण, ब्राह्मण मेहमान को सामान्यतः मुरमुरे नहीं परोसता।

सरल-सीधे ढंग से प्रस्तुत किया है। उसमें पांडित्य-प्रदर्शन और पुस्तकीय शब्दाडम्बर के समावेश का कोई प्रयास नहीं है।

कुछ स्थानीय लोक-सम्प्रदाय, जो अब तक बाहरी प्रदेशों तक सीमित थे, अब कुछ सार्वजनिक तौर पर ध्यान दिए जाने की माँग कर रहे थे। वह व्यक्ति जिसने इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध कथाओं और गीतों को 'मंगल' काव्य की ऊँचाई तक ऊपर उठाने का कठिन कार्य सँभाला, कृष्णराम नाम का एक कायस्थ था। वह कलकत्ता के उत्तर की ओर चार मील पर एक गाँव में रहता था। उसकी पहली कृति *कालिकामंगल* (जो वास्तव में विद्या और सुन्दर की कथा का रूपान्तर थी) बीस वर्ष की आयु में 1676 में लिखी गयी थी। दूसरा काव्य *षष्ठीमंगल* तीन वर्ष बाद (1679) लिखा गया। यह एक छोटी-सी रचना है जिसमें बच्चों के कल्याण की देवी षष्ठी[1] की उपासना की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है। कथा, जिसका आधार एक लोक-कथा है, संक्षेप में इस प्रकार है :

षष्ठी देवी पृथ्वी पर अपनी उपासना का प्रचार करने के लिए निकलीं। कहानी का आरम्भ गंगा पर स्थित सातगाँव में उनके पहुँचने से होता है। उन्होंने देखा कि नगर की आबादी अच्छी है और घनी है। एक बहुत वृद्ध ब्राह्मण स्त्री के वेश में, अपनी परिचारिका नीला को साथ लिये हुए, उन्होंने राजा के अन्तःपुर में आश्रय लिया। रानी ने विनम्रतापूर्वक उनका स्वागत किया। देवी ने रानी से कहा कि वे गंगा में पवित्र स्नान के लिए बर्दवान से वहाँ तक का रास्ता तय करके आयी हैं और इसी समय और इसी स्थान पर वे षष्ठी की पूजा करेंगी। रानी के मन में षष्ठी की उपासना से होनेवाले लाभ के विषय में जिज्ञासा हुई। वृद्धा ने उन्हें निम्नलिखित कथा सुनाई–

एक व्यापारी की पत्नी पर षष्ठी की कृपा थी अतः उसके सात बेटे हुए, जो सब बड़े हुए और उनका विवाह हो गया। उनकी सबसे छोटी पुत्रवधू गर्भवती थी। एक दिन उसने देवी के प्रसाद के लिए रखा हुआ भोजन खा लिया, और कह दिया कि उसे काली बिल्ली खा गयी। उसी समय से उसके सब बच्चे एक काली बिल्ली सौर गृह से चुराकर ले जाने लगी। सातवें अवसर पर वह वन में चली गयी और वहाँ एक बच्चे को जन्म दिया। परन्तु जाने कहाँ से एक काली बिल्ली प्रकट हुई और बच्चे को उठा ले गयी। उसने पीछा किया, परन्तु उसे पकड़ नहीं पायी और उसके सामने प्रकट होकर उन्होंने उसके सब बच्चे लौटा दिये। स्त्री घर लौट आयी और तदुपरान्त अत्यन्त समर्पित भाव से देवी की उपासना करने लगी।

वृद्धा से यह कथा सुनकर रानी सहर्ष षष्ठी की उपासिका हो गयीं। कृष्णराम के काव्य *रायमंगल* की रचना 1786 में हुई थी। उसमें सुन्दरवन के दो स्थानीय देवताओं के प्रभुत्व का गुण-गान किया गया है। इनमें एक हिन्दुओं के देवता दक्षिण

1. बाङ्ला में शब्दार्थ 'छठा' या 'साठ'।

राय (दक्षिण के स्वामी) और दूसरे मुसलमानों के बड़ा खान गाज़ी हैं। कथा में प्रसंगवश दोनों के बीच संघर्ष का ब्यौरा दिया गया है और तदुपरान्त परम सत्ता के द्वारा शान्ति और सौहार्द की स्थापना का। कृष्णराम *रायमंगल* काव्य लिखनेवाले पहले व्यक्ति नहीं थे, क्योंकि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती उन माधव आचार्य का उल्लेख किया है, जिनकी कृति बची नहीं रह सकी। न ही कृष्णराम इस प्रकार के काव्य के अन्तिम लेखक थे।

जैसा कि सामान्यतः सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के अधिकांश मंगल-काव्यों के लेखकों ने किया है, कृष्णराम भी अपने *रायमंगल* को सृष्टि के इतिहास से आरम्भ करते हैं। भाद्र (अगस्त-सितम्बर) के महीने में एक सोमवार को कवि अपने निवास-स्थान से कुछ मील पर दक्षिण में स्थित एक गाँव में एक ग्वाले का मेहमान था। उसके सोने का स्थान खलिहान था। रात को उसे स्वप्न आया कि एक सिंहासीन व्यक्ति ने, जिसके हाथ में धनुष-बाण था, उसके निकट आकर दक्षिण के स्वामी के रूप में उसे अपना परिचय दिया। उसने कृष्णराम को आदेश दिया कि वह उसकी महानता की घोषणा करते हुए एक काव्य की रचना करे, और उसने निम्नलिखित आश्वासन दिया :

> "अगर किसी को तुम्हारा काव्य अच्छा नहीं लगा तो मैं उसका और उसके परिवार का भक्षण करने के लिए बाघ भेज दूँगा।"

कथा इस प्रकार है :

"एक निस्सन्तान राजा को एक ऋषि ने पुत्र-प्राप्ति के लिए शिव की उपासना का परामर्श दिया। उसने ऐसा ही किया और उसके यहाँ दक्षिण राय का जन्म हुआ। अपने पिता का उत्तराधिकार प्राप्त करने के बाद दक्षिण राय ने सुन्दर वन के कुछ वन्य प्रदेशों का उद्धार करके वहाँ एक नये राज्य की स्थापना की। अपनी मृत्यु के उपरान्त, दक्षिण राय दक्षिणी भू भाग (अर्थात् सुन्दर वन) का अधिष्ठाता देव बन गया। उसकी पहली पूजा पाटन[1] में हुई। उसने अपने मित्र कालू राय (काला राजकुमार) को हिजली में एक पड़ोसी राजा नरसिंह का दमन करने के लिए भेजा। इस राजा ने दक्षिण राय के नेतृत्व को तभी स्वीकार किया जब उसके मृत पुत्र को जीवन-दान मिल गया। इसके बाद व्यापारी देवदत्त और उसके पुत्र पुष्पदत्त की कथा आती है, जो इस काव्य के सर्वोत्तम अंश की मुख्य कथा है।"

बड़दादह (वर्तमान मिदनापुर में बदी) का देवदत्त व्यावसायिक यात्रा पर तुरंग नगर गया। उसने वहाँ के राजा को रुष्ट कर दिया और वह आजीवन कारावास में डाल दिया गया। कुछ वर्ष प्रतीक्षा करने के उपरान्त, उसके बेटे पुष्पदत्त ने, अपने पिता की खोज में निकलने की इच्छा की। उसने रताई नामक लकड़हारे से नौकाएँ

1. इसका अर्थ था नगर-भाग।

बनाने के लिए लकड़ी लाने को कहा। अपने बेटे और छह भाइयों के साथ रताई वन में गया। अनजाने में उन्होंने एक पेड़ ऐसा काट दिया, जो दक्षिण के स्वामी के लिए पवित्र माना जाता था। उन्होंने रताई के भाइयों को खाने के लिए अपने बाघ छोड़ दिए, जिन्होंने उन्हें खा लिया। दुखी होकर रताई जैसे ही आत्महत्या के लिए उद्यत हुआ, देवता ने प्रकट होकर उससे अपने बेटे की बलि चढ़ाने के लिए कहा। उससे जैसा कहा गया था, उसने वैसा ही किया। देवता प्रसन्न हो गये और वे सब, जो मारे गये थे पुनर्जीवित हो गये। लकड़ी लायी गयी और नौकाएँ बना ली गयीं। पुष्पदत्त गंगा में अपने लक्ष्य पर चल दिया। जब उसकी नौकाएँ उस स्थान से गुज़र रही थीं, जहाँ बड़ा-खान गाज़ी और दक्षिण राय के पवित्र स्थल थे, जिन पर नदी में ऊपर और नीचे की ओर जानेवाले तमाम लोगों से चढ़ावे चढ़ाए जाते थे, तो पुष्पदत्त को जिज्ञासा हुई कि राय का प्रतिनिधित्व एक मिट्टी के टीले से, और गाज़ी का एक कटे हुए सिर से क्यों किया जा रहा है। नौका के चालक ने बताया कि एक बार दोनों के बीच घातक संघर्ष हुआ था, और वह ईश्वर के हस्तक्षेप करने पर ही समाप्त हुआ।

पुष्पदत्त के मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ। उसके अनुरोध पर नाविक ने निम्नलिखित कथा सुनाई :

"एक बार धनपति नाम का एक व्यापारी भारी जहाज़ी माल लेकर पाटन जा रहा था। जब वह उन पवित्र स्थलों से गुज़रा तो उसने केवल दक्षिण राय के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की और गाज़ी की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। गाज़ी के फ़क़ीर भक्तों ने व्यापारी के पास जाकर उससे ऐसा न करने के लिए कहा। धनपति ने उनकी बात नहीं सुनी और उन्हें अपने सामने से भगा दिया। फ़क़ीरों ने गाज़ी से शिकायत की कि एक दबंग बंगाली आदमी उसकी परवाह नहीं करता और उसने उनके नौकरों के साथ कठोर व्यवहार किया है। गाज़ी का क्रोध दक्षिण राय पर टूटा; उसने अपने आदमियों को राय के स्थल तोड़फोड़ कर नष्ट कर देने के लिए भेजा। राय उस समय अपने परिवार के साथ खाड़ी पर था। बटे नाम का एक बनिया उसके पास खबर लेकर आया। राय अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। दोनों तरफ सिंह-वाहिनी के बीच युद्ध छिड़ गया, और उसमें उतार-चढ़ाव आता रहा। अन्ततः ईश्वर उनके सामने इस समन्वित वेष में प्रकट हुआ :

> "उसके आधे सिर पर कुल्ला था, और शेष आधे पर मोरपंखी जड़ी पगड़ी; उसने एक पुष्पहार और मनकों की कण्ठी साथ-साथ पहनी थी। उसका आधा शरीर गौर और आधा नील मेघ के वर्ण का था; उसके हाथों में 'कुरान' और 'पुराण' थे।"

इसके बाद दोनों प्रतिद्वन्द्वी देवता सदा के लिए घनिष्ठ मित्र हो गये।

पुष्पदत्त ने राय और गाज़ी दोनों को श्रद्धांजलि अर्पित की और अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गया। कथा इसके बाद *चण्डीमंगल* की धनपति-श्रीपति कथा के प्रसिद्ध खाँचों के अनुरूप आगे बढ़ती है।

कृष्णराम की अगली रचना *शीतलामंगल, रायमंगल* की उत्तर कथा के रूप में लिखी गयी है। कथा का ढाँचा *षष्ठीमंगल* के समान है। शीतला (चेचक व अन्य बीमारियों की देवी) का बेटा और प्रबन्धक बसन्तराय घोड़े पर चढ़कर देवी की उपासना का प्रचार करने के लिए निकला हुआ था और वह सबसे पहले सातगाँव पहुँचा। उसने एक वैष्णव व्यापारी का रूप धारण कर लिया और अपने लादी बैलों की रस्सी थामे चुंगी अधिकारी मदनदास के पास पहुँचा, जो कायस्थ था और कहा कि वह बर्दवान से सामान बेचने के लिए आया है। उसे दीन वैष्णव प्राणी समझकर मदन ने अपने राजपूत चपरासियों और पहरेदारों को उसका सामान धर लेने का हुक्म दिया। सामान में सब अनाज था, तथा मदन और उसके आदमियों ने उसे लूट लिया। वास्तव में दाने विभिन्न रोगों के कीड़े थे, जो वसन्त राय और शीतला के परिजनों में से थे। परिणामस्वरूप मदन और उसके आदमी उन सांघातिक रोगों के शिकार हो गये। अब वैष्णव व्यापारी का प्रसादन अनिवार्य था। मदन ने प्रण किया कि वह अब किसी वैष्णव व्यापारी से चुंगी नहीं लेगा। वसन्तराय ने तब अपने वास्तविक रूप का उद्‌घाटन किया और उससे देवता के रूप में अपनी उपासना करने के लिए कहा ताकि वह (मदन) हमेशा सुख-समृद्धि भोगता रहे। उपकृत मदनदास ने गंगा के किनारे एक भव्य मन्दिर बनाया और उसमें बसन्तराय और शीतला की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की। एक काज़ी पर बसन्तराय की विजय का अगला आख्यान अपने पूर्ण रूप में सुरक्षित नहीं मिलता।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक काफी बड़ी संख्या में कवियों ने, जो सब दक्षिण-पश्चिम राढ़ के थे, विभिन्न आकारों के *शीतलामंगल* प्रबन्ध लिखे। इनमें से एक थे माणिकराम गांगुली, जो एक *धर्ममंगल* के लेखक थे। इस वर्ग का सबसे बृहद् काव्य नित्यानन्द चक्रवर्ती द्वारा लिखा गया, जो दक्षिण-पूर्वी मिदनापुर के थे, जहाँ यह काव्य कुछ लोकप्रिय हुआ।

कृष्णराम का पाँचवाँ और अन्तिम काव्य है *लक्ष्मीमंगल*। कथा का आरम्भ एक लोक-कथा के रूप में होता है परन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह आख्यान (मंगल) काव्य के सामान्य ढाँचे में ढल जाती है : दो मित्र गौड़ से दुनिया देखने और अपना भाग्य आजमाने के लिए निकले। काँचीपुर की ओर जाते हुए वे कलिंग (उड़ीसा) के बीहड़ प्रदेश से गुजर रहे थे। उनमें से एक बल्लभ था, एक बनिया, जिस पर लक्ष्मी की कृपा थी, और दूसरा उसका ब्राह्मण मित्र जनार्दन था। वल्लभ घोड़े की पीठ तर दुलकी चाल चल रहा था और जनार्दन उसके पीछे पैर घसीटता जा रहा था। अपने आरक्षित के साहस और भक्ति की परीक्षा लेने के लिए देवी ने अपनी साथिन को एक

सिंह के रूप में भेजा। ब्राह्मण उस बर्बर पशु को देखते ही मूर्छित हो गया, परन्तु व्यापारी ने रक्षा के लिए लक्ष्मी से प्रार्थना करते हुए, वीरता से सिंह का मुकाबला किया। सिंह अदृश्य हो गया, और वल्लभ अपने मित्र को होश में लाने का प्रयत्न करने लगा। कुछ गज आगे वे एक तालाब के पास पहुँचे। उन्होंने तालाब से पानी पिया, परन्तु जब घोड़ा पानी पी रहा था तो एक विशाल अजगर तालाब में से निकला, और पशु को निगलकर तत्काल तालाब में अदृश्य हो गया। घोड़े के खो जाने से वल्लभ इतना दुखी हुआ कि वह स्वयं तालाब में कूदने लगा। जनार्दन ने उसे साहस करके लक्ष्मी से प्रार्थना करने के लिए प्रेरित किया। देवी उनके सामने एक अत्यन्त वृद्धा ब्राह्मण स्त्री के रूप में प्रकट हुई। उसके हाथ पिंजरे में एक छोटी-सी चिड़िया थी। दो पुरुषों को हताश मुद्रा में पाकर उसने पूछा : 'तुम्हें क्या दुःख है, मुझे बताओ। मैं एक ब्राह्मण की पुत्री हूँ और मुझे कुछ गुह्य साधन और पद्धतियाँ ज्ञात हैं।' घोड़े के खो जाने की बात सुनकर उसने चिड़िया को पिंजरे से मुक्त कर दिया। चिड़िया ने तालाब में गोता लगाया और वह अजगर को लिये बाहर आ गयी। सर्प का पेट चीरा गया, और उन तमाम पशुओं के अवशेष जिन्हें वह निगल गया था, जीवित निकल आये। देवी ने वल्लभ को एक खिला हुआ कमल दिया, जिसे वह कर्णाभूषण की तरह पहने थी और उससे कहा कि आपातस्थिति में वह उसे अपने मस्तक ये लगा लिया करे। उसके पश्चात् वह अन्तर्धान हो गयी और दोनों मित्र आगे चल दिये। जैसे ही उन लोगों ने पीठ फेरी कि अजगर पुनर्जीवित होकर तालाब में गायब हो गया।

कुछ ही समय के उपरान्त वे मित्र एक समृद्ध किन्तु पूर्णतः वीरान नगर में पहुँचे। जनार्दन वहाँ से गुज़र जाते लेकिन वल्लभ के मन में कौतूहल हुआ। वे महल में पहुँचे और दरवाजे से होते हुए तीन विशाल कक्षों में से गुज़रे। चौथे विशाल कक्ष में उन्होंने राजसिंहासन पर एक राक्षसी को बैठे देखा। उन्होंने झुककर उसे नमस्कार किया और अपनी कथा कह सुनाई। उसने कृपापूर्वक उनका स्वागत किया। जनार्दन वहाँ से तुरन्त चलने के पक्ष में था, पर वल्लभ ने उसे लक्ष्मी की सहायता का स्मरण दिया। रात्रि शान्ति से बीत गयी। प्रातःकाल आहार के लिए जाने से पहले राक्षसी ने अपनी संरक्षिता, उस स्थान की राजकुमारी को, जो वहाँ एकमात्र जीवित मानवी थी, संकेत किया कि जनार्दन उसका पति होगा। राजकुमारी और जनार्दन उपवन में मिले और एक-दूसरे से प्रेम करने लगे। राजकुमारी ने उसे बताया कि वह राजा वीरसिंह की पुत्री रत्नमाला है, जो एक ऋषि के शाप के फलस्वरूप, अपने परिवार सहित एक राक्षसी के द्वारा निगल लिये गये।

उन दोनों का विवाह हो गया, जिसके लिए राक्षसी ने चुपचाप स्वीकृति दे दी। अगले दिन मित्रों ने वह स्थान छोड़ दिया और राक्षी ने उनसे यात्रा से लौटते समय फिर आने का अनुरोध किया। आगे बढ़ते-बढ़ते दोनों मित्र सागर तट पर पहुँचे। सागर द्वारा अपना पथ अवरुद्ध पाकर उन्होंने देवी लक्ष्मी से प्रार्थना की जिसने उनके

लिए समुद्र पर पैदल पार-पथ बना दिया। पथ के एक ओर खुला सागर था और दूसरी ओर कमलादह (कमला या लक्ष्मी का सरोवर)। घोड़े पर बैठे हुए दोनों मित्र मन्थर गति से आगे बढ़े। सहसा उन्होंने कमलादह में एक अद्भुत दृश्य देखा। जल की सतह पर धान के खेत का एक हरा टुकड़ा था, और उसमें एक खिला हुआ कमल था जिस पर एक अत्यन्त सुन्दर कन्या विविध प्रकार के धान की पूलियों को आभूषणों की तरह पहने हुए बैठी थी। कुछ समय बाद वे अपनी मंजिल कांचीपुर पहुँच गये। जब वे पर्यटन करते जा रहे थे तो उनकी भेंट पुलिस के मुखिया से हुई, और उनसे पर्याप्त आदर न पाने पर उसने उन्हें जासूसों के रूप में गिरफ्तार कराके राजा के सामने पेश किया। राजा ने उनका परिचय जानना चाहा। दुर्भाग्यवश वल्लभ ने अपने साहसिक अनुभवों का पूरा विवरण कह सुनाया। राजा उस अद्भुत दृश्य को स्वयं देखकर उनकी सच्चाई की परीक्षा करना चाहता था। यह करना उनके लिए सम्भव नहीं था। वल्लभ को मौत की सज़ा सुनाकर फाँसी के स्थल पर ले जाया गया। किन्तु आखिरी समय उसे देवी की हिदायत याद आ गयी। उसने देवी के द्वारा दिये हुए फूल को अपने माथे से लगाया और तत्काल देवी, पिंजरे में एक छोटी-सी चिड़िया लिये हुए एक वृद्धा ब्राह्मणी के वेष में प्रकट हो गयीं। जब वे वल्लभ को छुड़ा नहीं सकीं तो उन्होंने चिड़िया को पिंजरे से निकाल दिया। चिड़िया ने राजा के हृदय में आतंक पैदा किया। वल्लभ को मुक्त कर दिया गया और राजकुमारी के साथ उसका विवाह हो गया। देवी ने तब राजा को धान की देवी के रूप में अपने अद्भुत दृश्य को कृपापूर्वक सुलभ किया। कुछ समय बाद जनार्दन, वल्लभ और उसकी पत्नी घर की ओर वापस चल दिये। इस बार यात्रा समुद्र से होकर थी। वे समुद्र-तट पर उतर गये और वन्य प्रदेश के बीच से रास्ता पकड़ा। वे राक्षसी के महल में पहुँचे, जिसने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया। उसने अपनी पोषिता कन्या को औपचारिक रीति से जनार्दन को दे दिया। उसके बाद राक्षसी ने लड़की को बुलाकर कहा :

> "मैंने अति यत्नपूर्वक तुम्हें पाला है। तुमने भी सदा मेरी सेवा की है, और अपने माता-पिता की हत्या के सम्बन्ध में नहीं सोचा। मैंने ब्राह्मण से तुम्हारा विवाह कर दिया है। अब तुम अपने घर जाओ। अपने पति की प्रेमपूर्वक सेवा करना और मेरे अपराधों को क्षमा करना। भाग्यवती सुन्दरी मेरी निन्दा न करना। ऐसा कहते हुए उसकी आँखें भर आयीं और ममता के मारे उसने कन्या को गले लगा लिया।"

उन्होंने राक्षसी के चरणों में झुककर प्रणाम किया और घर की ओर यात्रा पर चल दिये। राक्षसी ने सदा के लिए वह महल छोड़ दिया और तपस्या करने के लिए चली गयी। दोनों मित्र अपनी पत्नियों के साथ सुरक्षित घर लौट आये। लक्ष्मी की धूमधाम से पूजा की गयी। यथासमय वल्लभ को एक पुत्र हुआ। कथा यहीं समाप्त होती है।

कृष्णदास और इस शताब्दी के अन्य लेखकों के प्रयास इस अर्थ में सफल नहीं हुए कि इन नये 'मंगल' काव्यों ने जनता की रुचि को प्रभावित नहीं किया। साम्प्रदायिक आख्यान-काव्यों का समय अब पूरा हो गया था। इससे सन्देह नहीं कि पुराने देवी-देवताओं की पूजा होती थी किन्तु वैष्णव प्रभाव सर्वव्यापक होता जा रहा था और वैष्णव पद-साहित्य संभ्रान्त मानसिकता वाले लोगों की अभिरुचि का संचालन कर रहे थे। इसलिए स्थानीय सम्प्रदायों और प्रादेशिक देवताओं पर रचित काव्य सीमित क्षेत्रों के भीतर विशेष धार्मिक अनुष्ठानों में एक अंग के रूप में ही स्वीकार किये जाते थे।

कृष्णराम की एक और उल्लेखनीय उपलब्धि है। वह पहला बंगाली लेखक था जिसने किसी सीमा तक हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया। उसका गाज़ी अत्यन्त उत्तम, यद्यपि अत्यधिक अश्लील, हिन्दुस्तानी बोलता है।

□

13

अराकान के कवि और परवर्ती मुसलमान लेखक

बंगाल और अराकान के बीच पहला निकट सांस्कृतिक सम्पर्क पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ, जब अराकान के राजा नरमेखला ने बर्मा के राजा के द्वारा बेदख़ल किये जाने पर बंगाल में आकर गौड़ के दरबार में आश्रय लिया (1404)। अराकान बर्मा के निचले भाग का पड़ोसी प्रदेश था, जिसमें तिब्बती-बर्मी भाषा बोली जाती थी। कई वर्ष के प्रवास के बाद, सिंहासन की पुनः प्राप्ति में बंगाल के सुल्तान ने उसकी सहायता की (1430)। इस बात को युक्तियुक्त रूप से माना जा सकता है कि बंगाल में अपने प्रवास के दौरान राजा की और चीज़ों के साथ-साथ बाङ्ला गीतों और संगीत में भी कुछ रुचि हो गयी होगी और बाद में अपने देश लौटकर, सत्ता हाथ में आ जाने पर उसने वहाँ इनसे परिचय कराया होगा। पर इस बात की जानकारी प्राप्त करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि अराकान के दरबार में बाङ्ला संस्कृति का यह आरोपण कहाँ तक सह्य हो सका, बावजूद इस बात के कि अराकान पर बंगाल का राजनीतिक आधिपत्य बना रहा और उसके विदेशी मामलों का नियन्त्रण चटगॉव से सुलतान के गवर्नर करते रहे। किन्तु कम-से-कम कुछ सालों के लिए, शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश में स्थिति उलट गयी, जब अराकान की शक्ति ने चटगाँव पर कब्जा कर लि़या और उसे तब तक अपने अधीन रखा, जब तक सोलहवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में हुसैन शाह के एक सेनानायक नसरत ख़ाँ ने उसको पुनः प्राप्त नहीं कर लिया। उन वर्षो के दौरान, जब चटगाँव अराकानियों के कब्जे में था, ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल (और शेष भारत) और अराकान के बीच कुछ सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हुआ। इसके बाद अराकान के दरबार में बाङ्ला को मुख्य सांस्कृतिक भाषा के रूप में स्वीकार किया गया, विशेषकर इस कारण कि अराकान के अनेक ऊँचे अफ़सरों (जो चटगाँव और आसपास के प्रदेशों से आये थे) की मातृभाषा बाङ्ला थी।

हुसैन शाह के राजवंश की पराजय के बाद, ऐसा प्रतीत होता है कि अराकान ने पूरी राजनीतिक स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त कर ली। परन्तु इससे बाङ्ला भाषा के प्रभाव में कोई कमी नहीं आयी, उलटे वह और बढ़ने लगी। अराकान के राजाओं ने अब अपने बंगाली नाम अंगीकार कर लिए, और कभी-कभी ऐसा भी होने लगा, जैसा

कि इतिहास में ज्ञात एकमात्र नाम थिरि थु धम्मा (श्री सुधर्मा का अराकानी उच्चारण) के बारे में हुआ। अराकान में बंगाली आप्रवासी या प्रवासी, लगभग सभी मुसलमान थे। इसलिए अराकान दरबार में मुस्लिम प्रभाव अत्यन्त प्रबल था, और जैसा कि सत्रहवीं शताब्दी में अक्सर हुआ है, राजाओं ने मुस्लिम नाम भी अपना लिए थे। परागल ख़ाँ और उसके बेटे नसरत ख़ाँ ने दक्षिण-पूर्वी बंगाल में जिस साहित्यिक परम्परा का आरम्भ किया था, वह सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक अराकान के दरबार में पहुँच गयी।

अराकान की जनता और उसके शासकों की मातृभाषा अराकानी एक तिब्बती-चीनी बोली थी, जिसका बर्मी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो बाद में आर्यावर्त के क्षेत्र से बाहर हो गयी थी। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से बंगाल की संस्कृति अराकान में फैलने लगी। केवल अफ़सरों के माध्यम से ही नहीं, बल्कि उन व्यापारियों और साहसिक लोगों के माध्यम से भी जो समुद्री रास्ते से या पहाड़ी इलाकों से होते हुए अपना भाग्य आज़माने आते थे। लगभग एक शताब्दी में अराकान के दरबार ने बंगाली दरबार के कुछ तौर-तरीक़े और रिवाज़ भी अपना लिए थे। अराकान समाज के सुसंस्कृत वर्ग में बाङ्ला काव्य तथा बाङ्ला संगीत और नृत्य काफ़ी लोकप्रिय हो गया था।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, अराकान दरबार के आश्रय में रचना करनेवाला पहला कवि दौलत काज़ी था। उसका आश्रयदाता अशरफ़ ख़ाँ उन राजा श्री सुधर्म (थिरि थुधम्म) का एक प्रभावशाली अफसर था, जिन्होंने 1622 से 1638 के बीच राज्य किया। अशरफ़ सूफ़ी था और अनुमानतः दौलत काज़ी भी। पश्चिमी भारतीय काव्य में (राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी, अवधी और भोजपुरी) प्रचलित रोमानी गाथाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए, अशरफ़ ख़ाँ ने दौलत से लोर, चन्द्राणी और मैना की कथा को बाङ्ला-समाख्यान-काव्य (पांचाली) में रूपान्तरित करने के लिए कहा। कथा लोक-गीत और नृत्य में प्रचलित थी, और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में, एक मैथिली कृति में 'लोरिक नृत्य' के उल्लेख से इस बात का संकेत मिलता है कि चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में यह बिहार का लोकप्रिय मनोविनोद था। अब 'लोरिक' गीत दक्षिणी बिहार में लोकप्रिय है (जहाँ कथा ने आख्यान का रूप धारण कर लिया है) विशेषकर अहीरों में। परन्तु लोरिक की कथा जिस रूप में आज दक्षिणी बिहार में प्रचलित है, वह उसका मूल रूप नहीं है। कथा शायद बंगाल में प्रसिद्ध नहीं थी। दौलत काज़ी ने इसे साधन-कृत प्राचीन राजस्थानी काव्य से लिया, जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ हाल ही में प्रकाश में आयी हैं। दौलत काज़ी की मृत्यु काव्य समाप्त करने के पहले हो गयी। उसको वर्षों बाद (1656) अराकान के एक दूसरे बंगाली कवि आलाओल ने पूरा किया। काज़ी के काव्य का शीर्षक दोहरा है, 'सती मैना और लोर-चन्द्राणी' की कथा इस प्रकार है :

गोहारी[1] के शासक लोर[2], का विवाह सुखपूर्वक मैना (या मैनामति) से हो गया। कुछ समय बाद एक भोगी भिक्षुक वहाँ आया और उसने मोहारा[3] की सुन्दर राजकुमारी चन्द्राणी का चित्र उसे दिखाया। चन्द्राणी का विवाह एक पराक्रमी योद्धा से हुआ था, जो एक नपुंसक बौना था। लोर के मन में राजकुमारी का प्रेम प्राप्त करने का लोभ हुआ। वह मोहारा गया और चन्द्राणी से मिलने की व्यवस्था कर ली। उसने लोर की अनुभूतियों का प्रत्युत्तर दिया और प्रेमियों का मिलन हुआ। चन्द्राणी का पति, जो बाहर गया हुआ था, घर लौट आया और प्रेमी-युगल को देश से भागना पड़ा। पति ने उनका पीछा किया। एक जंगल में उनकी मुठभेड़ हुई। द्वन्द्व युद्ध हुआ जिसके परिणामस्वरूप चन्द्राणी का पति मारा गया। चन्द्राणी के पिता ने लोर को अपने जामाता के रूप में स्वीकार कर लिया और उसे राज्याधिकार दे दिया। यहाँ कथा का पहला भाग (लोर-चन्द्राणी) समाप्त होता है।

यहाँ से दृश्य लोर के घर में स्थानान्तरित हो जाता है जहाँ उसकी उपेक्षित पत्नी घुल रही थी। उसके लिए दिलासे का एकमात्र आधार दुर्गा से प्रार्थना करना था, जो अकेली उसके पति को लौटा लाने में समर्थ थी। इसी बीच चातन नाम का एक धनी युवक मैना पर मोहित हो गया और उसने एक औरत को उसे अपने लिए लिवा लाने के लिए नियुक्त किया। वह औरत मैना के पास आयी और उसे अपना परिचय उसकी पुरानी धाय के रूप में दिया। वह चतुर औरत थी और उसके संवेदनापूर्ण शब्दों ने मैना को उसकी ईमानदारी का विश्वास दिला दिया। लेकिन जब उसने चातक के साथ 'अनुचित सम्बन्ध' का प्रस्ताव रखा, तो मैना उग्र हो गयी। औरत को कलंक लगाकर निकाल फेंका गया। मैना के लिए अब धैर्य की सीमा हो गयी थी, और उसने एक विश्वास-पात्र ब्राह्मण को, अपने पालतू तोते को देकर, अपने पति की खोज में भेजा। ब्राह्मण अपने स्थानों की यात्रा करता हुआ अन्ततः मोहारा पहुँचा। जब लोर उससे मिला तो उसे तत्काल अपनी विस्मृत पत्नी की याद आ गयी और उसे बेहद पश्चात्ताप हुआ। मोहारा के राज्य पर अपने पुत्र को बैठाकर वह चन्द्राणी के साथ मैना के पास घर लौट आया। यह कथा का दूसरा और अन्तिम अंश है (सती मैना)।

दौलत काज़ी समर्थ कवि था; वह समसामयिक कवियों के शिल्प से भली-भाँति परिचित था। उसका संस्कृत काव्य का ज्ञान भी सतही नहीं था। उसने कालिदास से उपमाएँ ग्रहण की हैं और जयदेव से छन्दों के ढाँचे। वैष्णव कविता के प्रति उसका ऋणी होना स्पष्ट है।

1. अभिधार्थ, एक युवक (हिन्दी लौंडा)
2. अभिधार्थ, एक ग्रामीण प्रदेश (हिन्दी 'गोआरी')
3. अभिधार्थ, सम्मोहन (मोहकारा भूमि)

निम्नलिखित पंक्तियाँ उस 'बारमासिया' गीत की हैं, जिसमें कुटनी के द्वारा मैना के पीड़ित हृदय को प्रेमजन्य आनन्द के मनन की ओर उन्मुख करने के प्रयास का वर्णन है :

> "हे मैना, सावन का महीना अत्यन्त आनन्दप्रद होता है; निरन्तर पड़ती मन्द-मन्द फुहार प्रेमावेग को उत्तेजित करती है। धरती पर धारा बहती है, रातें अँधियारी होती हैं, और प्रेमी गीत-क्रीड़ा में संलग्न रहते हैं।
>
> अम्बर श्यामल है; खेती श्यामल है; दसों दिशाएँ भी श्यामल हैं और दिन का प्रकाश मद्धिम और कोमल है। काली और भयावह रात में बिजली की कौंध प्रेमी बादल से क्रीड़ा करती है, और प्रेम की विविध क्रीड़ाओं का आनन्द भोगती है।
>
> श्रावण में ऋतु बड़ी अनुकूल होती है, पर हीरे के बिना[1] कोई समय कैसे काटे। नदियाँ वेगवती हैं; तीखी हवा बह रही है। विरह की अग्नि चौगुनी प्रखर हो गयी है।
>
> तुम राजकुमारी हो, पर जन्म से दुखी हो। यह सोचने का अब क्या अर्थ रह गया है कि तुम अब भी लोर की पत्नी हो? (तुम्हें मालूम होना चाहिए कि) सच्चे हृदयवालों का प्यार ऐसा पुष्पहार है जो कभी नहीं मुरझाता। प्रधान सेनापति (अर्थात् अशरफ़ ख़ाँ) जग में प्रकाश फैला रहा है।"

एक और सूफ़ी कवि आलाओल भी अच्छे विद्वान् थे, उन्होंने अराकान दरबार में दौलत काज़ी के उपरान्त उनका स्थान ग्रहण किया। उनका फ़ारसी काव्य का ज्ञान गहरा था, और संस्कृत जनश्रुतियों का ज्ञान भी पर्याप्त था। वे संगीत में भी निष्णात थे। परन्तु लेखक के रूप में अपने पूर्ववर्ती की तुलना में आलाओल कम कुशलता और प्रामाणिकता का परिचय देते हैं। वे अधिक धार्मिक वृत्ति के थे और उनका यह धार्मिक झुकाव उनकी कल्पना पर हावी हो गया है, जिससे उनकी कविता की क्षति हुई है।

आलाओल का जीवन कभी शान्त नहीं रहा। वे बंगाल के एक निम्न भाग के गवर्नर मजलिस कुतुब के पुत्र थे। एक बार जब पिता-पुत्र नौका से यात्रा कर रहे थे, उन पर विदेशी समुद्री डाकुओं ने हमला किया। लड़ाई हुई, पिता मारा गया और बेटे को बन्दी बनाकर सेना में भरती करने के लिए अराकान के रूप में बेच दिया गया। उसे घुड़सवारों में ले लिया गया। थोड़े ही समय में अश्वारोही सेना के इस युवक की विद्वत्ता और संगीत में निपुणता की ख्याति फैल गयी और राजा श्रीचन्द्र सुधर्मा शासनकाल (1652-1684) के एक मंत्री सुलेमान के कान तक पहुँची। सुलेमान के अनुरोध पर ही आलाओल ने दौलत काज़ी के अपूर्ण काव्य की उत्तरकथा लिखी थी और फ़ारसी के धार्मिक प्रबन्ध *तुहफ़ा* का अनुवाद (1663) किया था।

---

1. ज़ाहिर है कि यह वैष्णव पदों की अनुगूँज है।

श्रीचन्द्र सुधर्मा की बहन का पोष्य-पुत्र मागन ठाकुर[1], जो अराकान का सहराजप था, आलाओल का घनिष्ठ मित्र बन गया। उसके दो काव्य, जिनमें उसकी सर्वोत्तम कृति *पद्मावती* भी शामिल है, मागन के ही अनुरोध पर लिखे गये थे। मागन का झुकाव सूफ़ी मत के प्रति था और वह जायसी के काव्य का प्रशंसक था। उसने आलाओल से जायसी की *पद्मावती* का बाङ्ला छन्दों में रूपान्तर करने के लिए अनुरोध किया ताकि अराकान के लोग उसका सहज आस्वादन कर सकें। आलाओल का अनुवाद न तो पूरा है, और न ही पूरी तरह विश्वसनीय है। उसने बाङ्ला आख्यान (पांचाली) के अनुरूप बनाने के लिए कथा का संक्षेप और संशोधन किया, और उसने कुछ अतिरिक्त आख्यान और कथाएँ जोड़ दीं। आलाओल-कृत *पद्मावती* की कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

नागसेन चित्तौड़ का राजा था। नागमती उसकी पत्नी थी। राजा ने लंका की राजकुमारी पद्मावती के असाधारण सौन्दर्य की चर्चा सुनी और उसके मन में उससे विवाह की इच्छा हुई। योगी का वेष धारण करके नागसेन लंका पहुँचा, और अपनी शक्ति और कौशल से उसने पद्मावती को पा लिया। जब दम्पति घर लौट रहे थे, तो उनकी नौका महासमुद्र में डूब गयी लेकिन वरुणदेव ने उनकी रक्षा कर ली। राजा घर लौटकर अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। लेकिन बहुत समय तक शान्ति से रहना जैसे उसके भाग्य में नहीं था। राघवचेतन नाम के तांत्रिक विद्वान् के प्रति, जिसे गुह्य-शक्तियाँ सिद्ध थीं, राज्य के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से उसके अन्य मंत्री ईर्ष्यालु हो गये। उन्होंने राजा के सामने राघवचेतन को कलंकित करने की युक्ति निकाली और राजा ने उसे राज्य से निष्कासित कर दिया। पद्मावती ने पंडित को शान्त करने का प्रयास किया और उसे अपनी कलाई से एक कंगन उतारकर दे दिया। राघवचेतन ने दिल्ली जाकर सुलतान अलाउद्दीन को वह कंगन दिखलाकर पद्मावती के रूप की चर्चा की। सुलतान के मन में उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने एक संदेशवाहक को पद्मावती को लाने के लिए चित्तौड़ भेजा। प्रस्ताव के अस्वीकृत होने पर उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। नागसेन पराजित हुआ और बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाया गया, परन्तु उसके दो अत्यन्त स्वामि-भक्त अनुयायी गोरा और बादिला (या बादल) राजा को चित्तौड़ लौटा लाने में सफल हो गये।

उस बीच जब राजा चित्तौड़ से बाहर था, तो कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने पद्मावती को फुसलाने का प्रयत्न किया। जब नागसेन ने लौटने पर यह बात सुनी, तो उन्होंने देवपाल को द्वन्द्व-युद्ध के लिए चुनौती दी। देवपाल मारा गया और नागसेन घातक रूप से घायल हो गये। नागमती और पद्मावती पति की चिता पर उसी के

1. नाम मागन (अभिधार्थ भिक्षा से उपलब्ध) इस बात का संकेत करता है कि वह बाङ्ला-भाषी परिवार का था।

साथ सती हो गयीं। जब अलाउद्दीन और उसकी सेना ने चित्तौड़ में प्रवेश किया तो चिता से धुआँ उठ रहा था। नागसेन और उसकी दोनों पत्नियों के महिमामय और कारुणिक अन्त के बारे में सुनकर सुलतान ने चिता के समक्ष श्रद्धांजलि अर्पित की और दिल्ली लौट गया।

मागन ठाकुर के अनुरोध पर आलाओल ने फ़ारसी रम्याख्यान 'सैफ़ुल-मुल्क बाओइयुप-जमाल' की कथा का बाङ्ला छन्द में रूपान्तर किया। मागन की मृत्यु के कारण यह कार्य बाधित हो गया, और वर्षों बाद इसे सैयद मोहम्मद मूसा के अनुरोध पर, जिन्होंने राजा मागन की मृत्यु के बाद आलाओल को अपने आश्रय में ले लिया था, उसने उसे फिर से आरम्भ करके पूरा किया। मूसा के अनुरोध पर उसने निज़ामी के *हफ़्त पैकर* को भी बाङ्ला छन्दों में रूपान्तरित किया। उस समय शाहजहाँ के पुत्र और बंगाल के सूबेदार शाह शुजा ने अराकान के दरबार में शरण ली थी। शुजा की भेंट आलाओल से हुई और दोनों निर्वासित परस्पर आकर्षित हुए। शुजा की हत्या हो गयी और आलाओल पर सन्देह किया गया। उसकी सम्पत्ति ज़ब्त करके उसे कारागार में डाल दिया गया। जब कुछ वर्ष बाद वह मुक्त हुआ तो वह टूट गया था। श्रीचन्द्र सुधर्मा के दोनों मन्त्रियों, सैयद मूसा और मजलिस नवराज ने उसकी देखभाल की। मजलिस के अनुरोध पर आलाओल ने *इसकन्दर-नामा* के बाङ्ला रूपान्तर *दारा-सिकन्दरनामा* की रचना की। आलाओल, फ़ारसी कविता से अनुवाद करनेवाला पहला बंगाली लेखक था। संस्कृत, बाङ्ला, अवधी और फ़ारसी—जैसी अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञान ने उसकी शैली को वैशिष्ट्य प्रदान किया। उनकी काव्य-कल्पना में उतनी मौलिकता बहुत कम दिखाई पड़ती है, जितनी दौलत काज़ी में थी, पर उनकी उपलब्धि कहीं अधिक भारी थी। *पद्मावती* के निम्नलिखित गीत में देशभाषा के प्रगीत-काव्य के समसामयिक रूप के प्रति कवि की निष्ठा का उदाहरण मिलता है :

> "आह! मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। जाग्रतावस्था हो या स्वप्न, मैं उसी को देखती हूँ, संसार में (मेरे लिए) और कोई नहीं है। पता नहीं, विधाता ने मेरे पापी करम में क्या लिखा है, स्पर्शमणि पाकर भी भ्रमवश मैंने उसे खो दिया। मन की यह वेदना मैं किसे कहूँ? प्रिय-परिजन दुखी होंगे। मैं उसका स्मरण करते-करते ही मर जाऊँगी। दुःख में दिन-रात युग से भी लम्बे हो जाते हैं। जल बिन मीन की यह स्थिति कैसे सहूँ? मेरे शरीर में ये कठोर प्राण किसलिए (ठहरे) हैं? मेरा हृदय पत्थर-सा कठोर है, जो इस दुःख से भी नहीं फटता। महन्त सैयद मूसा ज्ञान में कुशल हैं। विनयी आलाओल विरह-वेदना के गीत गा रहा है।"

मुसलमान लेखक हिन्दुओं की धार्मिक कविता के प्रभाव से अप्रभावित नहीं थे। अपने धर्म-भाइयों के लिए धार्मिक आख्यान-काव्य लिखने के उनके प्रथम प्रयासों में

स्पष्ट रूप से हिन्दी लेखकों के आख्यान-काव्यों का अनुकरण किया गया है। ऐसे काव्यों को, जिसमें मोहम्मद और उनके पहले के पैग़म्बरों को विषय बनाया गया है, *नबीवंश* (हिन्दू *हरिवंश* के अनुकरण पर) या *रसूलविजय* (हिन्दू *पांडवविजय* के अनुकरण पर) शीर्षक दिया गया। इस वर्ग के अन्य मुस्लिम लेखक चटगाँव और सिलहट के निवासी थे, क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त यही स्थान पूर्वी बंगाल में मुस्लिम साहित्य-संस्कृति के सर्वोत्तम केन्द्र थे।

चटगाँव के सैयद सुलतान ने अपनी *रसूलविजय* (जिसे 'नबीवंश' भी कहा जाता है) की रचना 1654 में की। उन्होंने पैग़म्बरों के साथ कुछ हिन्दू देवताओं और अवतारों का भी समावेश कर लिया। उन्होंने योग पर भी प्रबन्धों की रचना की और कुछ 'वैष्णव' पद भी लिखे थे। बंगाली मुसलमानों का अपना 'महाभारत जंगनामा' (युद्ध की कथाएँ) काव्यों के रूप में था। इनमें या तो पैग़म्बर और उनके अनुयायियों द्वारा ईरान-विजय और उसके धर्म-परिवर्तन का वर्णन है या पैग़म्बर के पौत्रों हसन और हुसैन के कठोर भाग्य का वर्णन है। पिछली कथा *महाभारत* में अभिमन्यु की कथा के समान कारुणिक होने के कारण बंगाल के शिया मुसलमानों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

बाङ्ला में सबसे प्राचीन *जंगनामा*, चटगाँव के मोहम्मद ख़ाँ की रचना 'मकतुल-होसेन' (हुसैन की मृत्यु) है। यह कवि के धर्म-गुरु (मुर्शिद) पीर शाह सुलतान के अनुरोध पर लिखी गयी थी और 1645 में पूरी हुई थी। चटगाँव के 'जंगनामा' काव्यों के अन्य लेखकों में उल्लेखनीय हैं नसरुल्ला ख़ाँ, जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने 'मुर्शिद' पीर हमीरउद्दीन के आदेश पर लिखा, और मंसूर, जिन्होंने मुहम्मद शाह के अनुरोध पर लिखा।

उत्तर-बंगाल का प्राचीनतम ज्ञात कवि हयात मामूद है, जिसके *जंगनामा* को *महरमपर्व* (महाभारत के खण्डों के अनुसरण पर) भी कहा जाता है। इसकी रचना 1723 में की गयी। उसकी अन्य रचनाओं में *हितोपदेश* के फ़ारसी रूपान्तर का 1732 में रचित बाङ्ला रूपान्तर, 1753 में रचित एक इस्लामी ब्रह्म-वैज्ञानिक प्रबन्ध *हितज्ञानवाणी* और 1758 में रचित *अम्बियावाणी* (पैग़म्बरों की वाणी) आदि शामिल हैं।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में दामोदर के निचले क्षेत्र में मुरसुत (प्राचीन भूरिश्रेष्ठि) प्रदेश में पश्चिमी बंगाल के मुसलमानों के लिए एक साहित्यिक और सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना हो गयी थी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य के कवि भारतचन्द्र राय इसी प्रदेश के थे और उनके काव्य की अत्यधिक फ़ारसी-कृत शैली उस प्रदेश के लोक-प्रचलित मुसलमान कवियों की शैली के प्रभाव को प्रतिबिम्बित करती है। इन लेखकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है ग़रीबउल्लाह, जो सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। ग़रीबउल्लाह के दो काव्यों के बारे में

जानकारी मिलती है। एक अमीर हमजा के *जंगनामा* का रूपान्तर है और दूसरा नूरुद्दीन जामी के फ़ारसी काव्य पर आधारित *यूसुफ़-जुलेखा* है। ग़रीबउल्लाह के बाद सैयद हमजा हुए, जिन्होंने ग़रीबउल्लाह के *जंगनामा* का दूसरा भाग लिखकर पूरा किया (1792-94)। इससे पहले उन्होंने एक प्रचलित लोककथा पर आधारित रोमांचक काव्य *मधु-मालती* लिखा था। हमजा का तीसरा काव्य, जिसका मुद्रण *जइगुनेर पुथी* (जइगुन का काव्य) शीर्षक से हुआ था, हनीफ़ा का *जंगनामा* है, जो अक्तूबर 1797 में पूरा हुआ। उसका अन्तिम काव्य *हातेमतायेर-केच्छा* (हातिमताई की कहानियाँ) था। वह 1804 में पूरा हुआ।

इस प्रदेश के उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के मुसलमान लेखक उल्लेखनीय नहीं हैं। उन्होंने मुख्यतः कलकत्ता के अशिक्षित निवासियों के लिए लिखा, और उन्होंने अधिकतर फ़ारसी, हिन्दी और उर्दू की लोक-प्रचलित कथाओं से ग्रहण किया। उनकी भाषा फ़ारसी-अरबी और हिन्दी शब्दों और वाक्यांशों से इस क़दर सराबोर थी कि वह प्रायः ऐसे लोगों के लिए दुर्बोध हो जाती थी जो इन भाषाओं से परिचित नहीं थे। यह विशिष्ट बोली मुस्लिम-बाङ्ला ('एहलामी बाङ्ला') कहलाती थी। पश्चिम बंगाल के मुसलमान लेखकों ने इसका आविष्कार किया था और उनके उत्तर और पूर्वी बंगाल के बन्धुओं द्वारा इसका ग्रहण केवल शताब्दी के अन्त के आस-पास हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम बाङ्ला काव्य का संपोषण केवल मुसलमानों ने नहीं किया। कभी-कभी किसी हिन्दू लेखक की नियुक्ति इस कार्य के लिए की जाती थी अथवा वह अपनी रुचि से इसकी रचना करता था। एक अच्छा उदाहरण पश्चिमोत्तर बंगाल के निवासी राधाचरण गोप का *जंगनामा* है।

हिन्दू-काव्य का प्रभाव मुसलमानों पर बढ़ रहा था इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हम पाते हैं कि कई एक इस्लामी विषयों को हिन्दू ढाँचे में नये सिरे से ढाला गया। हसन और हुसैन, भाइयों की बाल-क्रीड़ाओं की अत्यन्त लोकप्रिय कथा अत्यन्त स्पष्ट रूप से *कृष्णमंगल* में वर्णित कृष्ण और बलराम की इसी प्रकार की करतूतों का अनुकरण थी। हरिश्चन्द्र (*धर्ममंगल* में) और दानी कर्ण (अठारहवीं शताब्दी के *कृष्णमंगल* काव्य में) की कथा का मुस्लिम रूपान्तर वर्धमान के अब्दुलमतीन की *इसलाम नबी केच्छा* (इसलाम के पैग़म्बरों की कथाएँ) में मिलता है। फ़रीदपुर के अब्दुल रहमान की *सुरज्जमाल* की कथा का उत्तरी भाग *मनसामंगल* में उपलब्ध बेहुला की कथा का अनुकरण है।

सिलहट की मुस्लिम बस्ती सांस्कृतिक दृष्टि से लगभग कटी रही। पूर्वदेश के अपने धर्मोत्साही सहयोगियों से उनका सम्पर्क कभी नहीं छूटा था। उन्होंने हिन्दी-काव्य का पोषण किया और अपने बीच कायथी लिपि का व्यवहार बराबर बनाए रखा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इस लिपि में कुछ पुस्तकें छपीं, जिन्हें नागरी

का सिलहटी प्रकार ('सिलेटी नागरी') कहा गया। सिलहट के मुसलमान लेखक रोमानी आख्यान और साथ ही 'वैष्णव' प्रगीत और रहस्यवादी पद पसन्द करते थे।

स्थानीय मुसलमान सन्तों ('पीर') की परम्परागत कथाओं को पश्चिमी और उत्तरी बंगाल में एक नये ढंग के धार्मिक काव्य का रूप देने के लिए क़िस्सों के साथ गूँथा गया। इस काव्य के माध्यम से एक नये देवता का उद्‌भव हुआ, जिसे हिन्दू सत्यनारायण कहते थे और मुसलमान सत्य पीर। ऐसे काव्यों ('सत्यपीर पांचाली') के लगभग सभी लेखक हिन्दू थे। बंगाल में मुसलमान पीरों की प्राचीनतम परम्परा का विवरण *सेकशुभोदया* में मिलता है, जिसकी रचना संकर भाषा में हुई है; यह जितनी संस्कृत है, उतनी ही बाङ्‌ला है। इसमें शेख़ जलालुद्दीन की अलौकिक शक्तियों की कथाएँ हैं, जो कहा जाता है, कि लक्ष्मणसेन (उत्तर बारहवीं शताब्दी) के राज्य-काल में बंगाल में आये थे। कुछ कहानियाँ और क़िस्से पुराने हैं। एक कहानी के अनुसार, जिसका कोई स्रोत ज्ञात नहीं है, एक स्त्री एक गीत से इतनी आनन्द-विभोर हो गयी कि उसने अपने गोदी के शिशु को भ्रम से घड़ा समझकर उस कुएँ में डाल दिया, जिससे वह पानी भरने आयी थी। यह कथा महरुपनं में आठवीं शताब्दी के मन्दिर के ध्वंसों से प्राप्त एक मिट्टी की पटिया पर चित्रित मिली है। ज़ाहिर है कि *सेकशुभोदया* में इसी प्रकार की किसी पूर्ववर्ती कृति की सामग्री का उपयोग किया गया है, जो सम्भवतः पद्य में थी।

जो भी हो, बंगाल में पीरों की परम्परा का मूल तेरहवीं शताब्दी में है, और इसका उद्‌भव स्वतन्त्र रूप से उत्तर और पश्चिमी बंगाल में हुआ था। कुछ लेखकों ने सत्य पीर के माहात्म्य को चित्रित करने के लिए लोक-कथाओं का सहारा लिया। उत्तरी बंगाल के एक लेखक कृष्णहरिदास ने, जिसने मुसलमान ज़मींदार के अनुरोध पर, इस 'विधा' का बृहद्‌तम काव्य लिखा था, स्थानीय परम्परागत जनश्रुति का उपयोग किया परन्तु उनमें से अधिकांश ने बहुत छोटी पोथियों की रचना की, जिनमें उन्हीं कथाओं का उपयोग किया गया था जिनका ढाँचा स्पष्टतः *चण्डीमंगल* और *मनसामंगल* के व्यापारियों के आख्यानों के आधार पर निर्मित हुआ था।

साहित्यिक कृतियों के रूप में यह पीर साहित्य एकदम मूल्यहीन है, सिवाय इसके कि इसमें दो प्रमुख धर्मों के बीच पुनर्मिलन के व्यापक प्रयास का प्रमाण निहित है। नये देवता सत्य-पीर या सत्यनारायण अठारहवीं शताब्दी में अत्यधिक लोकप्रिय हुए और इस शताब्दी के सर्वोत्तम लेखकों, धनराम, रामेश्वर भट्टाचार्य और भारतचन्द्र राय आदि ने छोटे-छोटे *सत्यनारायण-पांचाली* काव्यों की रचना की है।

□

14

अठारहवीं शताब्दी : प्रवृत्तियाँ और प्रभाव

सुदूरव्यापी मुग़ल साम्राज्य की उस इमारत को, जो औरंगज़ेब की सैनिक नीति के दबाव से पहले ही चरमरा रही थी, सम्राट् की मृत्यु (1706) के बाद ढहने में ज़रा भी समय न लगा। प्रादेशिक गर्वनरों के शासन के अधीन, जिनका लोकप्रचलित नाम नोबाब था, बंगाल व्यवहारतः एक स्वतन्त्र इकाई हो गया। इसी बीच पूर्व में व्यापार में संलग्न विदेशी शक्तियों की दिलचस्पी गंगा-प्रदेश के निचले भाग के आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रमशः गहरी होती जा रही थी, जो प्रान्त की आर्थिक शक्ति का केन्द्र था। इन दो कारणों ने, जिनमें दिल्ली के नियन्त्रण का शिथिल होना और हुगली के किनारे विदेशी व्यापार-सदनों की स्थापना शामिल थे, संयुक्त रूप से एक नयी नगर-संस्कृति की नींव डाली, जिससे बंगाल पहले अपरिचित था। मुग़ल-प्रशासन ने ज़मींदार-सदनों की स्थापना की थी जो पहले के अर्ध-स्वतन्त्र शासक-भवनों के व्यवहार और रीति-रिवाजों का अनुकरण करते थें और कवियों और पंडितों को अनमने ढंग से संरक्षण देते थे। यह कार्य अधिमान देने के लिए उतना नहीं, जितना दिखावे के लिए किया जाता था। शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध लेखक (वैष्णवों के अतिरिक्त) ऐसे संरक्षण का भोग करते थे। घनराम के आश्रयदाता वर्धमान के कीर्तिचन्द्र थे, रामेश्वर ने मिदनापुर के राजा रामसिंह के आदेश पर लिखा; और भारतचन्द्र कृष्णनगर के कृष्णचन्द्र राय के पेंशनभोगी थे।

शताब्दी के उत्तरार्ध में जब बंगाल में ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो गयी, तो कलकत्ता प्रशासन, वाणिज्य और एक नयी संस्कृति का केन्द्र बन गया। ब्रिटिश सत्ता के साथ व्यापारिक और प्रशासनिक सम्बन्ध उन स्थानीय लोगों के लिए बड़ा लाभप्रद था, जो कलकत्ता के आस-पास बसे हुए थे। ये नवधनाढ्य उन अर्धसाहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के समर्थकों के रूप में प्रतिष्ठित हुए, जो कलकत्ता और मुर्शिदाबाद से शुरू होकर हुगली के किनारे अन्य नगर-क्षेत्रों में उभरकर सामने आयीं।

गद्य शैली के रूप-निर्माण की टोह एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति थी, जो शताब्दी के आरम्भ से ही ज़ोर पकड़ रही थी। किन्तु इस दिशा में तब तक बहुत कम प्रगति की जा सकी, जब तक कि अगली शताब्दी के आरम्भ में बंगाली छापेख़ाने की अच्छी तरह स्थापना न हो गयी और व्यावहारिक तथा साहित्यिक गद्य की आवश्यकता का

व्यापक रूप से अनुभव न किया जाने लगा। पूर्ववर्ती शताब्दी के वैष्णवों ने अपने गुह्य और प्रश्नोत्तरयुक्त प्रबन्धों में एक गद्यनुमा शैली का प्रयोग किया है; पर इनकी पदावली अन्तरलोप से युक्त, टूटी-फूटी-सी थी, जो आरम्भिक संस्कृत की 'सूत्र' शैली के समान पद्य और गद्य की मध्यवर्तिनी शैली थी। कुछ पुर्तगाली पादरियों और बंगाल में उनके द्वारा कैथोलिक धर्म-परिवर्तित लोगों ने वैष्णव प्रबन्धों से संकेत ग्रहण करके बाङ्ला पद्य में प्रश्नोत्तरियाँ रचीं, जो जन-सामान्य को अज्ञात थीं।

इनका गद्य सही माने में गद्य था, पर शैली सहज नहीं थी और पदावली विदेशी मुहावरों और अभिव्यक्तियों से भरी होने के कारण कठिन थी। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और अठारहवीं के आरम्भ में पूर्वी बंगाल की बोली का, जो कैथोलिक ईसाई मत के क्रिया-कलाप का मुख्य क्षेत्र था, प्रबल प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्राचीन ईसाई गद्य का सर्वोत्तम उदाहरण हमें ढाका के एक स्थानीय ईसाई डॉम एण्टोनियो के प्रबन्ध में मिलता है। यह कृति, जिसका मुद्रण कभी नहीं हुआ, एक ब्राह्मण और एक रोमन कैथोलिक पादरी के बीच संवाद के रूप में है, जिसमें पादरी हिन्दू मत पर ईसाई मत की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मानोएल द असुम्पसम-कृत *क्रेपर शास्त्रेर अर्थ भेद*[1] है। उसने इसकी रचना ढाका में 1734 में की थी और नौ वर्ष बाद लिसबन में इसे इसके पुर्तगाली मूल *कोतसिम्पो दा दोक्त्रीना क्रिस्ताओ* के साथ रोमन टाइप में छापा था। उसी वर्ष (1734) पुर्तगाली में बाङ्ला-पुर्तगाली शब्द-संग्रह सहित उसके बाङ्ला व्याकरण का प्रकाशन हुआ। किन्तु बाङ्ला में पद्य-रचना की आदत उस समय इतनी प्रबल थी कि ये ईसाई लेखक भी अक्सर पद्य-रचना में बहकने से, और अपने प्रबन्धों के अन्त में द्विपदी जोड़ने से अपने-आपको नहीं बचा सके।

मुग़ल प्रशासन की राज़भाषा फ़ारसी थी, अतः यदि कोई ब्राह्मण अच्छी तरह से जीवन बिताने की महत्त्वाकांक्षा रखता था तो उसे भी यह भाषा सीखनी पड़ती थी। परिणामस्वरूप संस्कृत पर दिन-ब-दिन कम ध्यान दिया जाने लगा। अतः अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक यह स्थिति हो गयी कि संस्कृत के पंडित और विद्वान् वैद्य लोग भी अपनी पुस्तिकाओं को संस्कृत मूल की अपेक्षा बाङ्ला अनुवादों में रखने में अधिक सुविधा महसूस करने लगे। इस प्रकार पादरी का गुटका, पंडित की तर्कशास्त्र की पहली पुस्तक और वैद्य की सहायक पुस्तिका सहचर, सब अस्तित्व में आये, पर सबके-सब संक्षिप्त रूप में और बाङ्ला पद्य में। पंडितों की यही शैली उन्नीसवीं शती के आरम्भिक गद्य में पुनः प्रकट हुई—फ़ोर्ट विलियम कालिज के तत्त्वावधान में रचित गद्य की पाठ्य-पुस्तकों में। इन पुस्तकों को राममोहन राय ने परिष्कृत और परिनिष्ठित रूप देने के लिए स्वीकार किया, और यह काम दसियों वर्ष बाद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

1. अर्थात् करुणा के वेद का अर्थ और विविक्षा।

और उनके समसामयिक के प्रयासों द्वारा सम्पन्न हुआ। लोक-प्रचलित गद्य शैली, जो पत्र-व्यवहार और सरकारी दस्तावेज़ों में मिलती है, पण्डितों की शैली से इस बात में भिन्न है कि उसमें अपरिचित कोशगत शब्द कम हैं और फ़ारसी और फ़ारसी-कृत लोक-प्रचलित शब्द और मुहावरे अधिक हैं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोक-प्रचलित शैली बेहतर शैली थी और पण्डितों की पदावली की अपेक्षा वह बोल-चाल की दैनन्दिन भाषा के अधिक निकट थी। इस लोक-प्रचलित शैली का विकास कायस्थों ने किया था; क्योंकि किसी भी अन्य जाति या वर्ग की तुलना में इन्हीं लोगों ने फ़ारसी के ज्ञान को अधिक अपनाया था। विलियम कैरी का सहायक और भाषा-शिक्षक रामराम बसु, पहला उल्लेखनीय गद्य-लेखक था, जिसने लोक-प्रचलित (या 'मुंशी') शैली का प्रयोग किया। वह *राजा प्रतापादित्य चरित* (1801) और *लिपिमाला* (1802) नामक दो श्रेष्ठ गद्य-पुस्तकों का लेखक था, जिन्हें फ़ोर्ट विलियम कालिज, कलकत्ता के ब्रिटिश 'लिपिक' विद्यार्थियों के लिए तैयार कराया गया था।

सदियों से मुसलमानी दरबारी संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभुत्व के विरोध में रूढ़िवादिता का शिकंजा कसता जा रहा था—जिससे कुछ दूर तक बचाव का मार्ग वैष्णववाद ने प्रदान किया। परन्तु अठारहवीं शताब्दी तक वैष्णव रूढ़िवादिता ब्राह्मणवाद से कम पुराणपंथी नहीं रह गयी थी। प्रतिक्रिया-स्वरूप नये धर्मों का जन्म हुआ; वे धर्म, जो वैष्णववादी शास्त्रविरोध के उद्‌भूत हुए और जिन्होंने जाति, पन्थ और धार्मिक पूजा में औपचारिकता की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया। इस बात के बावजूद कि इनमें से कुछ लोग जन्मना ब्राह्मण थे, इनके विरोध का विशेष लक्ष्य ब्राह्मणों के नेता लोग रहे। चुनौती की इस चेतना में सन्देह और अविश्वास के आलोचनात्मक रुख़ का भी पुट था, जिसके कारण कभी-कभी उनमें परम्परागत धर्म और आस्था पर भी आक्रमण रहता था। इस प्रकार का आधुनिक दृष्टिकोण शताब्दी के प्रतिनिधि लेखकों में एकदम अनुपस्थित नहीं था। भारतचन्द्र राय एक परम्परावादी ब्राह्मण था, पर साथ ही फ़ारसी का अच्छा ज्ञाता था। भारतचन्द्र ने एक लम्बे *मंगल-काव्य* की रचना की, और उस रचना से 'मंगल' काव्यों की परम्परा समाप्त हो गयी। उसकी लेखनी ने देवताओं के रेखाचित्र अंकित करने का प्रयत्न किया, परन्तु अपनी सतर्कता और काव्य-शिल्प पर अधिकार के बावजूद वह प्रायः विद्रूप उत्पन्न करने में ही सफल हो सका। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उसमें अपने वृद्ध पूर्ववर्तियों की आस्था का अभाव था। रामानन्द यती ने, अपने *चण्डीमंगल* (1766) के परिचयात्मक अंश में पहले-पहल, इस अविश्वास को खुले रूप में आम चर्चा का विषय बनाया, जब उन्होंने मुकुन्दराम के इस दावे की विश्वसनीयता को चुनौती दी कि चण्डी उसके सामने प्रकट हुई थीं। रामानन्द का कथन अनुवाद के रूप में उद्‌धृत है—

> "अगर चण्डी दर्शन देती हैं तो इसका वर्णन एक समाख्यानात्मक काव्य में कैसे सम्भव है? केवल नासमझ लोग ही यह कहते हैं कि चण्डी सचमुच रास्ते में

प्रकट हुई थीं। इस प्रकार के झूठ का निराकरण करने के लिए और जनसामान्य को जानकारी प्रदान करने के लिए, रामानन्द यती इस काव्य की रचना, अनेक लोगों के अनुरोध पर कर रहा है। कोई व्यक्ति कृपया इससे अप्रसन्न न हो; मुझे बहुतों का अनुमोदन प्राप्त है।"

रामानन्द एक पण्डित था और एक भिक्षुक (संन्यासी), जिसके बहुत-से शिष्य थे। उसने योग और तन्त्रवाद पर संस्कृत में बहुत-से प्रबन्ध और संस्कृत टीकाएँ लिखीं। बाङ्ला में उसका केवल एक *रामायण* काव्य (1762) और है, जिसमें उसने तुलसीदास की रचना का उल्लेख किया है।

जहाँ तक कुल मिलाकर सामान्य उत्पादन का प्रश्न है, अठारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी का नीरस बढ़ाव ही दृष्टिगत होता है। न तो वैष्णव पदों और जीवन-चरित्रों के सामूहिक उत्पादन का सिलसिला टूटा, और न विभिन्न देवताओं पर रचित विविध 'पुराणों' से गृहीत समाख्यान-काव्य की पुनरावृत्ति का।

वैष्णव जीवनचरितात्मक कृतियों में दो का विशेष महत्त्व है—नरहरि चक्रवर्ती का *भक्तिरत्नाकर* (वैष्णव जनश्रुतियों का प्रतिनिधित्व करनेवाला विश्वकोष) और लालदास का *भक्तमाल* (नाभाजी के ब्रजभाषा-काव्य और प्रियादास की टीका पर आधारित जीवनचरितात्मक विश्वकोष)। आख्यान-काव्यों (मंगल) की उल्लेखनीय रचनाओं में घनराम चक्रवर्ती के *कविरत्न* और माणिकराम गांगुली के *धर्ममंगल* काव्य शामिल हैं, जो क्रमशः 1711 और 1781 में लिखे गये थे। घनराम ने परिष्कृत शैली में लिखा जब कि माणिकराम ने बोल-चाल की शैली में। दोनों कृतियों में बहुत बड़ी मात्रा में सूत्रात्मक पंक्तियाँ हैं, जो वस्तुतः अठारहवीं शताब्दी की पद्य शैली की एक विशेषता है।

एक अन्य विशिष्ट रचना रामेश्वर भट्टाचार्य की *शिव संकीर्तन* (1910) है। काव्य में उंसी विषय का वर्णन है, जिसका वर्णन मुकुन्दराम ने *चण्डीमंगल* के आरम्भिक खंड में किया है, परन्तु यहाँ निरूपण नितान्त लोक-प्रचलित ढंग से किया गया है और शैली भी उसी के अनुरूप है। लोक-प्रचलित काव्य में विषय अधिकतर शृंगारिक रहा परन्तु रामेश्वर ने बड़ी सफलतापूर्वक उसमें से एक 'पवित्र काव्य' की रचना की। अपनी सीधी-सहज कृति के बावजूद शताब्दी के सर्वोत्तम कवियों में स्थान रखने का रामेश्वर का दावा निर्विवाद है। उसकी निरीक्षण-क्षमता तीक्ष्ण है और सहानुभूति छलकी पड़ती है। उसके काव्य में दक्षिण-पश्चिमी बंगाल की, जो हमेशा पूरी तरह चावल का उत्पादन-क्षेत्र रहा है, अत्यन्त निम्न स्तर की कृषक अर्थ-व्यवस्था का अच्छा प्रमाण मिलता है। उसका नायक (शिव) एक अत्यन्त छोटे और निर्धन किसान के रूप में चित्रित है और नायिका (गौरी) उस निर्धन किसान की पत्नी के रूप में, जो मात्र दो वक़्त के पेट-भर भोजन और लपेटने के लिए कुछ गज़ की साड़ी से

सन्तोष पा लेते हैं। परन्तु कवि की निष्ठा अविचल है। निष्ठा की दृष्टि से रामेश्वर का काव्य भी यदि शताब्दी का सर्वोत्तम काव्य नहीं, तो सर्वोत्तम काव्यों में से एक अवश्य है।

भारतचन्द्र राय, जिनकी उपाधि 'गुणाकर' थी, पूर्व-आधुनिक बाङ्ला साहित्य का एकमात्र कवि है, जिसके जीवन और पेशे के सम्बन्ध में जानकारी हासिल है। उसका जन्म 1712 के आस-पास दक्षिणी राढ़ के भुरसुत क्षेत्र में एक ब्राह्मण ज़मींदार परिवार में हुआ था। उस समय की प्रथा के अनुसार भारतचन्द्र का विवाह किशोरावस्था में ही हो गया था। पारिवारिक कारणों से उसने अपनी शिक्षा पूरी करने से पहले ही घर छोड़ दिया, और हुगली के एक निकटवर्ती गाँव में आ गया, जहाँ कुछ वर्ष रहकर उसने संस्कृत और फ़ारसी पढ़ी। बाङ्ला में अपने सबसे पहले प्रयासों के रूप में, उसने यहीं देवता सत्यनारायण पर दो बहुत लघु काव्यों की रचना की (1737)। घर लौटने पर उसके पिता ने आदेश दिया कि वह क्षीण होती हुई जागीर की व्यवस्था में उसकी सहायता करे। यह जागीर वर्धमान के राजा के अधीन पट्टे की सम्पत्ति थी। राजा कीर्तिचन्द्र की मृत्यु (1740) के तत्काल बाद कवि के पिता की जागीर को वर्धमान के राजा के मैनेजर ने शुल्क अदा न करने के कारण जब्त कर लिया। भारतचन्द्र कीर्तिचन्द्र की विधवा रानी से अपील करने के लिए वर्धमान आया, परन्तु मैनेजर अत्यन्त चालाक सिद्ध हुआ। इससे पहले कि भारतचन्द्र अपनी अपील पेश कर पाता उसे ग़बन के आरोप में जेल में डाल दिया गया। वह वहाँ से भाग निकलने में सफल हो गया और उसने उड़ीसा के लिए मुख्य पथ पकड़ा। वह कटक और उसके बाद पुरी आया, जहाँ कुछ दिन रहकर वह वैष्णव भिक्षा-वृत्ति में दीक्षित हो गया। तदुपरान्त वह वृन्दावन की ओर चल पड़ा, पर रास्ते में उसकी भेंट अपनी पत्नी के एक सम्बन्धी से हो गयी, जिसने उसे पहचान लिया। वह उसे उसकी ससुराल ले गया और वहाँ से उसे घर भेज दिया गया। उस घर में अब सुख-समृद्धि की प्रचुरता नहीं थी, और एक ख़र्चीला बेटा होने के कारण उसका सही अर्थ में वहाँ स्वागत नहीं हुआ। भारतचन्द्र को शीघ्र ही फिर अपना भाग्य आज़माने के लिए बाहर निकलना पड़ा। वह चन्द्रनगर आया और वहाँ फ्रांसीसी व्यापारियों के प्रमुख स्थानीय एजेंट के अधीन उसे काम मिल गया। उसके साहित्यिक गुणों की क़दर करते हुए एजेंट ने उसका परिचय कृष्णनगर के राजा कृष्णचन्द्र से कराया, जो ब्राह्मण पण्डितों के आश्रयदाताओं में अग्रणी थे। राजा ने उसका दायित्व ले लिया और उसे कुछ खेती देकर हुगली पर मुलजोर में बसा दिया। कवि अपने वृद्ध पिता को अपने साथ रहने के लिए ले आया और साथ ही परिवार के देवताओं को भी। उसका अपने पुराने घर से आगे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। भारतचन्द्र की मृत्यु 1760 में अड़तालीस वर्ष की आयु में हो गयी।

कृष्णचन्द्र के संरक्षण में कवि ने पहले *रसमंजरी* संग्रह किया (1750 से कुछ पूर्व)। यह एक संस्कृत मूल पर आधारित शृंगारिक साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। इसके

उपरान्त उन्होंने अपना सर्वोत्तम काव्य-ग्रन्थ *अन्नदामंगल* या *अन्नपूर्णामंगल* लिखा, जो 1753 में पूर्ण हुआ। *अन्नदामंगल* वस्तुतः तीन स्वतन्त्र ग्रन्थों की ग्रन्थत्रयी है—वास्तविक *अन्नदामंगल* (जिसमें शिव और पार्वती की परम्परागत कथा का वर्णन है और उसके साथ ही कवि के मौलिक आख्यान का, जिसके अनुसार भूखे मरते शिव को पका हुआ भोजन देने के कारण पार्वती अन्नदात्री देवी बनी), *विद्यासुन्दर* (एक शृंगारपरक रोमांस) और *मानसिंह* (जैसोर के प्रतापादित्य के साथ जहाँगीर के युद्ध पर एक ऐतिहासिक रोमांस)। पहली पुस्तक की रचना कवि के संरक्षक कृष्णचन्द्र के द्वारा प्रवर्तित अन्नदायिनी देवी की मूर्ति-पूजा के समर्थन में की गयी है। दूसरी में हुगली के किनारे के नगरक्षेत्र के उच्च समाज में पसन्द की जानेवाली शृंगारिक कविता की अत्यन्त लोकप्रिय कथाओं में से एक का वर्णन किया गया है। तीसरे का उद्देश्य कृष्णचन्द्र के परिवार के संस्थापक को गौरवान्वित करना है। शिव और पार्वती की कथा के वर्णन के लिए भारतचन्द्र रामेश्वर भट्टाचार्य के अत्यधिक ऋणी हैं। रामेश्वर भी दक्षिणी राढ़ का निवासी था, अतः उसके काव्य से वे अवश्य परिचित रहे होंगे।

भारतचन्द्र के द्वारा विद्या और सुन्दर की कथा का वर्णन उसकी सर्वोत्तम उपलब्धि माना जाता है। इस क्षेत्र में उसके कई पूर्ववर्ती थे, जिनमें चटगाँव[1] का एक मुसलमान और एक हिन्दू लेखक भी शामिल थे, और दो से अधिक अनुयायी[2] थे, पर उसका काव्य उन सबसे बेहतर है। एक शताब्दी तक भारतचन्द्र का *विद्यासुन्दर* कलकत्ता क्षेत्र में कवियों की कल्पना पर छाया रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशाब्द तक, जब शिक्षित बंगालियों के लिए अंग्रेज़ी साहित्य अज्ञात नहीं था, भारतचन्द्र को बाङ्ला का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का मुद्रित साहित्य अधिकतर भारतचन्द्र के काव्य के विविध संस्करणों (जिनका दाम एक रुपये से लेकर एक आने तक था) और अनुकरणों से भरा था।

विद्या और सुन्दर की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—विद्या राजा वीरसिंह की सुन्दर और प्रवीण बेटी थी। राजा के कोई और सन्तान नहीं थी। उसने प्रण किया था कि वह उसी व्यक्ति से विवाह करेगी, जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा। राजा गुणसिंधु का इकलौता बेटा सुन्दर, राजकुमारी से विवाह करने के लिए आया। वह हीरा नाम की एक स्त्री के घर में ठहरा, जो विद्या की मालिन थी। स्त्री ने मध्यस्थ की भूमिका निबाहते हुए राजकुमार और राजकुमारी के बीच सम्पर्क की व्यवस्था कर दी।

1. इनमें से पहला (शाह बिरिद ख़ाँ) सत्रहवीं शताब्दी का था और दूसरा (गोविन्ददास) अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ का। श्रीधर और कृष्णराम के काव्यों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। बलराम चक्रवर्ती भी भारतचन्द्र का पूर्ववर्ती था।
2. इनमें कलकत्ता के राधाकान्त मिश्र (1767), रामप्रसाद सेन 'कविरंजन', निधिराम चक्रवर्ती 'कविचन्द्र' और मधुसूदन चक्रवर्ती 'कवीन्द्र' (1842) शामिल हैं।

देवी काली[1] की कृपा से सुन्दर अपने ठहरने के स्थान से राजमहल में विद्या के कक्ष तक एक सुरंग खोदने में सफल हो गया। प्रेमी रोज रात्रि के समय मिलने लगे और विद्या गर्भवती हो गयी। जब वह तथ्य उसके माता-पिता को ज्ञात हुआ, तो वे उससे बहुत क्रुद्ध हुए और राजा ने इस अज्ञात प्रेमी को पकड़ने की व्यवस्था की। सुरक्षा-प्रमुख की विदग्धता से सुन्दर तक पहुँचने का एक क्षीण-सूत्र ढूँढ़ निकाला गया और वह पकड़ लिया गया। उस पर मुक़दमा चलाकर उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। जब उसे फाँसी के स्थल पर ले जाया जा रहा था तो सुन्दर ने संस्कृत-श्लोकों की शृंखला में काली से भक्तिपूर्वक प्रार्थना की और एक व्यक्ति, जो सुन्दर को एक राजपुत्र के रूप में जानता था, वहाँ आ पहुँचा। ठीक तरह पहचान लिए जाने पर सुन्दर को मुक्त कर दिया गया और राजकुमारी से उसका विवाह हो गया। उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ समय पश्चात् सुन्दर पत्नी और पुत्र के साथ वह घर लौट गया।

भारतचन्द्र *के मानसिंह* काव्य में, यत्र-तत्र ऐसी शैली दिखाई पड़ती है जो फ़ारसी और हिन्दी के शब्दों और मुहावरों से भरपूर है। जैसा कि सामान्यतः विश्वास किया जाता है, यह शैली पूर्णतः उसकी मौलिक शैली नहीं थी, बल्कि यह उस पदावली का रूपान्तर था, जो भारतचन्द्र के स्वदेश के मुसलमान लेखक उपयोग करते थे। भारतचन्द्र को इस काव्य की जानकारी थी और उसे फ़ारसी, हिन्दी और उड़िया का भी अच्छा ज्ञान था। काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध चूँकि मुख्यतः मुग़ल दरबार और प्रशासन से था, अतः यह बात वस्तुतः अप्रत्याशित नहीं थी कि मौक़े के तकाज़े के अनुरूप अन्य दो काव्यों में प्रयुक्त शुद्ध बाङ्ला शैली के स्थान पर कवि हिन्दुस्तानी शैली का उपयोग करता (जिसे समसामयिक यूरोपियन लोग मूरों की भाषा के रूप में जानते थे)। भारतचन्द्र की इस ग्रन्थत्रयी में ऐसे अनेक गीत हैं, जो चेतना और विषय में वैष्णव पदों के समान हैं परन्तु संरचना और भंगिमा में उनसे भिन्न हैं। कवि रूप में भारतचन्द्र की प्रतिभा के सर्वोत्तम उदाहरण इन्हीं गीतों में मिलते हैं। एक उदाहरण का अनुवाद प्रस्तुत है–

> "ओ विनोद-श्रेष्ठ, तुम जल्दी मत करो, देर से चले जाना। अपने अधरों की मधुर हँसी से भरी हुई बाँसुरी बजाओ! नवजलधार के अनुरूप तुम्हारा शरीर मोरपंखी मुकुट, वस्त्र पीले रंग का। तुम्हारी चमक में बिजली की चमक है जिसे देखते ही मोर नाचने लग जाते हैं। तुम्हारे नयनरूप चकोर को देखते हुए सुबह हो चुकी है। चन्द्रमुख की हँसी की सुधा पिलाकर तुम मुझे बचाओ। तुम जिस प्रकार का खेल रोज़ाना खेलते हो, वह ठीक नहीं। मैं जैसा खेल चाहती हूँ, वैसा

1. काली अर्धरात्रि की देवी है अतः चोरों और डाकुओं की आराध्या देवी है, जो अंधेरे में सक्रिय रहते हैं।

खेल खेलो। तुम्हारी यह मनोहर दृष्टि तुम्हें कहाँ से मिली। भारतचन्द्र कहते हैं जैसा मैं चाहता हूँ वैसे प्रेमी की दृष्टि से तुम मुझे कृतार्थ करो।"

एक और दृष्टि से भी कवि अपनी युग चेतना के प्रति ईमानदार था। यदि और पहले से नहीं, तो शताब्दी के आरम्भ से सामयिक विषयों ने (सामान्यतः हास्यकर) सरल लेखकों का ध्यान आकर्षित किया था। भारतचन्द्र उस पद्धति से बेख़बर नहीं थे जिसे अभी तक ऊँचे (अर्थात् परम्परागत) काव्य से मान्यताएँ नहीं मिली थीं। इसीलिए उन्होंने हास्यपरक शैली में कुछ बहुत छोटी कविताएँ (दो या चार द्विपदियों की) लिखीं। इनके विषय थे ऋतुएँ, लालसा, राधा के प्रति कृष्ण, कृष्ण के प्रति राधा, 'कथियान्याल', चाटुकार आदि। ऐसी एक कविता हिन्दुस्तानी में लिखी गयी है और एक मिश्रित रचना है जिसमें चार भाषाओं का उपयोग किया गया है—संस्कृत, बाङ्ला, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी। भारतचन्द्र संस्कृत में भी अच्छी पद्य-रचना कर सकते थे, इसका सर्वोत्तम उदाहरण *नागाष्टक* है। आठ छन्दों में रचित यह कविता कवि के आश्रयदाता के प्रति प्रार्थना के रूप में उस समय लिखी गयी थी, जब वर्धमान के राजा के एक एजेंट रामदेव नाग ने, कवि को कृष्णचन्द्र के द्वारा प्रदत्त भूमि से बेदख़ल करने का प्रयास किया। 'नाग' और 'कृष्ण' शब्दों में श्लेष का कौशल है—ठीक उसी तरह जैसे ब्रज की जनता ने तब कृष्ण से प्रार्थना की थी, जब यमुना के जल में कालियानाग द्वारा बाधा प्रस्तुत की गयी थी; यहाँ कवि ने कृष्ण (चन्द्र) से (रामदेव) नाग के अत्याचार के विरुद्ध मुक्ति की प्रार्थना की है।

परम्परागत प्रथा का अनुसरण करते हुए भारतचन्द्र ने संस्कृत में एक नाटक की रचना करने का प्रयास किया, जिसमें भाषा के गीत बिखरे हैं। इसका विषय चण्डी द्वारा महिषासुर-वध की कथा है जो *मार्कण्डेय पुराण* से ली गयी है, परन्तु कवि प्रस्तावना से आगे नहीं बढ़ पाया था कि उसकी मृत्यु हो गयी।

रामप्रसाद सेन 'कविरंजन' कुमारहट्ट का निवासी था। यह स्थान कलकत्ता से लगभग चालीस किलो मीटर हुगली के ऊपरी किनारे पर है। यह भारतचन्द्र के स्थान मुलाजोर से दूर नहीं था। उसके *विद्यासुन्दर* की रचना शताब्दी के छठे या सातवें दशाब्द में किसी समय हुई थी। इस पर भारतचन्द्र का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। शैली और चरित्र-चित्रण में रामप्रसाद अपने पूर्ववर्ती से कहीं पीछे है पर काव्य-कल्पना में वह निस्सन्देह कहीं अधिक उत्कृष्ट है। रामप्रसाद का परिहास कम आपत्तिजनक है। उसकी अन्य रचनाओं में *कालीकीर्तन* और खण्डित कृति *कृष्णकीर्तन* हैं। ये काव्य 'पांचाली' शैली में लिखे गये थे, जो प्राचीनतर 'कीर्तन' से विकसित हो रही थी।

रामप्रसाद के हस्ताक्षर से देवी माँ के अत्यन्त लोकप्रिय भक्तिपरक पद काफ़ी संख्या में मिलते हैं। इन पदों से सम्बद्ध सरल और प्रभावशाली रागों का श्रेय भी कवि

को दिया जाता है जिसे सन्त के रूप में देखा जाता था। किन्तु ये राग और इससे सम्बद्ध पद एक दूसरे रामप्रसाद (एक ब्राह्मण) का कृतित्व हो सकते हैं, जो कलकत्ता-निवासी था और जिसकी ख्याति 'कवि' गीतों के रचनाकार के रूप में थी। यह रामप्रसाद पहले वाले रामप्रसाद का जो (जो वैद्य थे) समसामयिक था, जो आयु में उनसे छोटा था। गीत विशुद्ध रूप से भक्तिपरक हैं, जिनमें देवी माँ से प्रार्थना की गयी हैं ये गीत एक मौजी, पर अनुतप्त बालक के शब्दों में व्यक्त किए गये हैं। इससे अधिक इनमें और कुछ नहीं है, और कुछ आलोचकों के द्वारा इनकी जो बहुत अधिक प्रशंसा की गयी है वह इनके भक्तिपरक प्रभाव के कारण और वैष्णव पदों पर अतिरिक्त बल देने के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण अधिक, विचार की गम्भीरता और अभिव्यक्ति की नवीनता के कारण उतनी नहीं। इन गीतों के द्वारा प्रबुद्ध भावनाओं में सहज स्नेह और विशुद्ध भक्ति-भाव का संयोग होता है अतः इनका प्रभाव दुर्निवार है। इस कविभक्त के दृष्टिकोण का उदाहरण उसके सर्वश्रेष्ठ गीतों में से एक के इस अनुवाद में देखा जा सकता है—

> "रे मन, तुम कृषि-कार्य नहीं जानते। यह मानव (जन्म) रूपी भूमि व्यर्थ पड़ी है, यदि इसे जोतते-बोते तो यह सोना उगलती। काली के नाम की बाड़ लगाओ तो फ़सल बरबाद नहीं होगी। मुक्तकेशी की मज़बूत बाड़ के पास तो यम भी नहीं फटकता। क्या तुम्हें पता नहीं कि आज नहीं तो सौ साल बाद यह ज़मीन जब्त हो जाएगी? अभी यह गिरवी है। मन! इसी समय यूँ जुटकर फ़सल काट ले। गुरु-प्रदत्त बीज रोपकर, भक्ति के जल से उसे सींच। और मन! यदि अकेले तुझसे यह न हो सके तो रामप्रसाद को संग ले ले।"

जैसे-जैसे धार्मिक कविता में धार्मिक रुचि और आनुष्ठानिक तत्त्व क्षीण होता जा रहा था, वैसे-ही-वैसे साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, आख्यानक काव्य और वैष्णव गीतियों के जराजीर्ण ढाँचों से अभिव्यक्ति के नये द्वार खोज रही थीं। साथ ही, कविता और संगीत परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद की कोशिश कर रहे थे, जिसमें सम्भवतः पहले ही पर्याप्त विलम्ब हो चुका था। किन्तु अगली शताब्दी के मध्य तक यह अलगाव तभी सम्भव हो सका जब प्रेस ने कविता को पढ़ने-लिखनेवाली जनता के लिए सस्ते रूप में सुलभ कर दिया और अंग्रेज़ी शिक्षा ने साहित्य की सही समझ के लिए ज़मीन तैयार कर दी। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक नवीन प्रवृत्तियाँ बल पकड़ रही थीं। परिणामस्वरूप, एक ओर तो हमें रोमानी प्रेम या ऐतिहासिक और सामयिक विषय पर छोटी कविताएँ मिलती हैं, और दूसरी ओर छोटे लौकिक प्रेमगीत (जो राधा और कृष्ण से सीधे सम्बन्धित नहीं हैं)। फिर भी, पुरानी और नयी पद्धतियों के बीच समन्वय के अनेक प्रयास किये गये। ये प्रयास उस तथाकथित 'कवि' काव्य और नव्य 'पांचाली' काव्य में जड़ीभूत हो गये, जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अस्तित्व में आया। आधी

शताब्दी से भी अधिक समय तक 'कवि' काव्य और नव्य पांचाली ने कलकत्ता क्षेत्र और उसके उपक्षेत्रों में एकछत्र राज्य किया और साहित्य में लगभग जो भी शेष था उसे समा लेने का ख़तरा पैदा कर दिया। लेकिन 'कवि'-काव्य की अभद्र और मूर्खतापूर्ण कृत्रिमता और उसके साथ इसकी अलंकृत किन्तु निर्जीव संगति अपने आरम्भ से ही अतिशय अलंकृति के कारण अभिशप्त था। नव्य 'पांचाली' तब तक बची रही जब तक उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में नाटक और नाटक पर आधारित नयी 'यात्रा' (संगीत-नाटक) की पद्धति ने उसे पीछे नहीं छोड़ दिया।

वे पद्यबद्ध क़िस्से, जिनका प्रचलन हो रहा था, परम्परा के दबाव के कारण तत्काल अपने छद्म धार्मिक ढाँचे का बहिष्कार नहीं कर सकते थे। इसलिए वे क़िस्से, जिनमें वे भी शामिल हैं, जो विक्रमादित्य-भोज आख्यान से और अन्य जनश्रुतियों से लिये गये थे, या तो आगम के[1] रूप में स्वीकार किये गये या फिर सत्यपीर के, काली के या सूर्य देवता या ज्ञान की देवी के प्रति प्रशस्ति[2] के रूप में। इनके अलावा और भी क़िस्से थे जो स्पष्ट रूप से शृंगारिक थे और जिनमें साहसिकता का कोई मुलम्मा नहीं था। इस प्रकार की कथाओं के कुछ विषय पूर्वी प्रदेश में एक सामान्य भाण्डार से आये थे। उदाहरण के लिए, सारुफ़ के *दामिनी चरित्र* (जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त की एक पाण्डुलिपि में मिलती है) की कथा असम में भी प्रचलित है और पश्चिमी बिहार में भी। पद्य में इस प्रकार की कथाएँ लिखने में मुसलमान लेखकों ने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। यदि उसका नाम स्वरूप का विकृत रूप नहीं है, तो खुद सारुफ़ भी अवश्य मुसलमान रहा होगा। चन्द्रमुखी[3] के क़िस्से का लेखक ख़लील तो मुसलमान था ही। ये क़िस्से, जो प्राचीन समाख्यान-काव्य की शैली में सुनाए या गाए जाते थे, पूर्वोत्तर बंगाल में अभी हाल तक लोकप्रिय रहे हैं। इस प्रकार की रचनाओं में सर्वोत्तम और सबसे कम मिलावट वाले उदाहरणों में से ख़लील का काव्य एक है।

ऐतिहासिक काव्यों में सबसे प्रसिद्ध (यद्यपि साहित्यिक कृति के रूप में हल्का) गंगाराम (दत्ता ?) का *महाराष्ट्र पुराण* है। यह नाम आडम्बरपूर्ण है परन्तु कृति दो सौ से भी कम पंक्तियों का एक लघु काव्य है। इसमें पश्चिमी बंगाल पर मराठा सरदार भास्कर पंडित के एक भयंकर धावे का वर्णन है, जिसका अन्त उसकी हत्या में हुआ। लेखक समसामयिक, बल्कि सम्भवतः घटना का साक्षी था। ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में गंगाराम के काव्य का विशेष मूल्य है।

ऐतिहासिक विषयों पर अन्य सभी पद्यों की रचना इस शताब्दी के अन्त में और अगली शताब्दी के आरम्भ में हुई। इनमें से अधिकांश स्थानीय घटनाओं और सामयिक विषयों पर रचित लघु वीरकाव्य हैं और समुचित रूप से लोक-काव्य के

1. एक तांत्रिक आख्यान-प्रबन्ध, जो पार्वती के पति शिव के कथन के रूप में रचित है।
2. 'मंगल पद्धति' की छोटी कविताएँ।
3. सिलहट नागरी वर्णों में प्रकाशित (1877)

अन्तर्गत आते हैं। परम्पराविरोधी और विषम पद्य-रचना के उदाहरण के रूप में इनमें से कुछ काव्य दिलचस्प हैं। उदाहरण के लिए, राधामोहन के 'सड़क का गीत' में पश्चिम की ओर सलकिया से चन्दनगढ़ तक ट्रंक रोड के निर्माण में वारन हेस्टिंग्ज़ ने जो मज़दूर ज़बरदस्ती इकट्ठे किए थे, उनकी कारुणिक स्थिति का चित्र अत्यन्त सचाई से अंकित किया गया है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :

> "खेतों में ही हल छोड़कर सारे किसान भाग खड़े हुए, क्योंकि सैकड़ों लोग बेगार पकड़ने के लिए आ पहुँचे थे, उसी प्रकार—जैसे चैत के महीने में लोगों को ज़बरन पकड़कर भक्त बनानेवाले आते हैं। जहाँ भी जो मिलता है उसी को धर-पकड़कर, मार-पीटकर ये सड़क के काम में झोंक देते हैं। इनके हाथों में बेंत की छड़ी होती है जिसे वे सबकी पीठ पर तड़ातड़ बरसाते हैं। बेंत के भय से मज़दूर चारों ओर भाग निकलते हैं। (अधिकारी) मज़दूरों को खाने-पीने भी नहीं देते। शाम को ही छुट्टी मिलती है जब पीठ पर कुदाल और हाथों में टोकरे लिये दल-के-दल मज़दूर रसद लेने चलते हैं। (रसद बँटने के स्थान पर) ये बेहद शोर-गुल करते हैं; क्षुधा की ज्वाला से विकल होकर ज़ोर से हरि का नाम लेते हैं। सुनकर बख़्शी (राशन-क्लर्क) दौड़ा आता है और उसके साथ ही राशन लेकर उसका सहायक, जो रसद बाँटता है। रसद देखकर सब बेलदार पंक्तिबद्ध होकर बैठ जाते हैं। नापकर रसद बँटती है और इसे पाकर वे मुरमुरे चबाते हुए जल्दी-जल्दी चल देते हैं और झटपट घाट पर जाकर जल पीते हैं और कहते हैं 'आह! प्राण बचे!' फिर गुड़ी-मुड़ी होकर धूल में ही सो जाते हैं।"

उत्तरी बंगाल के एक अन्य समसामयिक ग्रामीण लेखक द्वारा रचित वीर-गीत उल्लेखनीय हैं। रंगपुर में एक स्थानीय ज़मींदार ने ज़िले के ब्रिटिश कलक्टर श्री गुडलैंड की सिफ़ारिश पर एक व्यक्ति को अपना दीवाना नियुक्त किया, जिसे किसान पसन्द नहीं करते थे; वे उसके बजाय किन्हीं रामबल्लभ राय को चाहते थे। किसानों ने संगठित रूप में कलक्टर के पास जाकर इस नियुक्ति को रद्द करने की माँग की। कलक्टर उलझन में पड़ गया। उसने अपने दफ़्तर के अधीक्षक से सलाह माँगी, जिसने उचित सलाह दी। लेखक कृष्णहरि दास के शब्दों में :

> दीवान ने उत्तर दिया : किसान कुछ भी कर सकते हैं; वे किसी आदमी को आकाश की ऊँचाई तक उठा सकते हैं और किसी को पटककर मार भी सकते हैं। भूमि की सम्पत्ति का श्रेय किसानों को होता है : आप तमाम लोगों को जो सोने के कंगन पहने देख रहे हैं, इनका मूल्य किसानों की कौड़ियों से चुकाया जाता है।

कलक्टर ने अपनी सिफ़ारिशें वापस ले लीं और किसानों के मनोनीत रामबल्लभ राय को जागीर का मैनेजर नियुक्त कर दिया।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते वैष्णव-काव्य का तेज़ी से पतन हो रहा था। फिर भी यह काव्य का सर्वाधिक ग्राह्य रूप बना रहा, क्योंकि इसका संगीत अब भी प्रभावशाली था और उसकी सम्भावनाएँ पूरी तरह चुक नहीं गयी थीं। परन्तु अगली शताब्दी में ये भी कीर्तन-काव्य में आने वाले गतिरोध को टाल नहीं सकीं। वैष्णव-काव्य की सीमित विषय-वस्तु क्षीण होती जा रही थी, और परिणामस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के अन्त के लोक-प्रचलित गीत-काव्य (बल्कि पदों) का राधा और कृष्ण की प्रेम-कथा से बहुत कम सम्बन्ध रह गया था। यह सच है कि कृष्ण और राधा के नाम इस प्रकार के बहुत-से पदों में अनुपस्थित नहीं हैं, परन्तु ये नाम मानव-प्रेमियों के उपनाम हैं। अपने रूप में नये प्रगीत (पद) पुरानों से एकदम भिन्न हैं। पदावली बहुत-कुछ स्वच्छन्द और सरल, यद्यपि वागाडम्बरपूर्ण हो गयी है, और छन्द की पंक्तियों में प्रायः एक ही तुक होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्रगीत पदों की पंक्तियाँ बहुत कम हो गयी थीं। लघुतम में चार पंक्तियों से अधिक और बृहत्तम में आठ पंक्तियों से अधिक नहीं होती थीं। शताब्दी का कवि, भारतचन्द्र, इन नये प्रकार के पदों के मूल्य के बारे में पूरी तरह सजग था, और उसकी अत्यन्त बृहद् ग्रन्थत्रयी में इस प्रकार के पचास से अधिक पद शामिल हैं। इनमें से कुछ में उसके द्वारा लिखी गयी सर्वोत्तम पंक्तियाँ हैं।

लालचन्द और नन्दलाल सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी के सबसे प्रारम्भिक लेखक थे, जिन्होंने वैष्णव गीतियों को नये और लोक-प्रचलित रूपों में ढाला। 'कविवल्लाह'[1] में इन दोनों प्राचीनतम, कवियों के बारे में माना जाता है कि वे भाई थे। इनके अधिकतर गीत इकट्ठे लिखे गये थे, अतः उनमें दोनों के इकट्ठे हस्ताक्षर हैं। परन्तु प्रेमगीतों का सर्वोत्तम लेखक रामनिधि गुप्त था, जो निधु बाबू के नाम से अधिक प्रसिद्ध था (1742-1839)। वह संगीत की उस अर्ध-क्लासिकी शैली के प्रमुख प्रवर्त्तकों में से भी था, जो 'आखड़ाई' (शब्दार्थ, अखाड़े से सम्बद्ध) नाम 'कवि'-प्रदर्शन की संगत में रहती थी और जिसका प्रचलन कलकत्ता में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। निधु बाबू ने बाङ्ला को हिन्दुस्तानी की 'टप्पा' (अर्थात् संक्षिप्त और सुगम) विधा से परिचित कराया। उनके गीत बहुत कम चार छन्द पंक्तियों से अधिक होते हैं। रूप की कसावट ने अभिव्यक्ति में भी संक्षिप्तता अनिवार्य कर दी, जिससे उनकी प्रभावात्मकता में बहुत वृद्धि हुई। जैसे :

> "देखो, वह बार-बार मुड़कर देखता हुआ धीरे-धीरे जा रहा है। तुम मुझसे घर जाने के लिए कैसे कह सकते हो? वह मेरे हृदय में था, पर मैं अब उसे बाहर देख रही हूँ। जब वह मेरी दृष्टि से ओझल हो जाता है, तो मेरे हृदय में वापस अपना स्थान ले लेता है।"

---

1. अर्थात् 'कवि'-गीतों के लेखक या प्रदर्शक (या दोनों)

अपनी मातृभाषा के प्रति कवि का प्रेम, सम्भवतः उसके सर्वाधिक प्रसिद्ध गीत में अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से व्यक्त हुआ है :

"कितने ही देश हैं और कितनी ही भाषाएँ, पर कोई स्वदेशी भाषा से अधिक सन्तोष नहीं देती। कितनी नदियाँ और सरोवर हैं; पर चातकी[1] को उनसे क्या लाभ? उसकी प्यास तो केवल वर्षा की बूँदों से बुझ सकती है।"

निधि बाबू का समसामयिक श्रीधर पौराणिक कहानियों का पेशेवर वाचक था, अतः उपनाम के तौर पर वह 'कथक' अभिधान धारण किये था। श्रीधर के कुछ गीत किसी भी रूप में निधि बाबू के गीतों से घटकर नहीं हैं, उदाहरण के लिए निम्नलिखित गीत :

"मैं तुम्हें इसलिए प्रेम नहीं करता कि बदले में तुम मुझसे प्रेम करो। यह मेरा स्वभाव है कि मैं तुम्हारे सिवा कुछ नहीं जानता। जब मैं तुम्हारे चन्द्रमुख की मधुर मुस्कान को देखता हूँ तो आनन्द-विभोर हो उठता हूँ। इसलिए मैं तो तुम्हें देखने आया था, अपने को दिखाने नहीं।"

एक और समसायिक राम बसु (1787-1829), कवि-गीतों[2] का अत्यन्त प्रसिद्ध लेखक था। निधि बाबू और श्रीधर की तुलना में राम बसु के गीत अधिक बड़े और उबाऊ हैं। उनका कथ्य भी उतना सामान्य नहीं है। फिर भी कहीं-कहीं कुछ पंक्तियाँ हैं, जिनमें चमक है और जो प्रामाणिक हैं। जैसे :

"सखि, जब वह विदेश जा रहा था, मेरे हृदय की वेदना हृदय में ही रह गयी। मैं कुछ बोलने वाली थी, पर बोल न सकी।"

दाशरथी राय (1806-57) ने अपने कवि-जीवन का आरम्भ 'कवि मण्डली' के गीत-लेखक के रूप में किया। इस मण्डली की नेता आका बायती नाम की एक महिला थी, जो अत्यन्त प्रसिद्ध गायिका थी। कुछ समय पश्चात् उसने कवि-गीतों की रचना बन्द करके, 'पांचाली' गायकों की अपनी मण्डली की स्थापना कर ली। इस नव्य 'पांचाली' में एक ओर 'कवि'-गीतों और पुराण-वाचन का समन्वय था, और दूसरी ओर परम्परागत संगीत नाटक (यात्रा) और कीर्तन का। दाशरथी की रचनाओं का कथ्य हमेशा परम्परागत नहीं होता था, यद्यपि उनमें से अधिकांश कृष्णाख्यान से ली

1. भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार 'चातक' पक्षी केवल वर्षा की गिरती बूँदों को पीता है।
2. 'कवि-गीत' प्रायः हमेशा दो प्रतिस्पर्धी मण्डलियों द्वारा गाए जाते थे और उनके साथ केवल एक छोटा 'ढोल' और मँजीरे (काँसी) बजाए जाते थे। विषय प्रायः पौराणिक होता था। पहला गायक गीत में प्रश्न रखता था और उसका प्रतियोगी उसका उत्तर देता हुआ अपना प्रश्न रख देता था। प्रश्न का उत्तर देने में असफल गायक प्रतियोगिता में पराजित हो जाता था।

गयी थीं, और कुछ राम और शिव की कथाओं से। दाशरथी ने समसामयिक घटनाओं और सामाजिक रुचि के विषयों को अपनी हल्के ढंग की 'पांचाली' रचनाओं में ग्रहण किया, जैसे विधवा-विवाह, नागर-जीवन की लम्पटता, और अंग्रेज़ी शिक्षा की हानि। दाशरथी के श्रोता मुख्यतः ग्रामीण लोग थे (परन्तु अपनी मृत्यु से बहुत पहले कलकत्ता प्रदेश में वह लोकप्रिय हो गया था) और उस भक्तिपरक भाव का, जो उसकी गम्भीर रचनाओं का प्रमुख स्वर था, उन पर अत्यधिक प्रभाव था। दाशरथी के काव्य की एक अत्यन्त आकर्षक विशेषता अनुप्रास की मधुर झंकार थी। उसने अपने गीतों के लिए अनेक ग्रामीण धुनों को अपना लिया था, जिससे उनके प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई थी। इन तीन कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के दशाब्दों में सम्पूर्ण पश्चिमी बंगाल को दाशरथी की रचनाओं ने सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन प्रदान किया है।

मध्य और पूर्वी बंगाल में दाशरथी का प्रतिद्वन्द्वी कृष्णकमल गोस्वामी था जिसकी 'पांचाली' रचनाओं का झुकाव 'यात्रा' की ओर अधिक था; किन्तु उसके गीत कीर्तन के ढंग में थे। वैष्णव कीर्तन पदों के आधुनिकीकरण और कायाकल्प के प्रयास की दृष्टि से मधु कान (1813-68) की सफलता अधिक प्रभावशाली थी। कृष्णकमल की तरह मधु कान मध्य बंगाल का निवासी था और उसका प्रशिक्षण पूर्वी बंगाल मे हुआ था। दाशरथी की तरह मधु भी अनुप्रास-प्रेमी था, परन्तु उस सीमा तक नहीं। दाशरथी के विपरीत, मधु ने अत्यन्त सरल भाषा में लिखा और उसकी रचनाएँ 'पांचाली'-खण्ड न होकर कीर्तन पर थीं। मधु ने निजी रागों का आविष्कार किया था और प्रदर्शन की एक अपनी शैली का विकास किया था, जिसमें परम्परागत कीर्तन और ग्रामीण नृत्य-गीत का सुखद समन्वय था। इसे मधु कान की 'घाप' (अर्थात् अंग-संचालन) कीर्तन-शैली कहा जाता था। इस शैली की लोकप्रियता काफ़ी बनी रही, इसका गायन प्रायः कीर्तन की केवल महिला-गायकों द्वारा किया जाता रहा।

आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी में नव्य-'पांचाली' और 'यात्रा' में मुख्य अन्तर यह था कि इनमें से पहली एक मुख्य गायक द्वारा गायी जाती थी और दूसरी कम-से-कम तीन व्यक्तियों द्वारा, जब कि दोनों में सहायक गायक और वाद्य यन्त्र बजानेवाले होते थे। सर्वाधिक लोकप्रिय विषय कृष्ण-कथाएँ होती थीं। उससे कुछ कम लोकप्रिय शिव और पार्वती की कथाएँ तथा चैतन्य की जीवन-गाथा थी। शताब्दी के मध्य तक विद्या और सुन्दर की प्रेम-कहानी पर रचित 'यात्रा' नाटकों का कलकत्ता प्रदेश में अत्यधिक प्रचलन हो गया। यात्रा-रचनाओं की प्रस्तावना प्रायः हास्यजनक तत्त्व प्रदान करती थी। कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों में हास्य-चरित्र नारद मुनि और उनके शिष्य 'बास देब' (अर्थात् व्यास देव) होते हैं। विद्या-सुन्दर नाटकों में हास्य के लिए अक्सर अत्यन्त अश्लीलता का विधान किया जाता था। 'यात्रा' नाटक का मुख्य और स्थायी लक्षण गीत होते थे। परस्पर जोड़नेवाली गद्य अथवा पद्य-पंक्तियाँ स्वयं अभिनेता-गायकों द्वारा 'तत्काल' प्रस्तुत की जाती थीं।

□

15

साहित्यिक गद्य का विकास

अठारहवीं शताब्दी के सातवें दशाब्द में बंगाल में ब्रिटिश राज्य की स्थापना ने, आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक जनता के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में कोई उल्लेखनीय हलचल पैदा नहीं की, सिवाय इसके कि क्रमशः इस प्रकार की सुरक्षा की भावना विकसित हो रही थी जिसका आधार कानूनी न्याय में आस्था थी। छापेख़ाने की शुरुआत से समसामयिक साहित्यिक धाराओं की दिशा में शीघ्र परिवर्तन निश्चित हो गया। बंगाली टाइप के नमूने तैयार करने और ढालने तथा उस किताब को छापने का श्रेय जिसमें पहली बार बाङ्ला टाइप का प्रयोग हुआ 'चार्ल्स विल्किन्सन' (बाद में सर चार्ल्स) को है। वह संस्कृत का अच्छा विद्वान् था, जिसने *भगवद्गीता* का अनुवाद किया था और 'द एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल' (1784) की स्थापना में सर विलियम जोन्स की मदद की थी। बाङ्ला टाइप का पहला प्रयोग नेथेनिअल ब्रेने हलहेद के बाङ्ला व्याकरण (अंग्रेज़ी में) हुआ। हलहेद भी अच्छा विद्वान् था और उसका बाङ्ला भाषा और साहित्य का ज्ञान गहरा और अन्तरंग था।

बाङ्ला टाइप में छपनेवाली पहली बंगाली पुस्तकें उन विधि-संहिताओं का गद्यानुवाद थीं, जिन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा ने प्रशासन के लिए अपनाया था। ये अनुवाद कम्पनी ने ब्रिटिश क्लर्कों के निरीक्षण में किये थे। जोनाथन डंकन पर 'रेगुलेशन्स फ़ार द एडमिनिस्ट्रेशन आफ़ जस्टिस इन द कोर्ट्स आफ़ दीवानी अदालत' (कलकत्ता, 1785) के अनुवाद का दायित्व था। नील बैंजामिन ऐडमन्स्टोन ने 'क्रिमिनल कोड' (कलकत्ता, 1791) के अनुवाद की देख-रेख की थी और हेनरी पिट्स फ़ोर्स्टर ने राजस्व-अधिनियमों के अनुवाद का सम्पादन किया था जो कार्नवालिस कोड (1793) कहलाते थे। इन अनुवादों में समसामयिक दस्तावेज़ी शैली का निकटता से अनुसरण किया गया किन्तु उसमें फ़ारसी-अरबी शब्दों और पदों का प्रयोग कम-से-कम किया गया था। यह कुछ अप्रत्याशित था। परन्तु बंगाली के ब्रिटिश 'लिपिकों' के मन में संस्कृत के लिए बहुत आदर था, और प्रदेश की भाषा बाङ्ला के लिए प्रबल आकर्षण। हलहेद ने बंगाल की भाषा के बारे में अपने व्याकरण की प्रस्तावना में कहा है—

"यह हर जाति और व्यवसाय के हिन्दुओं के मध्य व्यक्तिगत और पत्रगत संप्रेषण का एक-मात्र माध्यम है। उनके सारे व्यापार का अनुवाद इसी में होता

है, और हिसाब-किताब भी इसी में रखा जाता है...संक्षेप में, यदि सरकार के संचालन में, न्याय के वितरण में, राजस्व के एकत्र करने में, और व्यापार के विनिमय में, तीव्रता, पक्षपात हीनता और तत्परता की अपेक्षा है तो यह केवल उस बोली पर समुचित ध्यान देने से सिद्ध किया जा सकता है जो जन-समाज में प्रयुक्त होती है; विशेषकर इसलिए क्योंकि यह बोली अपनी सरलता, अपने समास-गुण और नियमित संरचना के कारण फ़ारसी के अलंकृत और अनुकूलित वाक्यों की अपेक्षा व्यक्तिगत और सार्वजनिक, दोनों प्रकार के कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त है।"

सेरामपुर में 1800 में विलियम कैरी (1761-1843), विलियम वार्ड और जोशुआ मार्शिमन के द्वारा बैप्टिस्ट मिशन की स्थापना बंगाल के सांस्कृतिक इतिहास में एक घटना थी। मिशनरियों ने जनता में ईसाई मत के प्रचार के लिए साहित्य का मार्ग अपनाया। यह देखकर कि बंगाल की सामान्य जनता के मन में भक्तिपरक छन्दों और पदों के प्रति प्रबल रुचि है, कैरी और उसके साथियों ने *बाइबिल* के अनुवाद पर ध्यान दिया। उन्होंने उसी वर्ष से रामपुर में *बाइबिल* के बाङ्ला और दूसरी भाषाओं के अनुवाद छापने के लिए एक प्रेस खोला। बाङ्ला में *न्यू टेस्टामेंट* का प्रकाशन 1801 में हुआ। इसका वितरण आरम्भ होने से पहले सेंट मैथ्यू के *गॉस्पल* का अनुवाद मई 1800 में नमूने के बतौर प्रकाशित हुआ। बाङ्ला *बाइबिल* (धर्म पुस्तक) 1808 में पूरी हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि बाङ्ला अनुवाद की रूपरेखा कैरी के स्थानीय सहायकों ने तैयार की थी, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम रामराम बसु का है। जैसे-जैसे कैरी के संस्कृत और बाङ्ला के ज्ञान में वृद्धि हुई उसने अपने जीवन-काल में (1833 तक) प्रकाशित परवर्ती संस्करणों में विशुद्ध बाङ्ला शब्दों के स्थान पर कोशगत संस्कृत शब्द रख दिए, और वह हमेशा अपने द्वारा नियुक्त बंगाली विद्वानों से और अधिक संस्कृतीकरण के सम्बन्ध में परामर्श लेता रहा। जो कार्य कैरी कभी सिद्ध नहीं कर सका—*न्यू टेस्टामेंट* का बाङ्ला में पठनीय अनुवाद—उसे कुछ वर्ष बाद विलियम येट्स ने किया। वह लन्दन में 1839 में रोमन अक्षरों में छपा था।

वैष्णव जीवन-चरित के अनुकरण पर सेरामपुर के मिशनरियों ने *न्यू टेस्टामेंट* को बाङ्ला छन्द में रूपान्तरित कराया परन्तु यह ईसाई काव्य न तो छपी हुई पुस्तक के रूप में और न प्राचीन पाण्डुलिपि के रूप में ग्राह्य हुआ। साहित्यिक मार्ग एक बन्द गली सिद्ध हुआ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नये भरती किये गये ब्रिटिश 'लिपिकों' को भारतीय भाषाएँ सिखाने के उद्देश्य से मई 1800 में फ़ोर्ट विलियम कालिज की स्थापना हुई। कैरी को बाङ्ला (और बाद में संस्कृत के भी) विभाग का कार्य-भार सौंप दिया गया। उसने सहायक शिक्षकों के रूप में पण्डितों और मुंशियों को नियुक्त किया, जिनमें से

कुछ उसके अपने शिक्षक रहे थे, और *बाइबिल* के अनुवाद में उन्होंने उसकी सहायता की थी। सेरामपुर मिशन प्रेस ने कृत्तिवास की *रामायण* (1802-3), और काशीराम के *महाभारत* का पहला खण्ड (1802-4) प्रकाशित किया गया।[1] ये फ़ोर्ट विलियम कालिज के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए मुद्रित होने वाले पहले बाङ्ला काव्य थे।

क्योंकि कविता के पाठ्य ग्रन्थ बोल-चाल की भाषा का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने के लिए उपयुक्त नहीं थे, अतः कालिज में बाङ्ला का प्रोफ़ेसर होने के नाते कैरी का पहला काम था, ललित गद्य में पाठ्य सामग्री तैयार करना। उसके आदेश पर उसके सहायक कालिज[2] के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए गद्य-ग्रन्थ तैयार करने में लग गये। इन लेखकों में सर्वोत्तम थे रामराम बसु (मृ. 1813) और मृत्युंजय विद्यालंकार (मृ. 1819); जिनकी कृतियाँ क्रमशः समसामयिक बाङ्ला गद्य की 'मुंशी' और 'पण्डित' शैलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

रामराम बसु की दो गद्य कृतियाँ (1801, 1802) प्रकाशित हुई थीं पहली पुस्तक *प्रतापादित्य-चरित* में लेखक ने जैसोर के प्रतापादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित कहानियों का भी उपयोग किया और मुग़ल दरबार के फ़ारसी इतिहासों में उससे सम्बद्ध चर्चाओं का भी। शैली सरल और पूर्णतः समाख्यानात्मक है। दूसरी कृति *लिपिमाला* वस्तुतः निबन्धों और लघु आख्यानों की पुस्तक है जो पत्रों के रूप में लिखी गयी है। यहाँ शैली अपेक्षाकृत सरल और कुछ-कुछ बोल-चाल की है। जैसा कि लेखक ने प्रस्तावना में कहा है *लिपिमाला* कम्पनी के अफ़सरों को बाङ्ला की बोल-चाल की शैली अर्जित करने, और साथ ही लोगों के सामान्य कार-बार को समझने में मदद करने के इरादे से लिखी गयी थी।

मृत्युंजय विद्यालंकार की कृतियाँ मुख्यतः संस्कृत के रूपान्तर और अनुवाद हैं। *बत्रिश सिंहासन* (1802) और *हितोपदेश* (1808) क्रमशः संस्कृत कथा-पुस्तकों *द्वात्रिंशत-पुत्तलिका* (सिंहासन बत्तीसी) और *हितोपदेश* का अनुवाद हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ पाठकों के लिए बाङ्ला काव्य या लड़खड़ाते गद्य के माध्यम से भी पहले से अपरिचित नहीं थीं। उनकी *राजावलि*, जो 1808 में प्रकाशित हुई, इसी शीर्षक की एक समसामयिक संस्कृत रचना का रूपान्तर प्रतीत होती है, जो मुग़ल इतिहासकारों की कृतियों पर आधारित है। यह किसी देशभाषा में लिखा गया भारत का एक प्रकार से पहला इतिहास है। मृत्युंजय की सबसे प्रसिद्ध कृति *प्रबोध चन्द्रिका* का प्रकाशन

---

1. पूरे ग्रन्थ का सम्पादन जयगोपाल तर्कालंकार ने किया था, जो 1836 में सेरामपुर से प्रकाशित हुआ। काव्य के प्रचलित पाठ में मिलनेवाली कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ पंक्तियाँ तर्कालंकार के संशोधन के माध्यम से आयी हैं। वह काव्य का अच्छा लेखक था और बाद में गवर्नमेंट संस्कृत कालिज कलकत्ता में संस्कृत का अत्यन्त प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर हुआ।
2. ये सब पुस्तकें सेरामपुर मिशन प्रेस में छपी थीं।

उनकी मृत्यु के बाद 1833 में हुआ। इसमें अनुवाद और मूल रचना दोनों ही हैं, और इसमें पाण्डित्यपूर्ण और बोल-चाल की दोनों गद्य-शैलियाँ हैं। बोल-चाल की शैली में प्रस्तुत प्रचलित कथाएँ मनोरंजक हैं। यह सम्भव है कि *प्रबोध चन्द्रिका* को मृत्युंजय ने अधूरा छोड़ दिया हो और उसे उसके पुत्र रामजय तर्कालंकार (मृ. 1857) ने पूरा किया, जिसने फ़ोर्ट विलियम कालिज में शिक्षक के रूप में अपने पिता का स्थान ग्रहण किया था। पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में *प्रबोधचन्द्रोदय* का प्रचलन आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा, पहले फ़ोर्ट विलियम कालिज में, फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय में। मृत्युंजय की दूसरी बाङ्ला गद्य-कृति *वेदान्तचन्द्रिका* (कलकत्ता, 1817), का न तो कैरी से और न फ़ोर्ट विलियम कालिज से कोई सम्बन्ध है (यद्यपि उन्होंने उसका समर्थन किया, किन्तु खुलकर नहीं)। इसकी रचना राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित वेदान्तवाद और एकेश्वरवादी पूजा के विरोध में की गयी थी। इस विषय में जिन यूरोपीय पाठकों की रुचि थी, उनके लिए एक अंग्रेज़ी अनुवाद संलग्न कर दिया गया था। भाषा किसी दृष्टि से बेहतर नहीं है, और राममोहन राय के विरुद्ध परोक्ष भर्त्सना ने मृत्युंजय की चुनौती के प्रभाव,को कम कर दिया है।

गद्य-लेखक के रूप में मृत्युंजय नीरस और पण्डिताऊ हैं और कहीं-कहीं रामराम बसु की तुलना में कम बोधगम्य हैं। उस बहुत कुछ के बावजूद, जो आज अश्लील दिखाई पड़ता है, *प्रबोधचन्द्रिका* में बिखरे बोल-चाल की भाषा के उदाहरण अच्छे हैं। यह दावा कि फ़ोर्ट विलियम कालिज का यह पंडित बाङ्ला के साहित्यिक गद्य का जनक था, बेतुका है; पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसने काफ़ी अच्छा लिखा था, और व्यापक एवं विविधतापूर्ण विषयों पर लिखा था।

फ़ोर्ट विलियम कालिज कें बाङ्ला के अन्य अध्यापकों में राजीवलोचन मुखर्जी का उल्लेख-भर करके नहीं छोड़ा जा सकता। उनकी कृति *महाराज कृष्णचन्द्र रायस्य चरितम्* (महाराज कृष्णचन्द्र राय का जीवन चरित) सेरामपुर में 1805 में छपी थी। इसमें प्रतापादित्य पर रचित रामराम बसु की कृति के आदर्श का अनुसरण किया गया है। राजीवलोचन मुखर्जी की पदावली में एक निश्चित सुधार दिखाई पड़ता है। वाक्य छोटे और सरल हैं। पाठ्य पुस्तक के रूप में यह बहुत समय तक लोकप्रिय रही, *प्रबोध चन्द्रिका* से भी अधिक समय तक।

राममोहन राय (1774-1833), जो अनेक रूपों में उस नये युग के अग्रदूत थे, जिसका उदय भारत में हो रहा था, पाठ्य ग्रन्थों के बाहर बाङ्ला गद्य के पहले लेखक थे। यह गद्य उनके दो वेदान्त-प्रबन्धों (1815) के और उपनिषदों के अनुवाद में मिलता है और उनकी विवादात्मक पुस्तिकाओं में भी, जो सामाजिक और धार्मिक सुधारों के समर्थन में लिखी गयी थीं (1818-23)। हिन्दू धर्म पर सेरामपुर के मिशनरियों के आक्रमण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए राममोहन राय ने बाङ्ला, अंग्रेज़ी और फ़ारसी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया (1821-22)। उनकी लेखनी

पद्य से भी अपरिचित नहीं थी। उन्होंने *भगवद्गीता* का बाङ्ला छन्दों[1] में अनुवाद किया और कुछ भक्तिपरक पदों की भी रचना की। धार्मिक सुधार पर उनकी सबसे पहली पुस्तक *तुहफ़ातुल मुवाहहिद्दीन* अत्यन्त उत्कृष्ट फ़ारसी में लिखी गयी थी (1815 से पूर्व प्रकाशित)। अपनी मातृभाषा पर राममोहन राय का अधिकार अंग्रेज़ी में लिखित उनके *बाङ्ला व्याकरण* (1826) में दिखाई पड़ता है, जिसका उन्होंने बाद में बाङ्ला में अनुवाद किया (1833 में उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद प्रकाशित)। यह अपने समय तक लिखा गया सर्वोत्तम बाङ्ला व्याकरण है और कुछ दृष्टियों से अब तक इससे बेहतर रचना नहीं हुई।

राममोहन राय पण्डित-शैली का गद्य लिखते थे, पर उनकी लेखनी कभी पण्डिताऊ, बनावटी या दुरूह नहीं होती थी। कारण ढूँढ़ना कठिन नहीं है। मृत्युंजय विद्यालंकार की तरह वे केवल संस्कृत के विद्वान् नहीं थे, और न ही रामराम बसु की तरह विशुद्ध फ़ारसी के विद्वान्। संस्कृत और फ़ारसी के अतिरिक्त वे अंग्रेज़ी और थोड़ी-बहुत अरबी भी जानते थे। यह बहुभाषिक योग्यता एक ओर जटिल और अलंकृत पदावली के सम्मोहक प्रभाव से और दूसरी ओर कोशगत शब्दों की दुःस्वप्न सरीखी ग्रस्तता से मुक्ति में सहायक हुई है। राममोहन राय की बाङ्ला में किसी प्रकार की साहित्यिक सज-धज नहीं है और वह सरल, सीधी और प्रभावशाली है। यह निस्सन्देह कुछ दूर तक प्राचीन थी; किन्तु फिर भी सहजता और सुस्पष्टता में इसने जो सिद्धि की, वह उसके ज्ञानवान समसामयिकों द्वारा शायद ही सिद्ध की जा सकी।

सेरामपुर से प्रकाशित होनेवाली महँगी और रुक्षतापूर्वक लिखी गली पाठ्य पुस्तकें जो कभी सिद्ध न कर सकीं, और राममोहन राय के ब्रह्मविज्ञान-सम्बन्धी प्रबन्ध भी, जिसकी आकांक्षा न कर सके वह सेरामपुर के मिशनरियों द्वारा मई 1818 में[2] प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'समाचार दर्पण' ने कर दिखाया। राममोहन राय और कलकत्ता में अन्य लोगों ने यहीं से संकेत ग्रहण किया और परिणामस्वरूप देश भाषा प्रेस कलकत्ता से अल्पजीवी पत्रिकाओं की लगभग एक बाढ़-सी आ गयी। 'समाचार दर्पण' और उसके कलकतिया समकालीनों ने सामान्य जन का, ऐसे जन का जो केवल बाङ्ला जानता था, सामयिक रुचि की घटनाओं और विषयों से केवल मनोरंजन ही नहीं किया बल्कि उसे उपयोगी जानकारी और उपदेशात्मक कहानियों के माध्यम से

---

1. यह पुस्तक उनके एक मैनेजर के नाम से छपी थी।
2. जे. मार्शमैन इसका सम्पादक था और उसके सहायक पण्डित लोग थे। गंगाधर भट्टाचार्य का 'बंगाल गजट' कलकत्ता से लगभग समानान्तर प्रकाशित हुआ। लेकिन यह प्रयास अल्पजीवी हुआ। 'समाचार दर्पण' से पहले सेरामपुर से ही 'दिग्दर्शन' (अप्रैल, 1818) निकल चुका था। यह विविध सूचनाधर्मी और शिक्षाधर्मी विषयों पर लेखों की पत्रिका थी। स्कूलों में 'दिग्दर्शन' की प्रतियाँ पाठ्य-पुस्तकों के रूप में प्रयुक्त की जाती थीं।

शिक्षा भी दी। संस्कृत ज्ञान से मुक्त और पण्डिताऊ अबोधगम्यता से रहित इन पत्रिकाओं के गद्य की पदावली इन्हें पढ़ने वाली जनता को अग्राह्य न थी। इसी प्रकार की पत्रिकाओं के माध्यम से शिक्षितों के बीच साहित्यिक गद्य का पहले-पहल प्रचलन हुआ।

सेरामपुर प्रेस से प्रकाशित पाठ्य पुस्तकें महँगी, भारी-भरकम और पढ़ने में रुक्ष थीं। सरल, छोटी और सस्ती पाठ्य पुस्तकें सुलभ कराने के उद्देश्य से कलकत्ता में 1817 में स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना हुई। इसके सदस्यों में कैरी और राजा राधाकान्त देव (1783-1867) थे। सोसाइटी द्वारा प्रकाशित विभिन्न पाठ्य पुस्तकों का अच्छा स्वागत हुआ। लेखकों में फ़ेलिक्स कैरी, जे. लाओसन, डब्ल्यू. एच. पीअर्स, जे. डी. पियर्सन और डब्ल्यू. येट्स-जैसे ब्रिटिश लोग भी थे। अधिकांश पाठ्य पुस्तकें और वैज्ञानिक प्रबन्ध अंग्रेज़ी के अनुवाद थे, जिनकी सद्यःप्रतिष्ठित हिन्दू कालिज (1817), और सेरामपुर कालिज (1818) और उन स्कूलों में आवश्यकता थी, जो कलकत्ता और उसके बाहर स्थापित किये गये थे। इन पाठ्य पुस्तकों में इतिहास सबसे अधिक गृहीत विषय था।

विलियम कैरी के सबसे बड़े पुत्र फ़ैलिक्स कैरी (मृ. 1822) ने बाङ्ला में एक विश्वकोश-जैसा कार्य आरम्भ किया। उन्होंने शरीर और शरीर-रचना विज्ञान पर पाठ्य पुस्तक के रूप में उसका पहला खण्ड प्रकाशित किया (1819)। लेखक की असामयिक मृत्यु से इस योजना की पूर्ति में रुकावट आ गयी। वर्षों बाद के. एम. बनर्जी (1813-85) ने, जो हिन्दू कालिज के विद्यार्थी थे और जिन्होंने ईसाई मत ग्रहण कर लिया था, इस प्रकार का एक विश्वकोश तैयार किया—*विद्याकल्पद्रुम या एनसाइक्लोपीडिया बेंगालेनसिस* (जिसका अंग्रेज़ी-बाङ्ला द्विभाषी संस्करण भी प्रकाशित हुआ)। इसके तरह खण्ड थे (1846-51) जिनमें ऐतिहासिक प्रबन्ध, ज्यामिति, भूगोल, नीति-उपदेश-सम्बन्धी निबन्ध और क़िस्से सभी थे। इनके साथ फ़ोर्ट विलियम कालिज गुट के कुछ लेखकों की तुलना में स्पष्ट सुधार दिखाई पड़ा, पर उनका धर्म परिवर्तित कर ईसाई होना उनके गुणों पर आधारित लोकप्रियता के विरुद्ध पड़ा। आगे चलकर जब विद्वान और वक्ता के रूप में बनर्जी की कीर्ति स्थापित हो गयी, तो उनकी कृतियों के प्रति यह पूर्वाग्रह क्षीण हो गया और भारतीय षट्दर्शन पर उनका प्रबन्ध (1867) विश्वविद्यालय परीक्षाओं के लिए लम्बे समय तक पाठ्य ग्रन्थ बना रहा।

बनर्जी पहले भारतीय थे जिन्होंने पश्चिमी पद्धति पर नाटक लिखा। *द पर्सिक्यूटेड* (1832) अंग्रेज़ी में लिखा गया था, लेकिन इस नाटक की विषय-वस्तु उसकी निजी समस्या थी, जो अंग्रेज़ी शिक्षा पानेवाले युवकों के सामने प्रखर रूप में प्रस्तुत थी। यह समस्या थी—रूढ़िग्रस्त समाज की निर्विकार परम्परावादिता के साथ अंग्रेज़ी शिक्षा पाने वाले आधुनिक मानस का बढ़ता हुआ और आपाततः परस्पर-विरोधी

टकराव। यदि यह नाटक बाङ्ला में लिखा गया होता तो नव बाङ्ला साहित्य का आविर्भाव लगभग एक चौथाई शताब्दी तक विलम्बित न होता।

1851 में सरकार के शिक्षा विभाग ने स्कूल बुक सोसाइटी के पूरक के रूप में वर्नाकुलर लिटरेचर कमेटी का प्रवर्त्तन किया। इस समिति (बाद में इसका पुनर्नामकरण सोसाइटी किया गया) का एकमात्र कार्यक्रम था, शिक्षाप्रद और मनोरंजक पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा बाङ्ला में स्वस्थ घरेलू साहित्य का पोषण करना। ये पुस्तकें मौलिक होती थीं या अंग्रेज़ी और संस्कृत से रूपान्तरित होती थीं। इनकी यह शैली सरल होती थी और मूल्य बहुत कम रखा जाता था। समिति का पहला और सबसे अधिक सफल साहसपूर्ण कार्य था *विविधार्थसंग्रह* (विभिन्न विषयों का संग्रह) का प्रकाशन (1851 से)। यह एक अत्यन्त सस्ती सचित्र मासिक पत्रिका थी, जिसके सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र (मृ. 1891) थे। वे प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता, बहुमुखी विद्वान् और अपने समय की मानी हुई हस्ती थे। संयोगवश, इस पत्रिका ने उस नये साहित्यिक आन्दोलन के लिए बहुत-कुछ किया था, जो जल्दी ही प्रारम्भ हो गया। राजेन्द्रलाल बाङ्ला के अच्छे लेखक थे और उनका मूल्य-बोध अच्छा था। जिस नयी काव्य-धारा का आरम्भ रंगलाल बनर्जी ने और स्थापना माइकेल मधुसूदनदत्त ने की थी, उसकी कुछ अग्रणी रचनाएँ पहले-पहल *विविधार्थसंग्रह* में ही प्रकाशित हुई थीं। इसके सूचनाधर्मी लेखों के शिक्षापरक मूल्य का अधिमूल्यांकन नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने आनन्दप्रद ज्ञान का पहला प्याला राजेन्द्रलाल की इस 'टेके' की पत्रिका से ही पिया था। बाङ्ला भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बद्ध आरम्भिक गम्भीर प्रयास इसी पत्रिका के पृष्ठों में सामने आये थे। राजेन्द्रलाल स्वयं इसके मुख्य लेखक थे। वर्नाकुलर लिटरेचर कमेटी के प्रकाशन, विशेषकर जीवनीपरक आख्यान और कथा-पुस्तकें, किसी कारण उतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकीं जितनी कि वे निश्चित रूप से अधिकारी थीं। इस पुस्तकमाला में जॉन रॉबिन्सन का *रॉबिन्सन क्रूसो* का अनुवाद (1852), डॉ. एडवर्ड रोअर का *लैम्ब्स टेल्स फ्रॉम शेक्सपीयर* का अनुवाद (1853), आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश का *कथासरित्सागर* का रूपान्तर, तीन खण्डों में मधुसूदन मुखर्जी की गृहस्थ कथा *सुशीलार उपाख्यान* (1859-65) आदि शामिल हैं। सोसायटी के बन्द होने से पहले प्रकाशित होनेवाली अन्तिम पुस्तक मधुसूदन मुखर्जी-कृत *फ़िलोफ़स फेबल्स* का रूपान्तर (1870) था। कमेटी के प्रकाशनों के पीछे एक आशय उन ईसाई क़िस्सों और पुस्तिकाओं के प्रवाह को रोकना भी था जो प्रचुर संख्या में छप रहे थे।

शताब्दी के दूसरे दशाब्द के मध्य में राममोहन राय ने जो प्रयास किया था, उसकी सफल पुनरावृत्ति शताब्दी के पाँचवें दशाब्द के आरम्भ में देवेन्द्रनाथ ठाकुर और उनके सहयोगियों ने की : अर्थात् साहित्यिक गद्य को पाठ्य पुस्तक लेखन की बन्द गली से बचा लाया गया। राममोहन राय के बाद ब्राह्म-समाज के प्रमुख नेता देवेन्द्रनाथ

ने, जिन्हें शिक्षित जनता 'महर्षि' कहती थी, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' नाम से एक मासिक पत्रिका का आरम्भ किया, जो ब्राह्म-सभा (बाद में समाज) और उसकी शिक्षा-शाखा तत्त्वबोधिनी सभा (1839 में स्थापित) का मुखपत्र थी। देवेन्द्रनाथ एक अत्यन्त कुशल गद्य-लेखक थे, ऐसा ब्राह्म-समाज को उनके उपदेशों से सिद्ध होता है। उनकी पत्रात्मक शैली और भी बेहतर थी, और यह शैली उनके सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्र द्विजेन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ ने विरासत में पायी थी। बाङ्ला वे दोनों गद्य और पद्य के दो अत्यन्त मौलिक शैलीकार थे। ठाकुर परिवार के एक प्रिय मित्र, राजनारायण बसु, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के विशिष्ट लेखकों में से थे।

पहले बारह वर्ष पत्रिका का सम्पादन अक्षयकुमार दत्त (1820-86) ने किया। वे अपने सूचनाधर्मी लेख मुख्यतः पत्रिका के लिए लिखते थे। ये लेख (जो अधिकतर अंग्रेज़ी से रूपान्तरित होते थे) बाद में पुस्तकाकार संगृहीत हुए। ये पुस्तकें तत्काल हाई स्कूल और कालिज की शिक्षा में पाठ्य-पुस्तकों के रूप में स्वीकार कर ली गयीं और पीढ़ियों तक इस रूप में बनी रहीं। दत्त के नैतिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रबन्धों का भी अच्छा स्वागत हुआ। वे विज्ञान के अध्ययन को एक विषय बनानेवाले पहले भारतीयों में से थे। उनकी रचना *भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय* (भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय) दो खण्डों में प्रकाशित हुई (1870 और 1883)। यह रचना एच. एच. विल्सन की *स्कैच आन द रिलीजस सेक्ट्स आफ़ हिन्दूज़* (पहले 'एशियाटिक रिसर्चेज़' खंड 16 और 17 में प्रकाशित) का परिवर्धन और संशोधन है और यह स्थायी मूल्य के शोध-कार्य का कीर्तिस्तम्भ है। दत्त का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था, और उसकी सुगठित और समस्त गद्य-शैली उसके मानसिक झुकाव के सर्वथा अनुकूल है। उसकी शैली में कहीं साहित्यिक चमक-दमक का आडम्बर नहीं है, परन्तु उसने उस कमी को पूरा किया है, जिसकी अत्यधिक आवश्यकता थी यानी पदावली में सुसंगति और अभिव्यक्ति में सुस्पष्टता।

दत्त की शैली में जो कमी थी, उसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-91) ने पूरा किया। वे 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में अक्षयकुमार दत्त के सहायक थे। विद्यासागर के हाथ में आकर बंगाली साहित्यिक गद्य ने सुस्पष्टता और अभिव्यंजकता की दृष्टि से समझौता किये बिना, सन्तुलन और लयात्मकता की सिद्धि की। वे बाङ्ला के पहले गद्य-लेखक थे, जिन्हें सही शब्द की सही पहचान थी, और इसी कारण उनके द्वारा प्रयुक्त लम्बे कोशगत शब्द भी अजनबी और बेतुके महसूस नहीं होते। विद्यासागर की सघन शैली की गुंजायमानता में एक ऐसा सूक्ष्म सम्मोहन है, जो उनके अनुकर्ताओं और अनुयायियों में से कम लोग सिद्ध कर सके और जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त कोई और मात नहीं दे सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य और अन्त के दशाब्दों में विद्यासागर अत्यन्त विशिष्ट व्यक्तित्व थे। उनका संस्कृत का गहरा ज्ञान, उनकी प्रखर आलोचनात्मक

विदग्धता, जीवन के प्रति उनका सीधा और स्वस्थ आधुनिक दृष्टिकोण, उनकी निष्ठा और चारित्रिक शक्ति और उनकी अदम्य संघर्षशील चेतना, जो कभी पाप और अन्याय से समझौता नहीं करती थी—इन सब गुणों ने उन्हें सबके लिए आदरणीय बना दिया था। वे अपने सार्वजनिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों में हमेशा सच्चे सिद्ध होते थे। वे एक सीधे-सरल ब्राह्मण पण्डित का जीवन जीते थे, परन्तु आत्मा से वे समाज-सुधार के सर्वाधिक मुखर समर्थकों से कहीं आगे थे। वे अकेले सार्वजनिक व्यक्ति थे, जो अपने धार्मिक विचारों को एकदम व्यक्तिगत स्तर पर रखते थे। मानवीय गुणों में भी, उनके बहुत कम देशवासी उन्हें पीछे छोड़ सके।

विद्यासागर की कुछ आरम्भिक पुस्तकें फ़ोर्ट विलियम कालिज के लिए पाठ्य पुस्तकों के रूप में लिखी गयी थीं। पहली कृष्ण की पौराणिक कथा को विषय बनाकर लिखी गयी थी। यह एक हिन्दी-गद्य-रचना *प्रेमसागर* पर आधारित थी, जिसकी रचना कालिज के आरम्भिक दिनों में पाठ्य पुस्तक के रूप में हुई थी। पर वह कभी प्रकाशित नहीं हुई। 1847 में प्रकाशित उनकी दूसरी पुस्तक *बेतालपंचविंशति* (बेताल की पच्चीस कहानियाँ), पूर्णतः संस्कृत मूल पर आधारित नहीं थी बल्कि आंशिक रूप से उसके हिन्दी अनुवाद का रूपान्तर थी। विद्यासागर का बेताल क़िस्सों का प्रकाशन बाङ्ला गद्य के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना है। इसके बाद प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में पाँच अंग्रेज़ी से रूपान्तरित हैं और दो संस्कृत से। अन्तिम दो, *शकुन्तला* (1854), और *सीतार वनवास* (1860) और इसके साथ ही *भ्रान्तिविलास* (शेक्सपीयर की कामेडी आफ़ ऐरर्स की कथा का रूपान्तर; 1869) में विद्यासागर की शैली अपने सर्वोत्तम रूप में दिखाई पड़ती है। बाङ्ला में उनकी पाठ्य पुस्तकों की व्याप्ति बाङ्ला अक्षरों पर *वर्णपरिचय* की दो पुस्तकों से लेकर लौकिक संस्कृत की प्रारम्भिक और उच्चतर व्याकरण की पुस्तकों तक है। ये पुस्तकें (*उपक्रमणिका* और *व्याकरण कौमुदी*) किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में अब तक लिखी गयी ऐसी पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने संस्कृत की पाठ्य पुस्तकों की एक ग्रन्थमाला का संग्रह किया, जिसका प्रयोग बंगाल में और बंगाल के बाहर पाठ्य ग्रन्थों की तरह किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कालिदास की दो सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के आलोचनात्मक संस्करण निकाले और संस्कृत में कुछ अन्य ग्रन्थ थी। विद्यासागर का उच्चकोटि का आलोचनात्मक वैदग्ध्य लौकिक संस्कृत साहित्य के उनके संक्षिप्त सर्वेक्षण (संस्कृत साहित्य विषयक प्रस्ताव, 1851) में उद्घाटित हुआ है और उससे भी कहीं अधिक उनके *मेघदूत* के संस्करण (1868) की भूमिका और व्याख्यात्मक टिप्पणियों में। विद्यासागर ने *महाभारत* का एक गद्यानुवाद आरम्भ किया, जो 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हुआ। पहला पर्व पूरा हो जाने पर उन्होंने यह कार्य कालीप्रसन्न सिंह को सौंप दिया, जिनके पास इस महाकाव्य के अनुवाद का दायित्व

उठाने, उसका प्रकाशन और निःशुल्क वितरण करने (1859-1866) के कहीं बेहतर साधन थे। विद्यासागर ने कालीप्रसन्न सिंह द्वारा उठाए गये इस कार्य का पर्यवेक्षण किया।

विद्यासागर के बड़े बाङ्ला ग्रन्थ विधवा-विवाह के समर्थन (दो खण्डों में; 1855) में और बहुविवाह के विरोध (ये भी दो खण्डों में, 1871, 1873) में रचित विवादात्मक प्रबन्ध हैं। पहली कृति 1856 में विधवा-विवाह अधिनियम के पारित करने में बहुत दूर तक सहायक हुई। किसी अज्ञातनामा लेखक द्वारा रचित उन दो व्यंग्यात्मक रेखाचित्रों का श्रेय सार्वजनिक रूप से विद्यासागर को दिया जाता है, जिनमें कुछ ऐसे प्रमुख पण्डितों की व्यक्तिगत नैतिकता का विरोध किया गया है, जो बहुविवाह की प्रथा को जारी रखने का समर्थन कर रहे थे। ये दोनों 1873 में प्रकाशित हुए थे। बोल-चाल की भाषा में लिखित इन व्यंग्यचित्रों की शैली तीव्र और बेहद रोचक है।

विद्यासागर पण्डितों में पण्डित थे। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालिज (1824 में स्थापित) में एक विद्यार्थी के रूप में भी उनकी विद्वत्ता की ख्याति, और कालिज के प्रिंसिपल के रूप में (1852-58) उनकी सफलता ने उन्हें अपने समय का अग्रणी पण्डित बना दिया, यद्यपि उनके कुछ सहयोगी संस्कृत-विद्या में उन्हीं की बराबरी के बड़े अधिकारी थे। बाङ्ला भाषा और साहित्य में विद्यासागर की सिद्धि निस्सन्देह एक साहसिक कार्य था। इसलिए और भी क्योंकि स्वयं पण्डित होते हुए भी उन्होंने बाङ्ला गद्य को कष्टप्रद वागाडम्बर और पण्डिताऊ दुर्बोधता से मुक्त किया जो बाङ्ला गद्य की उत्तम शैली के साथ जुड़ गयी थी। विद्यासागर की सर्वोत्तम प्रशंसा एक अज्ञातनामा पण्डित ने प्रतिनिधि रूप में भी और दुष्टतापूर्वक भी तब की, जब उसने उनकी एक रचना को सरसरी तौर पर यह कहकर तिरस्कृत कर दिया कि वह बहुत सरल है।

विद्यासागर की शैली की सरलता और सौन्दर्य ने उतना ही नहीं, जितना उनकी पाठ्य-पुस्तकों के स्वागत ने, संस्कृत कालिज के अध्यापकों और स्नातकों को इस बात के लिए प्रेरित किया, कि वे संस्कृत ग्रन्थों के उनके द्वारा किये गये बाङ्ला-गद्य के रूपान्तरों का अनुकरण करें। संस्कृत कालिज के आरम्भिक लेखकों में ताराशंकर तर्करत्न और रामगति न्यायरत्न के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। तर्करत्न ने बाण के गद्य-रोमांस *कादम्बरी* का संक्षिप्त और मुक्त अनुवाद किया। न्यायरत्न ने अनेक पुस्तकों की रचना की जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण *बाङ्ला साहित्य का इतिहास* था (1872-73) जो संस्कृत साहित्य पर विद्यासागर के प्रबन्ध को आदर्श बनाकर लिखा गया था। नीलमणि बसाक संस्कृत कालिज के गद्य लेखकों की मण्डली का एक और अत्यन्त सफल लेखक था, यद्यपि वह ब्राह्मण पण्डित नहीं था। उसका पहला साहित्यिक कार्य अंग्रेज़ी से *पर्शियन टेल्स* के छन्दोबद्ध रूपान्तर (1834) में सहयोग था। बाद में बसाक ने *अरेबियन नाइट्स* (अंग्रेज़ी से) का अनुवाद बाङ्ला गद्य में

किया, जिसका पहला खण्ड 1850 में प्रकाशित हुआ। उसकी सर्वाधिक सफल रचना थी *नवनारी* (1852) जिसमें इतिहास और पुराणों की नौ प्रख्यात भारतीय महिलाओं के जीवनीपरक रेखाचित्र थे। जैसा कि प्रस्तावना में लेखक ने स्वीकार किया है, प्रकाशन से पहले विद्यासागर ने पुस्तक का संशोधन किया था। बसाक की अन्य रचनाओं में तीन खण्डों में रचित *भारत का इतिहास* (1856-58) उल्लेखनीय है। यह एक अंग्रेज़ी मूल पर आधारित है पर भाषा से कहीं भी इसका आभास नहीं होता और इसकी पदावली सहज और सरल है।

हिन्दू कालिज के लेखक जिन्होंने अपने लेखन का प्रारम्भ 1843 में ही कर दिया था ('तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के पृष्ठों में) जल्दी ही आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, हेमचन्द्र विद्यारत्न तथा अन्य सामान्य लेखकों के माध्यम से संस्कृत कालिज के लेखक-मण्डल के प्रभाव में आ गये। किन्तु हिन्दू कालिज के आरम्भ के लोग जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, प्यारीचाँद मित्र (1814-83) तथा राजनारायण बोस (1926-1900) और कुछ बाद के लोग जैसे द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर और अन्य, इस प्रभाव के प्रति ग्रहणशील नहीं हुए। हिन्दू कालिज के लेखकों के लेखन में सामान्यतः दो शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं उच्च शैली और निम्न शैली। उच्च शैली विरल ही इतनी पांडित्यपूर्ण हो पाती थीं जितनी संस्कृत कालिज मंडल के लेखकों की, और निम्न शैली कभी भी अभद्र और अश्लील नहीं होती थी। परन्तु हिन्दू कालिज के छात्रों ने रचना की शैली में उतनी नहीं, जितनी कि दृष्टिकोण और अभिविन्यास में बाङ्ला साहित्य में नयी ज़मीन तैयार की। प्यारीचाँद मित्र और भूदेव मुखर्जी ने बाङ्ला कथा-साहित्य का बीज-वपन किया। माइकेल मधुसूदन ने बाङ्ला कविता में क्रान्ति पैदा कर दी।

□

16

पश्चिमी रंगमंच और बाङ्ला नाटक का आरम्भिक युग

अंग्रेज़ी और पश्चिमी के अन्य साहित्य में, जिसमें क्लासिकी और आधुनिक दोनों शामिल थे, गहरे डूबकर उसका रसास्वादन आरम्भ करने से बहुत पहले युवा बंगाल की आँखें पश्चिम के रंग-शिल्प पर टिक गयी थीं। पर इस बात से केवल सामयिक कलकत्ता-समाज की विकृत साहित्यिक और सांगीतिक अभिरुचि पर प्रकाश पड़ा, और उसमें एक नये फ़ैशन का प्रचलन हुआ, जो उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशाब्द तक क्षीण नहीं हुआ। गेरासिम लेबदेव नामक रूस के एक प्रतिभाशाली साहसिक यात्री ने मध्य कलकत्ता में एक अल्पजीवी 'बाङ्ला थियेटर' खोला, जिसमें उसने एक भरे हाल के सामने 27 नवम्बर 1795 को संगीत के साथ एक बाङ्ला प्रहसन प्रस्तुत किया। 21 मार्च, 1796 को यह प्रदर्शन दोहराया गया। जैसा कि लेबदेव ने अपनी *ग्रामर ऑफ़ द प्योर एण्ड मिक्स्ड ईस्ट इण्डियन लैंग्वेज़* (1801, लन्दन) के प्राक्कथन में लिखा है, यह नाटक जोडरैल के *द डिसगाइज़* (एक अन्यथा अज्ञात पुस्तक) नामक अंग्रेज़ी मूल का मुक्त रूपान्तर है, जो लेबदेव ने अपने बंगाली अध्यापक गोलोकनाथ दास के सहयोग से किया था, और जिसे जगन्नाथ तर्कपंचानन-जैसे पण्डितों का अनुमोदन प्राप्त हुआ था। इस बात को अच्छी तरह जानते हुए, कि बंगाली लोग गम्भीर नाटकों की अपेक्षा हास्यकर नाटकों को ज़्यादा पसन्द करते हैं और स्थानीय प्रदर्शन एकदम सांगीतिक और नक़ल-प्रधान होते हैं, उसने उस समय सबसे लोकप्रिय काव्य भारतचन्द्र राय के *विद्यासुन्दर* से कुछ गीतों का चयन कर उन्हें नाटक में जमा दिया और कुछ हास्यपरक विष्कम्भक भी जोड़ दिए गये थे। नाटक का प्रदर्शन केवल भारतीय अभिनेताओं ने किया था। इनमें स्त्री और पुरुष दोनों पात्र थे, जिन्हें इसी उद्देश्य से गोलोकनाथ ने भर्ती किया था।

लेबदेव के नाटक के ये दो प्रदर्शन जनता के लिए अत्यन्त मनोरंजनकारी सिद्ध हुए। उन्होंने विशेष रूप से हास्यकर अंशों और शृंगारिक गीतों को पसन्द किया। यद्यपि लेबदेव की अवधि बहुत ही सीमित रही और वे एक अन्य प्रहसन 'लव इज़ द बैस्ट डॉक्टर' के बाङ्ला रूपान्तर को, जिसे उन्होंने स्वयं तैयार किया था, रंगमच

पर प्रस्तुत नहीं कर सके; तथापि उन्होंने, भले ही अनजान में निम्न-स्तरीय समसामयिक यात्रा नाटक को नया जीवन प्रदान किया। भारतचन्द्र का *विद्यासुन्दर* कलकत्ता में एक नये प्रकार के यात्रा-नाटकों का सर्वाधिक प्रिय विषय हो गया था। निम्न वर्ग के ठेठ चरित्रों की अश्लील नक़ल से युक्त विष्कम्भक इस प्रकार के प्रदर्शनों का अभिन्न अंग हो गये थे। ऐसे निम्न जात्रा-नाटकों का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा और इस प्रकार के बाङ्ला संगीत-नाटक और निम्न कोटि के प्रहसन लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलते रहे।

बाङ्ला नाटक की अगली रंगमंचीय प्रस्तुति, जिसके बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, अक्तूबर, 1835 में उत्तरी कलकत्ता में नवीनचन्द्र बसु के निवास पर हुई। यह *विद्यासुन्दर* की कथा का संशोधित संगीत-नाटक रूपान्तर था और इसका प्रदर्शन स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार के अभिनेताओं ने किया था। अभिनेत्रियों को इसमें व्यावसायिक कीर्तन-गायकों, 'कबि' प्रदर्शकों और नर्तकियों के बीच से लगा लिया था। उनके लिए *विद्यासुन्दर* के स्त्री पात्रों का रूप धारण करना बहुत सहज हुआ।

इसी बीच अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे पुरुषों की संख्या क्रमशः बढ़ रही थी और हिन्दू कालिज के छात्र सांस्कृतिक प्रगति और सामाजिक सुधार पर अपना प्रभाव जमा रहे थे। स्वभावतः रंगमंच की नवीनता उनके आकर्षण का एक प्रमुख विषय हो गयी। प्रसन्नकुमार ठाकुर और उनके मित्रों ने कलकत्ता के पूर्वी नगर परिसर में स्थित उनके उद्यान-गृह में हिन्दू थियेटर की स्थापना की। इसका उद्घाटन 21 दिसम्बर, 1831 को शेक्सपीयर के *जूलियस सीज़र* के कुछ चुने हुए अंशों, और एच. एच. विल्सन द्वारा भवभूति के *उत्तररामचरित* के अंग्रेज़ी रूपान्तर के प्रदर्शन से हुआ। विभिन्न भूमिकाएँ हिन्दू कालिज के छात्रों ने की थीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे, चौथे और पाँचवें दशाब्द में कलकत्ता के अंग्रेज़ी शिक्षितों के बीच अंग्रेज़ी नाटकों का, विशेषकर शेक्सपीयर के नाटकों का बंगाली विद्यार्थियों और पेशेवर लोगों के द्वारा प्रदर्शन बहुत लोकप्रिय था। वैष्णवचरण आद्य नाम के एक पेशेवर अभिनेता ने साँसूसी थियेटर में (अगस्त-सितम्बर, 1848) ओथेलो की भूमिका करके, अपने लिए ऐतिहासिक स्थान बना लिया। कुछ उच्चतर शिक्षा संस्थान शेक्सपीयर के नाटकों का नियमित रूप से शौकिया प्रदर्शन करते थे।

यूरोपीय रंगमंच के सम्मोहन और अंग्रेज़ी नाटकों के अभिनय की नवीनता ने साहित्यिक ख्याति के कुछ अभिलाषी व्यक्तियों का ध्यान काव्य के पोषण से नाटकों के लेखन की ओर मोड़ दिया। ऐसे संस्कृतज्ञों द्वारा कुछ निष्फल और बेमन से किये गये प्रयास सामने आये, जो केवल संस्कृत नाटकों का अनुवाद या रूपान्तर कर सकते थे। बाङ्ला की पहली दो नाटकीय रचनाएँ, जिन्हें मौलिक कहा जा सकता है, 1852 में प्रकाशित हुईं। इनमें से एक कामदी है, जो लगभग संस्कृत के आदर्श पर रची गयी

है और जिसका आधार *महाभारत* का एक आख्यान है, और दूसरी यूरोपीय ढंग की त्रासदी है, जो एक ठेठ बाङ्ला लोक-कथा पर आधारित है। दोनों के लेखक अंग्रेज़ी जानते थे। ताराचरण सिकदार की *भद्रार्जुन* में अर्जुन के साथ सुभद्रा के भाग जाने की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। लेखक ने घटनाओं और स्थितियों की योजना में यूरोपीय नाटक के आदर्श का अनुसरण किया है, और अंकों के दृश्य-विभाजन में भी (यह गुण संस्कृत नाटक में अज्ञात था, किन्तु उसके बाद से यह बाङ्ला नाटक की स्थायी विशेषता हो गयी है)। संस्कृत नाटक की दो प्रमुख विशेषताएँ, सूत्रधार का नान्दी-पाठ और विदूषक की भूमिका इनमें छोड़ दी गयी हैं। किन्तु इनमें एक प्रकार की छन्दोबद्ध प्रस्तावना रहती है, जिसमें नाटक का सारांश और नाट्य-कला की प्रशस्ति होती है। *भद्रार्जुन* गद्य और पद्य में लिखा गया है, और उसमें कुछ गीत भी हैं। नाट्य-रचना के रूप में इसका विशेष मूल्य नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रंगमंचीय प्रस्तुति कभी नहीं की गयी। उस समय बाङ्ला का साहित्यिक समाज नाटक के यूरोपीय रूप को ग्रहण करने के लिए पर्याप्त तत्पर नहीं था, अतः इस अग्रणी कृति ने कोई उत्साह नहीं जगाया। इसके लेखक ने, जो कलकत्ता के एक प्रसिद्ध शिक्षा-संस्थान में गणित का अध्यापक था, दूसरे नाटक की रचना के लिए अपने को उत्साहित अनुभव नहीं किया। गोविन्दचन्द्र गुप्त का *कीर्तिविलास* भी गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया है, लेकिन इसकी शैली कुछ प्राचीन-सी और 'भद्रार्जुन' की तुलना में कम परिष्कृत है। कथानक कुछ कम सुगठित है। अंक कई दृश्यों में विभाजित हैं और पुरानी चाल की प्रस्तावना को बनाए रखा गया है। इसमें 'गीत' भी हैं। शेक्सपीयर के *हैमलेट* का प्रभाव स्पष्ट है—केवल नायक के व्यवहार में ही नहीं, बल्कि कथानक की व्यवस्था में भी। लेखक ने संस्कृत के नाट्यशास्त्रज्ञों द्वारा निषिद्ध त्रासदीय नाटक की रचना करके साहस का परिचय दिया है। एक लम्बी प्रस्तावना है, जिसमें लेखक ने देशी यात्रा-नाटकों और उनके प्रदर्शन का बहुत सही मूल्यांकन करते हुए यूरोपीय नाटक के पक्ष में प्रबल युक्ति प्रस्तुत की है।

1853 से बाङ्ला नाटककारों ने दो स्पष्ट पद्धतियाँ अपनाईं : एक, अंग्रेज़ी नाटकों का अनुवाद और रूपान्तर, विशेषकर शेक्सपीयर के; और दूसरी संस्कृत के अधिक प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद और रूपान्तर। अंग्रेज़ी मूल रचनाओं पर आधारित कृतियाँ पूर्णतः निरर्थक थीं; उनमें से किसी को भी कभी मंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया, न ही वे कभी अच्छी पठनीय सामग्री के रूप में ग्राह्य हुईं। संस्कृत से किये गये रूपान्तर ग्राह्य थे, और उनमें से एक—रामनारायण तर्करत्न की *रत्नावली* की (पाइकपाड़ा के राजघराने के उद्यान-गृह में पहली बार 31 जुलाई, 1858 को प्रस्तुत) रंगमंचीय प्रस्तुति से कहा जा सकता है कि बाङ्ला नाटक समुचित विकास की दिशा में अग्रसर हुआ। शेक्सपीयर के नाटकों के बाद में किये गये कुछ रूपान्तर स्पष्ट रूप से पहले के प्रयासों से बेहतर थे और सातवें दशाब्द के मध्य और अन्त में निजी और

सार्वजनिक थियेटरों में इनका सफल प्रदर्शन किया गया। इसमें *सिम्बेलीन* पर आधारित चन्द्रकाली घोष का *कुसुमकुमारी*, हरलाल राय का *हैमलेट* का रूपान्तर *रुद्रपाल* (1874) और तारिणीचरण पाल का *भीमसिंह* (1875), जो *ओथेलो* का संक्षिप्त रूप है, आदि शामिल थे।

पाँचवें दशाब्द के अन्त और छठे दशाब्द के आरम्भ में बाङ्ला नाटक का विकास संयोगिक और अव्यवस्थित था। नाटकों के लेखन को प्रोत्साहन वैयक्तिक रंगमंच से मिला, परन्तु परिणाम आशा से कहीं कम हुआ। निस्सन्देह इससे कुछ अपवाद भी हैं, किन्तु उनका रूप मूलतः रंगमंच की आवश्यकता के द्वारा निर्धारित नहीं हुआ।

पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के संघात से सबसे पहला और सबसे प्रबल प्रभाव समाज-सुधार की चेतना के रूप में पड़ा। विचित्र बात है कि यह प्रभाव अंग्रेज़ी-शिक्षित युवा बंगाली वर्ग में कम स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ा, बनिस्बत उन लोगों के, जिन्होंने मुख्यतः संस्कृत शिक्षा ग्रहण की थी। इस दूसरे वर्ग के नेता विद्यासागर थे। साहित्य में वे और उनके कुछ सहयोगी, विद्यार्थी और प्रशंसक जितने अधिक मुखर और आग्रही थे, उनकी तुलना में व्यावहारिक कम थे। जब कि हिन्दू कालिज के लोग अंग्रेज़ी नाटकों का मंचन करने या शेक्सपीयर की त्रासदियों और कामदियों का अनुवाद करने में व्यस्त थे, तो दो अत्यन्त शर्मनाक सामाजिक समस्याओं पर नाटकीय संरचनाओं का निर्देशन करने का दायित्व कालिज के एक संस्कृत पण्डित पर छोड़ दिया गया था। रामनारायण तर्करत्न (1822-1886) का *कुलीन कुलसर्वस्व*, जो 1854 में प्रकाशित हुआ, कुलीन ब्राह्मण जाति के सामाजिक दृष्टि से पिछड़ेपन के विरुद्ध रची गयी पहली नाटकीय रचना थी। पहली शताब्दी के अन्त से ही देशीय यात्रा और पांचाली प्रदर्शनों में सामाजिक व्यंग्य सर्वाधिक लोकप्रिय विषय रहा करता था, भवानीचरण बनर्जी के व्यंगात्मक रेखाचित्रों और ईश्वरचन्द्र गुप्त की कविताओं में भी यह विशेषता मिलती है। वस्तुतः तर्करत्न का कृतित्व ऐसे समय की नयी रोशनी में हास्यास्पद और हानिकर प्रतीत होनेवाले सामाजिक रीति-रिवाजों पर व्यंग्य-चित्रों की शृंखला से अधिक विशेष कुछ नहीं है। यह माटक नहीं था, किन्तु तर्करत्न को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि विशुद्ध देशी सामग्री से प्रहसन का सृजन करनेवाले वे पहले व्यक्ति थे।

कुलीन कुलसर्वस्व की रचना एक ऐसे नोटिस की प्रतिक्रिया में हुई थी, जिसमें कुलीन ब्राह्मणों की विवाह-पद्धति के दोषों पर नाट्य-कृति की रचना के लिए पचास रुपये के पुरस्कार की घोषणा की गयी थी। इसको सही अर्थ में प्रहसन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके विविध प्रसंग बिना किसी केन्द्रीय कथा के अत्यन्त शिथिल ढंग से बुने गये हैं। छन्द की पंक्तियों पर भारतचन्द्र का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी, यह रंगमंच की दृष्टि से कुछ ही समय तक सफल रहा।

1866 में प्रकाशित तर्करत्न का *नवनाटक* अधिक विशद और आडम्बरपूर्ण रचना है। इसकी रचना देवेन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजों द्वारा स्थापित किये गये निजी थियेटर के लिए की गयी थी, और ठाकुर-परिवार के पैतृक घर पर इसका सफल मंचन हुआ था। कहानी का दुःखपूर्ण अन्त दीनबन्धु मित्र के *नील दर्पण* के समापन के बाद होता है। नाटकीय रुचि इसमें निरन्तर प्रवाहित एक उपदेशात्मक स्वर से बाधित होती है। कथानक हल्का है और एक रईस ज़मींदार की कनिष्ठ और प्रिय पत्नी के द्वारा उसकी वरिष्ठ पत्नी और पुत्र पर किये गये अत्याचार के चारों ओर केन्द्रित है। रामनारायण की अन्य नाट्य-कृतियों में चार संस्कृत नाटकों के रूपान्तर *वेणी संहार* (1858), *रत्नावली* (1858), *अभिज्ञान शाकुन्तल* (1860) और *मालतीमाधव* (1867); पुराण-कथाओं पर आधारित तीन नाटक : *रुक्मिणीहरण* (1871), *कंसवध* (1875) और *धर्मविजय* (1875), और लोककथा पर आधारित एक नाटक : *स्वप्नधन* (1875), शामिल हैं; साथ ही तीन या चार प्रहसन हैं, जिनका गुमनाम प्रकाशन हुआ है।[1] उन नाटक नामधारी अनगिनत रचनाओं में जो बहुविवाह और बाल-विवाह के दोषों पर लिखी गयी थीं, दो उल्लेखनीय हैं : तारकचन्द्र चूड़ामणि का *सपत्नी नाटक* (1858) और एक गुमनाम लेखक का *सम्बन्ध-समाधि* (1867), जो सम्भवतः तारकचन्द्र के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं था।

विधवा-विवाह उन दिनों सबसे अधिक लोकप्रिय विषय था, जिस पर नाटक कही जाने वाली बीसियों पुस्तकें और पैम्फ़लेट लिखे गये। विधवा-विवाह अधिनियम के समर्थन में लिखनेवाला पहला व्यक्ति व्योमेशचन्द्र मित्र था। उसका *विधवा विवाह* नाटक (1856), जिसकी प्रेरणा विधवा-विवाह के शास्त्रानुमोदन पर विद्यासागर द्वारा रचित प्रबन्ध से मिली थी, रंगमंच पर काफ़ी सफल हुआ। नीरस आत्मसंलापों और *विद्यासुन्दर* के ढंग पर कुछ अश्लील स्पर्शों के बावजूद कथा जिस रूप में उद्घाटित होती है, उसमें नाटकीय प्रभाव और विश्वास का अभाव नहीं है। लेखक का यह दावा कि *कीर्तिविलास* (1852) के रहते भी बाङ्ला नाटक में नियन्त्रित रूप से त्रासदी का आरम्भ कराने का यह प्रथम प्रयास है, एकदम बेबुनियाद नहीं है।

मित्र विद्यासागर का प्रशंसक था, और यह बात उसकी एकमात्र दूसरी नाट्य-रचना से प्रकट होती है, जो सीता-वनवास पर विद्यासागर के गद्याख्यान का नाट्य-रूपान्तर है। मित्र ने दक्षिण कलकत्ता में एक यात्रा-मण्डली का संयोजन किया, जहाँ उसके *सीतार वनवास* का अद्भुत सफलता के साथ लगातार प्रदर्शन किया जाता था। उसका *विधवा विवाह* नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से सफल हुआ।

विधवा-विवाह पर मित्र के नाटक की सफलता को असमिया के सर्वप्रथम आधुनिक नाटक की रचना का श्रेय है। गुणाभिराम बरुआ का *रामनवमी नाटक*, जो

---

1. सामान्यतः इनका श्रेय महाराज जतीन्द्रमोहन ठाकुर को दिया जाता है, जो तर्करत्न के सर्वप्रथम आश्रयदाताओं में से थे।

1857 में लिखा गया और पहले एक मासिक पत्रिका (अरुणोदय) में खण्डों में प्रकाशित हुआ (जो ईसाइयों के तत्त्वावधान में, और लाल बिहारी दे के सम्पादन में निकलती थी) और उसके बहुत बाद (1870) पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, सीधे मित्र के नाटक से प्रेरित था। विधवा-विवाह के समर्थन में रचित एक और नाटक उल्लेखनीय है। यह *विधवा-विरह* नाटक है, जो 1859 में प्रकाशित हुआ और जिसकी रचना सैमुअल पीरबख़्श नाम के ऐसे मुसलमान ने की थी, जिसने ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली थी। कथानक, जो स्पष्ट रूप से तथ्य पर आधारित है, अश्लील किन्तु यथार्थवादी है। पीरबख़्श अपने समय के सर्वोत्तम ईसाई लेखकों में से था।

विधवा-विवाह के प्रति रूढ़िवादी विरोध भी मौन नहीं था। किन्तु नाटक के क्षेत्र में उनके प्रयास लक्ष्यभ्रष्ट हो गये। उनकी एक भी रचना उल्लेखनीय नहीं है।

संस्कृत नाटक *रत्नावली* के तर्करत्न कृत रूपान्तर के अद्भुत रंगमंचीय प्रदर्शन (जुलाई, 1858) से प्रभावित होकर माइकेल मधुसूदन को, जिसके भाग्य में निकट भविष्य में आधुनिक बाङ्ला काव्य का प्रवर्त्तन करना लिखा था, नाट्य-रचना पर भी अपना हाथ आज़माने की प्रेरणा हुई। इससे पूर्व उन्होंने केवल अंग्रेज़ी में कविता लिखी थी। उनकी *शर्मिष्ठा* (1858) की रचना, और उसका वैभवपूर्ण मंचीकरण (1859) पाइकपाड़ा के राजा-बन्धुओं ईश्वरचन्द्र और प्रताप चन्द्र सिन्हा के उत्तर-उपनगरीय उद्यान-गृह पर एक निजी प्रदर्शन के रूप में हुआ था। यह बाङ्ला में अब तक लिखे गये नाटकों में सर्वोत्तम था। कथानक *महाभारत* के प्रथम पर्व की एक कथा से लिया गया था। कथा के निरूपण में पश्चिमी नाटककारों की अपेक्षा कालिदास का अनुसरण किया गया था, किन्तु लेखक ने संस्कृत नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का निष्ठापूर्वक पालन नहीं किया। स्वयं लेखक ने नाटक का अंग्रेज़ी में अनुवाद उन उच्च ब्रिटिश पदाधिकारियों के उपयोग के लिए किया, जिन्होंने प्रदर्शन देखा था। 1859 में प्रकाशित *सेरमिस्टा* (लेखक कृत अंग्रेज़ी अनुवाद का शीर्षक) की विज्ञप्ति में, दत्त ने दावा किया है कि इसका मूल बाङ्ला भाषा में एक क्लासिकल और नियमित नाटक रचना का पहला प्रयास है।

शर्मिष्ठा के उपरान्त *पद्मावती* (1859 में लिखित और 1860 में प्रकाशित) की रचना हुई। इसकी कथा सोने के सेब की ग्रीक पुराकथा का भारतीय रूपान्तर है। यह *शर्मिष्ठा* की तरह, नितान्त गद्य रचना नहीं है; इसमें अतुकान्त छन्द के अनुच्छेद हैं, जो बाङ्ला में पहली बार इस रूप में दिखाई पड़े। नाटक के रूप में *पद्मावती* में कोई सुधार नहीं दिखाई पड़ता। यदि दत्त ने आद्यन्त अतुकान्त छन्द के प्रयोग का साहस किया होता, तो यह रचना सफल होती। लगता है कि दिसम्बर 1872 में सार्वजनिक थियेटर की स्थापना से पहले इस नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति नहीं की गयी थी।

दत्त का तीसरा नाटक *कृष्णकुमारी* (1861 में सीमित वितरण के लिए और 1865 में सार्वजनिक विक्रय के लिए) एक महीने के भीतर लिखा गया था (6 अगस्त से 7 सितम्बर, 1860)। कथा टॉड के राजस्थान से ली गयी है, जो रंगलाल बनर्जी की *पद्मिनी* के प्रकाशन (1858) के बाद से राष्ट्रीय दृष्टि से आत्मसजग शिक्षित युवा बंगालियों के लिए लगभग वेद-सदृश हो गया था। कथानक के निरूपण में शेक्सपीयर के स्पष्ट प्रभाव के साथ ग्रीक त्रासदी[1] की पद्धति का अनुसरण किया गया है। यह प्रयास निश्चय ही साहसिक था, और यह नाटक तब तक बाङ्ला में की गयी इस प्रकार की किसी भी छन्द-रचना से उत्कृष्ट था। नाटक एकदम गद्य में लिखा गया है, किन्तु इसमें कुछ गीत अवश्य हैं। नायिका के पिता के आत्मसंलाप में राष्ट्रवाद की उदीयमान चेतना की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। *कृष्णकुमारी* का अत्यन्त सफल मंचन जोड़ासाँको थियेटर ने किया, जो देवेन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजों, बेटों और उनके मित्रों द्वारा संयोजित एक असार्वजनिक मंच था।

दत्त का आगामी नाटक *मायाकानन* एक लम्बे अरसे के बाद (जब कवि अपने क्षेत्र के अन्तिम छोर पर पहुँच गया था) एक सार्वजनिक थियेटर के लिए लिखा गया। इसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के उपरान्त जनवरी में हुआ और पहली बार मंचन 18 अप्रैल, 1874 को हुआ। कथा रोमानी और निराशाजनक रूप में दुःखान्त है। सम्भवतः वह लेखक के जीवन की कुण्ठाओं को प्रतिबिम्बित करती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अच्छा है।

शर्मिष्ठा के सफल प्रदर्शन के तुरन्त बाद, जब *पद्मावती* समाप्त ही हुई थी, दत्त को दो प्रहसन लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिनमें अपने समय की दो बुराइयों पर क्रमशः व्यंग्य किया गया था : अर्धशिक्षित युवा रईसों की शराबख़ोरी और मूर्खता पर और सात्त्विक दिखाई पड़नेवाले की विषयासक्ति तथा ढोंग पर। दोनों नाटक 1859 में प्रकाशित हुए। पहले का शीर्षक था *एकेइ कि बले सभ्यता* (क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?) और दूसरे का *बुड़ासालिकेर घाड़े रोम* (द सिलवडरीक—शब्दार्थ, 'बूढ़ी गौरैया की गर्दन पर रोम')। ये बहुत अच्छे प्रहसन हैं, चटकीले और पैने। ये बाङ्ला के सर्वोत्तम प्रहसनों में से हैं और उन्होंने इस प्रकार की सभी परवर्ती रचनाओं को प्रभावित किया है। *एकेइ की बले सभ्यता* का मंचन 1865 में जोड़ासाँको थियेटर ने और श्याम बाज़ार[2] थियेटर ने किया, जहाँ *कृष्णकुमारी* का भी मंचन हुआ था। इस

---

1. इस पर यूरोपिडीस की *ईफ़िजेनिया* के प्रभाव के धुँधले किन्तु निश्चित संकेत हैं। लेखक ने *द फ़्लावर आफ़ राजस्थान* (राजस्थान का फूल) नाम से एक अंग्रेज़ी अनुवाद या रूपान्तर भी प्रस्तुत किया।
2. देब परिवार के सदस्यों द्वारा आयोजित, वारेन हेस्टिंग्स के मुंशी राजा नवकृष्ण द्वारा स्थापित।

प्रहसन की रंगमंचीय सफलता ने दूसरे प्रहसन के लक्ष्यों को सजग और चौकन्ना कर दिया। परिणामस्वरूप व्यक्तिगत थियेटर, जो बुजुर्गों के पैसे से चलते थे *द सिलवर्ड रेक* को अभिनय करने के लिए उत्सुक नहीं थे। यह सार्वजनिक मंच की स्थापना के बाद ही सम्भव हुआ।

माइकेल मधुसूदन दत्त ने अंग्रेज़ी में एक नाटकीय कविता की रचना की। शीर्षक था *रिज़िया : ऐम्प्रेस आफ़ इण्ड* (भारत की महारानी : रिज़िया)। विषय तेरहवीं शताब्दी के भारतीय इतिहास से लिया गया है। इसकी रचना उस समय हुई थी जब दत्त मद्रास में था (1848-56), पर इसका प्रकाशन कभी नहीं हुआ। उसका इरादा इस नाटक को *कृष्णकुमारी* के प्रकाशन के बाद दोबारा, और बाङ्ला में लिखने का था। उसने 1 सितम्बर, 1860 को एक मित्र को लिखा था : "मैं एक और नाटक लिखने के लिए पूरी तरह तैयार हूँ, परन्तु पहले इसका अभिनय होना चाहिए। हमें भारतीय मुसलमानों के विषय उठाने चाहिए। हम लोगों की अपेक्षा मुसलमान अधिक उग्र जाति है, वह आवेगों के प्रदर्शन के लिए भव्य अवसर प्रदान करेगी। उनकी स्त्रियाँ हमारी स्त्रियों की अपेक्षा षड्यन्त्र करने में अधिक समर्थ होती हैं...। इसके बाद, हमें 'रिज़िया' पर अवश्य नज़र डालनी चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि वह नाटक तुम्हारी अपनी पसन्द के अनुरूप होगा। मुस्लिम नामों के विरुद्ध पूर्वाग्रह को छोड़ना जरूरी है।"

दत्त ने तीन बाङ्ला नाटकों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया : तर्करत्न का *रत्नावली* (1858), उसका अपना *शर्मिष्ठा* (1859) और दीनबन्धु मित्र का *नील दर्पण* या *द मिरर आफ़ इण्डिगो प्लांटिंग* (1860)। इनमें से अन्तिम का प्रकाशन श्रद्धेय जे. लांग ने बिना नाम के किया। दत्त का इरादा व्योमेशचन्द्र मित्र के *विधवा विवाह* नाटक का अनुवाद करने का भी था।

दीनबंधु मित्र (1829-74) हुगली कालिज के विद्यार्थी और डाकविभाग के एक अफ़सर थे। उन्होंने पढ़नेवाली बहुसंख्यक जनता, और रंगमंचीय प्रदर्शन देखनेवाली अत्यन्त सीमित जनता की शिथिल होती हुई रुचि को नगरों में रहनेवाले उच्चवर्गीय समाज की सामाजिक बुराइयों से खींचकर मूक ग्रामीण जनता के आर्थिक शोषण की ओर आकर्षित किया और इस प्रकार नाट्य-रचना में एक नया उत्साह फूँक दिया। उस समय बंगाल का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग नील की खेती था और उसका नियन्त्रण पूरी तरह ब्रिटिश स्वार्थों के द्वारा होता था। खेती और उससे संलग्न कारख़ानों के स्वामी कम शिक्षित और कम सहानुभूतिशील ब्रिटिश लोग थे। सरकार के कुछ प्रशासनिक अफ़सरों की निष्क्रियता या उनकी उदासीनता से प्रोत्साहित होकर नील के बाग़ान मालिक, खेतिहरों के साथ मनमाना व्यवहार करते थे। दीनबंधु मित्र का जातीय स्थान् जैसोर सर्वाधिक दुष्प्रभावित प्रदेशों में से था, और उन्हें इस बारें में अच्छी जानकारी, और साथ ही निजी अनुभव भी था। उन्होंने अपने पहले नाटक *नील*

दर्पण (ढाका, 1860) की रचना करते हुए अमानवीय दुष्टता और यन्त्रणा का भयंकर चित्र प्रस्तुत किया। नाटकीय रचना के रूप में उसके दोष विविध और स्पष्ट हैं किन्तु एक दिलचस्प रंगमंचीय नाटक के रूप में वह प्रभावपूर्ण था, और बुराइयों के दमन में उसका बहुत दूर तक योगदान रहा। चरित्र सीधे जीवन से लिये जाने के कारण सामान्यतः स्पष्ट और स्वाभाविक हैं। प्रचारात्मक मूल्य की दृष्टि से *नील दर्पण* प्रभावशाली पुस्तकों के उसी वर्ग में आता है जिसमें *अंकल टाम्स केबिन, निकोलस निकलबी* और *ऑलिवर ट्विस्ट* आते हैं।

मित्र का दूसरा नाटक *नवीन तपस्विनी* (कृष्णनगर, 1863) दो परस्पर क्षीण रूप से सम्बद्ध कथानकों से मिलकर बना है। इनमें से एक प्रहसन कथा है, जो अंशतः *मेरी वाइव्ज़ ऑफ विण्डसर* से ग्रहण की गयी है और दूसरी एक देशी लोककथा पर आधारित है। चरित्र-चित्रण यान्त्रिक है, और शैली कृत्रिम। तीसरा नाटक *बिधवार एकादशी* (एक विवाहित कन्या पर आरोपित वैधव्य, 1866) मित्र की सर्वोत्तम रचना है और भाषा के सर्वोत्तम नाटकों में से है, यद्यपि इसके दोष स्पष्ट हैं। यह व्यंग्यात्मक कम, विद्रूप चित्रात्मक अधिक है। कथानक का आदर्श अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त युवा वर्ग की शराबख़ोरी और दुश्चरित्रता पर दत्त द्वारा रचित प्रहसन है। निमचंद दत्त के केन्द्रीय चरित्र ने कथानक को घिसा-पिटा होने से बचा लिया है और नाटक को मात्र प्रहसन से त्रासदी की ऊँचाई तक उठा दिया है। चरित्र को प्रशंसनीय रूप से ग्रहण किया गया है और उत्कृष्ट रूप से चित्रित किया गया है। चरित्र का आदर्श अंशतः कवि और विद्वान् माइकेल मधुसूदन दत्त है।

मित्र की अन्य रचनाएँ या तो प्रहसन हैं अथवा प्रहसन से भरी हल्की-फुल्की कामदियाँ हैं जिनमें *बिए-पागला-बुढ़ो* (विवाह के लिए पागल बूढ़ा, 1866)[1] *लीलावती* (1867), *जामाइ-बारिक* (ज़माइयों के लिए बैठक, 1872)[2] और *कमले-कामिनी* (1873) शामिल हैं। अन्तिम नाटक अंशतः कछार के एक ऐतिहासिक क़िस्से पर आधारित है।

दीनबंधु मित्र की कृतियों ने बाङ्ला नाटक के विकास में बहुत कम योगदान किया, किन्तु रंगमंचीय नाटकों के रूप में सार्वजनिक थियेटर के आरम्भिक दिनों में वे पूर्ण रूप से सफल हुए। वस्तुतः सार्वजनिक थियेटर का उद्घाटन (दिसम्बर, 1872) मित्र के नाटकों से हुआ और कुछ समय तक आर्थिक सफलता के लिए उसे मुख्यतः उन्हीं के नाटकों पर निर्भर रहना पड़ा। मित्र के नाटक छिछले हास्य और हल्के-फुल्के विनोद (जो प्रायः अश्लीलता की सीमा छूने लगता है।) से भरपूर हैं, जो नाटक देखने

1. कथानक तथ्य पर आधारित है।
2. लेखक के कुछ मित्रों और समसामयिक प्रसिद्ध व्यक्तियों को कतिपय गौण चरित्रों के द्वारा हल्के-से व्यंग्य का पत्र बनाया गया है या उनका चलताऊ उल्लेख किया गया है।

वाली जनता को सूक्ष्म चरित्र-चित्रण और नाटकीय-द्विविधा की तुलना में अधिक ग्राह्य था। शताब्दी के अन्त तक नाटक के दर्शकों की रुचि में परिवर्तन आ गया और मित्र के नाटकों का बिना काफी काट-छाँट किये मंचन करना सम्भव नहीं रहा।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मनमोहन बसु ने (1831-1912), जो ईश्वरचन्द्र गुप्त का साहित्यिक शिष्य और कवि गीतों का लेखक था, लोक-प्रचलित पौराणिक कथाओं पर रंगमंचीय नाटकों का आरम्भ किया, जिनमें भक्ति की अन्तर्धारा वर्तमान थी। उसी के द्वारा इस प्रकार बाङ्ला नाटक का प्रवाह प्राचीन 'जात्रा' की ओर मुड़ गया, और नयी 'जात्रा' का जन्म हुआ। लम्बे-लम्बे व्याख्यान और आत्म-संलाप लोक-प्रचलित भक्तिपरक मनोरंजक (कथकता) की पुरानी शैली के प्रभाव का संकेत करते हैं। गीतों की बहुलता है। कथानक के विकास में कुछ विदग्धता है, शैली बोझिल और पुराने ढंग की है।

बसु का पहला प्रयास *रामाभिषेक* (1867) था, जो बाङ्ला में रामकथा पर लिखा जाने वाला पहला मौलिक नाटक था। यह अधिकतर गद्य में है। उसका दूसरा नाटक *प्रणयपरीक्षा* (1869) एक पुस्तकीय रोमाण्टिक कथा पर आधारित है, जिसमें बहुविवाह के दोषों का चित्रण किया गया है। यह तर्करत्न के *नवनाटक* से प्रभावित है, किन्तु इसका अन्त त्रासदी में नहीं होता। उपन्यास में कथानक का निरूपण बेहतर ढंग से हो सकता था। तीसरा नाटक, *सती नाटक* (1873) बसु की कृतियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें शिव और सती की पौराणिक कथा को ग्रहण किया गया है और यह लेखक का एकमात्र दुःखान्त नाटक है। दूसरे संस्करण (1877) में लेखक को परम्परानिष्ठ आलोचना के सामने झुककर एक अन्तिम अंक जोड़ना पड़ा, जिसमें शिव के साथ हिमालय की पुत्री के रूप में अवतरित सती का पुनर्मिलन दिखाया गया था। *सती नाटक* की एक महत्त्वपूर्ण नयी विशेषता शान्ति राय नामक विक्षिप्त व्यक्ति की भूमिका है, जो देखने और व्यवहार में पागल, परन्तु वास्तव में सन्त है। दो दशाब्द के उपरान्त गिरीशचन्द्र घोष ने अपने धार्मिक नाटकों को इसी प्रकार के छद्मवेषी सन्त-चरित्रों पर केन्द्रित करके लोकप्रियता अर्जित की।

बसु का चौथा नाटक, जिसमें *हरिश्चन्द्र* (1875) की पौराणिक कथा को ग्रहण किया गया है, यात्रा की ओर अधिक स्पष्ट रूप से झुका हुआ है। इस समय तक यात्रा ने व्यवहार में ऐसे थियेट्रिकल नाटक का रूप ग्रहण कर लिया था, जिसका कोई समुचित रंगमंच नहीं था और जिसमें गीतों और लम्बे वक्तव्यों की बहुलता थी। नाटक में सद्योदित राष्ट्रीय चेतना की अनुगूँज है। अन्य पाँच नाटकों में, जिनमें चार पौराणिक विषयों पर हैं और एक (1875) स्थानीय धार्मिक संस्था पर व्यंग्य है—कोई विशिष्ट नहीं है। वे रंगमंचीय नाटक उतने नहीं जितने जात्रा के अंश हैं। बसु के अन्तिम नाटक *सतीर अभिमान* (1910-11) में, रंगमंच को समर्पित एक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित धरती में सीता के अन्तःप्रवेश का वर्णन है।

अपने तमाम समसामयिकों की तरह, बउ बाज़ार थियेटर ने, जो एक शौकिया थियेट्रिकल पार्टी थी, 1868 के आरम्भ में बसु के *रामाभिषेक* के प्रदर्शन से आरम्भ किया। *सती नाटक* को भी असाधारण सफलता के साथ, बार-बार मंच पर प्रस्तुत किया गया। 1875 के आरम्भ में *हरिश्चन्द्र* नाटक को प्रस्तुत करने के बाद थियेटर जल्दी ही बन्द हो गया। अपने आरम्भिक काल में बसु के नाटक सार्वजनिक थियेटर के लिए उपयुक्त नहीं समझे गये और एकमात्र अपवाद *प्रणयपरीक्षा* (ग्रेट नेशनल थियेटर के मंच पर 17 जनवरी, 1874 को प्रस्तुत) के अतिरिक्त उनमें से किसी के भी सार्वजनिक रूप से सफल प्रदर्शन का विवरण नहीं मिलता।

□

17

नयी कविता के अग्रदूत

अंग्रेज़ी-शिक्षा ने, अंग्रेज़ी-साहित्य के विशाल परिदृश्य का और उसके माध्यम से यूरोपीय क्लासिकी साहित्य का भी उद्घाटन कर दिया। इस क्रम का आरम्भ कलकत्ता में हिन्दू कालिज की स्थापना (1817) से हुआ। इसके उपरान्त जल्दी ही हुगली और कृष्णनगर में और बाद में कुछ और नगरों में भी कालिजों की स्थापना हुई। कुछ दशाब्दों तक कलकत्ता और कलकत्ता के बाहर के कालिजों में अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों की संख्या बड़ी नहीं थी, पर शैक्षिक प्रतिष्ठा पर आधारित होने के कारण उनका प्रभाव कम नहीं था। समाज-सुधार, बल्कि क्षुद्र रूढ़िवादिता के विरुद्ध संघर्ष ने उनका सर्वाधिक ध्यान आकर्षित किया, और अपने साहित्य के प्रति रुचि होने के बावजूद कालिज के छात्रों ने उसके विकास के लिए विशेष उत्साह का अनुभव नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि अंग्रेज़ी में लिखना कहीं अधिक प्रसिद्धि लाएगा। अंग्रेज़ी छन्द-रचना करने वाले पहले बंगाली काशीप्रसाद घोष (मृ. 1873) थे, जो हिन्दू कालिज के आरम्भिक छात्रों में से एक थे। उनकी कविताएँ पहले 'हरकारा'[1] में प्रकाशित हुईं जो कलकत्ता में सबसे अधिक संख्या में वितरित होने वाले दैनिक अंग्रेज़ी पत्रों में से था। तदुपरान्त *द शायर*[2] *एण्ड द अदर पोयम्स* (1830) नाम से उनका संग्रह प्रकाशित हुआ। भारतचन्द्र को अब भी बाङ्ला का महानतम कवि माना जाता था और घोष ने 'विद्यासुन्दर' के प्रति अपना किंचित् सम्मान उसके अंशों का अंग्रेज़ी छन्दों में अनुवाद करके व्यक्त किया। के. एम. बनर्जी का *द पर्सिक्यूटेड* (1831) पहला, और बहुत समय तक एक बंगाली द्वारा अंग्रेज़ी में लिखा गया एकमात्र नाटक था। अंग्रेज़ी के माध्यम से कवि रूप में यश की कामना करने वाले लेखकों में सबसे अधिक साधन-सम्पन्न किन्तु सबसे अधिक दुष्प्रभावित नयी कविता के भावी प्रवर्त्तक माइकेल मधुसूदन दत्त थे, जो अपनी मातृभाषा की ओर कुछ संयोग से और कुछ शेख़ी की मुद्रा में उन्मुख हुए थे। बाङ्ला कथा-साहित्य के जनक, बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी

1. अर्थात् 'डाकिया'।
2. अर्थात् 'कवि'।

अपने आरम्भिक उपन्यासों में से एक ('राममोहन्स वाइफ़, इण्डियन फ़ील्ड' 1864 में धारावाहिक रूप में प्रकाशित) की रचना अंग्रेज़ी में की थी।

समसामयिक बाङ्ला साहित्य ने पहले-पहल अनुवाद के माध्यम से अंग्रेज़ी से सम्पर्क स्थापित किया। अब भी दत्त के शब्दों में भारतचन्द्र और उसकी 'घटिया कविता' की शाखा का स्वर्ण काल था। अतः बाङ्ला कविता में रूपान्तरित की जाने वाली आरम्भिक पुस्तकें थीं *अरेबियन नाइट्स एण्टरटेनमेण्ट्स* (1831) और *पर्शियन टेल्स* (1834), और उसके बाद *गेज़ फ़ेबल्स* (1836)। इसके बाद जॉनसन के *रासेलज़* (1840 के पूर्व) और *अरेबियन नाइट्स* (1838) के गद्यानुवाद की बारी आयी। विभिन्न पाठ्य पुस्तकें और क्रिश्चियन क्लासिक्स और पुस्तिकाएँ इनके अलावा थीं। अंग्रेज़ी कविता का अनुवाद शताब्दी के छठे दशाब्द में उस समय तक सामने नहीं आया, जब 1854 में *पैराडाइज़ लॉस्ट* के कुछ सर्ग बिना नाम के प्रकाशित हुए। पर ऐसे अनुवाद साधारण पाठक के लिए अग्राह्य थे, और अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त पाठकों के लिए निरर्थक।

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशाब्द के अन्त तक (1838 में) कानूनी की भाषा के रूप में और कर-वसूली की अदालतों में फ़ारसी का स्थान बाङ्ला ने ले लिया। इस घटना से साहित्यिक बाङ्ला के पोषण के लिए अप्रत्याशित रूप से प्रोत्साहन मिला और इससे परिनिष्ठित साहित्यिक गद्य के विकास के लिए मार्ग बना। स्वभावतः कविता की उपेक्षा हुई, और काव्य-रचना का काम गीतों, प्रहसनों और शृंगारिक कथाओं के लेखकों पर छोड़ दिया गया। शताब्दी के तीसरे दशाब्द में, राधामोहन सेन को सामान्यतः निधि बाबू के बाद का सर्वश्रेष्ठ समसामयिक कवि माना जाता था। सेन फ़ारसी और संस्कृत जानते थे। उन्होंने गीतों की रचना की। पर उनका कृतित्व साधारण था। उन्होंने क्लासिकल संगीत पर एक प्रबन्ध की रचना की (1818), अठारहवीं शताब्दी की एक संस्कृत रचना का अनुवाद किया (1826) और भारतचन्द्र के काव्य की टीका लिखी (1833)—सब छन्द में। अंग्रेज़ी छन्द के सर्वप्रथम बाङ्ला लेखक काशीप्रसाद घोष ने भी बाङ्ला में बहुत-से गीत लिखे।

विद्यासुन्दर एवं उसी प्रकार की कथाओं के आदर्श पर, अल्पशिक्षित शहरी जनता के लिए छन्दोबद्ध शृंगारपरक रोमाण्टिक कथाओं का प्रकाशन किया गया। इस वर्ग का सर्वश्रेष्ठ लेखक था, मदनमोहन तर्कालंकार (1815-57)। वह एक सर्वश्रेष्ठ पण्डित था, जो बाद में समाज-सुधार का समर्थक हो गया। उसकी *वासवदत्ता* इसी नाम के संस्कृत गद्य-रोमांस का रूपान्तर है। यह उस समय (1836) लिखी गयी थी, जब वह संस्कृत कालिज में विद्यार्थी ही था। उसकी पूर्ववर्ती रचना *रसतरंगिणी,* पण्डितों में प्रचलित कुछ अत्यन्त प्रख्यात शृंगारपरक संस्कृत छन्दों का पद्यानुवाद है।

नयी कविता के आरम्भ के लिए भूमि तैयार करने का श्रेय एक ऐसे कवि को दिया जाता है जो पेशे से पत्रकार था। इस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, ईश्वरचन्द्र गुप्त

(1812-59) का बाङ्ला साहित्य पर शताब्दी के चौथे दशाब्द के मध्य से छठे दशाब्द के अन्त तक आधिपत्य रहा और उसने नयी और पुरानी कविता के बीच सेतु का निर्माण किया। किन्तु उसके सर्वश्रेष्ठ युवा सहायक रंगलाल बनर्जी के लिए बाङ्ला का ऐसा पहला लम्बा काव्य लिखने का काम छूट गया जिसमें बाङ्ला कविता के ज्ञात आदर्शों का पालन नहीं किया गया था। गुप्त ने बीहड़ गद्य लिखा, किन्तु उसका काव्य प्रायः सुखद और सरल है। उसकी कुछ कविताएँ खुले रूप से उपदेशात्मक हैं, और कुछ में लुप्त होते रीति-रिवाजों और परम्पराओं के लिए पीड़ा की व्यंजना है। काफ़ी संख्या में ये कविताएँ या तो अंग्रेज़ी-शिक्षित लोगों के विदेशी तौर-तरीकों पर व्यंग्य हैं या इनमें समाज-सुधारक के उत्साह पर प्रहार किया गया है। व्यंग्य और वैदग्ध्य उसके प्रबल अस्त्र थे। उसकी शब्दावली में ऐसे देशज शब्दों का समावेश किया गया था, जो साहित्यिक प्रयोग के लिए अपरिष्कृत समझे जाते थे। उसका छन्द-कौशल भी उपेक्षणीय नहीं था। गुप्त—भारतचन्द्र, रामप्रसाद और 'कविआलों' द्वारा अठारहवीं शताब्दी के उत्तर में रचित उन कविताओं और गीतों का विशेष प्रेमी था, जो अब भी कलकत्ता में प्रचलित थे। इसी प्रेम ने उसकी प्रमुख साहित्यिक गतिविधियों का रूप निर्धारित किया था। अपने पूर्ववर्तियों की कविता के प्रति गुप्त के उत्साह से इन लेखकों के बारे में प्रचुर अज्ञात सामग्री प्रकाश में आयी। गुप्त को अंग्रेज़ी का थोड़ा-बहुत ज्ञान था, और उसके अनेक साहित्यिक शिष्य अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के अच्छे जानकार थे। वस्तुतः उन्हीं की सहायता से अपनी कुछ उपदेशात्मक कविताओं में वह अंग्रेज़ी कविता का अनुसरण कर सका।

गुप्त, एक साप्ताहिक पत्र 'संवाद प्रभाकर' (जो बाद में दैनिक हो गया) का सम्पादक था और उसकी लगभग सभी रचनाएँ पहले इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं। उसकी महत्त्वपूर्ण कृतियों में संस्कृत से *हितोपदेश* का गद्य और पद्य में एक अधूरा अनुवाद और उसी भाषा के नाट्य रूपक *प्रबोधचन्द्रोदय* का पूरा अनुवाद (1857) शामिल है। इनमें से दूसरी कृति का अनुवाद रंगमंचीय प्रस्तुति के अभिप्राय से किया गया था, इसलिए उसमें गुप्त ने कुछ मौलिक छन्दों और गीतों का समावेश कर दिया। नाटक के रूप में यह कृति निराशाजनक थी पर इसमें समाविष्ट मौलिक छन्द और गीत गुप्त के लेखन में सर्वश्रेष्ठ हैं।

गुप्त ने स्कूल और कालिज के प्रतिभाशाली छात्रों की काव्य-रचना को सक्रिय प्रोत्साहन दिया और वह उनके प्रयासों को अपने पत्र में प्रकाशित करने के लिए सदैव तैयार रहता था। इन नवदीक्षितों के मध्य भाषा के कुछ सर्वोत्तम लेखक थे, उदाहरण के लिए, रंगलाल बनर्जी, दीनबन्धु मित्र और बंकिमचन्द्र चटर्जी। बनर्जी को छोड़कर कवि-यश के ये युवा आकांक्षी केवल यान्त्रिक छन्दों की रचना करते रहे क्योंकि उनके पास उपकरणों और प्रतिभा दोनों की कमी थी। ईश्वरचन्द्र गुप्त का आलोचनात्मक

मानस भले ही सतही और पूर्वाग्रह-युक्त रहा हो, उसके युवा शिष्य उसे कभी पूरी तरह नहीं समझ पाए।

रंगलाल बनर्जी (1826-86) गुप्त का केवल साहित्यिक शिष्य ही नहीं था, बल्कि पत्रकारिता में उसका सहयोगी भी था। गुप्त की तरह, बनर्जी भी लगभग पूरी तरह आत्म-शिक्षित था किन्तु उसकी शिक्षा का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक था। उसका अंग्रेज़ी साहित्य का ज्ञान अच्छा था और संस्कृत साहित्य का ज्ञान ठोस था। प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व में उसकी सक्रिय रुचि थी। राजेन्द्रलाल मित्र ने जब उड़ीसा की वास्तुकला पर अपने बृहद् ग्रन्थों की रचना की तो उससे उन्हें बहुत सहायता मिली थी। जब वे एक सरकारी कर्मचारी के रूप में उड़ीसा में नियुक्त थे तब बनर्जी ने ओड़िया पढ़ी और बाङ्ला में ओड़िया साहित्य पर लेख लिखे। बाह्य संसार को ओड़िया कविता से परिचित करानेवाला वह पहला व्यक्ति था। उसका एक अपना काव्य उड़ीसा के परम्परागत इतिहास के एक क़िस्से पर आधारित था। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक काल में गुप्त की तरह बनर्जी भी समसामयिक बाङ्ला साहित्य का कट्टर समर्थक था। बेथ्यून सोसायटी में पढ़े गये एक ऐसे लेख के जवाब में, जिसमें बाङ्ला साहित्य का अनुकूल मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया था, बनर्जी ने एक लम्बा लेख लिखा, जो सोसायटी में पढ़ा गया और बाद में एक पैम्फ़लेट के रूप में प्रकाशित हुआ (1852)। छः वर्ष के उपरान्त, अंग्रेज़ी के व्यंग्य वीरकाव्य *बात्राशोमुआमाकिआ* के छन्दोबद्ध अनुवाद की भूमिका में, बनर्जी ने अपने विचारों में एक हद तक संशोधन किया और बाङ्ला में यूरोपियन काव्य के आदर्श का अनुसरण करने के लिए प्रबल तर्क प्रस्तुत किया।

टॉड के *ऐनल्स आफ़ राजस्थान* को शिक्षित बंगालियों ने उत्साहपूर्वक पढ़ा और उसने उनकी हीन-भावना के लिए एक हद तक मरहम का काम किया, क्योंकि वे ऐसी पराधीन प्रजा थे, जिनके लिए सैनिक वृत्ति अपनाने की कोई सम्भावना नहीं थी। उस समय के ज्ञात भारतीय इतिहास में बीती हुई शताब्दियों के मुसलमान शासक आक्षेप के लक्ष्य थे और इसलिए शिक्षित बंगाली उन पर पूरा दोष डालकर सन्तुष्ट था। सिपाही-विद्रोह के लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने के कारण ब्रिटिश शासन की प्रतिष्ठा ऊँची हो गयी थी, और पुराने मुसलमान शासकों की प्रतिष्ठा और नीची हो गयी थी। यही कारण था कि राष्ट्रीय उत्साह का भावुक विस्फोट इन मुसलमान शासकों के विरुद्ध उन्मुख हुआ, जो स्पष्ट रूप से हिन्दुओं के विरोधी थे। फिर भी, यह सोचना सही न होगा कि अपने मुसलमान पड़ोसियों के विरोध में मूल बंगाली लेखकों का कोई विशेष उद्देश्य था। समसामयिक साहित्य की पदावली में मुसलमान एक ऐसी पराधीन जाति की निरर्थक खोज के प्रतीकात्मक लक्ष्य थे, जो क्रमशः आत्मसजगता की और बढ़ रही थी।

बनर्जी का *पद्मिनी उपाख्यान* (पद्मावती की कथा, 1858) बाङ्ला में, 'नयी पद्धति' का पहला समाख्यानात्मक रोमांस था और साथ ही यह पहला काव्य था, जिसमें राष्ट्रीयता का विकृत दृष्टिकोण मिलता है। सम्भवतः बनर्जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के अंग्रेज़ी काव्य *कैप्टिव लेडी* (मद्रास, 1848) से संकेत ग्रहण किया। टॉड द्वारा वर्णित दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ की लूट इसका विषय है। आमुख में स्कॉट के रोमांस-काव्यों का अनुकरण है : लोकगाथाओं से भलीभाँति परिचित एक भाट एक सैलानी युवक को कथा सुनाता है। काव्य पूर्णतः समाख्यानात्मक है और इसका काव्य-रूप परम्परागत रोमांस से स्पष्टतः भिन्न है। टॉमस मूर, शेक्सपीयर और बायरन-जैसे अंग्रेज़ी कवियों की कुछ पंक्तियों और अनुच्छेदों की व्याख्या की गयी है। छन्द मुख्यतः पुराना पयार और त्रिपदी है परन्तु पयार की एक पंक्ति को चौदह वर्णों से आगे बढ़ाकर नवीनता लाने का प्रयास किया गया है।

जब बनर्जी का दूसरा समाख्यान-काव्य *कर्मदेवी* (1862) सामने आया तब तक माइकेल मधुसूदन दत्त मुक्त (और अतुकान्त) पयार में दो 'महाकाव्यों' की रचना करके एक विशिष्ट कवि के रूप में अपना स्थान बना चुके थे। किन्तु बनर्जी के काव्य पर दत्त का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता, सिवाय इसके कि काव्य का विभाजन सर्गों में किया गया है (*पद्मिनी* में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं था) और कुछ उपेक्षणीय शैलीगत भंगिमाओं में भी यह प्रभाव दिखाई पड़ता है जो सम्भवतः दत्त द्वारा यांत्रिक रूप से किये गये संशोधन का संकेत करता है (दोनों बाल्यकाल से मित्र थे, क्योंकि उनके परिवार, कलकत्ता के एक दक्षिण-पश्चिमी उपनगर खिदिरपुर में पड़ोसी थे)। *कर्मदेवी* और साथ ही उनके अगले काव्य *शूरसुन्दरी* (1868) की कथा राजपूत इतिहास से ली गयी है। *पद्मिनी* की अपेक्षा *कर्मदेवी* अधिक वर्णनात्मक और समाख्यानात्मक है और उससे लेखक की राष्ट्रीय चेतना का बोध भी अधिक स्पष्ट रूप से होता है। उन्होंने बंगाली लोगों में व्याप्त क्षुद्र ईर्ष्या की भावना और उनके क्रियाकलापों के हर रूप में पुरुषत्व के अभाव की खुले रूप में निन्दा की है।

> हिन्दुस्तान में पारस्परिक सौहार्द का पूर्ण अभाव है : किसी को अपनी जाति, परिवार या मित्रों की चिन्ता नहीं है। तुच्छ धन-सम्पत्ति के संग्रह से लोगों का दिमाग़ चढ़ जाता है : वास्तव में धनवान और अपेक्षाकृत कम धनवान लोगों के बीच भेद करना कठिन हो गया है।
>
> "बंगाल के पुरुषों में पुरुषत्व नहीं है, उन्हें स्त्रियोचित मनोरंजन और आमोद-प्रमोद का शौक है। ऐसा बालक, जिसका प्रिय गुड्डा हुक्का पीता हुआ बूढ़ा आदमी हो, पुरुषोचित मार्ग कैसे अपना सकता है? पश्चिम के लोग पुरुषत्व का फल भोगना चाहते हैं, और वे अपने बच्चों के खिलौनों का ध्यान रखते हैं।"

शूरसुन्दरी में कवि की क्षमता का स्पष्ट ह्रास दिखाई पड़ता है, किन्तु लगभग दस वर्ष बाद लिखे गये अगले काव्य *काँची-कावेरी* (1879) में वे कुछ सँभल गये हैं।

कथा पुरुषोत्तमदास के एक प्राचीन ओड़िया काव्य से ली गयी है, जिसमें ओड़ीसा के इतिहास की सर्वोत्तम रोमांटिक कहानियों में से एक का वर्णन किया गया है। इसकी दिलचस्प ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और धर्मानुराग की अन्तर्धारा में बनर्जी को पहली कृतियों की मिथ्या वीरता की एकरसता और अस्पष्ट राष्ट्रीयता से राहत मिली। शैली सहज है। कथा की रूपरेखा इस प्रकार है–

उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्र के बहुत-से पुत्र थे। उनमें से सबसे छोटे और सर्वश्रेष्ठ पुत्र पुरुषोत्तम का जन्म उसकी रखैलों में से एक के गर्भ से हुआ था। उड़ीसा के अधिष्ठाता देवता जगन्नाथ के द्वारा स्वप्न में दिये गये आदेश के अनुसार, राजा ने पुरुषोत्तम को युवराज घोषित कर दिया। बड़े और वैध पुत्रों ने विद्रोह किया, किन्तु पुरुषोत्तम ने उनका दमन कर दिया और वे देश से भागने के लिए बाध्य हो गये। बूढ़े राजा की मृत्यु हो गयी और पुरुषोत्तम उसका उत्तराधिकारी हुआ। काँची की राजकुमारी कावेरी से उसका विवाह तय हुआ। काँची का राजा अपने चुने हुए जामाता से बात करने के लिए पुरी आया। यह रथ-यात्रा का दिन था। जब रथ चलता है, तो उड़ीसा का राजा, झाड़ूवाले की भूमिका में, एक अलंकृत झाड़ू लेकर सामने प्रस्तुत होता है। यह एक बहुत पुरानी प्रथा थी, जिसका महत्त्व इस बात को व्यंजित करने में था कि उड़ीसा का राजा जगन्नाथ का दीनतम सेवक है। काँची का राजा इस प्रथा के महत्त्व को नहीं समझ सका और उसे यह बात अच्छी नहीं लगी कि सड़क साफ़ करनेवाले की भूमिका निबाहनेवाला व्यक्ति उसकी लड़की से विवाह करे। वह सगाई तोड़कर लौट गया। पुरुषोत्तम ने इसे अपना अपमान समझा और जगन्नाथ के सामने प्रतिज्ञा की कि तीन वर्ष, तीन महीने और तीन दिन के भीतर वह काँची के राजा को अवश्य पराजित करेगा और उसे अपनी लड़की का विवाह एक झाड़ू-बरदार से करने पर बाध्य कर देगा। अपर्याप्त सेना लेकर भी पुरुषोत्तम ने काँची के विरुद्ध कूच किया। इसके बाद जो युद्ध हुआ उसमें यदि जगन्नाथ और उसके भाई बलराम (पुरी के दूसरे देवता) ने घुड़सवारों का छद्मवेश धारण करके, क्रमशः काले और सफ़ेद घोड़ों पर चढ़कर पुरुषोत्तम के लिए लड़ाई न लड़ी होती और उसके लिए युद्ध न जीता होता, जो उड़ीसा का राजा पराजित होता। राजा पद्मावती और काँची के राजभवन के अधिष्ठाता देव गणेश की मूर्ति साथ लेकर राजधानी लौट आया।

पुरुषोत्तम पद्मावती का विवाह एक अत्यन्त निम्न जाति के सड़क साफ़ करनेवाले व्यक्ति से करने के लिए तैयार था, लेकिन उसके मंत्री की चतुराई से यह स्थिति बच गयी। उसने राजा से विवाह को स्थगित करने की प्रार्थना की। राजा भी इस बात के लिए उतावला नहीं था क्योंकि इस समय तक वह राजकुमारी से प्रेम करने लगा था। रथ-यात्रा का दिन आया और राजा अपनी झाड़ू लेकर बाहर निकला। तभी मंत्री पद्मावती को साथ लेकर प्रकट हुआ और उसने उसका दायाँ हाथ राजा के बाएँ

हाथ में थमा दिया। उस समय राजा सड़क का झाड़ू-बरदार था और इस प्रकार पूर्व प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं हुआ।

बनर्जी ने कालिदास के *कुमारसम्भव* (1872) का छन्दोबद्ध रूपान्तर किया और लगभग दो सौ से कुछ अधिक अनाम (उद्भट) संस्कृत छन्दों का अनुवाद किया।

नयी कविता के पहले कवि के रूप में रंगलाल बनर्जी की मुख्य सीमा यही थी कि वह उसके लिए पदावली का निर्माण नहीं कर पाया। प्राचीन काव्य के प्रयोग अब काफ़ी क्षीण हो चुके थे और उसकी अभिव्यंजना घिसी-पिटी और बेरंग हो गयी थी। बनर्जी न तो अपना मुहावरा स्थिर कर सके, न ही वे पुराने शब्दों में नया कथ्य भर सके और न पुरानी अभिव्यंजनाओं को नयी अर्थछटाएँ प्रदान कर सके। उसके पास कल्पना तो थी पर प्रेरणा की कमी थी, और उनकी शैली बाधक थी।

बनर्जी के भाइयों में से एक, गणेशचन्द्र (मृ. 1866) ने भी काव्य-रचना की, जिसमें से कुछ गुप्त के पत्र में प्रकाशित हुई। उनके पिछले छन्दों पर राधा-कृष्ण की लोक-गाथा पर रचित माइकेल मधुसूदन दत्त के सम्बोधन-गीतों का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

□

18

माइकेल मधुसूदन दत्त और उनके अनुयायी

माइकेल मधुसूदन दत्त (1824-1873), या केवल मधुसूदन दत्त, जिस नाम से वे ईसाई मत में दीक्षा लेने से पहले जाने जाते थे, कलकत्ता में वकालत करनेवाले एक सफल वकील के पुत्र थे। अपने बच्चों में बचनेवाली एकमात्र सन्तान होने के कारण स्नेही माँ और उससे भी अधिक स्नेही पिता से उन्हें बहुत लाड़-प्यार मिला था। मध्यवर्गीय परिवारों के दूसरे लड़कों की तरह दत्त की आरम्भिक शिक्षा उनकी मातृभाषा और फ़ारसी में हुई थी और उन्हें कलकत्ता के एक दक्षिण-पश्चिमी उपनगर खिदिरपुर के अंग्रेज़ी स्कूल में दाख़िल कर दिया गया। यहाँ परिवार का अपना घर था। 1837 में उन्होंने खिदिरपुर का स्कूल छोड़कर हिन्दू कालिज में प्रवेश किया जो उन्होंने फ़रवरी 1843 में (जब वे सीनियर विभाग की दूसरी कक्षा में पढ़ रहे थे) ईसाई मत ग्रहण करने के लिए छोड़ दिया। दत्त अपनी कक्षा के सर्वाधिक तेजस्वी विद्यार्थी थे और अपने कालिज में अंग्रेज़ी के सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। डी. एल. रिचर्ड्सन को अपना यह शिष्य बहुत प्रिय था, जो उस समय भी अंग्रेज़ी में छन्द-रचना करने लगा था और उन्हें कलकत्ता की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित करा रहा था। इस उत्तेजनशील और अति संवेदनशील लड़के पर रिचर्ड्सन का गहरा प्रभाव था, पर कुल मिलाकर वह उसके हित के अनुकूल नहीं था।

अंग्रेज़ी के प्रति दत्त का प्रेम, बाह्य प्रभाव के कारण उतना नहीं था जितना पक्का साहब बनने की उसकी अत्यधिक लालसा के कारण था। यही उसके जीवन में असफल होने का प्रमुख कारण भी था। अपने कालिज-जीवन में अंग्रेज़ी लेखन के लिए उसे जो प्रशस्ति मिली, उसने उसका दिमाग़ चढ़ा दिया। वह गौरव के एक स्वप्निल संसार में जीने लगा, जिसे वह किसी-न-किसी दिन इंगलैंड में अंग्रेज़ी के कवि के रूप में स्वीकृति पाकर सिद्ध करने की आशा लगाए था। अपनी कविताओं में यह निरन्तर भावोच्छ्वसित रहता था।

अतलान्तक की व्यापक लहरों को पार करना है यश के लिए
या फिर गुमनाम क़ब्र के लिए।

अपने कालिज के मित्रों पर रचित सानेट में, जब दत्त ने कहा :

"सम्भवतः कुछ यहाँ अलक्षित भाव से मुकुलित हो रहे हैं, जिनके मस्तक पर नौ बहनों द्वारा गूँथी गयी लारियेट-मालाओं के मुकुट होंगे, जिनकी दिव्य वाणियाँ अपने सम्मोहक गीतों से विश्व को मोहित कर लेंगी और समय हर ध्वनि की अनुगूँज को बिखरा देगा युग-युगान्तर तक..."

अक्तूबर, 1842 में कविता के इस युवा व्रती ने 'ब्लैकवुड्स मैगज़ीन' के सम्पादक को अपनी कुछ कविताएँ, निम्नलिखित समर्पण के साथ भेजीं : 'ये कविताएँ कवि श्री विलियम वर्ड्स्वर्थ को, उनकी प्रतिभा के एक विदेशी प्रशंसक के द्वारा अत्यन्त आदरपूर्वक समर्पित हैं—लेखक'। पर इन कविताओं की नियति के बारे में कुछ पता नहीं चला। फ़रवरी, 1843 में दत्त ने अपने परिवार, मित्रों और बिरादरी के कड़े विरोध के बावजूद ईसाई मत ग्रहण करने के लिए कालिज और घर छोड़ दिया। पिता अपनी एकमात्र सन्तान को एकदम नहीं छोड़ सके, और वे बिशप कालिज में, जिसके धर्म-निरपेक्ष विभाग में दत्त ने एक ईसाई छात्र की हैसियत से प्रवेश किया था, अपने बेटे की शिक्षा का व्यय उठाते रहे। यहाँ वह 1848 के आरम्भिक दिनों तक रहा और अंग्रेज़ी के अतिरिक्त उसने लैटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ़ारसी और संस्कृत पढ़ी। बिशप कालिज में शिक्षा पाते हुए दत्त ने कुछ फ़ारसी छन्दों का अंग्रेज़ी छन्दों में अनुवाद किया। जब उसके पिता ने उसका भत्ता बन्द कर दिया तो दत्त ने कालिज छोड़ दिया और कुछ दक्षिणी सहपाठियों के साथ मद्रास चला गया। मद्रास के ईसाई-समाज ने वहाँ के पुरुष अनाथाश्रम से सहबद्ध स्कूल में अंग्रेज़ी के अध्यापक की जगह पाने में उसकी सहायता की। साल बीतने से पहले दत्त का विवाह अंग्रेज़ वंश की एक एंग्लो-इण्डियन लड़की से हो गया, जो नीलगिरि के एक चाय-बाग़ान मालिक की लड़की थी और अब वह पूरे मनोयोग से लिखने में लग गया। उसकी कुछ कविताएँ *मद्रास, सर्कुलर, स्पेक्टेटर, एथेनियुम* में 'टिमथी पेन पोयम' के उपनाम से प्रकाशित हुईं। कुछ समय तक वह *एथेनियुम* और *स्पेक्टेटर* के सम्पादक-मंडल में रहा और कुछ सप्ताह उसने *हिन्दू क्रॉनिकल* का सम्पादन किया। 1852 में दत्त 'मद्रास विश्वविद्यालय' के हाईस्कूल विभाग में सेकेण्ड ट्यूटर हो गया। 'मद्रास विश्वविद्यालय' उस समय मद्रास की केन्द्रीय शैक्षिक संस्था मानी जाती थी। इस पद पर वह 1856 तक रहा। तदुपरान्त उसने कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया।

1848 के दिसम्बर में दत्त ने अंग्रेज़ी में अपना सर्वोत्तम और सबसे लम्बा काव्य, *द कैप्टिव लेडी* प्रकाशित किया, इसके साथ परिशिष्ट के रूप में 'विजन्स आफ़ द पास्ट'—मुक्त छन्द में एक खण्ड जोड़ दिया गया था। *द कैप्टिव लेडी* का विषय कन्नौज और दिल्ली के राजाओं के बीच वह आत्मघाती शत्रुता थी, जिसके कारण बारहवीं शताब्दी के उत्तर काल में मोहम्मद गोरी के लिए दिल्ली पर अधिकार करना सरल हो गया। इस काव्य को ऐतिहासिक काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें इतिहास नाममात्र को है। किन्तु यह पहला काव्य था, जिसमें एक भारतीय लेखक ने,

भले ही परोक्ष रूप से, भारत पर मुस्लिम विजय को विषय बनाया था। नायिका का चरित्र वनवासिनी सीता के आदर्श पर निर्मित किया गया था।

कलकत्ता में *द कैप्टिव लेडी* के मन्द स्वागत ने दत्त का अहंकार क्षीण कर दिया और इसके प्रकाशन के बाद उसे उन काव्यों को पूरा करने का उत्साह नहीं हुआ, जो उसने लिखने आरम्भ कर दिए थे। उसके विचार अब बाङ्ला की दिशा में मुड़ रहे थे। इस बात की जानकारी हमें 18 अगस्त, 1849 को स्कूल-जीवन से अपने अन्तरंग मित्र गौरदास बसाक को लिखे उसके पत्र से होती है, "शायद तुम नहीं जानते कि मैं रोज़ कई घण्टे तमिल पर लगाता हूँ। मेरा जीवन एक स्कूल जाने वाले लड़के से भी अधिक व्यस्त है। मेरी दिनचर्या इस प्रकार है : 6-8 हिब्रू, 8-12 स्कूल, 12-2 ग्रीक, 2-5 तेलुगु और संस्कृत, 5-7 लैटिन, 7-10 अंग्रेज़ी। क्या मैं अपने पूर्वजों की भाषा को सँवारने के महान् लक्ष्य की तैयारी नहीं कर रहा हूँ?"

दत्त के पिता की मृत्यु 1855 में हो गयी—उसकी माँ की मृत्यु के तीन साल बाद। और उसे अपने पिता द्वारा छोड़ी गयी प्रचुर सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करने के लिए कलकत्ता लौटना पड़ा। उसी वर्ष उसने अपनी पहली पत्नी को तलाक देकर, फ्रांसीसी वंश के एक अध्यापक की बेटी हेनरिटा से विवाह कर लिया। यह दूसरा विवाह पूर्णतः सफल हुआ।

दत्त दो फ़रवरी, 1856 को कलकत्ता लौट आया। उसके मित्रों ने पुलिस कोर्ट में हेड क्लर्क की नौकरी पाने में उसकी सहायता की। शीघ्र ही उसकी पद-वृद्धि पुलिस कोर्ट इण्टरप्रेटर के रूप में कर दी गयी। यहाँ से लेकर 1862 के मध्य तक, जब वह इंगलैंड के लिए रवाना हुए, सम्भवतः दत्त के जीवन का सबसे सुखी, सर्वोत्तम और सर्वाधिक फलदायक समय था। उसे सन्तोषप्रद वेतन मिलता था; वह एक लम्बे-चौड़े घर 6, लोअर चितपुर रोड[1] में रह रहा था, जो उसके दफ़्तर के एकदम सामने था, और वह एक भूत की तरह काम कर रहा था, ऐसे नाटक और काव्य लिख रहा था जिनसे बाङ्ला साहित्य में क्रान्ति पैदा हो गयी। वह अपने को वकालत के लिए भी तैयार कर रहा था। दुष्टों के अधिकार से अपनी पैतृक सम्पत्ति को वसूल करना आसान नहीं था। उसमें मुक़दमेबाज़ी, ख़र्च और परेशानी सब-कुछ शामिल था। परन्तु विद्यासागर ने उनकी सहायता की और अच्छे दामों पर सम्पत्ति के बिकने का प्रबन्ध इस प्रकार कर दिया जिसमें भुगतान किस्तों में किया जाए। पर्याप्त आर्थिक संबल के बारे में आश्वस्त होकर कवि पानी के जहाज़ 'केनडिया' से 9 जून, 1862 को इंगलैंड के लिए रवाना हो गया। उसकी पत्नी और बच्चे कलकत्ता में ही रहे। दत्त ग्रेज़ इन में दाख़िल हो गया। परन्तु उसकी फ़िज़ूलख़र्ची, जो घर से पैसे के अनियमित प्रेषण के कारण

1. एक को छोड़कर उसकी सभी बाङ्ला कृतियाँ तभी लिखी गयीं, जब दत्त इस मकान में थे। *वीरांगना* खिदिरपुर में लिखी गयी थी।

और बदतर रूप ले लेती थी, उसकी क़ानून की पढ़ाई में गम्भीर रूप से बाधक हुई, और अगले साल के मध्य तक उसे पेरिस जाना पड़ा। इससे पहले उसकी पत्नी और बच्चे भी भारत से आ गये थे। पेरिस का जीवन एक दुःस्वप्न था और दत्त अपने परिवारसहित वर्साय्य आ गया जहाँ यदि विद्यासागर की उदारता ने उसकी रक्षा न की होती तो वह निश्चय ही डूब गया होता।

यूरोप की ज़रूरत के कारण दत्त को कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ीं, इसका अन्दाज़ा 18 जून, 1866 को लन्दन से विद्यासागर को लिखे गये पत्र के अन्त में 'पुनश्च' से लगाया जा सकता है : "मैं अपनी पत्नी से कहा करता हूँ कि जब मैं कलकत्ता लौटूँगा तो तुम मुझे अपने घर में एक छोटा-सा कमरा और खाने को ढेर सारा भात देना जिससे तन और आत्मा जुड़ा सकें।" वह 1865 के अन्त तक लन्दन लौट गया और शर्तें पूरी कर दीं। 1866 के नवम्बर में उसे वकालत के लिए अदालत में बुला लिया गया। वह फ़रवरी में कलकत्ता लौट आया और हाई कोर्ट से सम्बद्ध हो गया।

कवि-मानस के निर्माण की दृष्टि से यूरोप में उसके प्रवास के पाँच वर्ष एकदम व्यर्थ नहीं गये, यद्यपि उसके लिए अवसर भी कम था और उससे लाभ उठाने की प्रवृत्ति भी कम थी। उसका फ्रेंच का ज्ञान ताज़ा हो गया और उसने अपने भंडार में इतालवी और जर्मन और जोड़ लीं। 9 जनवरी, 1865 को उसने वर्साय्य से विद्यासागर को लिखा : "मैं अपने दुर्भाग्यपूर्ण प्रवास का जितना सदुपयोग कर सकता हूँ, कर रहा हूँ, और मैं बिना किसी दम्भ के कह सकता हूँ कि मैं आज किसी भी अन्य जीवित बंगाली से अधिक भाषाएँ जानता हूँ।" वर्साय्य में दत्त ने बाङ्ला में काफ़ी अच्छी संख्या में सॉनेट लिखे, और इसी के साथ व्यवहारतः उसका साहित्यिक जीवन समाप्त हो गया।

1866 से लेकर 18 जून 1873 को उसकी मृत्यु तक, दत्त का जीवन उत्तरोत्तर कुण्ठा, अवनति और अपकर्ष की ओर बढ़ता गया। इस समय के दौरान उसने केवल कुछ बालोपयोगी कविताएँ और एक रोमांटिक त्रासदी लिखी और *हेक्टर वध* नाम से *इलियड* का गद्य रूपान्तर किया।

जैसा कि हम विवेचन कर चुके हैं, बाङ्ला लेखक के रूप में दत्त पहले पहल नाट्यकृति के साथ सामने आया। किन्तु जैसा कि सामान्यतः मान लिया जाता है, यह केवल संयोग नहीं था। मद्रास में दत्त ने नाटक-रचना पर अपना हाथ, अंग्रेज़ी में एक नाटकीय कविता 'रिज़िया' की रचना करके आज़माया था, जो कभी प्रकाशित नहीं हुई। वे 1849 में ही अपनी लेखनी को बाङ्ला-काव्य की रचना के लिए तैयार कर रहे थे, यह बात उस पत्र से ज्ञात होती है, जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। बाङ्ला में रचना आरम्भ करने से कुछ महीने पहले वह अपने प्रिय भारतीय कवि कालिदास के साथ अपना परिचय एक पण्डित की सहायता से, फिर से स्थापित कर रहा था, और उसकी आरम्भिक रचनाओं पर इस प्राचीन साहित्यकार का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

उसके ऋण के अन्य प्रमाणों के अलावा, *शर्मिष्ठा* में कालिदास के कुछ संक्षिप्त भावानुवाद मिलते हैं। बाङ्ला के उसके पहले वीरकाव्य *तिलोत्तमा सम्भव* का नाम कालिदास के *कुमार सम्भव* के अनुकरण पर रखा गया है। अपने मित्र को लिखे गये एक पत्र में कवि ने स्वीकार किया है कि कुछ सन्दर्भों के 'शृंगारपरक चरित्र' का श्रेय सम्भवतः कालिदास के प्रति पक्षपात को है। साथ ही, दत्त ने बाङ्ला-काव्य की रचना पयार को तुक और छन्द के अन्त में विराम से मुक्त करने के प्रयास से आरम्भ की। चार, चार, चार और दो के चार चरणों में विभाजित पयार की चौदह वर्णों की पंक्ति में (दूसरे चरण के बाद यति के साथ) लय और कथ्य 'पंक्ति' के अन्त के साथ बरबस समाप्त किया जाता था और छन्द की दो पंक्तियों का समतुक होकर द्विपदी का निर्माण करना अनिवार्य होता था। इस प्रकार अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह और शब्दों के सहज क्रम पर रोक लगती थी। दत्त ने तुक का परित्याग कर दिया (इस प्रकार द्विपदी का निर्माण करनेवाली पंक्तियों की सम्बद्धता को खंडित कर दिया) और पहले, दूसरे, तीसरे या अन्तिम चरण के बाद चाहे जहाँ पूर्ण विराम की नियोजना की। यह बाङ्ला छन्द की 'मुक्ति' थी, जिसे दत्त ने सिद्ध किया था। उन्होंने इसे 'अमित्राक्षर छन्द' (अयुग्मक अर्थात् अतुकान्त छन्द) नाम दिया। उसने संकोचपूर्वक इसका प्रयोग, पहली बार, अपने दूसरे नाटक *पद्मावती* की कुछ पंक्तियों में जहाँ-तहाँ किया। उसका पहला बाङ्ला काव्य *तिलोत्तमा सम्भव* (1860), साथ ही प्रौढ़ कृतियाँ *मेघनाद वध, वीरांगना* और उसके सॉनेट सब पूर्णतः इसी मुक्त और अतुकांत पयार में लिखे गये हैं।

पहला काव्य, जिसे लेखक ने 'लघु महाकाव्य' कहा है, चार सर्गों में विभाजित है, जिनमें से पहले दो कवि के कालिज के मित्र राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संचालित, मासिक पत्रिका *विविधार्थ संग्रह* में प्रकाशित हुए। वे दत्त के काव्य के आरम्भिक और अग्रणी समर्थकों में से थे। कथा, जो हिन्दू पुराणों से ली गयी है, क्षीण है। दो दानव भाई सुन्द और उपसुन्द इतने अधिक शक्तिशाली हो गये, कि देवताओं के प्रभुत्व को ख़तरा पैदा हो गया। निदान की सम्भावना के रूप में ब्रह्मा ने सृष्टि की तमाम सुन्दर वस्तुओं का सार एकत्र करके उनसे तिलोत्तमा नाम की एक कन्या का निर्माण किया, जो अब तक की स्त्रियों में सर्वाधिक सम्मोहक नारी थी। उसे उन दोनों भाइयों के पास भेजा गया और वे दोनों उसके प्रेम में पड़ गये। दोनों के मन में उसे अपने लिए प्राप्त करने की इच्छा हुई, परिणामतः दोनों के बीच घातक युद्ध हुआ। जब उन दोनों की मृत्यु हो गयी तो तिलोत्तमा एक तारे में परिवर्तित होकर सौर-चक्र को लौट गयी (पुराण कथा के अनुसार, तिलोत्तमा दिव्य अप्सराओं में से एक थी)।

कवि ने कथा में कुछ नये पात्रों का प्रवेश कराया है—सब कनिष्ठ देवता हैं। उनमें से कुछ बंगाल के लोक-देवता हैं और अन्य कुछ-कुछ छद्म रूप में ग्रीक देवियाँ हैं। 'भक्ति' और 'आराधना' की देवियाँ कवि की निजी सृष्टि हैं। स्रष्टा (ब्रह्मा) में

कभी-कभी ज़ीउस के व्यक्तित्व की झलक दिखाई पड़ती है। होमर का प्रभाव सर्वत्र है, किन्तु भारतीयता प्रधान है। अभिव्यक्ति में यूनानी मुहावरे बहुत नहीं हैं; एक उल्लेखनीय उदाहरण काव्य की देवी के लिए 'श्वेत भुजा' विशेषण का प्रयोग है। यह *इलियड* की तीन नायिकाओं—हेर, हेलेन और आंद्रोमाखे के लिए होमर द्वारा प्रयुक्त 'ल्यूकोलिनोस' का अनुवाद है।

दत्त ने अपनी *तिलोत्तमा* का अंग्रेज़ी अनुवाद करने का प्रयास किया, किन्तु वह आरम्भ की कुछ पंक्तियों से आगे कभी नहीं बढ़ा।

अगले काव्य में (इसे भी एक मित्र को लिखे गये पत्र में लेखक ने 'लघु महाकाव्य' कहा है) रावण और उसके वीर पुत्र इन्द्रजित की, जिसे मेघनाद भी कहा जाता है, करुण गाथा को उठाया गया है। दत्त के मन में भारतीय पुराण-शास्त्र के सबल, शक्तिशाली और हठाग्रही प्रचंड चरित्रों के लिए पक्षपात था, क्योंकि वे ग्रीक पुराणशास्त्र की अभिरुचि और साथ ही उसके अपने चरित्र के अनुरूप पड़ते थे। इसीलिए उसके पहले नाटक की नायिका एक असुर कन्या थी और उसके दो लघु महाकाव्यों के नायक क्रमशः असुर और राक्षस थे। उसने राम-कथा की जानकारी मुख्यतः प्राचीन बाङ्ला कवि कृत्तिवास से प्राप्त की थी, जिसे उसने अपने लड़कपन के आरिम्भक दिनों में उत्कंठित होकर पढ़ा था। इस पुराने बंगाली कवि के सद् प्रकृति के नायक ने उसे कभी प्रभावित नहीं किया; उसका झुकाव जोरावर राक्षसों की ओर था। इसलिए जब दत्त ने लंका की घेराबंदी और उसके पतन को अपने दूसरे 'वीरकाव्य' की कथा के लिए चुना (सम्भवतः ट्राय के पतन से उसकी समानता के कारण) तो सम्भवतः उसने नायकों के रूप में रावण और मेघनाद का चुनाव किया। (उसने समुचित और सामान्य नाम 'इन्द्रजित' की तुलना में असामान्य 'मेघनाद' को पसन्द किया, क्योंकि वह अपने दो दीर्घ स्वरों के साथ अधिक अनुनादमय था) दत्त को लंका के राजा की दुर्दमनीय चेतना और अपने हृदय की बेचैन, दुःसाहसपूर्ण और महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्तियों के बीच कहीं एक प्रकार का धुँधला-सा सम्बन्ध महसूस होता था; अपने राक्षस नायक के समान वह भी यद्यपि बाहर से शान्त और अकेला किन्तु वास्तव में एक अहंकारी व्यक्ति था। उसने एक मित्र को लिखा था कि रावण का विचार उसकी कल्पना को उत्तेजित करता और ऊँचा उठाता है। एक मध्यवर्गीय हिन्दू-परिवार की परम्परा में जन्म लेने और बड़े होने के कारण दत्त से राम के प्रति अश्रद्धा की आशा नहीं की जाती थी। अपने पैतृक धर्म का परित्याग करने के बावजूद, उसमें कभी भी ऐसी भावना थी भी नहीं। परन्तु राक्षसों पर राम की विजय का प्रसंग उसे रुचिकर नहीं था, क्योंकि राम केवल वानर सेना के नायक थे और उनकी विजय केवल रावण के भाई के विश्वासघात के कारण हुई। इसलिए जब वह काव्य का दूसरा भाग लिखने में व्यस्त था, तो उसने एक मित्र को लिखा : "वह

(अर्थात् रावण) एक कुलीन व्यक्ति था, और यदि वह दुष्ट विभीषण न होता तो उसने वानर सेना को समुद्र में धकेल दिया होता।"

मेघनाद वध काव्य प्रेस से 1861 में दो भागों में, कुछ महीनों के अन्तर से प्रकाशित हुआ। संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों के कथन का अनुसरण करते हुए कि 'महाकाव्य में आठ से अधिक सर्ग अवश्य होने चाहिए', काव्य का विभाजन नौ सर्गों में किया गया है। कवि ने वीरकाव्य लिखने के संकल्प के साथ, बड़े ऊँचे स्वर में एक भव्य पूर्वरंग के साथ आरम्भ किया था, पर इस स्वर को बहुत समय तक बनाए नहीं रखा जा सका और भव्यता का निर्वाह भी आद्यन्त नहीं हो पाया। कवि की प्रतिभा अध्यवसायी होने की अपेक्षा विद्रोही अधिक थी, और वह प्रगीतात्मक प्रवृत्ति का भी निरन्तर दमन नहीं कर सका। परिणामस्वरूप जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती गयी, प्रगीतात्मकता की दिशा में उत्तरोत्तर स्खलन होता गया। काव्य की रचना तरंगों में की गयी है, इसलिए न तो स्तर सर्वत्र एक-सा है और न ही उपाख्यानों और घटनाओं के बीच समुचित सन्तुलन बना रहा है।

इन दोषों के बावजूद, *मेघनाद वध* दत्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। मुक्त पयार में यहाँ सहज प्रवाह है, पदावली अस्पष्ट नहीं है और चरित्र-चित्रण व्यक्तिपरक है। होमर, वर्जिल, दान्ते, तासो और मिल्टन की यूरोपियन तकनीक का प्रभुत्व है और चरित्र-चित्रण तथा अभिव्यक्ति में यूनानी संस्कृति न तो अस्पष्ट है और न विरल। परन्तु इसके साथ ही भारतीय अलंकारशास्त्रियों की सभी प्रविधियों का परित्याग नहीं किया गया है, और कुल मिलाकर भारतीय परिवेश सिद्ध कर लिया है। कवि ने भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय कथा के नायकों को बहुत-कुछ अपने युग की चेतना के अनुरूप ढालने में सफलता पा ली है। रावण और मेघनाद की त्रासदी में जितना कवि की चेतना का स्पन्दन है उतना ही उस राष्ट्र का, जो खोई हुई स्वतन्त्रता और विलुप्त गौरव की चेतना के प्रति जागरूक हो रहा था।

मुक्त पयार छन्द में रचित अगला काव्य *वीरांगना* (1862) अपने शीर्षक के बावजूद पूर्णतः प्रगीतात्मक है। पदावली सहज है और छन्द-रचना सुमधुर है। इसमें पुराण और महाकाव्यों की इक्कीस असाधारण महिलाओं के द्वारा अपने पतियों या प्रेमियों को लिखे गये पत्रों का संग्रह है। दत्त ने यहाँ ओविड की *हीरोइदे* का अनुसरण किया है। लैटिन कवि की तरह दत्त ने भी अपने प्रगीतात्मक उल्लास और मृदुता को उस समय पूरी छूट दी है जब उसने नारी का व्यक्तित्व धारण करके रचना की। इन पत्रों में देश-काल की दृष्टि से पर्याप्त दूर इन दो कवियों के बीच इस समान प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

दूसरा पत्र, देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का है। पत्र सोम को सम्बोधित है, जो कुछ समय बृहस्पति के पास विद्यार्थी के रूप में रहा था। तारा इस सुन्दर और सौम्य युवा विद्वान् से प्रेम करने लगी। जब उसने अपनी शिक्षा पूरी कर ली और वह

घर के लिए चलने लगा तो तारा ने अपने इस लज्जास्पद सम्मोहन को व्यक्त करते हुए उसे यह पत्र भेजा था। उन तमाम अवसरों को स्मरण करते हुए जिन्होंने उन दोनों को एक-दूसरे के निकट ला दिया और अपने उन गुप्त प्रयासों का उल्लेख करते हुए जिनसे गुरु के साधारण और संयमपूर्ण गृहस्थ में उसका समय अधिक सुख-सुविधापूर्ण हो सके, तारा आवेगपूर्वक अनुरोध करती है :

> "मुझे क्षमा करना सखे—पला हुआ पक्षी (भी) पिंजरा खुलने पर क्या कभी उसी कारागार में लौटना चाहता है? तुम आना, शीघ्र आना,—हे विहंग राज, तुम मुझे साथ लोगे तो हम कुंज-वन (के विहार) को चलेंगे। आकर अपने चरणों का आश्रय दो—मैं प्रेम-योगिनी हूँ, तुम जहाँ भी जाओगे, मैं चलूँगी, जो भी कहोगे, मैं करूँगी,—तुम्हारे सुन्दर चरणों पर मैं तन-मन से बिक जाऊँगी।"

दत्त का 'वीर' काव्य एक चमत्कार के रूप में आरम्भ हुआ। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब वह अपने पहले 'लघु महाकाव्य' *तिलोत्तमा सम्भव* की रचना में लगा हुआ था, तब भी उसे प्रबल प्रगीतात्मक आवेगों की अनुभूति होती थी। वैष्णव कविता का चिरसम्मानित और घिसा-पिटा कथ्य, राधा और कृष्ण का शृंगार, उसकी रुचि को इसलिए नहीं बाँधता था क्योंकि उसका सम्बन्ध एक वैष्णव-परिवार से था, बल्कि इसलिए भी कि वह अपने देशवासियों[1] और समनाम मधुसूदन कान के वैष्णव गीतों से भी परिचित था। कान के गीत वैष्णव प्रगीतों पर आधारित थे और लोक-संगीत से गृहीत धुनों में गाये जाते थे, इसलिए वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे। कान और दूसरे वैष्णव कवियों का अनुसरण करते हुए, दत्त ने राधा पर रचित सम्बोधन-गीतों के अन्तिम युग्म में अपने हस्ताक्षर कर दिये। पर कान ने अपने हस्ताक्षर 'सूदन' किये और दत्त ने 'मधु'। 1859 में लिखी गयी ये छोटी प्रगीतात्मक कविताएँ, बड़े लम्बे समय तक प्रेस में रहीं और अन्ततः *मेघनाद वध* के दो खंडों के बीच में, 1861 में *ब्रजांगना काव्य* नाम से प्रकाशित हुई। प्रकाशन में विलम्ब का कारण, उसके कुछ प्रिय मित्रों द्वारा उन्हें छोड़ देने का आग्रह था।

इन सम्बोधन-गीतियों की संख्या अठारह है और इनमें प्रकृति की विभिन्न ऋतुओं द्वारा प्रभावित राधा की विविध मनःस्थितियों में कृष्ण के लिए उत्कण्ठा का वर्णन किया गया है। कवि ने सम्बोधन-गीतियों की एक और शृंखला की रचना का विचार किया था जिसमें राधा के प्रेम की विजय की गूँज हो। परन्तु वह इस विचार को व्यावहारिक रूप नहीं दे सका, यद्यपि *ब्रजांगना* का अच्छा स्वागत हुआ था।

ब्रजांगना के सम्बोधन-गीत काव्यकार के रूप में दत्त के कौशल को असन्दिग्ध रूप से प्रदर्शित करते हैं। उसमें तुकान्त छन्दों का वैविध्य है जिनमें से कुछ पहली बार

---

1. दत्त और कान दोनों निम्न मध्य बंगाल के जैसोर ज़िले के निवासी थे। कान दत्त से कुछ वर्ष बड़े थे।

यहीं प्रयुक्त हुए हैं। असमान चरणों से युक्त छन्द-पंक्तियों के अवतरणों की संरचना भी एक महत्त्वपूर्ण नवीनता है। पदावली सरल, सहज और संगीतात्मक है। आरोह-अवरोह और तुकान्त में भारतचन्द्र की मद्धिम अनुगूँजें हैं, और राधा की सखी और 'विश्वासपात्र' (जिसके सामने राधा अपनी भावनाएँ उँडेल देती है) की विवाहित भूमिका, मुख्यतः कान के प्रति और कुछ कम मात्रा में जयदेव के प्रति दत्त के ऋणी होने का संकेत करती है। दत्त के सम्बोधन-गीतों में हमें भक्ति की उस गूँज का अभाव खटक सकता है, जो आरम्भिक वैष्णव कविता में थी, किन्तु वे उतने बनावटी और यांत्रिक नहीं लगते जितने कि वे कीर्तन-गीत, जो सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में सामूहिक रूप से लिखे गये। दत्त को न तो वैष्णव मत से कोई विशेष प्रेम था, न ही उसमें घिसी-पिटी भावुकता के प्रति कोई झुकाव था। परन्तु एक कवि की हैसियत से वह बाङ्ला-प्रगीत-काव्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परम्परागत विषयों के काव्यगत सौन्दर्य से अप्रभावित नहीं रह सकता था। राजनारायण बोस ने, जो उसका समादृत निजी मित्र और उसकी कविता का विवेकशील आलोचक था, अतिरंजित नैतिक पूर्वाग्रह से अभिभूत होकर विषय-वस्तु की अनैतिकता और राधा-कृष्ण के गुप्त प्रेम के लिए इन सम्बोधन-गीतियों की निन्दा की। दत्त ने यह तीखा उत्तर दिया : "जब तुम कविता पढ़ने बैठो, तो धार्मिक पूर्वाग्रहों को बलात् ताक पर रख दो इसके अलावा श्रीमती राधा आखिर इतनी बुरी स्त्री तो नहीं थीं। अगर आरम्भ से उनके पास तुम्हारे विनम्र नौकर की तरह कोई 'चारण' होता, तो वे एकदम दूसरे प्रकार का चरित्र होतीं।"

एक सम्बोधन-गीति में निम्नलिखित उद्धरण का मूल (आरम्भ के दो अनुच्छेद) इस रूप में लिखा गया है :

> "हे सजनी, तुमने इतने फूल क्यों एकत्र किए, जिससे टोकरी भर गयी? क्या मेघों से आवृत रजनी तारों की माला धारण करती है? मैं ब्रजबाला क्यों कोमल कुसुमों को और अधिक प्यार करूँ? मैं ब्रज-कामिनी अब और फूलहार नहीं पहनूँगी। तुमने वनशोभिनी लताओं का भूषण क्यों हर लिया? अलि उसका बंधु है, किन्तु इस हतभागिनी राधा का कोई नहीं है।"

ब्रजांगना ने तत्काल लोकप्रियता अर्जित कर ली, और परम्परावादी काव्य के प्रेमी लोग, जो दत्त के वीरकाव्य और मुक्त छन्द को पसन्द नहीं करते थे, इन सम्बोधन-गीतियों के आकर्षण से अप्रभावित नहीं रह सके। दत्त की सफलता अब पूरी हो गयी।

उसकी कविताओं की अन्तिम पुस्तक 102 सॉनेट रचनाओं का संग्रह है। ये 1865 में फ्रांस में वार्सेल्स में लिखे गये थे, और अगले वर्ष *चतुर्दशपदी कवितावली*

1. यह कविता, जो सॉनेट नं. 3 (बाङ्ला भाषा पर) का पूर्वरूप है, राजनारायण बोस को एक पत्र में भेजी गयी थी।

शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए। कवि ने सॉनेट पर पहली बार *मेघनाद वध*[1] के तीसरे सर्ग की रचना करते समय अपना हाथ आज़माया था। यद्यपि इस प्रयोग की पुनरावृत्ति अगले पाँच वर्ष तक और विदेश-प्रवास में नहीं हुई, किन्तु वे प्रगीति काव्य के इस नये रूप की सम्भावनाओं के प्रति उदासीन नहीं थे, जैसा कि राजनारायण बोस से की गयी टिप्पणी से संकेत मिलता है :

> "मेरी विनम्र राय है कि यदि प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा इसका विकास किया जाए, तो समय रहते हमारा सॉनेट इतालवी सॉनेट का प्रतिस्पर्धी हो जाएगा।"

कलाकृति के रूप में दत्त द्वारा की गयी रचनाओं में सॉनेट सर्वोत्तम है। उनके द्वारा प्रगीत काव्य के इस नये रूप का ग्रहण पूरी तरह सफल हुआ और कवि की पदावली का समास गुण सॉनेट की चुस्त संरचना के लिए अत्यधिक अनुकूल था। यहाँ प्रगीतात्मक प्रवृत्ति को अधिक व्यापक क्षेत्र मिला और कवि के आवेग को अधिक मुक्त अभिव्यक्ति। कुछ कविताओं का विषय उस कवि के गृह-विरह की संस्मरणात्मक भावस्थिति को उद्घाटित करता है, जो सुदूर विदेश में निराशा और व्यथा के अन्धकारपूर्ण समय से गुज़र रहा था। अन्य कविताओं में दत्त ने अतीत और वर्तमान, देश और विदेश[1] के अपने कुछ प्रिय कवियों के प्रति और अपने कुछ समसामयिकों के प्रति, जिनके लिए उसके मन में प्रशंसा-भाव है, सम्मान व्यक्त किया है। कुछ गिने-चुने सॉनेट पुराणशास्त्र और संस्कृत और बाङ्ला साहित्य से गृहीत चरित्रों और घटनाओं पर लिखे गये हैं। निम्नलिखित सॉनेट दत्त की लेखनी का ठेठ उदाहरण है :

> "रे काल, क्या मैंने तेरे सागर-तीर पर अपना नाम लिखने का विफल यत्न किया है? क्या जलराशि की फेनिल तरंगें बार-बार मेरे इस लिखे हुए को अवमाननापूर्वक मिटाने में व्यस्त नहीं हैं? अथवा मैंने यशोगिरि के शिखर पर एक ऐसे शुभ क्षण में गुण रूप यन्त्र से यह अक्षर खोद दिए थे कि विस्मृति न तो इन्हें अपने जल से धो सकती है और न इसे मिट्टी की परत से ढँक सकती है? सूख चुके प्रवाह के पथ में भी लोग जल की कल्पना करते हैं; देवशून्य देवालय में भी देवता अदृश्य रूप से निवास करते हैं, भस्म की राशि वैश्वानर को ढाँके रहती है। इसी प्रकार जब भौतिक शरीर काल का ग्रास हो जाता है, तो यशरूपी आश्रम में प्राण धरती पर बसा रहता है; कुयश पाने पर वह मानो नरक का और सुयश पाने पर आकाश का वासी होता है।"

बोस को लिखे गये एक पत्र में जैसे कि उसने स्वयं अपने विषय में कहा है, माइकेल मधुसूदन दत्त वास्तव में एक प्रबल साहित्यिक क्रान्तिकारी था और उसने जो

---

1. पेट्रार्क (समर्पण) काशीराम, कृत्तिवास, जयदेव, कालिदास, ईश्वरचन्द्र गुप्त, दान्ते, टेनिसन, ह्यूगो और वाल्मीकि।

परिवर्तन किया, वह एक साहित्यिक अभियान था। उसके युग की प्रमुख चेतना प्राचीन समय के रूढ़िग्रस्त और दमघोंटू दकियानूसीपन के विरुद्ध विद्रोह था। इस विद्रोह की चेतना ने दत्त में एक प्रबल सृजनात्मक आवेग का रूप ग्रहण कर लिया और इसकी सजग प्रतिक्रियास्वरूप वह कविता के नाम पर चलनेवाली निरर्थक पुनरावृत्ति और विकृत शब्दाडम्बर के विरुद्ध अकेला संघर्ष करने के लिए खड़ा हो गया। मुक्त छन्द की रचना का उसका प्रयास जितना उसकी प्रतिभा से परिचालित था उतना ही भारतचन्द्र के विरुद्ध उसकी सजग प्रतिक्रिया से, जिनकी वह 'एक सुरुचिपूर्ण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति' के रूप में प्रशंसा करता था किन्तु 'एक अत्यन्त घटिया काव्य-प्रवृत्ति के जनक' के रूप में निन्दा। मुक्त छन्द ने नयी कविता और कल्पना के लिए सहज मार्ग प्रशस्त कर दिया। नयी कविता के पहले लेखक का व्यक्तित्व सशक्त गत्यात्मक और दुःसाहसी था; और शक्तिशाली और दुःसाहसी उसे आकर्षित करते थे। इसी कारण दत्त के 'वीर'-काव्यों के नायक इसी रूप में चुने या ढाले गये हैं; इसीलिए उसके राम, रावण के शक्ति-सम्पन्न और प्रबल व्यक्तित्व के सामने प्रायः भीरुता के पुंज प्रतीत होते हैं।

दत्त की कविता ने निश्चय ही एक निजी पदावली का विकास किया था और शब्दों के एक अपने ढाँचे का आविष्कार किया था। मुक्त छन्द में, असम्बद्ध वाक्य विन्यास और अपवाक्य; ये दो प्रमुक्त युक्तियाँ हैं, जिनकी आवश्यकता अनियत विराम के लिए पड़ती है। वीर-काव्यों में शैली की भव्यता के लिए कोशगत शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करना पड़ा। नामधातु क्रियाओं के निर्माण से, जो भाषा की आत्मा और परम्परा के विरुद्ध नहीं है, पदावली की शक्ति और प्रभावाभिव्यंजकता में वृद्धि हुई, और इस शैली का चरमोत्कर्ष उसकी एकमात्र गद्य-रचना *हेक्टर वध* (1871) में हुआ, जिसकी रचना स्कूल या कालिज में पाठ्य-पुस्तक के अभिप्राय से की गयी थी, किन्तु उसे उस रूप में भी कभी स्वीकृति नहीं मिली। बंगाल के प्राचीन कवियों से शब्द और बिम्ब-योजना उधार लेने में दत्त ने कभी शंका नहीं की और न ही उसके मन में यूरोप के सिद्ध कवियों से ग्रहण करने में कभी कोई संकोच हुआ। उसमें देशज शब्दों और रूपों के प्रयोग का साहस था, बशर्ते उसे वे अपने काव्य के अनुकूल प्रतीत हों। अनेक भाषाओं के ज्ञान के बावजूद, बल्कि शायद इसी कारण, दत्त का अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उसकी कल्पना दो भारतीय महाकाव्यों की पुराकथाओं में विभाजित थी, और इसकी अभिव्यक्ति अक्सर क्लासिकल संकेतों में होती थी—न केवल उसके काव्य में, बल्कि उसके पत्रों में और सामान्य बोल-चाल में भी। जैसाकि उसके कई आलोचकों ने आक्षेप किया है, यह किसी प्रकार का ढोंग नहीं था।

हेमचन्द्र बनर्जी (1838-1903) कला और विधि के स्नातक थे। उनका लम्बा काव्य *चिन्तातरंगिणी काव्य* (1861) एक व्यक्तिगत मित्र की आत्महत्या से प्रेरित था। यह ईश्वरचन्द्र गुप्त और रंगलाल बनर्जी के ढंग पर लिखा गया था। विश्वविद्यालय में

पाठ्य पुस्तक के रूप में इसके निर्धारित होने से तत्काल उनकी प्रसिद्धि एक उदीयमान कवि के रूप में हो गयी। उनके खिदिरपुर के पड़ोसी रंगलाल बनर्जी का प्रभाव उनकी अगली कृति *वीरबाहु काव्य* (1864) पर कहीं अधिक स्पष्ट था। कथा काल्पनिक है, और कवि का उद्देश्य सुदूर अतीत में राष्ट्रवादी हिन्दुओं की साहसी चेतना को प्रक्षेपित करना है। इसके उपरान्त बनर्जी ने कुछ लघु काव्य लिखे, जिनमें से कुछ अंग्रेज़ी से रूपान्तर या अनुवाद हैं। उन्होंने शेक्सपीयर के दो नाटकों *टेम्पेस्ट* (1868) और *रोमियो एण्ड जूलियट* (1895) का रंगमंच-रूपान्तर किया। उसके छोटे काव्यों में एक ऐसी रचना है, जो उनके कृतित्व की सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली कृति है। *भारतसंगीत* (1870) प्रकाशित होते ही शिक्षित युवा बंगाल के लिए लगभग राष्ट्रगान हो गया, जो एक पराधीन देश के रूप में भारत की अधम स्थिति के प्रति अब पूरी तरह सगज होकर आत्मलोचन की मनःस्थिति में था। कविता के आवेगपूर्ण बहाव के कारण शताब्दी के अगले कई दशाब्दों तक बंगाल के साहित्यिक क्रिया-कलाप पर उसका प्रभाव महसूस होता रहा। इसके अलावा शिक्षित जनता की अब तक अव्यक्त ब्रिटिश विरोधी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि इसमें अंग्रेज़ों का नामोल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु काव्य का निहितार्थ अत्यन्त स्पष्ट है, इसीलिए उनके काव्य-संग्रह (*कवितावली,* 1870) के दूसरे संस्करण (1871) से कविता को निकाल देना पड़ा। कवि उस समय कलकत्ता हाई कोर्ट में वरिष्ठ सरकारी वकील था।

बनर्जी ने *मेघनाद वध* के दूसरे सटीक संस्करण (1863) की एक आलोचनात्मक और प्रशंसात्मक भूमिका लिखी, जिसे कवि ने 'एक सच्चे बी. ए.' की लेखनी से निःसृत कहा। परन्तु दत्त के काव्य का बनर्जी पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उनके सबसे विशाल और प्रख्यात काव्य *वृत्र संहार काव्य* पर भी, जो पच्चीस सर्गों में रचित (दो भागों में प्रकाशित, 1875, 1877) एक सम्पूर्ण महाकाव्य है, दत्त का प्रभाव बहुत सतही है। बनर्जी घोर तुक्कड़ थे, और गुप्त के सच्चे उत्तराधिकारी थी। यद्यपि वे उन गिने-चुने समसामयिक कवियों में से थे, जो दत्त के मुक्त छन्द का समुचित रूप में परीक्षण कर सकते थे, किन्तु वे उसका स्वयं प्रयोग करने में असमर्थ था। उनके महाकाव्य के वे अंश, जो मुक्त छन्द में लिखे प्रतीत होते हैं, वास्तव में अतुकान्त पयार के युग्मकों और चतुष्कों में लिखे गये हैं। बनर्जी के पास दत्त की भाषिक पूँजी का अभाव था, और उसके तेज और प्रतिभा का भी। इसमें सन्देह नहीं कि *वृत्र संहार* का फ़लक व्यापक है और विषय महत्त्वाकांक्षी। उसमें दधीचि की पौराणिक कथा है, जिन्होंने उस वृत्र की दानव सेना पर देवताओं की विजय के लिए आत्म-बलिदान दिया था। परन्तु वस्तु-विन्यास घटिया है और कथा-वर्णन प्रायः नीरस है। फिर भी काव्य *मेघनाद वध* की अपेक्षा कहीं लम्बे समय तक लोकप्रिय रहा। कारण ढूँढ़ना कठिन नहीं है। जहाँ दत्त का काव्य विद्वत्तापूर्ण था और उसकी छन्द-रचना विषम और अपरिचित

थी, बनर्जी का काव्य कठिन नहीं था, उसका छन्द सम और परिचित था और उसमें लोक-प्रचलित राष्ट्रीय भाव की अन्तर्धारा स्पष्ट थी। परन्तु शताब्दी का अन्त होते-होते हेमचन्द्र बनर्जी का महाकाव्य अप्रचलित हो गया और उसे केवल कालिज की पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ा जाने लगा, जो उन दिनों वस्तुतः गम्भीर काव्य-रचना का एक उद्देश्य भी था।

बनर्जी ने तीन बृहत् काव्यों की और रचना की, इनमें से एक *छायामयी काव्य* (1880) कुछ अंशों में दान्ते की *ला कामेदिया* का अनुसरण करता है। इसमें कुछ दूर तक छन्द-रचना-कौशल तो मिलता है किन्तु काव्य नाममात्र को है। किन्तु वे हास्य-व्यंग्यमय काव्य, जो चलताऊ शैली तथा बाल-गीतों और लोक-काव्य के थिरकते छन्दों में लिखे गये हैं और साथ ही सामयिक रुचि के विषयों से सम्बद्ध हैं, बनर्जी की रचनाओं में सबसे सफल हुए हैं और उनमें इनकी सच्ची प्रतिभा दिखाई पड़ती है। यहाँ ईश्वरचन्द्र गुप्त के प्रति उनका ऋण-भार और भी अधिक स्पष्ट है।

नवीनचन्द्र सेन (1846-1909) महाकाव्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण लेखक था। वह चटगाँव का निवासी था, कला-स्नातक था और उसने सरकारी नौकरी कर ली थी। एक समय था जब नवीनचन्द्र सेन को एक बड़ा कवि और हेमचन्द्र बनर्जी का उत्तराधिकारी समझा जाता था। लेकिन उसके तत्काल बाद की पीढ़ियों का निर्णय, जो बाद में बना रहा, उसे एक सामान्य कवि से ऊँचा स्थान नहीं देता, यद्यपि उसका साहित्यिक उत्पादन उसके पूर्ववर्तियों, दत्त और बनर्जी के सम्मिलित उत्पादन से भी अधिक था। सेन की आरम्भिक काव्य-कृति 1871 में प्रकाशित हुई थी। परन्तु उसके यश को प्रतिष्ठित करनेवाली कृति *पलाशीर जुद्ध* (1875) थी, जो बायरन के ढंग पर पाँच सर्गो में स्पेन्सेरियन छन्दों में लिखी गयी थी। अगला काव्य स्कॉट के अनुसरण पर लिखा गया एक रोमांटिक काव्य (*रंगमती,* 1880) था। उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना *महाभारत* में उपलब्ध कृष्ण-कथा पर एक काव्य-त्रयी थी। इसका प्रकाशन तीन स्वतन्त्र खंडों में हुआ था—*रैवतक* (1886), *कुरुक्षेत्र* (1893) और *प्रभास* (1896)। रोमांटिक काव्य की इन तीन पुस्तकों में, जिनका ढाँचा पुराण-शास्त्रीय है और जो नैतिक और धर्मतात्त्विक विषयान्तरों से अलंकृत हैं, पाण्डवों के पथ-प्रदर्शक व्यक्तित्व कृष्ण को आर्यावर्त और आर्यावर्त-इतर की संघर्ष-शील चेतनाओं के बीच समझौते का समर्थक चित्रित किया गया है। इस अवधारणा (बल्कि *महाभारत* की इस व्याख्या) में सेन पर बंकिमचन्द्र चटर्जी द्वारा निरूपित कृष्णवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

कविता की दृष्टि से इस काव्य-त्रयी के मुख्य दोष स्पष्ट हैं। लेखक के पास इस विषय के लिए अपेक्षित भव्य और व्यापक कल्पना तथा साथ ही तेजस्विता का अभाव था। भाषिक उपकरण भी पर्याप्त नहीं थे। रोमांटिक कल्पना की झलकियाँ लगभग विरल हैं और चरित्र-चित्रण कभी-कभार ही वास्तविक प्रतीत होता है। ऐतिहासिक वातावरण अक्सर हल्केपन और भावुक उद्‌गारों से बाधित हो गया है। कुल मिलाकर

यह त्रयी कल्पना की विफलता से ग्रस्त है। सेन की परवर्ती रचनाओं पर, जिनमें गद्य और पद्य दोनों शामिल हैं, रुककर विचार उल्लेख करना अनावश्यक है; किन्तु यहाँ *भानुमती* (1900) का उल्लेख किया जा सकता है, जो गद्य और पद्य में लिखा गया एक रोमांस है (संस्कृत की चम्पू शैली की तरह)।

राष्ट्रीय झुकाव से विरहित वह रोमांटिक प्रवृत्ति, जिसमें वैयक्तिकता का रंग है, हेमचन्द्र बनर्जी के सबसे छोटे भाई, ईशानचन्द्र बनर्जी (1856-1897) के *जोगेश* (1881) में प्रबल रूप में दिखाई पड़ी। उसकी अन्य कृतियों में छोटी कविताओं की तीन पुस्तकें हैं (1878, 1880, 1887), जिनमें से कुछ पर वरिष्ठ बनर्जी और सेन का प्रभाव देखा जा सकता है। *जोगेश* असफल प्रेम की करुण कथा है, और उसका नायक अंशतः लेखक का आत्म-चित्रण है। काव्य में बहुत कलात्मकता नहीं दिखाई पड़ती, परन्तु उसमें ईमानदारी का स्पन्दन है, जो बात इस प्रकार की बहुत कम कृतियों के लिए कही जा सकती है।

छन्दोबद्ध रोमांस काव्यों में अक्षयचन्द्र चौधरी (1850-1898) की *उदासिनी* (1874) उल्लेखनीय है। कथा अंशतः पार्नेल की *द हर्मिट* से ग्रहण की गयी है, जो उस समय विश्वविद्यालय में पाठ्य पुस्तक के रूप में निर्धारित थी और इसलिए व्यापक रूप से पढ़ी जाती थी और बार-बार कविता में इसका अनुवाद किया गया था। *द हर्मिट* के सबसे पहले अनुवादक रंगलाल बनर्जी (1858) थे। चौधरी की पद्यावली प्रवाहपूर्ण और प्रगीतात्मक है।

□

19

कथा-साहित्य (गद्य) और बंकिमचन्द्र चटर्जी

कविता की ही तरह गद्य में भी रोमांस-रचना की सबसे पहली प्रेरणा टॉड के 'राजस्थान' तथा इसी प्रकार की अन्य कृतियों से प्राप्त हुई। किसी बंगाली लेखक द्वारा रचित सबसे पहली ऐतिहासिक कहानियाँ सतीशचन्द्र की अंग्रेज़ी में लिखित *द टेल्स आफ योर* (?-1848) हैं। वे कलकत्ता के एक ऐसे परिवार से थे जो अंग्रेज़ी ज्ञान में अग्रणी माना जाता है। हिन्दू कालिज के एक प्रसिद्ध विद्यार्थी भूदेव मुखर्जी (1825-94) बाङ्ला में ऐतिहासिक कथा लिखनेवाले पहले व्यक्ति थे। उनकी *ऐतिहासिक उपन्यास* (1862) नामक पुस्तक में एक कहानी और एक लघु उपन्यास है। दोनों की विषय-वस्तु जे. एच. कॉण्टर की *रोमांस आफ़ हिस्ट्री* से ली गयी है। दूसरी कहानी 'अंगुरीयविनिमय' कॉण्टर की कथा 'द महरट्टा चीफ़' का संशोधित रूप है। इसमें औरंगज़ेब की सेना पर शिवाजी की विजय और उनके और उनकी सुन्दर बन्दिनी मुग़ल सम्राट् की कन्या के बीच आरम्भिक प्रेम का वर्णन है। कथा सुन्दर ढंग से लिखी गयी है, और ऐतिहासिक वातावरण बन रहा है। मुखर्जी की कथा ने बाङ्ला के सर्वप्रथम पूर्ण विकसित उपन्यास, बंकिमचन्द्र चटर्जी की *दुर्गेशनन्दिनी* के लिए आवश्यक रूपरेखा प्रदान की। मुखर्जी की ऐतिहासिक कथा जिस व्यापक प्रशंसा के योग्य थी, उसके मार्ग में उनकी रुक्ष शैली बाधक हो गयी।

सही अर्थ में बाङ्ला कथा-साहित्य अर्थात् बंगाल के जीवन और पद्धतियों का मौलिक चित्रण प्यारीचाँद मित्र (1814-83) ने आरम्भ किया, जो निरपवाद रूप से अपनी मौलिक बाङ्ला रचनाओं में 'टेकचाँद ठाकुर' उपनाम का प्रयोग करते थे, सम्भवतः जिसका अर्थ था, गंजी चाँद वाला सन्त। इन रचनाओं में छह पुस्तकें थीं—खल कथा और सामाजिक, रेखाचित्र, नैतिक पाठ, और उपदेशात्मक एवं आध्यात्मिक कथाएँ—जो सभी मूलतः महिला पाठकों[1] के लिए लिखी गयी थीं। मित्र हिन्दू कालिज के छात्र थे। अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए जाने से पहले उन्होंने बाङ्ला खूब अच्छी तरह पढ़ी थी। वे विविध प्रकार के क्रिया-कलापवाले व्यक्ति थे और उनकी रुचि वैविध्यपूर्ण थी,

1. मैंने ईसाई लेखकों द्वारा अनूदित और रूपान्तरित नैतिक और शिक्षाप्रद कथाओं को छोड़ दिया है, जैसे श्रीमती मुलेन्स कृत *कुलमनि ओ करुणार विवरण*।

जिसमें व्यापारिक कार्य भी शामिल था। अपने पिछले दिनों में मित्र की दिलचस्पी अध्यात्मवाद और धर्मचिन्तन में भी हो गयी थी। किन्तु सामाजिक रेखाचित्रों और उपदेशात्मक कथाओं में उनके समृद्ध और वैविध्यपूर्ण अनुभव का केवल आंशिक उपयोग हो पाया था। प्यारीचाँद मित्र की साहित्यिक गतिविधि 1854 में आरम्भ हुई, जब उन्होंने महिलाओं के लिए उन राधानाथ सिकदर के सहयोग से एक सस्ती पत्रिका आरम्भ की थी, जिन्होंने इस बात की खोज की थी कि एवरेस्ट हिमालय की सबसे ऊँची चोटी है। सम्पादकों ने महसूस किया कि गद्य की प्रचलित परिष्कृत शैली उन्हें लक्ष्य-भ्रष्ट कर देगी, और उन्होंने अपनी निजी सरल शैली निर्धारित की, जो साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की शैली के बीच मध्यमार्ग था।

मित्र की पहली, और सर्वाधिक प्रातिनिधिक रचना *आलालेर घरेर दुलाल* (एक ऊँचे परिवार का लाडला बेटा) मौलिक कथा का सबसे पहला उदाहरण है। यह 1855-57 में पहले एक सस्ती मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई और 1858 में पुस्तक रूप में। इसमें एक बूढ़े आदमी के ऐसे बड़े बेटे के कारुणिक जीवन का वर्णन है जिसने धनोपार्जन तो कर लिया था पर उसके पास समुचित शिक्षा और सद्विवेक का अभाव था। लड़के को मनमर्जी व्यवहार करने दिया गया जिससे अन्ततः उसका सर्वनाश हो गया। परन्तु छोटा पुत्र एक अच्छा बालक था और उसने आख़िर अपने भाई की रक्षा की। कथा स्पष्टतः उपदेशात्मक है और उसमें एक उपन्यास की सम्पूर्णता का अभाव है। परन्तु चरित्र-चित्रण केवल अच्छा ही नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं चटकीला है, और उपाख्यान, यद्यपि असम्बद्ध है, फिर भी जीवन्तता और हास्य से दमकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुगली के निकटवर्ती नगरों में बसी मध्यवर्गीय जनता के तौर-तरीक़ों को बड़े तीखे रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो समसामयिक साहित्य में किसी दूसरी जगह नहीं मिलता। अगर ठक चाचा (शब्दार्थ, ठग चाचा), मुसलमान मुंशी और इसी के सदृश अन्य चरित्रों पर ध्यान दें, तो *आलालेर घरेर दुलाल* को एक खलाख्यानपरक उपन्यास कहा जा सकता है। ठग चाचा एक दुरंगा खलनायक है, पर साथ ही एक इंसान भी है। सोलहवीं शताब्दी के कवि कविकंकण के भाँड़ दत्त की तरह ठक चाचा बाङ्ला साहित्य का अमर खलपात्र है।

माइकेल मधुसूदन दत्त ने जो कुछ बाङ्ला कविता के लिए किया था, वही प्यारीचाँद मित्र ने, यद्यपि अपेक्षाकृत कहीं छोटे पैमाने पर, बाङ्ला कथा-साहित्य के लिए किया। मित्र ने अपनी निजी शैली का निर्माण किया, जो व्याकरण सम्बन्धी अनगढ़ताओं और शाब्दिक अपरिष्कार के बावजूद प्रभावात्मक, जीवन्त और उपयुक्त थी। मित्र की कथा के प्रकाशन से पूर्व (हम मुखर्जी की रोमांटिक कथा को विचार की परिधि से एक ओर हटा दे रहे हैं, क्योंकि वह पूर्णतः मौलिक नहीं थी और उसकी रचना कालिज की पाठ्य पुस्तक के अभिप्राय से की गयी थी), बाङ्ला में कथा-साहित्य का अर्थ था संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू और अंग्रेजी की केवल लोक-कथाएँ और साहसिक

रोमांचक कथाएँ। जैसा कि उनके आरम्भिक आलोचकों में से एक, राजेन्द्रलाल मित्र ने संकेत किया है। मित्र ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने सामान्य पाठक को नीरस छन्द और गद्य में रचित साहसिक लोक-कथाओं के ऊबाऊपन से राहत दिलाई।

मित्र की गद्य-शैली की अन्तःशक्ति और उनके कथात्मक प्रयास की सम्भावनाएँ उन समसामयिक लेखकों के ध्यान से बची रह गयीं, जो अब तक विद्यासागर की शब्दाडम्बरपूर्ण परिष्कृत शैली के सम्मोहन से मुक्त नहीं हो सके थे। इनमें कालीप्रसन्न सिंह (1840-76) अपवाद थे। ये ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने बाङ्ला गद्य में *महाभारत* का निष्ठापूर्वक अनुवाद कराया और उसकी मुद्रित प्रतियों का निःशुल्क वितरण किया, और जिन्होंने बाङ्ला काव्य में माइकेल मधुसूदन दत्त की असाधारण उपलब्धियों के लिए उनका सोत्साह सार्वजनिक अभिनन्दन किया। सिंह ने कलकत्ता के जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक पहलुओं[1] को लेकर कुछ व्यंग्यात्मक रेखाचित्र लिखे। सद्यः समृद्ध लोगों की मूर्खतापूर्ण बेईमानी और भ्रष्ट नैतिकता ने उनका सर्वाधिक ध्यान आकर्षित किया। भाषा एकदम बोल-चाल की बल्कि ठेठ कलकतिया है, और शैली हास्यपूर्ण किन्तु प्रायः अश्लील है। यह स्पष्ट है, सिंह को मित्र की कथा से प्रेरणा मिली परन्तु उसके हाथ अपने पूर्ववर्ती की शैली की असम गरिमा नहीं आयी और साथ ही उसके दृष्टिकोण की मानवीयता और अनुभव की समृद्धि का भी अभाव रहा। सिंह का *हुतोम पेंचार नक्शा* (एक पहरेदार उल्लू के रेखाचित्र, 1862) एक मनोरंजक कृति है, बशर्ते कि कोई सस्ते और अश्लील हास्य को पसन्द करता हो। अब उसका महत्त्व मुख्य रूप से ऐतिहासिक है।

सिंह के रेखाचित्रों को तात्कालिक और व्यापक सफलता मिली, और अनुकर्ताओं की एक भीड़ उठ खड़ी हुई, उनमें से कुछ ने उन प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से लाठी सँभाली जो सिंह के व्यंग्य के लक्ष्य थे। सिंह की शैली को सातवें दशाब्द के कुछ ऐसे लेखकों ने लाभप्रद रूप से ग्रहण किया, जिन्होंने रेनल्ड के उपन्यासों का रूपान्तर किया था। इस वर्ग की सबसे पहली कृति *हरिदासेर गुप्तकथा* (1872) अर्धशिक्षित और विशेषकर अप्रौढ़ लोगों के बीच इतनी लोकप्रिय हुई कि इस प्रकार की 'गुप्त कथाओं' की नियमित पैदावार से कथा-साहित्य के बाज़ार में बाढ़ आ गयी। यह नहीं मान लेना चाहिए कि ये सभी कृतियाँ एकदम अश्लील या सर्वथा तुच्छ थीं। इनमें से कुछ किशोर रुचि के काफ़ी अच्छे रोमांस थे। अब इन विस्मृत कृतियों के बारे में एक बात अवश्य कही जा सकती है—कि वे पूरी तरह एक साहसिक बोल-चाल की शैली में लिखी गयी थीं, जो उनकी तात्कालिक लोकप्रियता के लिए ज़िम्मेदार थी।

---

1. इस बात पर विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि ये रेखाचित्र सिंह के युवा साहित्यिक सहायक ने लिखे थे, जिनका नाम भुवनचन्द्र मुखर्जी था और वे *हरिदासेर गुप्तकथा* के रचयिता थे।

बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838-94) की शिक्षा हुगली कालिज में हुई थी और वे एक रूढ़िवादी परिवार के सदस्य थे। उन्होंने बाङ्ला कथा-साहित्य के लिए वही किया जो माइकेल मधुसूदन दत्त ने बाङ्ला काव्य के लिए किया था, अर्थात् उन्होंने इसमें कल्पना का समावेश किया। दत्त की अपेक्षा चटर्जी अधिक सौभाग्यशाली थे, क्योंकि उन्हें आरम्भ से अपनी पदावली का रूप निश्चित नहीं करना पड़ा। गद्य-शैली पहले से ही परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर चुकी थी; बंकिमचन्द्र को उसकी शुष्क एकरसता को तोड़ना था, उसके भारी-भरकम शब्दाडम्बर की काट-छाँट करनी थी और उसे अनौपचारिक तथा आत्मीय भंगिमा देनी थी। लिखने के क्रम में बंकिमचन्द्र की अपनी शैली में भी उत्तरोत्तर विकास हुआ।

ईश्वरचन्द्र गुप्त के अनुशासन का अनुसरण करते हुए, बंकिमचन्द्र ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कवि रूप में किया। उसके बाद वे कथा-साहित्य की ओर आये। उनका पहला प्रयास बाङ्ला का लघु उपन्यास था, जो किसी घोषित पुरस्कार के लिए प्रस्तुत किया गया था। उन्हें पुरस्कार नहीं मिला और यह लघु उपन्यास कभी प्रकाशित नहीं हुआ। मुद्रित रूप में सामने आनेवाली उनकी पहली कथा-कृति *राजमोहन्स वाइफ़* (जो 1864 में 'इण्डियन फ़ील्ड' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई) थी। इसकी रचना अंग्रेज़ी में हुई है और सम्भवतः यह उस लघु उपन्यास का अनुवाद है जो पुरस्कार के लिए प्रस्तुत किया गया था। उनका पहला बाङ्ला रोमांस *दुर्गेशनन्दिनी* अगले वर्ष (1865 में) प्रकाशित हुआ। भूदेव मुखर्जी की कथा (*अंगुरीय विनिमय*) ने केन्द्रीय कथानक प्रदान किया जो कुछ-कुछ स्कॉट के *आइवनहो* के आदर्श पर गढ़ा गया था। विद्यासागर की परिष्कृत शैली का अनुसरण किया गया है और निम्न कोटि के हास्य के प्रति समसामयिक रुचि के प्रभाव को एक मन्दबुद्धि ब्राह्मण के फ़ालतू चरित्र में स्थान दे दिया गया है। परन्तु कथा एकदम मौलिक और अत्यन्त आनन्दप्रद है। ऐसे पाठकों के लिए लिखी गयी विशुद्ध रोमांचक प्रेमगाथा के लिए, जो केवल वैवाहिक प्रेम से परिचित हों, छद्म ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का औचित्य प्रदान करती है।

अगला उपन्यास *कपाल कुण्डला* (1866) बंकिम द्वारा लिखित सर्वोत्तम रोमांसों में से है। कथ्य प्रगीतात्मक और रमानेवाला है और भावुकता एवं दोहरी कथा के बावजूद उसका निष्पादन कुशलतापूर्वक किया गया है। नायिका, जिसका नामकरण भवभूति के *मालती माधव* की भिक्षुणी के अनुकरण पर किया गया है, अंशतः कालिदास की शकुन्तला और अंशतः शेक्सपियर की मिरांडा के आदर्श पर गढ़ी गयी है। इसकी पदावली मुख्य कथा के प्रगीतात्मक स्वर के अनुरूप है।

अगले रोमांस *मृणालिनी* (1869) में अप्रत्याशित रूप से अनाड़ीपन और स्पष्टतः स्तर में गिरावट का संकेत मिलता है। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रचित एक रोमांचक प्रेम-काव्य है, जो बुरी तरह अव्यवस्थित और उलझा हुआ है। मुख्य चरित्र

अपक्व और अविकसित हैं, और कथा अविश्वसनीय है। पशुपति और मनोरमा की समानान्तर कथा का विकास बेहतर ढंग से एक अलग-कथा के रूप में किया जा सकता था। यह असम्भव नहीं है कि *मृणालिनी* की कल्पना और निष्पादन *कपाल कुण्डला* से पहले कर लिया गया हो।

इसके उपरान्त, केवल गद्य-रोमांस के लेखक के रूप में बने रहने से बंकिम को सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि वे ऐसे लेखक के रूप में सामने आये, जिसका एक निश्चित लक्ष्य था। यह लक्ष्य था, साहित्यिक आन्दोलन के माध्यम से बाङ्ला-भाषी जनता की विचार-शक्ति को प्रेरित करना और इस प्रकार एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण का विधान करना। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने 1872 में मासिक पत्रिका *बंगदर्शन* का प्रकाशन आरम्भ किया। इसी पत्रिका में अन्तिम दो को छोड़कर उनकी सभी रचनाएँ पहले प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं में उपन्यास, कहानियाँ, हास्यपरक रेखाचित्र, ऐतिहासिक और विविध निबन्ध, सूचनापरक लेख, धार्मिक प्रवचन, साहित्यिक समीक्षा और पुस्तक-समीक्षा सब शामिल थे।

दो कहानियों और एक लघु उपन्यास को छोड़कर, बंकिमचन्द्र का कथा-साहित्य नैतिक अन्तर्चेतना और आलोचनात्मक अन्तर्धारा से युक्त घरेलू रोमांस है। *विषवृक्ष* (1873) *बंगदर्शन* में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होनेवाला उनका पहला उपन्यास था। इसका विषय एक घरेलू त्रासदी है, जो विधवा-विवाह के कारण घटित होती है। नगेन्द्र नाम के एक शिक्षित धनी युवक की, जो सुखमय वैवाहिक जीवन बिता रहा है, संयोग से कुन्द (कुन्दनन्दिनी) नाम की एक अनाथ युवती से भेंट हो जाती है। वह उसे घर में आश्रय देने के लिए बाध्य होता है। उसकी पत्नी सूर्यमुखी के एक सम्बन्धी से उसका विवाह कर दिया जाता है, परन्तु शीघ्र ही उसके पति की मृत्यु हो जाती है और वह रहने के लिए फिर लौट आती है। अब नगेन्द्र को कुन्द से प्रेम हो जाता है। सूर्यमुखी को इस बात का बोध होता है और एक कर्त्तव्यपरायणा पत्नी की तरह, पति को प्रसन्न रखने के लिए, उसे अपने पति को कुन्द से विवाह के लिए प्रेरित करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। विवाह हो जाने के बाद वह किसी से बिना कुछ कहे घर छोड़कर चली जाती है। नगेन्द्र को उसके अभाव का भयंकर अनुभव होता है और कुछ ही हफ़्तों में कुन्द के लिए उसका प्रेम क्षीण हो जाता है और वह सूर्यमुखी की खोज में बाहर निकल जाता है। सूर्यमुखी को मृत्यु के मुँह से एक संन्यासी ने बचा लिया था। नगेन्द्र को सूर्यमुखी मिल जाती है और दम्पति में सहज समझौता हो जाता है। कुन्द का दिल टूट जाता है और वह आत्महत्या कर लेती है। उपन्यास में कुछ उपाख्यान और गौण पात्र हैं जो कथा को प्रयोजनीयता की नीरसता से बचाते हैं। इस उपन्यास में बंगाली पाठक को पहली बार मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवर्गीय घरेलू जीवन की अन्तरंग झाँकियाँ देखने को मिलीं। *विषवृक्ष* में बंकिम के वर्णन-कौशल का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। परन्तु, एक सृजनात्मक लेखक के रूप में, चटर्जी के

लिए यह गतिरोध का सूचक है क्योंकि यहाँ से वे अपने-आपको नैतिकता के दावेदार के रूप में प्रतिष्ठित करने लगते हैं, और जीवन के प्रदर्शक या व्याख्याता होने भर से सन्तुष्ट नहीं होते। यह उन्हें एक अप्रगतिशील सुधारक के रूप में भी प्रस्तुत करता है। बंकिम सद्यःस्थापित (1856) कलकत्ता विश्वविद्यालय के पहले दो स्नातकों में से एक थे। फिर भी कुछ अनिवार्य सामाजिक समस्याओं के बारे में उनके विचार रूढ़िवादी थे और वे विधवा-विवाह का समर्थन नहीं करते थे।

चन्द्रशेखर (1877) की क्षति स्पष्ट रूप से दो ऐसे समानान्तर कथानकों के संघात से हुई है, जिनमें सामान्य आधार बहुत कम हैं। दृश्य एक बार फिर अठारहवीं शताब्दी की ओर वापस लौट गया है, परन्तु उपन्यास सही अर्थ में ऐतिहासिक नहीं है। फिर भी, इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है; यह चटर्जी का एकमात्र उपन्यास है जिसमें एक चरित्र, अर्थात् नायिका शैवालिनी का पूरा विकास चित्रित है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि तन्त्र विद्या के लिए लेखक की दुर्बलता के कारण कथानक को क्षति पहुँची है।

अगले उपन्यास *रजनी* (1877) में बिल्की कालिन्स की *ए वुमेन इन व्हाइट* की आत्मचरितात्मेक पद्धति का अनुसरण किया गया। मुख्य भूमिका का सादृश्य *लास्ट डेज़ आफ़ पाम्पेई* में बुलवर लिटन की नाइडिया से है। अन्धी लड़की से सम्बद्ध इस रोमांस में बंकिम एक साहित्यिक कलाकार की दृष्टि से अपने सर्वोत्तम रूप में दिखाई पड़ते हैं। चरित्र-चित्रण सर्वत्र अच्छा है और शैली सहज़ और अकृत्रिम है।

कृष्णकान्तेर विल (कृष्णकान्त की वसीयत, 1878) में बंकिमचन्द्र ने कल्पना के साथ कुछ अंशों में अनुभूति भी जोड़ दी, परिणामस्वरूप वह पश्चिमी उपन्यास के सर्वाधिक निकट पहुँच गया। कथानक कुछ-कुछ *विषवृक्ष* के समान है। कथा का आरम्भ एक घरेलू षड्यन्त्र से होता है, जो एक विवाहित पुरुष को अपनी पत्नी से अधिक आकर्षक एक विधवा युवती के प्रति मोह की ओर ले जाता है और परिणामस्वरूप परिवार के नाश से इसका अन्त होता है। इससे यह उपदेश निकलता है कि एक पतिव्रता पत्नी का आत्म-बलिदान अन्ततः एक पुरुष की आत्मा की रक्षा कर सकता है और विशुद्ध दैहिक प्रेम केवल नाश की ओर ले जाता है।

बंकिमचन्द्र का एकमात्र उपन्यास, जो ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में पूरी मान्यता प्राप्त करने का दावा कर सकता है, *राजसिंह* (1881, जिसका परिवर्तित और परिवर्धित चौथा संस्करण 1893 में निकला) है, परन्तु कथानक का ऐतिहासिक वातावरण प्रायः कम प्रासंगिक उपाख्यानों और ऐसे पात्रों को जोड़ने से बोधित होता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत हैं। बहरहाल, कहानी बड़े दिलचस्प ढंग से कही गयी है।

आनन्दमठ (1882) एक राजनीतिक उपन्यास है जिसमें पर्याप्त कथानक का अभाव है। यह निश्चित रूप से उपन्यासकार के रूप में बंकिम की शक्ति के उतार

को अंकित करता है। इसके कृश कथानक का ढाँचा 1773 में उत्तरी बंगाल में भड़कनेवाले संन्यासी-विद्रोह पर आधारित है। बंकिम ने इसे एक राजनीतिक, धार्मिक रंग दे दिया है। उन्होंने अपने चरित्रों को 'गीता' में निर्दिष्ट 'निष्काम कर्म' और 'दुष्टदमन' के सिद्धान्त से प्रेरित ऐसे निःस्वार्थ देशभक्तों का रूप दिया है, जो कठिनाइयों के रहते भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध करते हैं, जिन्हें वे देश के उस प्रधान शत्रु के रूप में देखते हैं, जो पूर्ववर्ती वर्ष में पड़नेवाले भयंकर अकाल के लिए ज़िम्मेदार था। फिर भी, सरकारी कर्मचारी के रूप में लेखक ने यह दिखाने की कोशिश की है कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य के सम्बन्ध में उसका अन्दाज़ ग़लत है, अतः आनन्दों की असफलता का उत्तरदायित्व वह अंग्रेज़ों की बेहतर सेनाओं और बेईमानी पर डालने के बजाय उनकी अपनी दुर्बलताओं पर डालता है। परन्तु बंकिमचन्द्र, अंग्रेज़ी राज्य को, न केवल भारत भूमि का सच्चा पुत्र होने के कारण ही विशेष पसन्द नहीं करते थे, बल्कि इसके कुछ व्यक्तिगत कारण भी थे। वे क्रमशः शक्तिशाली होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन से भी अनभिज्ञ नहीं थे। *आनन्दमठ* उसका प्रतिशोध होने के साथ-साथ प्रशस्ति भी थी। कथा-साहित्य की दृष्टि से इसे विशिष्ट कृति नहीं कहा जा सकता। पर चूँकि यह बंगाल, और भारत को 'वंदे मातरम्' गीत, जो पहला राष्ट्रीय गीत है, देते हुए हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की व्याख्या और दृष्टान्त दोनों प्रस्तुत करता है, अतः यह इस महान् लेखक की सर्वाधिक जीवन्त कृति है। संयोग से इसने ऐसे विविध धार्मिक, देशभक्तिपरक और राष्ट्रीय क्रिया-कलापों को प्रबल प्रोत्साहन दिया जिनका आरम्भ बीसवीं शताब्दी के पहले दशाब्द में हिन्दू धर्म-प्रचार के कार्य-कलाप से हुआ और चरम परिणति बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन में हुई।

इस बीच बंकिम निरन्तर कला की तुलना में प्रचार को प्राथमिकता दे रहे थे। *भगवद्गीता* और अन्य पाठ्य-ग्रन्थों की 'नववैज्ञानिक' व्याख्या पर आधारित परम्परावादी हिन्दूवाद के पुनरुद्धार ने, जो प्रगतिशील विचारों और ब्रह्म एकेश्वरवाद का प्रतिरोध करनेवाला एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन था और ब्रह्मविद्या से परोक्ष समर्थन पाता था, इस महान् उपन्यासकार को लगभग पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। *देवी चौधुरानी* (1884) उसके इस रूप को पूर्णतः उद्घाटित करती है। इसमें सन्देह नहीं कि कथा भावुकतापूर्ण और रोचक है और बहुत आनन्दप्रद रूप से वर्णित है। कुछ उपाख्यान अपने यथार्थ रूप में सम्मोहक हैं। परन्तु केन्द्रीय चरित्र एक समृद्ध ब्राह्मण युवक की ग़रीब और उपेक्षित पहली पत्नी का विकास *भगवद्गीता* के अनासक्त सिद्ध कृष्ण के सम्प्रदाय का अनुसरण करते हुए एक नारी रॉबिनहुड के रूप में हुआ है, जो अविश्वसनीय और असत्य है।

बंकिम के अन्तिम उपन्यास *सीताराम* (1886) का विषय, उस समय के नपुंसक मुस्लिम शासन के विरुद्ध निम्न मध्यबंगाल के एक हिन्दू सरदार का विद्रोह है। केन्द्रीय चरित्र अच्छी तरह अंकित है, किन्तु अन्य पात्र या तो अत्यधिक

आदर्शवादी हैं या कुल मिलाकर अग्राह्य हैं। कथानक की न तो भली-भाँति कल्पना की गयी है न ही उसकी बुनावट अच्छी है, और शैली भी विषम और अव्यवस्थित है।

उपन्यासों के बाद, बंकिम की विशिष्ट रचनाएँ उनके हास्यपरक रेखाचित्र हैं। *कमलाकान्तेर दफ़्तर* (1875; *कमलाकान्त* नाम से, 1885 में परिवर्धित) में द क्विन्सी के *कन्फ़ेशन्स आफ़ एन इंग्लिश ओपेयम ईटर* की तरह के अर्धविनोदी और अर्धगम्भीर रेखाचित्र हैं। इनमें शैलीकार का सर्वोत्तम रूप दिखाई पड़ता है। बंकिम के गम्भीर निबन्ध दो खण्डों में संकलित हैं। विषयों की व्याप्ति प्रत्यक्षवाद से साहित्यिक आलोचना तक और इतिहास से सामान्य विज्ञान तक है। अपने दो सबसे लम्बे निबन्धों में चटर्जी ने मिल के उपयोगितावाद और काण्ट के प्रत्यक्षवादी मानववाद के मूल विचारों की व्याख्या करने में कठिन श्रम किया है। उसका बंगाल की आर्थिक स्थिति का कृषि-सम्बन्धी विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म है। काश, उन्होंने लोक-जीवन में ऐसी दिलचस्पी बनाए रखी होती। परन्तु दुर्भाग्य से उसकी मानसिकता के वे तत्त्व, जो गुह्य विद्या और तन्त्र-मन्त्र के प्रति आकर्षित हो रहे थे, क्रमशः हावी होते चले जा रहे थे। उपयोगितावाद और बंगाल की कृषक जनता की समस्याओं में उनकी रुचि समाप्त हो गयी और उन्होंने सांख्य दर्शन तथा *गीता* का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उनके जीवन के पिछले वर्ष लगभग पूरी तरह *गीता* और कृष्णवाद की समस्याओं के अध्ययन को अर्पित रहे। इस जिज्ञासा का परिणाम *धर्मतत्त्व* (1888) और *कृष्णचरित* (1882, परिवर्धित सं. 1892) दो ग्रन्थों में प्रस्तुत है। अन्तिम कृति बंकिम की आलोचनात्मक शक्ति और उसके ऐतिहासिक परिदृश्य की स्पष्टता का स्तम्भ है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी एक कहानीकार और रम्याख्यान के विशेषज्ञ थे। इस तथ्य के बावजूद कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण न गहरा था, न आलोचनात्मक, न ही उनका कैनवस व्यापक था, वे एक महान् उपन्यासकार थे। वे मात्र महान् उपन्यासकार से भी कुछ और अधिक थे। वे रास्ता ढूँढ़ भी निकालते थे, और बनाते भी थे। बंकिम ऐसे अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त बंगाली वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनका गृहस्थ-जीवन काफ़ी शान्त था, पर्याप्त सम्पत्ति और कुछ प्रतिष्ठा भी थी, और जो पश्चिमी ज्ञानोदय के प्रकाश-स्तम्भ थे। जीवन की एकमात्र समस्या जिसने उनकी साहित्यिक प्रेरणा को बाधित किया, वह भी हल्का-सा गार्हस्थिक दुःख थी, जो आज अत्यन्त सतही ढंग का प्रतीत होता है। उनके उपन्यासों में व्याप्त उत्साह की ललछौंही दीप्ति निस्सन्देह विक्टोरियाकालीन बंगाल के लम्बे दिनों के सहज जीवन की प्रतीक है। उनके उपन्यासों के पाठक तब भी इस दीप्ति का अनुभव करते थे और आज भी करते हैं। उनसे पहले या बाद में कोई ऐसा दूसरा बंगाली लेखक नहीं हुआ, जिसने बंकिम के समान अन्तःस्फूर्त और सार्वभौमिक लोकप्रियता पायी हो। उनके उपन्यासों का भारत की लगभग सभी मुख्य भाषाओं में अनुवाद हुआ, और उन्होंने उन भाषाओं में साहित्यिक सृजन को प्रोत्साहित करने में सहायता दी।

संजीवचन्द्र चटर्जी (1834-89), बंकिमचन्द्र चटर्जी के एक बड़े भाई थे, और जन्मना 'क़िस्सागो' थे। वे अपने छोटे भाई से बेहतर उपन्यासकार होते, बशर्ते कि वे कम मनमौजी होते और अपने साहित्यिक कार्यों में अधिक स्थिर होते। उन्होंने अपने भाई की मासिक पत्रिका *बंगदर्शन* का उसके पिछले वर्षों में सम्पादन किया और स्वयं भी *भ्रमर* (अप्रैल, 1874 से) नाम की एक छोटी पत्रिका आरम्भ कर दी। दोनों पत्रिकाएँ उनके पुश्तैनी गाँव के घर कांठालपाड़ा (कलकत्ता से उत्तर की ओर लगभग चालीस किलोमीटर दूर) से मुद्रित और प्रकाशित होती थीं। *भ्रमर* के पहले दो अंकों में सम्पादक द्वारा लिखित दो कहानियाँ थीं। इनमें से अन्तिम, सही अर्थ में उस छोटी कहानी के निकटतम थी, जिसका आरम्भ बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। *कंठमाला* (1877) ढीली बुनावट का, एक लापरवाही से लिखा गया उपन्यास है। इसके बीसवें अध्याय में जिस लोकहितैषी समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है, उससे बंकिमचन्द्र ने *आनन्दमठ* का विचार ग्रहण किया। *माधवीलता* (1878-80) में *कंठमाला* के कुछ चरित्रों के पहले के इतिहास का वर्णन किया गया है। कहानी हमें बाङ्ला लोक-कथाओं की याद दिलाती है। कथानक असम्बद्ध है, वर्णन अनियमित है और अन्त आकस्मिक है। परन्तु पितम का चरित्र एक प्यारी सृष्टि है और सम्भवतः लेखक का आत्मचित्र है। जाल प्रतापचन्द्र (1881) में एक अत्यन्त धनी परिवार के एक पारिवारिक षड्यन्त्र की कथा अत्यन्त मोहक ढंग से कही गयी है जो आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी में आकर्षण का केन्द्र हो गयी थी। उसमें जितनी कल्पना है उतना ही इतिहास है, और वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से किया गया है। संजीवचन्द्र चटर्जी की सबसे अधिक विशिष्ट और सबसे प्रसिद्ध रचना उनके *पालामऊ* (धारावाहिक, 1880-82) नामक यात्रा-चित्र है। यहाँ पिछली शताब्दी के छठे दशाब्द की जनजातीय मानव-जीवन की रंगीन पृष्ठभूमि में और छोटानागपुर की पहाड़ियों की अविकृत प्रकृति के सम्मुख लेखक की प्रगीतात्मक अनुभूति को पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है।

संजीवचन्द्र चटर्जी एक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक थे। उनके पास कल्पना और अनुभूति थी, परन्तु वे लापरवाह थे और उनमें अध्यवसाय की कमी थी, जिसके कारण उनकी महत्ता वास्तव में जितनी थी, उससे कम दिखाई पड़ती थी। बड़े चटर्जी केवल गद्य लिखने पर भी कवि थे, जो छोटे चटर्जी कभी नहीं थे, बावजूद इसके कि उन्हें एक काव्य-पुस्तक का लेखक होने का श्रेय (या अश्रेय) है।

निम्न मध्य वर्ग के लोगों का दैनन्दिन जीवन, उनके घटिया ईर्ष्या-द्वेष, क्षुद्र कलह, मूक पीड़ा और सहज उल्लास, तारकनाथ गांगुली (1845-91) के *स्वर्णलता* (1873) का विषय है। यह बाङ्ला में लिखा गया पहला घरेलू उपन्यास है जिसमें कुछ सच्चा यथार्थवाद है। चरित्र सीधे जीवन से लिये गये हैं। बंकिमचन्द्र चटर्जी का कोई प्रभाव न टेकनीक पर है और न शैली पर। गांगुली ने तीन कहानियाँ और दो उपन्यास

और लिखे। इनकी सामग्री भी मुख्यतः उसके निजी अनुभव से आयी प्रतीत होती है। वह सरकारी नौकरी में एक डॉक्टर था।

प्रतापचन्द्र घोष (निधन 1920) का *बंगाधिप पराजय* (1869 और 1884 में, दो खण्डों में प्रकाशित) बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यासों से तनिक भी प्रभावित नहीं था, और विस्तार में यह उन्नीसवीं शताब्दी में रचित एकमात्र ऐसा उपन्यास है, जो अपने समसामयिक अंग्रेज़ी लेखकों की बराबरी कर सकता था। विषय ऐतिहासिक है—अपने अहंकार और कमज़ोरी के साथ घरेलू षड्यन्त्र के सहयोग से जैसोर के प्रतापादित्य का पतन। लेखक सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् था और एशियाटिक सोसायटी का सहायक पुस्तकाध्यक्ष था। इतिहास से पथभ्रष्ट न होने के लिए, आरम्भिक सत्रहवीं शताब्दी के वातावरण का पुनः सृजन करने के लिए और जहाँ तक सम्भव हो सके स्थानीय रंग को बाँध लेने के लिए उसने बहुत श्रम किया। चरित्र-चित्रण अच्छा है। परन्तु कथा के रूप में *डिफ़ीट ऑफ़ द लॉर्ड ऑफ़ लोअर बंगाल* नीरस शैली, लम्बे वर्णनों, उबाऊ और घिसटते ब्यौरों से ग्रस्त है। सारा प्रभाव कुल मिलाकर सपाट है। परन्तु बोझिल होने पर भी उपन्यास को पढ़नेवाली जनता ने इसे एकदम अस्वीकार नहीं किया।

रमेशचन्द्र दत्त (1848-1909), जिन्हें बंगाल के बाहर आर. सी. दत्त नाम से ज़्यादा जाना जाता था, इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे और इंडियन नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने बंकिमचन्द्र चटर्जी के अनुरोध पर ऐतिहासिक और पारिवारिक रम्याख्यान लिखने आरम्भ किए। उनके पहले दो उपन्यास अर्ध ऐतिहासिक रम्याख्यान हैं : *बंगविजेता* (1874) हमें अकबर के युग में विचरण कराता है और *माधवीकंकण* (1877) शाहजहाँ के युग में। अगले दो उपन्यास सच्चे अर्थ में ऐतिहासिक हैं : *महाराष्ट्र जीवन-प्रभात* (1878) में शिवाजी के साथ औरंगज़ेब के संघर्षों का और भारत की एक शक्ति के रूप में मराठों के उदय का वर्णन है, और *राजपूत जीवन-संध्या* (1879) में जहाँगीर के राज्य-काल में राजपूत सैन्यवाद के पतन का वर्णन है। दूसरे संस्करण में चारों उपन्यास एक ही ग्रन्थ में *शतवर्ष* (1879) नाम से प्रकाशित हुए, क्योंकि इनकी कथाएँ हमें क्रमानुसार चार मुग़ल सम्राटों के सौ वर्ष के राज्यकाल के बीच ले जाती हैं। *बंगविजेता* घटनाओं और चरित्रों की भीड़ से ग्रस्त है और उनमें से कुछ का अंग्रेज़ी आधार पूरी तरह आवृत्त नहीं है। *माधवीकंकण* की कथा अंशतः टेनीसन के *इनोक आर्डन* पर आधारित है। तकनीक और शैली दोनों में स्पष्ट रूप से इसमें पूर्ववर्ती रचना की अपेक्षा सुधार है। *जीवन-प्रभात* और बेहतर ढंग से लिखा गया है। दत्त ने यहाँ औरंगज़ेब का चित्रण *राजसिंह* में बंकिमचन्द्र चटर्जी के औरंगज़ेब की तुलना में अधिक तीव्र रूप में किया है। मातृभूमि के प्रति लेखक के प्रेम को भी यहाँ स्पष्टतः अभिव्यक्ति मिली है। *जीवन-संध्या* में इतिहास हावी हो गया है

और कथात्मक रोचकता गौण हो गयी है। घटनाओं की भीड़-भाड़ और वर्णन की तीव्र गति ने कथा-कृति के रूप में इसकी प्रभावात्मकता को बाधा पहुँचाई है।

दत्त के अन्तिम दो उपन्यास पश्चिमी बंगाल में ग्रामीण और नागरिक निम्न मध्य वर्ग के जीवन के सम्बन्ध में मृदुल काव्यात्मक रम्याख्यान हैं। दत्त इस प्रदेश में कुछ समय एक ज़िलाधिकारी नियुक्त किए गए थे, और ज़ाहिर है कि उन्होंने अपने अनुभव से ग्रहण किया। इसी इलाके के ठेठ कृषक-परिवारों का एक ईमानदार चित्र श्रद्धेय लालबिहारी दे के *बेंगाल पेज़ेण्ट लाइफ़* (लन्दन, 1874) में मिलता है। *संसार* (1886)[1] में दत्त ने विधवा-विवाह का डटकर समर्थन किया है। इसमें चटर्जी के ठीक विरोध में प्रस्तुत उसके दृष्टिकोण का संकेत मिलता है और इस छोटे-से उपन्यास की लोकप्रियता इस बात को प्रमाणित करती है कि चटर्जी के *द पॉयज़न ट्री* (*विषवृक्ष*) के प्रकाशन के बाद से पाठक वर्ग मानसिक दृष्टि से कितनी प्रगति कर चुका था। *समाज* (1894) में *संसार* के प्रमुख चरित्रों के परवर्ती जीवन को लिया गया है।

दत्त ने सम्पूर्ण *ऋग्वेद* का बाङ्ला गद्य में अनुवाद किया (1885-87) और समर्थ विद्वानों की सहायता से उन्होंने महत्त्वपूर्ण धार्मिक पाठ्य-ग्रन्थों का, म्यूर के *संस्कृत टेक्स्ट्स* की पद्धति पर अनुवाद सहित संकलन किया। *हिन्दू शास्त्र* के नाम से उसका प्रकाशन दो खंडों में हुआ (1895-96)। *रामायण* और *महाभारत* की कथाओं के, उनके द्वारा किये गये अंग्रेज़ी रूपान्तर पर्याप्त प्रसिद्ध हैं, और बाङ्ला साहित्य के इतिहास का संक्षिप्त सर्वेक्षण भी (*द लिटरेचर आफ़ बंगाल*, 1887)। दो खण्डों में रचित उसकी *सिविलाइज़ेशन इन इंडिया* देश के सांस्कृतिक इतिहास का अच्छा अध्ययन है।

बंगाल के साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास में और कुछ दूर तक राजनीतिक इतिहास में भी, आर. सी. दत्त ने अपनी भूमिका भली-भाँति निबाही। उसका व्यक्तित्व सशक्त था और उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण युग में राष्ट्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

बंकिमचन्द्र चटर्जी के कुछ उपन्यासों का कारुणिक अन्त सामान्य पाठक को अरुचिकर प्रतीत होता था, विशेषकर किशोरों और स्त्रियों को, जो ऐसी कथाओं के अभ्यस्त हो चुके थे, जिनका अन्त हमेशा या तो सुखमय वैवाहिक सम्बन्ध में या आनन्दमय पारिवारिक मिलन में होता था। इसलिए दामोदर मुखर्जी (1853-1907) ने अपने पहले उपन्यास *मृण्मयी* (1874) की रचना, चटर्जी की सर्वोत्तम कारुणिक कथाओं में से एक *कपाल कुण्डला* को सुखान्त तक पहुँचाकर की। *नवाबनन्दिनी* में चटर्जी के दूसरे उपन्यास *दुर्गेशनन्दिनी* की नायिका, आयशा की कहानी को एक मान्य उपसंहार तक बढ़ाया गया है। मुखर्जी ने स्कॉट की *द ब्राइड ऑफ़ लैमरमूर* का

1. लेखक द्वारा *द लेक आफ़ पाम्स* (लन्दन, 1902) नाम से अंग्रेज़ी में अनूदित।

कमलकुमारी में और विल्की कालिन्स के *ए वुमेन इन ह्वाइट* का *शुक्लवसना सुन्दरी* में सफल रूपान्तरण किया है। इनके अलावा उन्होंने एक दर्जन से अधिक मौलिक उपन्यास लिखे। संवेदनमुखर और खुला उपदेशवाद उनके कथा-साहित्य की मुख्य विशेषताएँ हैं।

विशुद्ध काल्पनिक कथानकों को सँभालने की अपेक्षा ऐतिहासिक कथा-लेखन कहीं अधिक सरल कार्य था। इसलिए उन्नीसवीं शती के उत्तर काल के लेखक ऐतिहासिक उपन्यास को अधिक पसन्द करते थे, जो प्रायः इतिहास होते थे और बहुत कम उपन्यास होते थे। पर उनमें कुछ ऐसे थे, जो उस सबसे बेहतर इतिहास थे, जो उस विषय या युग पर इतिहास के रूप में लिखा गया था। इस प्रकार की एक कथा हाराणचन्द्र राहा की *रणचण्डी* (1876) थी। कहानी असम की सीमा पर बंगाल के उत्तरपूर्वी कोने में स्थित कछार के परम्परागत इतिहास में से है। लेखक ने यह कहानी एक नाई के मुख से सुनी थी, जो अपनी युवावस्था में कछार के अन्तिम शासक गोविन्दचन्द्र नारायण का सेवक था। नाई ने यह कथा एक वृद्ध सज्जन से सुनी थी, जो राजा की विधवा का प्रतिनिधि था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक बड़ी बहन, स्वर्णकुमारी देवी (1855-1932) बंगाल की पहली और हर तरह से सुसंस्कृत साहित्यिक महिला थीं। उनका साहित्यिक क्रिया-कलाप निर्बाध रूप से लगभग आधी शताब्दी तक चलता रहा और इस बीच उन्होंने उपन्यास, लघु कहानियाँ, कविता और नाटक सब-कुछ लिखा। उनके पहले उपन्यास *दीपनिर्वाण* (1876) का कथानक पृथ्वीराज की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा से लिया गया था। अगली दो पुस्तकों—*चिन्तामुकुल* (1879), एक उपन्यास, और *मालती* (1879), एक लम्बी कथा का विषय भगिनीसुलभ प्रेम है। उसके बाद के उपन्यासों में *स्नेहलता* (1892) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पहली बार कलकत्ता के मध्यवर्गीय समाज के उन्नतिशील वर्ग की समस्याएँ सामने आती हैं। स्वर्णकुमारी ने कुछ वर्षों तक सफलतापूर्वक भाषिक पत्रिका *भारती* का सम्पादन किया, जो उसके बड़े भाइयों ने 1877 में आरम्भ की थी।

कथा-साहित्य के समसामयिक लेखकों में दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—शिवनाथ शास्त्री (1847-1919) और शिरीषचन्द्र मजूमदार (निधन : 1908)। शिवनाथ शास्त्री की *मेजबउ* (1879) और *जुगान्तर* (1895) उपन्यास रूप में भले ही सुगठित न हों पर वे उस अत्यधिक दिलचस्प दौर के घरेलू और सामाजिक जीवन के अच्छे चित्र प्रस्तुत करते हैं जब रूढ़िवादी परिवार में अंग्रेज़ी शिक्षा को ख़तरे की दृष्टि से देखा जाता था। मजूमदार के रम्याख्यान *शक्तिकानन* (1877), *फुलजानी* (1894) और *विश्वनाथ* (1896), लगभग सौ वर्ष पहले के ग्रामीण जीवन में रोचक समय के देदीप्यमान दृश्य प्रस्तुत करते हैं। वे प्राकृतिक सौन्दर्य में गहरी पैठ और ग्राम्य

रोमांटिसिज़्म के दुर्ग्राह्य वातावरण को बन्दी बना लेने की दुर्लभ प्रतिभा का परिचय देते हैं।

नगेन्द्रनाथ गुप्त (1861-1940) ने, जिनकी ख्याति बाद में पत्रकार के रूप में हुई, अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ उपन्यासकार के रूप में तब किया, जब उनका पहला रोमांटिक उपन्यास *पर्वतवासिनी* 1883 में प्रकाशित हुआ। अगली कृति *लीला* (1885) एक अच्छा घरेलू उपन्यास है। गुप्त अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पहले तक उपन्यास लिखते रहे। इन उपन्यासों में बंकिमचन्द्र चटर्जी के रम्याख्यान के आदर्श का अनुसरण किया गया है, जिसमें भावुकता का तत्त्व प्रधान रहा है। गुप्त ने कुछ कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें कुछ स्थायी मूल्य की हैं।

इन्द्रनाथ बनर्जी (1849-1911) की व्यंग्यपरक रचनाएँ (जिनमें छन्द, रेखाचित्र, कहानियाँ और उपन्यास सब शामिल हैं) किसी समय व्यापक रूप से पसन्द की जाती थीं; सिर्फ़ अपने मूल्य के कारण नहीं बल्कि अपने लेखक के प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी दृष्टिकोण के कारण भी। परन्तु उनके व्यंग्य और वक्रता के मुख्य उपादान, गँवारूपन और अश्लीलता आज के पाठक की रुचि के लिए बहुत भारी पड़ते हैं। अतः बनर्जी अब एक विस्मृत लेखक हैं, यद्यपि उनकी कुछ रचनाएँ इससे बेहतर भाग्य के योग्य हैं। बनर्जी के व्यंग्यात्मक उपन्यास *क्षुदी राम* (1874) से पत्रकार लेखकों के द्वारा प्रगतिशील समाज पर प्रहार करने का फ़ैशन आरम्भ हुआ। एक व्यंग्य काव्य के रूप में पाँच सर्गों में रचित उनका काव्य *भारत-उद्धार* (1877), कहीं बेहतर रचना है।

जोगेन्द्रचन्द्र बोस (1854-1907) प्रतिक्रियावादी परम्परानिष्ठा के सर्वाधिक लोकप्रिय मुखपत्र *बंगवासी* के संस्थापक थे। वे इन्द्रनाथ बनर्जी और उनके मित्र अक्षयचन्द्र सरकार (1846-1917) के नेतृत्व में चलनेवाले साहित्यिक मंडल के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। अक्षयचन्द्र सरकार एक शक्तिशाली लेखक और अच्छे आलोचक थे। बोस ने आधे दर्जन व्यंग्यात्मक उपन्यासों और कहानियों की रचना की, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध *माडेल भगिनी* (1886-88) है। यह वस्तुतः एक ऐसे अत्यधिक प्रसिद्ध परिवार के विरुद्ध निन्दा लेख है, जो अपनी ज्ञानसम्पन्नता और संस्कृति के लिए विख्यात था, बोस की सर्वश्रेष्ठ कृति *राजलक्ष्मी* (1896-1902) भाषा का सबसे बड़ा उपन्यास है। कथानक अंशतः ह्यूगो के *ला मिज़रेबल* पर और अंशतः लोक-कथा और तथ्य पर आधारित है। शताब्दी के आरम्भ में बंगाल और बंगाल के बाहर के जीवन तथा तौर-तरीक़ों को चमक-दमक के साथ चित्रित किया गया है। कुछ गौण पात्र, जिन्हें जीवन से लेकर हल्का-सा व्यंग्यात्मक रूप दे दिया गया है, सुखद जान पड़ते हैं। बसु की अन्य सभी रचनाओं की तरह यह भी विषमता और शब्दाडम्बर से ग्रस्त है। लम्बे वर्णनों, और उबाऊ विषयान्तरों के बावजूद *राजलक्ष्मी* में पठनीयता है।

त्रैलोक्यनाथ मुखर्जी (1847-1919) ने लोक-कथाओं की शैली और तकनीक का सफलतापूर्वक अनुसरण किया। उनकी मनोरंजक कथाओं की विशेषता है, दुर्लभ सहानुभूति और हास्य। *कंकावती* (1892) का कथानक एक बाल-चतुष्पदी के चारों

ओर अच्छी तरह बुना गया है और उसमें *एलिस इन वंडरलैण्ड* के आदर्श का अनुसरण किया गया है। बड़ों के अभिप्राय से छोटों के लिए लिखे गये इस उपन्यास में, सत्य और कल्पना, साथ ही कारुणिक और विरूप, हाथ में हाथ डाले एक विलक्षण कलात्मक सामंजन की ओर बढ़ते हैं। इसमें मूर्खतापूर्ण और घातक परम्परानिष्ठा के विरुद्ध हल्का व्यंग्य है, जो कथा को काफ़ी जीवन्त बनाता है। *मुक्तमाला* की कहानियों को (पुस्तक रूप में 1901 में प्रकाशित) बाङ्ला साहित्य में 'न्यू अरेबियन नाइट्स' कहा जा सकता है, और लेखक की मृत्यु के उपरान्त *डमरूचरित* (1923 में पुस्तकाकार प्रकाशित) शीर्षक के अन्तर्गत संगृहीत विद्रूपात्मक और व्यंग्यात्मक कहानियों के नायक डमरूधर का चरित्र एक साहित्यिक व्यंग्यचित्र है जिसकी तुलना *डॉन क्विग्ज़ोट* और *काइ लुंग* के साथ अच्छी तरह की जा सकती है। मुखर्जी उस साहित्यिक वृत्त के लेखकों में सर्वोत्तम हैं जिनका उदय 'बंगवासी' के सम्पादकीय पद के चारों ओर हुआ। उनकी शैली सरल और गत्यात्मक है और उनके विचार उत्तेजक और दूरदर्शी हैं। उन्होंने विविध विषयों पर लोकप्रिय लेखों की रचना की, जिनमें भारतीय अर्थशास्त्र और विदेशी इतिहास भी थे। उनका पुस्तकाकार संग्रह किया जाना अभी शेष है।

□

20

नाट्य-साहित्य

लोक-मंच का आरम्भ अव्यवसायी लोगों की एक मंडली ने किया था, जिन्हें पहले व्यक्तिगत मंच पर अभिनय करने का थोड़ा अनुभव था। यह राष्ट्रीय उत्साह की बहार का समय था, इसलिए पहली सार्वजनिक नाट्य-मंडली का नाम 'द नेशनल थियेटर' रखा गया। तब तक कोई स्थायी मंच उपलब्ध नहीं था, और प्रदर्शन कलकत्ता के कुछ प्रसिद्ध निजी घरों के बड़े हाल या बरामदों में किये जाते थे। द नेशनल (बाद में द ग्रेट नेशनल) थियेटर का आरम्भ दिसम्बर 1872 में *नील दर्पण* और दीनबन्धु मित्र के कुछ अन्य नाटकों से हुआ, जिन्हें तत्काल आश्चर्यजनक सफलता मिली।

द बेंगाल थियेटर पहला सार्वजनिक थियेटर है, जिसका अपने घर में स्थायी मंच था। इसने ही पहले-पहल अभिनेत्रियों को रखा। इससे पहले पुरुष अभिनेता—स्त्रियों की भूमिकाएँ किया करते थे। बेंगाल थियेटर की सहयोगी पूँजी अठारह युवकों के अंशदान से एकत्र की गयी, जिसमें से प्रत्येक ने एक हज़ार की राशि दी। इसके प्रवर्त्तक और अवैतनिक सचिव शरत्चन्द्र घोष थे। वे एक संस्कृत, धनवान और विचारशील व्यक्ति थे। नेशनल थियेटर ने दीनबन्धु मित्र के नाटकों से आरम्भ किया। ये नाटक मनोरंजन से भरपूर होते थे, और इसलिए उनमें न अलंकृत वेश-भूषा की आवश्यकता होती थी और न मूल्यवान रंग-सज्जा की। बेंगाल थियेटर ने पाइकपाड़ा के राजा बन्धुओं के व्यक्तिगत मंच के वैभव का अनुकरण किया, जहाँ छठे दशाब्द के लगभग अन्त में *रत्नावली* और *शर्मिष्ठा* का प्रदर्शन अत्यधिक सफलता से हुआ था। इन्होंने भी *शर्मिष्ठा* (अगस्त 1873) से आरम्भ किया, जिसका अनुसरण *रत्नावली* और दत्त एवं तर्करत्न की अन्य कृतियों से किया गया।

सन् 1874 के आरम्भ से सार्वजनिक मंच ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बहुत प्रचलित साहित्यिक रचनाओं के नाट्य-रूपान्तरों की ओर ध्यान देना शुरू किया—विशेषकर बंकिमचन्द्र चटर्जी और रमेशचन्द्र दत्त के आरम्भिक रम्याख्यानों की ओर, और माइकेल मधुसूदन दत्त, हेमचन्द्र बनर्जी और नवीनचन्द्र सेन के 'महाकाव्य' और आख्यान-काव्यों की ओर। गम्भीर नाटकों की तुलना में मूकाभिनय, प्रहसन और स्वाँग आदि की माँग, जिनमें से कुछ में समसामयिक लोकापवादों और सनसनीखेज मुक़दमों का चित्रण रहता था, कहीं अधिक थी। 1875 के मध्य तक आते-आते बाङ्ला मंच

पर उपेन्द्रनाथ दास (1847-95) ने आधुनिकतावादी अतिनाटक को आरम्भ किया। अगस्त 1875 में दास *द ग्रेट नेशनल थियेटर* के निर्देशक हो गये और मुख्यतः उन्हीं की गतिविधियों के कारण बाङ्ला-नाट्य-मंच को सरकार और पुलिस का कोप-भाजन बनना पड़ा। प्रिन्स आफ़ वेल्स (बाद में किंग एडवर्ड) ने जो 1875 के अन्त के आस-पास कलकत्ता देखने आये थे, इच्छा प्रकट की कि वे एक बंगाली घर का भीतरी भाग देखना चाहते हैं। किन्तु कोई सम्मान्य बंगाली सज्जन उस समय एक विदेशी को (भले ही वे भारत के साम्राज्य का प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी हो) अपने महिला-कक्ष के भीतर ले जाने को तैयार नहीं हुआ। अन्त में प्रदेश के एक ब्राह्मण सज्जन ने, जिनकी वकालत कलकत्ता हाईकोर्ट में कुछ चल निकली थी, और जो जूनियर सरकारी वकील नियुक्त थे और प्रादेशिक विधान-परिषद् के मनोनीत सदस्य थे (अतः अधिकारियों से परिचित व्यक्ति थे), सरकारी अनुग्रह की सीढ़ी पर और आगे चढ़ने के लिए इस अवसर का लाभ उठाया। युवराज ने घर के अन्तरंग भाग को देखा और यह पहला अवसर था, जब एक बंगाली घर के महिला-कक्ष में किसी विदेशी का एक सम्मान्य अतिथि के रूप में स्वागत हुआ।

इस घटना ने कलकत्ता के उच्च समाज में निन्दा की बाढ़ ला दी। हेमचन्द्र बनर्जी ने एक प्रादेशिक व्यक्ति की अपने आपको कलकत्ता के समाज की उच्चतम पंक्ति में प्रतिष्ठित करने की इस चतुर युक्ति पर तीक्ष्णतम प्रगीतात्मक व्यंग्य कविता लिखी। सरकार का समर्थन प्राप्त होने के कारण इन सज्जन को जाति-बहिष्कार का सामना नहीं करना पड़ा, परन्तु वे पूरी तरह दण्ड से नहीं बच सके। यह दण्ड एक अप्रत्याशित स्थल से मिला। उसके आचरण पर *द ग्रेट नेशनल थियेटर* में 26 फ़रवरी 1876 को घोर निन्दा-नाटक का मंचन किया गया। पुलिस ने उसका तत्काल दमन कर दिया, किन्तु 3 मार्च को फिर एक दूसरे शीर्षक के अन्तर्गत उसका प्रदर्शन किया गया। सरकार ने बाध्य होकर एक अध्यादेश और उसके बाद एक अधिनियम ज़ारी किया जिससे प्रादेशिक शासन को निन्दापरक, राजद्रोहात्मक और अश्लील नाट्य-प्रदर्शनों पर रोक लगाने का अधिकार प्राप्त हो गया। परन्तु पुलिस ने इस नये अधिकार का प्रयोग विवेकपूर्वक नहीं किया। उपेन्द्रनाथ दास के भावुकतापूर्ण नाटक *सुरेन्द्र-विनोदिनी* (बेंगाल थियेटर में, 18 अगस्त, 1875 को सबसे पहले प्रदर्शित) पर नीचे के न्यायालय ने अश्लील प्रदर्शन होने का आरोप लगाया (यद्यपि उसमें ऐसा कुछ नहीं था और उच्च न्यायालय में अपील करने पर यह निर्णय रद्द कर दिया गया)।

सार्वजनिक नाट्य-मंच के प्रारम्भ होने के बाद से नाट्य-रचनाओं और रंगमंचीय प्रदर्शनों के पीछे दो प्रेरणाएँ बराबरी से काम करती रहीं। एक का उद्देश्य शिक्षाप्रद था, जो अब हल्के से राजनीति की ओर झुक गया था। 'राष्ट्रीय' चेतना, शिक्षित बंगाली के हृदय में भारत की पराधीनता का बोध जगाने की प्रवृत्ति, उन अनेक नाटकों में अभिव्यक्त हुई—जो 1873 में सार्वजनिक मंच की स्थापना के बाद प्रदर्शित किये

गये—वे चाहे गम्भीर नाटक हों, कामदी हों, या ऑपेरा के ढंग के हों। दूसरा उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना था, और उसने आरम्भ में विविध दिशाएँ अपनाईं जो कुछ समय बाद इकट्ठी होने लगीं। विद्रूप और प्रहसन की अतीत से अविच्छिन्नता (अर्थात् हास्यकर 'यात्रा') बनाए रखी गयी। देशी संगीत-नाटक ऑपेरा और संगीतात्मक खंडों के रूप में, जो लोकप्रियता में दिन-प्रतिदिन प्रगति कर रहे थे, मंच पर एक नया रूप धारण कर रहे थे। आठवें दशाब्द के आरम्भ से ऑपेरा पुराणशास्त्रीय विषयों में गम्भीर नाटक के साथ जुड़ रहा था। इन नाटकों को भक्तिपरक नाटक कहा जा सकता है। इन नाटकों में, जिनका आरम्भ छठे दशाब्द के उत्तरार्ध में मनमोहन बसु ने किया था, धार्मिक भक्ति का स्वर शक्तिशाली और तीव्र होता जा रहा था। गिरीशचन्द्र घोष के नाटकों में वह चरम सीमा को पहुँच गया। वे उस युग के धर्मगुरु रामकृष्ण परमहंस (1833-86) के भक्त हो गये थे।

नाटक की शैली में एकमात्र उल्लेखनीय नया परिवर्तन, 1881 में राजकृष्ण राय द्वारा नियमित मुक्त छन्द का आरम्भ था, जिसका आधार दत्त का मुक्त छन्द था। इसका अधिक सुरुचिपूर्ण प्रयोग गिरीशचन्द्र घोष ने अपने कुछ गम्भीर नाटकों में किया। रंगमंच के शिल्प में अगली शताब्दी के तीसरे दशाब्द के आरम्भिक वर्षों तक कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। यह तभी हो सका जब व्यावसायिक मंच को उन शिक्षित अभिनेताओं और निर्देशकों का सहयोग मिला, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संगीतात्मक नाटकों के प्रदर्शन देखे थे। गम्भीर नाटकों में राष्ट्रीय आन्दोलन ने पहली बार हरलाल राय के रोमांटिक नाटक *हेमलता* (1873) और तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल पर मुस्लिम-विजय को लेकर लिखे गये अर्ध-ऐतिहासिक नाटक *बंगेर सुखावसान* (1874) में अपने लिए स्थान बनाया। राय के अन्य नाटक मौलिक नहीं हैं : *रुद्रपाल* (1874) *हेमलेट* का रूपान्तर है, और *शत्रुसंहार* (1874) और *कनकपद्म* (1875) क्रमशः संस्कृत नाटकों—*वेणीसंहार* और *शकुन्तला* पर आधारित हैं। पाँचों नाटक सफलतापूर्वक मंच पर प्रस्तुत किये गये। *हेमलता* सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। राय सरकारी नौकरी में एक स्कूल में अध्यापक था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक बड़े भाई, ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर, अपने समय के अत्यन्त सुसंस्कृत लोगों में से थे। वे वायलिन और पियानो के असामान्य रूप से अच्छे वादक थे, वे संगीत-रचना करते थे, अच्छी चित्रकारी करते थे और प्रभावपूर्ण गद्य लिखते थे। वे एक सुदर्शन व्यक्ति थे और वे अव्यावसायिक व्यक्तिगत मंच पर सफल हुए थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाल्य-काल की अद्‌भुत प्रतिभा के साहित्यिक और कलात्मक विकास के निर्देशन में सर्वाधिक योगदान दिया था। नाट्य-मंच (व्यक्तिगत) से बड़े भाई का सम्बन्ध तभी जुड़ गया था जब परिवार के कुछ युवकों ने जोड़ासाँको थियेटर की स्थापना की थी। ज्योतिरिन्द्रनाथ का पहला नाटक *किंचित् जलजोग* (1872) था। यह एकांकी प्रहसन था, जिसमें केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में

ब्राह्मों के एक वर्ग के प्रगतिशील सामाजिक विचारों का उपहास किया गया था। इस प्रहसन का हल्का-फुल्का हास्य मनोरंजक है, और यह सार्वजनिक नाट्य-मंच पर भी सफल रहा (1872-75)।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर, उनके पुत्रों ने और मित्रों ने एक प्रकार से पहले राष्ट्रीय समागम—हिन्दू मेले का प्रवर्त्तन किया, जो इण्डियन नेशनल कांग्रेस का अग्रदूत था। देवेन्द्रनाथ, जिन्हें उनके प्रशंसक देशवासी 'महर्षि' कहा करते थे, के नेतृत्व में ठाकुर-परिवार अन्तर्तम तक राष्ट्रभक्त था, और उन्होंने राष्ट्रीय प्रेम और सभी राष्ट्रीय गतिविधियों को अक्षय सहायता दी। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्रों और मित्रों ने आरम्भिक राष्ट्रगीत और भजन लिखे। ज्योतिरिन्द्रनाथ के पहले गम्भीर नाटक *पुरुविक्रम*[1] (1874) में हमें विकासमान राष्ट्रीय चेतना की पहली बार अविच्छिन्न साहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। पुरु या पोरस, जैसा कि उसे ग्रीक लोग कहते थे, उस भारतीय चेतना का उपयुक्त प्रतीक था, जो परवशता की स्थिति में भी दुर्दमनीय थी, और सिकन्दर सुविधा सम्पन्न ब्रिटिश लोगों का स्थानापन्न था। यह नाटक बहुत अच्छी तरह नहीं लिखा गया था परन्तु मंच पर दिखाए जानेवाले सामान्य नाटकों से कहीं बेहतर था। इसलिए मंच पर उसकी सफलता अप्रत्याशित नहीं थी।

उनका अगला नाटक, *सरोजिनी* (1875) एक त्रासदी है, जिसमें प्रबल देशभक्ति के साथ पैतृक स्नेह के द्वन्द्व का चित्रण किया गया है। वस्तु-विन्यास अच्छा है और उस पर माइकेल मधुसूदन दत्त की *कृष्णकुमारी* और यूरीपिडीस की *इफीजेनिमा इन आलिस* (रेनां का फ्रेंच अनुवाद) का प्रभाव दिखाई पड़ता है। ज्योतिरिन्द्रनाथ के नाटकों में यह सबसे सफल नाटक था और इसकी लोकप्रियता बहुत लम्बे समय तक बनी रही। एकाधिक जात्रा-नाटकों में इसका रूपान्तरण हुआ और सारे देश में प्रदर्शन। उनका प्रहसन *एमन कर्म और कोरबो ना* (मैं ऐसा काम फिर नहीं करूँगा, 1877) भी व्यक्तिगत और सार्वजनिक, दोनों प्रकार के मंचों पर असाधारण सफलता के साथ प्रदर्शित किया गया। शीर्षक बाद में बदलकर *अलीक बाबू* (झूठा बाबू, 1900) कर दिया गया। यह बाङ्ला में मिलनेवाले सर्वोत्तम प्रहसनों में से है, और व्यंग्य और अश्लीलता से एकदम मुक्त है।

तीसरा गम्भीर नाटक, *अश्रुमती* (1879), पारिवारिक कर्तव्य और देश-भक्ति के साथ प्रेम के संघर्ष को प्रस्तुत करता है। कथा राजपूत इतिहास से ली गयी है; अकबर के पुत्र के प्रति प्रताप की पुत्री के प्रेम की मुख्य कथा के लिए मुग़ल सम्राट् अकबर के साथ चित्तौड़ के महाराणा प्रतापसिंह के संघर्ष की कथा पृष्ठभूमि का कार्य करती है। *अश्रुमती* का प्रदर्शन विशेष सफल हुआ। ज्योतिरिन्द्रनाथ की अगली रचना एक छोटा-सा संगीत-नाटक *मानमयी* (1880) है। बाद में उसका नाम *पुनर्वसन्त*

---

1. इसका गुजराती भाषा में अनुवाद हुआ था।

(1899) रख दिया गया। इसका कृश कथानक कुछ-कुछ *ए मिड समर नाइट्स ड्रीम* पर आधारित है।

उनका चौथा और अन्तिम गम्भीर मौलिक नाटक *स्वप्नमयी* (1882) है। इसका विषय सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरकाल की एक ऐतिहासिक घटना है। दक्षिण-पश्चिम बंगाल के शोभासिंह और रहीम ख़ाँ ने सन्धि करके मुग़ल शक्ति के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने उत्तर में बर्दवान की ओर अभियान किया और राजा कृष्णराम राय का वध कर दिया। शोभासिंह ने उसके राजमहल पर अधिकार करके उसकी पुत्री सत्यवती को बन्दी बना लिया। जब उसने उसके साथ बलात्कार करने का प्रयास किया तो सत्यवती ने उसे मारकर आत्महत्या कर ली। कथानक का निर्माण इस कथा पर किया गया है। नाटक को ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐतिहासिकता पर काल्पनिकता हावी हो गयी है। पहले तीन नाटकों से *स्वप्नमयी* संरचना और शैली में भिन्न है। चरित्र-चित्रण अधिक पैना है और प्रगीत तत्त्व प्रधान है। इन बातों में और कथानक के परिचालन में, लेखक के सबसे छोटे भाई के प्रभाव को निश्चिन्त से स्वीकार किया जा सकता है। उन्हीं की लेखनी से काव्य-पंक्तियों की रचना हुई है और कुछ हास्यप्रधान दृश्यों की भी। *स्वप्नमयी* के बाद ज्योतिरिन्द्रनाथ की मौलिक कृतियों में केवल एक प्रहसन, *हिते विपरीत* (1896), और दो संगीत-नाटिकाएँ थीं (1900)। उनकी मौलिक रचनाओं की संख्या उनके द्वारा किये गये अनुवादों की तुलना में बहुत कम है। उन्होंने बाङ्ला में संस्कृत के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद (1899-1904) किया, साथ ही भास के हाल ही में खोजे गये नाटकों का भी। अंग्रेज़ी के दो नाटकों का भी, जिनमें से एक शेक्सपीयर का *जूलियस सीज़र* (1907) है। फ्रेंच से उसने मौलियर के दो प्रहसनों का अनुवाद किया, *ला बुर्जुआ जांतिरयोम* (*हठात् नवाब* शीर्षक से, 1881) और *ला मारियाज फ़ोर्से* (*दाये पोड़े दाराग्रह* अर्थात् *बलपूर्वक विवाह*, शीर्षक से 1902)।

उनकी गद्य-रचनाओं में कुछ निबन्ध हैं, बहुत-सा अनुवाद फ्रेंच से, कुछ अंग्रेज़ी से और थोड़ा-सा मराठी से है। उन्होंने ही बाङ्ला पाठकों का परिचय फ्रेंच के मोपासां, मेरिमे, गोतिए, लोती और अन्य महान् लेखकों से कराया।

सही अर्थ में अतिनाटक का आरम्भ ग्रेट नेशनल थियेटर (1875-76) के अभिनेता-निर्देशक उपेन्द्रनाथ दास ने किया। वे उस निन्दा-लेख के रचयिता थे, जो दिसम्बर 1876 के 'ड्रैमेटिक परफ़ोर्मेन्सेज़ कण्ट्रोल एक्ट' के लिए ज़िम्मेदार हैं। दास के दो नाटकों *शरत्-सरोजिनी* (1874) और *सुरेन्द्र-विनोदिनी* (1875) में देशभक्ति और रोमांस, एक रोमांचक रचना के सनसनीखेज़पन से अलंकृत हैं। *सुरेन्द्र-विनोदिनी* का कथानक अंशतः तथ्य पर आधारित है। दोनों नाटक, विशेषकर परवर्ती, मंच पर बहुत सफल रहे। उनका दूसरा नाटक, *दादा ओ आमी* (बड़ा भाई और मैं, 1887), जो

अंग्रेज़ी नाटक, *ब्रदर बिल एण्ड आई* पर आधारित है, तब लिखा गया था जब दास इंगलैंड में थे। दास ने सार्वजनिक मंच को नयी शक्ति दी।

राजकृष्ण राय (1854-94) गद्य और पद्य, दोनों की रचना में असामान्य रूप से दक्ष थे, विशेषकर पद्य-रचना में। उनके पास प्रतिभा थी पर उन्हें उसके विकास का अवसर कम मिला। उन्हें आरम्भ से ही स्कूल की शिक्षा लगभग नहीं के बराबर मिली और अपनी लेखनी पर ऐसे समय में निर्भर रहना पड़ा जब व्यवसाय के रूप में लेखन की स्थिति एकदम अनिश्चित थी। राय एक ऐसा थियेटर चलाते थे, जिसमें स्त्री पात्रों की भूमिका युवा लड़के किया करते थे। उनके बहुत-से नाटक अपने मंच के लिए ही लिखे गये थे। राय के गम्भीर नाटक, पुराणों से ली गयी भक्तिपरक कथाओं पर आधारित हैं। इस प्रकार वे कुछ दूर तक सार्वजनिक मंच को लोकप्रिय जात्रा-प्रदर्शनों के निकट लाने के लिए ज़िम्मेदार थे।

राय के आरम्भिक प्रयास दो संगीत-नाटिकाएँ थीं, सावित्री-सत्यवान की कथा पर आधारित *पतिव्रता* (1875), और भरत मुनि के द्वारा नाटक की सृष्टि पर आधारित *नाट्यसम्भव* (1876)। इसके उपरान्त कुछ पुराण-कथाओं पर आधारित गम्भीर नाटकों की बारी आयी, जिनमें से पाँच *रामायण* पर आधारित हैं और दो का विषय इतिहास से लिया गया है। इन नाटकों को बंगाल थियेटर और अन्य मंचों पर बड़ी सफलता से प्रदर्शित किया गया। *प्रहलाद चरित्र* ने सफलता का कीर्तिमान स्थापित किया। उन्होंने बहुत-से हल्के-फुल्के प्रहसनपरक रेखाचित्र भी लिखे थे। एक सप्ताह से भी कम समय में लिखे गये नाटक *हरधनुर्भंग* (1881) में राय ने अनियमित मुक्त छन्द का प्रवर्त्तन किया जिसमें शीघ्र ही गिरीशचन्द्र घोष के हाथों संशोधन हुआ। राय ने फ़ारसी और उर्दू के कुछ रोमांटिक क़िस्सों को भी नाट्य-मंच पर लोकप्रिय बनाया।

राजकृष्ण राय अथक काव्य-रचना करते थे। *रामायण* और *महाभारत* के अनुवादों के अलावा भी उनकी बीसियों काव्य-पुस्तकें हैं, और उन्होंने कुछ वर्षों तक *बीना* (1885) नाम की एक मासिक काव्य-पत्रिका का संचालन किया। उन्होंने एकाध उपन्यास लिखे और गद्य और पद्य में कुछ क़िस्से भी। उनके अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोगों में हैं अनियमित मुक्त छन्द और दूरान्तरप्रवाही अन्त्यानुप्रास के प्रयोग और अनमने ढंग से रचित गद्य-काव्य। राय सूझ-बूझ के आदमी थे, परन्तु उन्हें अपनी प्रतिभा का समुचित उपयोग करने का अवसर नहीं मिला।

गिरीशचन्द्र घोष (1844-91?), बंगाल के नाटककारों और अभिनेताओं में सबसे प्रसिद्ध थे और सार्वजनिक मंच से, दिसम्बर 1872 में उसके आरम्भ से ही सम्बद्ध थे, और उसके बाद स्थापित अधिकांश नाट्यालयों से किसी-न-किसी समय उनका सम्बन्ध रहा। एक कुशल अभिनेता के रूप में उनकी ख्याति की स्थापना के उपरान्त, नाट्य-मंच की अपेक्षाओं ने उन्हें बंकिमचन्द्र चटर्जी के रम्याख्यानों और

माइकेल मधुसूदन दत्त और अन्य लोगों की कविताओं को रंगमंचीय नाटक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। इन्होंने वर्ष 1873 से 1877 के दौरान लघु आपेरा या संगीत-नाटक लिखने आरम्भ किए। गम्भीर नाटकों का आरम्भ '81 से हुआ, जब उन्होंने अपनी पहली मौलिक कृति *आनन्द रह* लिखी, जिसे वे 'ऐतिहासिक नाटक' कहते थे। पर न तो वह ऐतिहासिक था और न ही एक सीमा के आगे नाटक था, साथ ही वह सफल भी नहीं हुआ। घोष ने तब पुराकथाओं पर आधारित अर्ध-धार्मिक नाटक लिखने आरम्भ किए, और *रावण-वध* उसी वर्ष में लिखा गया। कुछ सन्तों और अवतारों के जीवन और क्रिया-कलाप पर रचित उनके नाटकों में क्रमशः भक्तिपरक और धार्मिक प्रवृत्ति प्रबलतर होती गयी और उससे नाटकीय रोचकता को क्षति पहुँची। इन नाटकों में सर्वोत्तम है, *बुद्धदेव-चरित* (1885)। यह एडविन आर्नल्ड के *लाइट आफ़ एशिया* पर आधारित था। इसके उपरान्त घरेलू और पुरातात्त्विक त्रासदीय नाटकों की बारी आयी। सर्वसम्मति से, इनमें से सर्वश्रेष्ठ नाटक है, *प्रफुल्ल* (1891)। इसमें अंकित घरेलू त्रासदी अतिशयोक्तिपूर्ण है और अतिरिक्त रोदनकारी विशेषताओं से ग्रस्त है। घोष के नाटकों के अन्तिम वर्ग में (1905-11) समसामयिक स्वदेशी आन्दोलन की देश-भक्ति का भावावेग प्रतिबिम्बित होता है। इनका प्रमुख स्वर प्रचण्ड क्रियाशीलता और प्रतिशोध का न होकर, सहिष्णुता के प्राचीन आदर्श से गम्भीरतापूर्वक जुड़े रहने का है, जिससे विवेकानन्द के उपदेशों का प्रबल प्रभाव सूचित होता है।

घोष अथक रूप से लिखते रहे; और उनके नाटक, जिनकी संख्या अस्सी से भी अधिक है, और जो विशेष रूप से उनके अपने अभिनय और निदेशन के सहारे टिके रहे, नाट्य-मंच पर बहुत सफल हुए थे। वह जानते थे कि उनके दर्शक निश्चित रूप से क्या चाहते हैं। सामान्य दर्शकों को मंच पर प्रस्तुत मनोरंजक कार्यक्रम उस स्थिति में अच्छे लगते थे जब नाटक और अभिनय भावुकता की सीमा तक पहुँच जाते थे, हल्के-फुल्के व्यंग्य से दिलचस्प बने रहते थे और उनमें अन्तराल के साथ गीतों की समुचित योजना की जाती थी। घोष के नाटक अपने दर्शकों की रुचि के अनुकूल होते थे और उनमें ऐसा कुछ नहीं रहता था जो उनके मानसिक अहं को विक्षुब्ध करे। इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि उनके नाटकों की रचना उस समय हुई थी जब एक प्रकार का सुधारवादी हिन्दूवाद शिक्षित समाज के बढ़ते हुए वर्ग में समर्थन पा रहा था।

घोष के सामाजिक नाटक कलकत्ता में निम्न मध्यवर्ग के जीवन से सम्बद्ध हैं। परन्तु उन्होंने इस जीवन की केवल सीमा का स्पर्श किया था; मनुष्य का अन्तर उनकी समझ से परे रहा और त्रासदी भावुकता से नहीं बच सकी। मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन की वास्तविक समस्याओं और साथ ही समस्त अन्तर्बाधाओं और प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति-चरित्र के अनिवार्य तत्त्वों को वह अनुभव नहीं कर पाते थे। घोष ने

केवल उस मंच के लिए लिखा, जो ऐसे दर्शकों की चिन्ता करता था, जो नाटक देखकर अपने पैसे वसूल करने की उम्मीद करते थे। इस दृष्टि से उनके नाटक हमेशा बहुत सफल हुए।

अमृतलाल बोस (1853-1929) दूसरे ढंग की योग्यता से सम्पन्न एक और ऐसे नाटककार थे, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक मंच से आरम्भ से अन्त तक बना रहा। बोस अभिनय और लेखन दोनों में हास्यकार थे। उन्होंने ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के प्रहसनों से सीधे प्रेरणा ग्रहण की परन्तु वे इन्द्रनाथ बनर्जी के द्वारा गद्य और पद्य में रचित विद्रूपों और व्यंग्यों के अपेक्षाकृत अपरिष्कृत प्रभाव के प्रति भी उदासीन नहीं थे। सामान्य रूप से बोस ने सार्वजनिक मंच पर हास्य को एक बेहतर रूप और अधिक मनोरंजक दिशा देने में बहुत योगदान दिया। बोस के एक-दो प्रहसन मौलियर की कामदियों पर आधारित हैं; उदाहरण के लिए *कृपणेर धन* (1900) *लवर* पर आधारित था। *चोरेर उपर बाटपाड़ी* (1876) वोकेशियो की एक कहानी पर आधारित था। शेष सामयिक रुचि की घटनाओं पर आधारित हैं। किन्तु उनके सर्वोत्तम प्रहसन सामाजिक असंगतियों और विकृतियों तथा व्यक्तिगत प्रकृति-वैशिष्ट्रय के विरोध में लिखे गये हैं। इस प्रकार की सबसे विशिष्ट रचना है, *विवाह विभ्राट्* (1884)। इसमें अर्धशिक्षित युवकों और युवतियों के द्वारा आत्मप्रदर्शन के हास्यास्पद प्रयास में व्यक्त दम्भ का भास्वर चित्रण किया गया है। साथ ही इस चित्र का दूसरा पहलू भी भुलाया नहीं गया है; इंग्लैंड से तत्काल वापस लौटे एक विवाहयोग्य पुत्र के पिता द्वारा वधू के पिता से भारी दहेज वसूलने के उत्कण्ठापूर्ण प्रयास को भयंकर रंगों से पाट दिया गया है।

बोस ने कुछ रोमानी नाटक लिखे थे। इनमें सबसे पहला था *हीरक चूर्ण* (1875)। यह एक सामयिक राजनीतिक मसले पर आधारित है। यह मसला था—तत्कालीन बड़ौदा के गायकवाड द्वारा ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट अफ़सर को मदिरा-पात्र में हीरे का चूर्ण डालकर मारने का प्रयास। किन्तु उसके बाद के नाटकों में, जिनमें से अधिकांश रोमांटिक हैं, हास्य-तत्त्व की प्रबलता है। इनमें से *खास दखल* (1911) और *नवयौवन* (1913) का उल्लेख किया जा सकता है।

बोस के नाटकों में गिरीशचन्द्र घोष की गम्भीरता का अभाव है। बोस शिक्षक न होकर मनोरंजनकर्त्ता थे, यद्यपि उनकी कामदियों का नैतिक प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है।

जब घोष और बोस अपनी सक्रियता की पराकाष्ठा पर थे तभी रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने निजी पारिवारिक मंच पर संगीत-नाटकों और गम्भीर नाटकों के लेखक और साथ ही उनमें अभिनेता के रूप में सामने आये। संरचना और प्रदर्शन दोनों ही दृष्टियों से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियाँ अब तक जो कुछ भी सामने आ चुका था, उससे कहीं उत्कृष्ट थीं। परन्तु *राजा ओ रानी* (1889) नाम के एकमात्र नाटक को

छोड़कर बहुत समय तक ठाकुर के नाटक सार्वजनिक मंच पर प्रस्तुत नहीं किये गये। *राजा ओ रानी* मंच की दृष्टि से पूर्णतः सफल हुआ, परन्तु जैसी आशा की जाती थी उसकी लोकप्रियता सीमित थी। *राजा ओ रानी* के प्रदर्शन से कलकत्ता में नाट्य-शिल्प की उन्नति के चिह्न दिखाई पड़े। परन्तु प्रभाव स्थायी नहीं हुआ, क्योंकि इसके उपरान्त पच्चीस वर्ष से भी अधिक समय तक बाङ्ला के सार्वजनिक थियेटर में ठाकुर के नाटकों पर रोक लगा दी गयी थी। नाट्य-अभिनेता के रूप में अपने समय के कुछ सर्वोत्तम अभिनेताओं पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव की स्वीकृति अमृतलाल बोस ने *अमृतमदिरा* (1903) की अपनी एक कविता में की है।

द्विजेन्द्रलाल राय (1863-1915) या डी. एल. राय, जिस नाम से वे सामान्यतः जाने जाते थे, सरकार के प्रशासनिक अफ़सर थे और कृषि में प्रशिक्षण के लिए ब्रिटेन भेजे गये थे। नाट्यकार के रूप में उन्होंने अमृतलाल बोस के पदचिह्नों का अनुसरण किया। उनका पहला नाटक *कल्कि अवतार* (1895) एक विद्रूप था। यह बाल-गीतों के ढंग से मुक्त छन्द में लिखा गया है और इसमें कुछ हास्य-गीत हैं, जो उनके परवर्ती प्रहसनों में भी नाटक के सबसे मनोरंजक अंश का निर्माण करते थे; साथ ही वे उनकी साहित्यिक रचनाओं के सर्वाधिक टिकाऊ अंश होते थे। राय के दो गम्भीर नाटकों में से एक *रामायण* पर और एक *महाभारत* पर (जिसका नाम *भीष्म* था और जो 1913 में उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ) आधारित है। *रामायण* पर आधारित नाटक *पाषाणी* (1900) और *सीता* (1902) पद्य में हैं। पहला रवीन्द्रनाथ की पद्धति पर पूर्णतः मुक्त छन्द में लिखा गया है। नाटक को इन्द्र के द्वारा अहिल्या के शील-भंग की कथा की अत्यन्त आधुनिक व्याख्या माना जा सकता है। चरित्र-चित्रण पर गिरीशचन्द्र घोष का प्रभाव दिखाई पड़ता है। गीत स्पष्ट रूप से ठाकुर का अनुकरण हैं। तुकान्त छन्द में रचित दूसरा नाटक *सीता* निस्सन्देह उनके नाटकों में सर्वोत्तम है।

ताराबाई (1903) और *सोराब-रोस्तम* (1908) नाटक की अपेक्षा भावुकतापूर्ण काव्य अधिक है। पहले का कथानक राजपूत इतिहास से लिया गया है। दोनों में गीतों की बहुलता है, विशेषकर *सोराब रोस्तम* में। *सोराब रोस्तम* के मुक्त छन्द पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। नाटक में विदेशी वातावरण को बनाए रखने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है।

द्विजेन्द्रलाल राय के बाद वे नाटक गद्य में लिखे गये हैं और उनकी कहानियाँ राजपूत इतिहास से ली गयी हैं। उपेन्द्रनाथ दास के दो लोकप्रिय नाटकों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। इनमें कुछ गीत हैं, जिनकी धुनें स्वयं लेखक ने (जिनमें संगीत की दुर्लभ प्रतिभा थी) यूरोपीय संगीत से लेकर बनाई हैं। इन गीतों ने इन नाटकों की लोकप्रियता को बढ़ावा दिया और लम्बे समय तक ये मंच पर बहुत सफल रहे। इन छद्म-ऐतिहासिक नाटकों का मूल स्वर एक प्रकार की भावुकतापूर्ण देशभक्ति का था। राय के ऐतिहासिक नाटकों में सर्वोत्तम था *शाहजहाँ* (1910), और यह नाटककार के

रूप में लेखक की कमज़ोरियों को सबसे कम प्रकट करता है। राय को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उनके नाटकों ने सार्वजनिक मंच को रोदनात्मक त्रासदी और लिजलिजी धार्मिकता से उत्पन्न दमघोटू वातावरण से मुक्त करने में बहुत दूर तक योगदान दिया।

कलकत्ता कालिज में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद (1863-1927) पहले-पहल 1895 में संगीत-नाटकों और ऑपेरा के लेखक के रूप में सामने आये। इनमें से एक है, *अलीबाबा* (1897), जो *अरेबियन नाइट्स* के अत्यधिक प्रसिद्ध क़िस्से पर आधारित है। *अलीबाबा* को बाङ्ला के सार्वजनिक मंच का आपेरा शैली का सदाबहार नाटक माना जाता है और इसके पहले प्रदर्शन के उपरान्त आधी शताब्दी बीत जाने पर भी इसकी लोकप्रियता को विशेष क्षति नहीं पहुँची है। लेखक ने यात्रा-प्रदर्शनों के आरम्भ और बीच में प्रकट होनेवाले पुरानी चाल के हास्य-चरित्रों को पुनरुज्जीवित करने की सुखद प्रवृति का परिचय दिया है। परन्तु उसने उन्हें एक नये आवरण में प्रस्तुत किया है। संगीत (पूर्णचन्द्र घोष द्वारा) और नृत्य (नृपेन्द्रचन्द्र बोस द्वारा) की संगत बहुत अच्छी है। बंगाल के सार्वजनिक मंच के इतिहास में इस नाटक का ऐतिहासिक महत्त्व है।

विद्याविनोद ने संगीतात्मक, ऐतिहासिक, धार्मिक, कामदीय और रोमानी आदि बहुत-से नाटक लिखे। उन्होंने सामाजिक नाटकों की रचना नहीं की। उनके सभी नाटकों में कथा-सम्बन्धी रोचकता का पूरा ध्यान रखा गया है। धार्मिक और पौराणिक नाटकों में कथानक का अतिरिक्त धार्मिक और नैतिक मूल्य रोमानी रोचकता के अधीन रहा है अतः नाटकीय गुण में वृद्धि हुई है। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष और रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दोनों का अत्यन्त विवेकपूर्वक कुछ-कुछ अनुकरण किया है। उन्होंने तकनीक में घोष का और वस्तु-विन्यास में ठाकुर का अनुसरण किया है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण एक *रामायण* नाटक, *रघुवीर* (1903) है। उनकी पहली कृति *फुलशैया* (1904) मुक्त छन्द में रचित एक अर्ध-ऐतिहासिक नाटक है जिसमें मुख्यतः रवीन्द्रनाथ के नाटकों का अनुसरण किया गया है। उनके अन्तिम नाटक *रत्नेश्वरेर मन्दिरे* (1922) पर सिनेमा की नव-परिचित तकनीक का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कथा मौलिक है।

□

21

स्वच्छन्दतावाद

समसामयिक काव्यकारों में, संस्कृत कालिज के बिहारीलाल चक्रवर्ती (1834-94) ऐसे कवि थे, जिन्होंने काव्य-रचना अन्तःप्रेरणा से की, किसी बाहरी दबाव या उद्देश्य से नहीं। वे कलकत्ता के एक परिवार से थे, और उन्होंने संस्कृत का अध्ययन एक विद्वान् की तरह न करके काव्य-प्रेमी की तरह किया था। उन पर वाल्मीकि, कालिदास का गहरा प्रभाव पड़ा था। वे अंग्रेज़ी जानते थे, पर स्कूल में उसका विशेष अध्ययन नहीं किया था। यह बात इस दृष्टि से अच्छी रही कि उन्हें अंग्रेज़ी काव्य ने उस तरह अभिभूत नहीं किया जिस तरह माइकेल मधुसूदन दत्त और अन्य लोगों को किया था। इसके साथ ही उन्हें बाङ्ला साहित्य के प्राचीनतर कवियों की गहरी समझ थी। इन सब कारणों के संयोग से चक्रवर्ती एक ऐसे कवि बन गये, जो अपने समसामयिकों से भी पूर्णतः भिन्न थे, उनके पूर्ववर्तियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने सही अर्थ में कभी अतुकान्त काव्य नहीं लिखा।

चक्रवर्ती की पहली काव्य-कृति एक गीत-शतक था, जो पुरानी पद्धति पर लिखा गया था। इसके बाद उन्होंने *पूर्णिमा* (1858) नाम की एक पत्रिका आरम्भ की और उसके बन्द हो जाने के बाद *अबोध बन्ध* नाम से एक और, जो केवल चार वर्ष (1866-69) चली। उनकी कविताएँ और कुछ गद्य-रचनाएँ पहले इन दो पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। उनके पहले काव्य-संग्रह, *बन्धु-वियोग* (1863) के चार सर्गों में कवि की पहली पत्नी और बाल्यकाल के तीन मित्रों की मृत्यु पर खेद प्रकट किया गया है। कविताओं में ईश्वरचन्द्र गुप्त की पद्धति का अनुसरण है, और इसकी एकमात्र उल्लेखनीय विशेषता है अपनी जन्मभूमि और उसकी कविता के लिए कवि के गहरे प्रेम की अभिव्यक्ति। अगला काव्य *प्रेमप्रवाहिनी* (1863) के पद-विन्यास में विशेष परिष्कार दिखाई नहीं पड़ता पर उसमें एक सर्वथा नयी विशेषता मिलती है। जीवन और प्रेम में अत्यन्त निराश कवि अपनी काव्य-रचना में शान्ति की खोज करता है। जब अन्तर में प्रेरणा का दीपक जल उठा, तो कवि को ऐसा लगा :

> "आज विश्व किसके किरण-निकर से प्रकाशित हो उठा है, हृदय उमड़कर किसकी जयध्वनि कर रहा है? लोक-कोलाहल क्रमशः सिमटता जा रहा है।

केवल बाँसुरी की ललित तान उभर रही है। मन मानो अमृत-सागर में डूब रहा है पर समावेग से भरी मेरी देह उड़ी जा रही है।"

कवि ने अपने समय के भारी-भरकम आलोचकों और अति प्रशंसित छन्दकारों को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया है। वे परम्परागत पद्धति के पाठकों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

"वे दूसरों की जूठी पत्तल चाटते हैं, उनका अपना कोई मत नहीं है फिर भी वे बंगाल के नेता बनकर हर बात पर राय देने के अधिकारी बने बैठे हैं। उनका मन कभी कबिता के पथ पर नहीं चला, पर उनका आदेश है कि कवि उन्हीं के मतानुसार चलें। जन्म से कभी अमृत का स्वाद उन्हें नहीं मिला, किन्तु अमृत बाँटने का उन्हें बड़ा शौक है।"

चक्रवर्ती का तीसरा काव्य *निसर्ग-संदर्शन* (1869), आठ सर्गों में विभाजित है। इसमें 1867 के आरम्भिक नवम्बर मास में कलकत्ता पर से गुज़रनेवाले विध्वंसक चक्रवात के प्रति कवि की प्रतिक्रिया का वर्णन है। पहली, तीसरी और दूसरी-चौथी पंक्तियों में तुक के मेल से चतुष्कों की रचना की गयी है। पदावली सरल है, और नया छन्द-विधान आशा बँधाता है। प्रकृति और मानव मिलकर काव्य के पूरे कैनवस पर छा गये हैं और कवि का निजी व्यक्तित्व पृष्ठभूमि में छूट गया है। अगले काव्य *बंगसुन्दरी* (1869) पर चक्रवर्ती की रोमांटिक प्रगीतात्मकता की पहली छाप अंकित है। दूसरे संस्करण (1880) में *सुरबाला* नाम की एक नयी कविता तीसरे सर्ग के रूप में जोड़ दी गयी है। यह कविता वस्तुतः उसकी अगली और सर्वोत्तम काव्य-पुस्तक की भूमिका है। इसमें अन्य सर्गों से, जो बहुत समय पहले लिखे गये थे, स्पष्ट संशोधन दिखाई पड़ता है। कवि के हृदय की दैवी पीड़ा पहले सर्ग में अभिव्यक्त हुई है। दूसरा सर्ग उस चिरन्तन नारी के प्रति स्तोत्र है जिसे विविध रूपों में पौराणिक ऐश्वर्य और शालीनता के साथ प्रस्तुत किया गया है। तीसरे में कवि की *सुरबाला* का रूप चित्रित किया गया है और उसके निराश प्रेमी के जीवन का वर्णन है, जो अपने परिवार द्वारा उनकी पसन्द की लड़की से विवाह के लिए बाध्य किया जाता है। चौथे में ऐसी स्त्री की गाथा है जो अन्तःकक्षों की चहारदीवारी में अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग साल-दर-साल वही घर का काम-काज करते-करते बिता देती है। आख़िर वह पुस्तकों के अध्ययन में पलायन का मार्ग खोज निकालती है। परन्तु उसके दैनन्दिन जीवन के कारावास से निकलने की कोई सम्भावना नहीं है, और देर भी बहुत हो चुकी है। पाँचवें सर्ग में एक करुणामयी लड़की का वर्णन है। छप्पर से ढकी झोंपड़ियों के एक समूह में आग लग जाती है और यह लड़की अपने घर की एक खिड़की से उसे व्यथित होकर ताक रही है। छठे में एक ऐसी युवती के प्रति कवि की दमित करुणा उँडेली गयी है जिसका विवाह एक वृद्ध और असभ्य व्यक्ति से कर दिया जाता है। अगले

तीन सर्गों का स्वर कुछ उल्लासपूर्ण है; इनमें अपनी परमप्रिय पत्नी के बारे में कवि का प्रशंसात्मक मनन लिपिबद्ध है : वह उसे क्रमशः सहचरी, प्रिय, पत्नी और युवती माँ के रूप में देखता है।

चक्रवर्ती का सबसे प्रसिद्ध काव्य है *शारदामंगल* (1879)[1]। इसके नाम से प्राचीन बाङ्ला साहित्य के प्रति कवि की रुचि का संकेत मिलता है, यद्यपि रूप और आत्मा, दोनों दृष्टियों से यह काव्य तब तक बाङ्ला भाषा में जो कुछ भी लिखा गया उससे भिन्न है। *शारदामंगल* का विषय अपक्व, अनियत और दुर्ग्राह्य है। यह कवि के द्वारा अपने आदर्श को सिद्ध करने का और अपनी उस लालसा को प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास है, जो उसकी प्रेरणा और कल्पना को उद्दीप्त करती है। कवि के विचार अविश्वसनीय और अस्थिर हैं साथ ही निर्दोष और असंगत हैं। उसकी कल्पना चपल है और उसकी कल्पना पर अवास्तविकता और धुँधलाते इन्द्रधनुषी रंगों की अस्पष्टता की एक झीनी जाली बुनी हुई है। कवि की मानसिक प्रक्रिया पर आश्वस्तता और आनन्द की अनुभूति पूरी तरह छाई हुई है। इन सब बातों से *शारदामंगल* की पदावली, विषम—कभी-कभी ऊबड़-खाबड़, प्रायः अस्पष्ट और कहीं-कहीं अग्राह्य हो गयी है। वस्तुतः यह काव्य निर्मित की प्रक्रिया में है।

पहले सर्ग में कवि वाल्मीकि के उस अनुभव को फिर से जीता है जब ब्याध के बाण ने नर पक्षी को मारकर ऋषि के हृदय में छिपे करुणा और काव्य के स्रोत को प्रवाहित कर दिया था। दूसरे सर्ग में कवि-कल्पना, वैष्णव कवियों की राधा की तरह, अपने खोए हुए प्रेम, अर्थात् 'आनन्द' की खोज में निकल पड़ती है।

तीसरे सर्ग में उस अन्तर्द्वन्द्व की अनुगूँज है, जिसका अनुभव कवि का अहं कर रहा था। पल मात्र के लिए अन्त की एक झलक दिखाई पड़ती है, परन्तु अगले ही क्षण एक रिक्त दीवार सामने आ खड़ी होती है। यह आँखमिचौनी थकाने और भ्रमित करनेवाली है। पाँचवें और अन्तिम सर्ग में यह खोज हिमालय के ऊँचे शिखरों की ओर दौड़ती है जहाँ 'आनन्द' की स्थिति थी।

चक्रवर्ती का एकमात्र और उल्लेखनीय काव्य *साधेर आसन* (1888-89) *शारदामंगल* की उत्तरकथा की तरह है। काव्य का नाम उसकी सृष्टि के बीज का संकेत करता है और उससे एक कथा निःसृत होती है। चक्रवर्ती द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तिगत मित्र थे और ठाकुर परिवार के सम्मानित मित्र। ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर की पत्नी चक्रवर्ती के काव्य की प्रशंसक थीं। उन्होंने कवि के लिए एक ऊनी आसन बुना था और बदले में एक काव्य की माँग की थी। चक्रवर्ती ने यथासमय काव्य-रचना आरम्भ कर दी, पर केवल तीन अनुच्छेदों की रचना करने के उपरान्त वे रुक गये।

1. काव्य 1870 में आरम्भ किया गया था और 1874 में एक पत्रिका में अपूर्ण रूप में प्रकाशित हुआ। इसे ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर की पत्नी के अनुरोध पर पूरा किया गया।

उनकी अप्रत्याशित मृत्यु से चक्रवर्ती को आघात पहुँचा और अपने वचन को स्मरण रखते हुए उन्होंने अन्ततः काव्य को दस सर्गों में पूरा करके काव्य का उपसंहार लिखा। काव्य का आरम्भ सौन्दर्य-दर्शन से होता है जो जीवन के विविध अनुभवों में अन्तःप्रवाहित रहता है, जो अनुचिंतन के क्षणों में झलकता है और जो जीवन में मनुष्य की खोज के पीछे का व्यापक दृष्टिकोण बनता है। इसके उपरान्त कवि अपने बीते हुए दिनों की ओर वापस लौटता है और अपने बाल्यकाल और यौवनकाल के स्नेह-सूत्रों और खुशियों को एक बार फिर अनुभव करता है। यह अनुभूति उसे स्वर्ग की सीमा पर स्थित नन्दनकानन में ले जाती है, यहाँ उसकी प्रिया का प्रेम उसे सार्वभौमिक प्रेम की ओर ले जाता है–

"मैं नर-नारियों से प्रेम करता हूँ।
मैं चराचर से प्रेम करता हूँ
मैं अपने-आपसे प्रेम करता हूँ,
और आनन्दमग्न रहता हूँ।"

इसके उपरान्त स्वर्ग की ओर जाती हुई प्रिय पत्नी की वियुक्त आत्मा से उसका मिलन होता है। उसकी आँखों से आँसुओं की एक बूँद तृप्त आत्मा को शान्त कर देती है। वह उसे स्वर्ग के द्वार के भीतर प्रवेश करते देखता है, पर उसका अनुसरण नहीं कर पाता; द्वार उसके लिए अवरुद्ध है। कवि की आत्मा अब अलौकिक सौन्दर्य का चिन्तन करने में शान्ति खोजती है जो रूप और कथ्य, क्रिया और विचार में नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। इसके उपरान्त कवि उस नारी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, जिसने उसे *शारदामंगल* को पूरा करने का मार्ग दिखाया और इस काव्य को लिखने की प्रेरणा दी; उसके लिए वह काव्य की लौकिक प्रतिमा थी।

स्वच्छन्दतावादियों का वह दल, जिसका नेतृत्व बिहारीलाल चक्रवर्ती कर रहे थे, केवल अपनी गहन विषयिनिकृता-विषयिनिष्ठता के कारण ही विशिष्ट नहीं था बल्कि इस कारण भी विशिष्ट था कि वह प्रेम पर और उसमें भी विशेष रूप से नारी-प्रेम पर बल देता था, किन्हीं अन्य भावुकतापूर्ण सम्बन्धों पर नहीं। तात्कालिक सामाजिक समस्याओं के प्रति इन लोगों का रुख़ समसामयिक कवियों के दूसरे दलों से भिन्न था, जिन्हें औचित्य की दृष्टि से तो नहीं, पर सुविधा के लिए आभिजात्यवादी कहा जा सकता है। यह बात वास्तव में विचित्र है कि समाज-सुधारकों और सिद्धान्तशास्त्रियों के प्रगतिशील विचारों के प्रति, इस दूसरे दल के लोगों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं थी। ये मुख्यतः अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोग थे। उदाहरण के लिए, विधवा-विवाह और नारी-मुक्ति के लिए इनका समर्थन बहुत-कुछ बेमन से किया गया था और यांत्रिक था। दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी, कालिज के विद्यार्थी नहीं थे और समाज-सुधार के बारे में वे कभी मुखर नहीं रहे, पर नारी के हितों के लिए इनका समर्थन उत्साहपूर्ण

और अन्तःस्फूर्त था। आभिजात्यवादी सामान्य रूप से नारी को पुरुष की तुलना में नीचा समझते थे, क्योंकि पुरुष जीव-वैज्ञानिक कारणों से बहुत आवश्यक है, भले ही उन्होंने नारी को हमेशा नरक के लिए उसी प्रकार पापमय फन्दा न माना हो, जैसा कि प्राचीन धारा के स्वर में स्वर मिलानेवालों ने घोषित किया था।

सुरेन्द्रनाथ मजुमदार (1838-78) को अर्ध-स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है, यद्यपि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ एक आभिजात्यवादी कवि के रूप में किया था। उनका सर्वोत्तम काव्य *महिला*[1] है, जो 1870-71 में लिखा गया और उनकी मृत्यु के बाद दो भागों (1880, 1883) में प्रकाशित हुआ। काव्य निस्सन्देह चक्रवर्ती की *बंगसुन्दरी* से प्रेरित है और चार खण्डों में विभाजित है, जिनमें से पहला भूमिका रूप है और शेष तीन नारी के उन पक्षों को समर्पित हैं, जो पुरुष को उसके पारिवारिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं : माँ, पत्नी और बहन। अन्तिम खण्ड अपूर्ण है, केवल चार छन्द लिखे गये हैं। कवि का विश्वास है कि पुरुष आज जिस रूप में है उसका निर्माण नारी ने किया है और नारी ही अन्ततः पुरुष को स्वर्ग ले जाएगी। पत्नी पर रचित खंड में कवि अपने आवेग की गहराई को प्रकट करता है। उसका निश्चित कथन है कि मृत्यु के उपरान्त भी उसकी आत्मा उसकी प्रिया के चारों ओर मँडराती रहेगी और अपने प्रेम के तत्त्व से उसके चारों ओर के जीवन को सजीव बनाएगी :

> "बाला, हाथ में दीपक लेकर समीर की शंका से (उसे बचाती हुई) मन्द-मन्द गति से आना। तुम्हारा दीप्त मुख चंचल पवन के कारण प्रदीप की दीर्घ, रक्तवर्णी शिखा से चुंबित होगा।"

चक्रवर्ती के समान मजुमदार भी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे और उनसे भिन्न वे कुछ फ़ारसी भी जानते थे। उनकी पदावली संस्कृतनिष्ठ और रूक्ष है। *महिला* सात पंक्तियों के छन्द में लिखा गया है। अन्य लम्बे काव्य उल्लेखनीय नहीं हैं, किन्तु उनकी कुछ छोटी कविताएँ अच्छी हैं। दुर्भाग्य से इन कविताओं का संग्रह पुस्तक-रूप में नहीं किया गया। मजुमदार ने कुछ गद्य-निबन्ध भी लिखे और उन्होंने टॉड के 'राजस्थान' (1873-78) के एक काफ़ी बड़े अंश का अनुवाद भी किया। उन्होंने नाट्य-रचना पर भी लेखनी आज़माई। ऐतिहासिक नाटक *हामीर* (मृत्यु के बाद 1881 में प्रकाशित) का सार्वजनिक मंच पर अच्छा स्वागत हुआ।

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर (1840-1926) बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे, और वे अपने छोटे भाई रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्कर्ष तक पहुँच सकते थे। उनकी रुचि गणित से संगीत तक और दर्शन से आशुलिपि तक व्याप्त थी। वे अच्छे रेखाचित्र बना लेते थे और गत्ते के डिब्बे बनाने में असामान्य रूप से कुशल थे। पर दर्शन के अतिरिक्त और

---

1. कवि ने न तो काव्य को पूरा किया था और न ही उसे कोई शीर्षक दिया था। यह शीर्षक उसके छोटे भाई देवेन्द्रनाथ मजुमदार का दिया हुआ है, जिन्होंने कृति का प्रकाशन किया।

कोई विषय उनके ध्यान को देर तक नहीं बाँध सका, और परिणाम यह हुआ कि उनकी बहुमुखी प्रतिभा की सम्भावनाएँ अविकसित रह गयीं। काव्य की प्रेरणा उन्हें केवल रुक-रुककर होती थी। इन सब बातों के रहते भी वे बाङ्ला गद्य के सिद्ध लेखकों में से थे और उन्होंने एक ऐसे काव्य की रचना की थी, जो बाङ्ला साहित्य में अपना सानी नहीं रखता।

द्विजेन्द्रनाथ ने *मेघदूत* का अनुवाद किया (1860) और उसका अच्छा स्वागत हुआ। इसके बाद उन्होंने कुछ भक्तिपरक और देशभक्तिपरक गीत लिखे और अपने पिता की कृति *ब्रह्म धर्म* (ब्रह्मवाद की पुस्तिका) का बाङ्ला छन्द में रूपान्तर किया। उनका महान् काव्य *स्वप्नप्रयाण* (1875)—इस अर्थ में महान् कि वह कल्पनात्मक गठन का कीर्तिस्तम्भ है—1873-74 में लिखा गया था। यह एक रूपक-काव्य है जिसकी तुलना *फ़ेयरी क्वीन* और *पिलग्रिम्स प्रोग्रेस* से की जा सकती है। यह न तो आध्यात्मिक काव्य है और न ही छन्दोबद्ध रोमांटिक कथा। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, कि यह स्वप्निल रूपकों के अनेक कगारों, बुलन्द मोहरों, चित्रित भवनों, नक्काशीदार दीर्घाओं और चारों ओर अलंकृत उपवनों से युक्त एक विशाल प्रासाद है। इनके बिम्ब-विधान में जितनी साहसिकता है उतनी ही संरचना में। लय, अनुप्रास और पदविन्यास से इसका पोषण हुआ है। अपने मित्र बिहारीलाल चक्रवर्ती की तरह, द्विजेन्द्रनाथ ने भी बोलचाल के साथ ग़ैर बोलचाल का और 'काव्यात्मक' के साथ 'अकाव्यात्मक' विन्यास का संयोग करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। परिणाम पूर्णतः सन्तोषजनक हुआ, जो चक्रवर्ती के साथ नहीं हुआ था। इस सबके अलावा, द्विजेन्द्रनाथ की कुछ गम्भीर और कुछ अगम्भीर भावस्थिति ने इन रूपक-काव्यों की स्वप्नों से बुनी हुई सज्जा को एक तीव्र वस्तुनिष्ठता और स्पष्टता प्रदान की है।

स्वप्नप्रयाण की रूपक-कथा का विन्यास एक परी कथा की मोटी रूपरेखा में किया गया है। लोक-प्रचलित कथाओं के किसी भी युवा राजकुमार की तरह गहरी नींद में सोए हुए कवि की आत्मा, देह की सीमा को पार करने का प्रयास करती है, और साहसिक अनुभवों की खोज में निकल पड़ती है। जब चेतना नींद की अचेतनता में डूबी हुई थी, समुद्र-रेखा के पार सूर्य के डूबते हुए दीप्त पिण्ड की तरह एक स्वप्न परी मानस के कक्ष को खोलने के लिए उतर आयी। विचारों का रथ आकाशगंगा की राह आया और कवि (अर्थात् उसकी आत्मा) उसमें बैठ गया। सारथी, अर्थात् कल्पना ने, विचार-भूमि की यात्रा आरम्भ कर दी। वहाँ पहुँचकर, कल्पना ने उसे विचार-भूमि की राजधानी आनन्द-नगरी में उतार दिया, और चली गयी। कल्पना से अलग होकर कवि दुखी हो गया। उसी समय मित्रता ने सामने आकर उस भूमि और उसके शासक-गृह का संक्षिप्त परिचय दिया। सेवा ने उसके लिए कुछ जलपान पेश किया। तभी कवि को राजा आनन्द की ओर से बुलावा आया। मित्रता उसे राजा के पास ले गयी जिसने उसका हार्दिक स्वागत किया, क्योंकि उसे बहुत समय पहले खोए मित्र की स्मृति ताज़ा हो आयी।

कवि को ऐसा लगा जैसे राजा का महल कोई अपरिचित स्थान न हो, जैसे वह उसके बचपन का अपना घर हो। राजा ने मित्रता से उसे महल दिखा लाने के लिए कहा। तदुपरान्त कल्पना (जो वास्तव में राजा आनन्द की कन्या थी) ने उसका दायित्व ले लिया और वह उसे करुणा रानी (माया[1]) के मन्दिर में ले गयी, जो एक गहन वन के अन्तर में स्थित था। जैसे ही उन्होंने वन में पाँव रक्खा, सहसा दृश्य बदल गया :

"दक्षिण द्वार खोलकर मृदु-मन्द गति से
ऋतु-कुलपति ने वन-भूमि में पदार्पण किया
लतिकाओं के जोड़-जोड़ में फूल खिल उठे
पल्लव-दुकूल से उसने उसके सारे अंगों को ढँक दिया
न जाने किसके लिए उदास होकर
मलय पवन अपने घर से बाहर निकल पड़ा
फूलों के घूँघट खोलकर वह सुगन्ध छीन लेता है और फिर
निश्वास छोड़कर कहता है 'यह वह नहीं है'।"

कवि की भेंट रानी से हुई जो उसकी माँ के समान दिखाई पड़ी थी। उन्हें भी वह पुत्र सदृश दिखाई पड़ा और उनकी आँखों से उस पर कुछ अश्रु-कण ढुलक गये। उनकी विनोदशील सखी 'राजसी' ने कवि की आँखों में प्रेरणा का अंजन लगा दिया, और कवि तुरन्त अदृश्य हो गया। तभी करुणा की दूसरी सखी 'तामसी' अन्दर आयी और कवि का ध्यान तत्काल दूसरी ओर चला गया। उदास कवि मित्रता के साथ मनोरंजन नगर की ओर चल दिया, जहाँ राजा आनन्द का पुत्र मनोरंजनकुमार, अपना मनोरंजन कर रहा था। जैसे ही वे मिले कवि ने उसे अपने बाल्यकाल के मित्र के रूप में पहचान लिया। जब कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया तो राजकुमार ने भी उसे पूरी तरह पहचान लिया—

"जहाँ सत्य-हेम[2] चमकता है जहाँ वीर[2] मत होता है
जहाँ गुणों[3] की ज्योति[2] मन का तिमिर हरती है
जहाँ सोम[2] और रवि[2] नव शोभा धारण करते हैं,
कवि उसी देव[4]-निकेतन में उजाला करता है।"

---

1. अभिधार्थ (दार्शनिक अर्थ में), सृष्टि-भ्रम। किन्तु यहाँ शब्द में श्लेष है। बंगाल में सामान्यतः इसका अर्थ है माँ की-सी करुणापूर्ण ममता। कवि की माँ की मृत्यु कुछ ही पहले हुई थी।
2. सत्य, हेम, वीर, ज्योति, रवि, सोम : कवि के छोटे भाई।
3. गुन (अर्थात् गुनेन्द्रनाथ) : उसके रिश्ते के भाई।
4. देव (अर्थात् देवेन्द्रनाथ) : उसके पिता।

राजकुमार ने तब विलासिता को नृत्य और गान प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उसने एक गीत के कवि को अपने बाल्यकाल के प्रिय व्यक्तियों का स्मरण दिया। जब गीत समाप्त हो गया तो कवि ने विलासिता को वह हार अर्पित कर दिया, जो उसे मित्रता ने दिया था। विनोद ने यह घटना कल्पना को बता दी और वह रुष्ट हो गयी। कवि का मन एक भयंकर घटना से आकर्षित हुआ। वीरता ने निचले प्रदेश के राजा के चंगुल से किसी स्त्री की रक्षा की थी। जब उसे राजकुमार के महल के अन्तःपुर में ले जाया जा रहा था, दानव-प्रहरियों ने छद्म वेश में आकर, उसका अपहरण कर लिया। और भी अधिक दुखी होकर माँ प्रकृति से शान्ति की खोज में कवि ने राजकुमार का दरबार और मित्रता का साहचर्य छोड़ दिया। वह विषाद के बीहड़ मार्ग में भटक गया। धीरे-धीरे अपने अनिर्दिष्ट क़दम बढ़ाते हुए, और मार्ग में दुःस्वप्नों से रोमांचक अनुभव करते हुए कवि विषाद नगर की बाहरी सीमा पर आ पहुँचा। यहाँ उसे जड़ता के दो गश्तकारों शोक और रोग ने पकड़ लिया, और उसे असुरराज विषाद के सामने पेश किया गया। असुर नरेश का निवास दूर से अस्पष्ट, काला और ख़तरनाक दिखाई पड़ता था।

एक महाकाय अट्टालिका दिखाई पड़ने लगी, जिसके पार्श्व की दीवारें भग्न हो रही थीं, लेकिन उसकी ऊँची मीनारें महत्ता की घोषणा कर रही थीं। टूटी खिड़कियों से वायु निर्बाध बह रही थी।

एक दुष्ट उल्लू स्तम्भ पर बैठा ताक रहा था। राजा ने एकत्रित दरबार में आकर अपना स्थान ग्रहण कर लिया। बन्दियों के मुक़दमे पेश होने से पहले राजा ने कर्तव्य की उपेक्षा करने के लिए, अपने मन्त्री से कहा :

तुम एकदम बारह मास शेषशय्या पर लीन रहनेवाले हृषिकेश के समान हो! केवल वेतन-प्राप्ति के दिन रत्ती-भर चेतना जगती है।

इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में मन्त्री ने कहा : राजा, वेतन कैसा होता है? यह तो मैंने लगभग तीन वर्ष से इन आँखों से भी नहीं देखा।

राजा मुँहतोड़ जवाब के लिए तैयार था।

राजा ने कहा : मेरे सब (अन्य) लोग क्षीण-जीवी हैं। केवल तुम्हीं विशाल मांस-पिण्ड की तरह होते जा रहे हो। पहले तुम कंकालप्राय थे, अब हाथी हो गये हो। यदि तुम्हें वेतन मिले तो क्या यह पृथ्वी बची रह सकेगी?

कवि पर राजकुमार मनोरंजन का जासूस होने का आरोप लगाकर उसे काली की बलि चढ़ाने का दण्ड सुना दिया गया। पर आसन्न मृत्यु की स्थिति में देवी करुणा ने उसकी रक्षा कर ली। कवि ने तदुपरान्त वीरता और आतंक के विरोधी पक्षों के बीच युद्ध और परिणामस्वरूप आतंक की पराजय का दृश्य देखा। कवि ने संत्रस्त और दुखी होकर, करुणा का आह्वान किया और उन्होंने उसे सत्संगति के सुपुर्द कर दिया।

सत्संगति उसे तप-पर्वत पर ले गयी जहाँ उसे संयम से एक कवच और प्रशान्ति से ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी मिली। तदुपरान्त वह पर्वत-शिखर की ओर बढ़ा। लौकिक संसार के जिन दुःखों को उसने पीछे छोड़ दिया था वे उसे निरन्तर पीछे की ओर घसीट रहे थे। कवि को अब मानवीय सहानुभूति और निःस्वार्थ प्रेम की आवश्यकता का प्रखर अनुभव हुआ, जो उसे कहीं नहीं मिले। परन्तु सत्संगति ने उसकी आशा बनाए रखी, और उसकी बातों से उसे शान्ति मिली :

> तुम कवि हो! तुम्हें कैसा दुःख? यदि तुम्हारे प्राणों को ठेस लगे तो तुम संसार के लोगों के कानों तक पहुँचा सकते हो, जिसे सुनकर एक नितान्त अशान्त बालक भी खेल त्यागकर शान्त होकर बैठ जाता है। वह (कविता के) भाव-रस में निमज्जित होकर अपनी कजलाई आँखों में जल भर लाता है, मानो नीलकमल दलों से टप-टपकर हिमबिन्दु झर रहे हों। तब माता यामिनी असह्य यातना का अनुभव करती है और सजल नयनों से उसे विदा का चुम्बन देती है।...तुम बन के पाखी हो, तुम्हारे मुख से विलाप की ध्वनि क्यों? सदा तुम बनके पाखी ही रहोगे और सदा-सदा वहीं रहोगे। उसी वन की बात मैं आज बता रही हूँ। वह अरण्य पवन के साथ परस्पर बातें करता है—वह आँधी-तूफ़ान से नहीं डरता, वह दिशाओं की प्राचीरों में क़ैद नहीं है। अपनी सदानंद-शाखाएँ पसारकर वह अपने में मगन रहता है।

कवि ने शान्ति पा ली। वह राजा आनन्द के क्षेत्र में लौट आया और राजकुमारी कल्पना से उसका विवाह हो गया। कवि के स्वप्न का अपूर्व अनुभव, उसकी आत्मा की जिज्ञासा, अब समाप्त हो गयी थी।

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने हल्के ढंग का एक समाख्यान-काव्य भी लिखा। यह काव्य, जिसका शीर्षक था, *जौतुक ना कौतुक* (यह दहेज है या तमाशा, 1883) रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनके विवाह के अवसर पर समर्पित किया गया था। मुक्त और सरल-सहज शैली में परिहास और गम्भीरता कुछ इस तरह बना दिये गये हैं कि काव्य विशेष रोचक हो गये है। उनकी अन्य कविताओं में अधिकतर छोटे-छोटे हास्यकर छन्द हैं, जो व्यक्तिगत मनोरंजन के लिए लिखे गये हैं। पर इनसे भी भाषा और छन्द पर उनका अधिकार प्रकट होता है। बाङ्ला छन्द-शास्त्र में उनकी एक विलक्षण सिद्धि है कि उन्होंने संस्कृत के कुछ कठिन वर्णिक छन्दों को बोलचाल की भाषा में पद्यबद्ध किया। बाङ्ला आशु-लिपि पर रचित उनका काव्य-प्रबन्ध *रेखाक्षर-वर्णमाला* (1912) वैदग्ध्य और छन्द-रचना की दृष्टि से कीर्ति-स्तम्भ है।

गद्य-लेखक के रूप में द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर समान रूप से विख्यात थे। उनके *गीतापाठ* (1915) और अन्य दार्शनिक निबन्धों की शैली अननुकरणीय है। उनके कुछ व्यक्तिगत पत्रों में तरंग में की गयी चित्रकारी से प्रकट होता है कि वे अच्छे

चित्रकार थे। संगीत में भी उनकी रुचि थी। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने बंगाल का पिआनो से परिचय कराया।

देवेन्द्रनाथ सेन (1855-1920) स्वच्छन्दतावादी थे यद्यपि इस बात में बहुत सन्देह नहीं है कि अभिजात्यवादियों से भी उनका कुछ-कुछ सम्बन्ध था। मुख्यतः नारी ने (बालकों ने भी) उससे पूरा सम्मान पाया है। उनकी शैली भी न परिष्कृत है, न कठिन। पर सेन माइकेल मधुसूदन दत्त के सॉनेटों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके; उपवाक्यों के निरन्तर प्रयोग पर और क्लासिकल संकेतों के उपयोग पर उसका अमिट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

सेन वकील थे। उन्होंने कुछ समय तक गाजीपुर (पूर्वी उत्तर प्रदेश में) ज़िले की अदालत में वकालत के बाद इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में वकालत की। उनके काव्य में उनके निवास-स्थान के पेड़-पौधों को पर्याप्त सम्मान मिला है। सेन की सबसे आरम्भिक रचनाओं में कविता की तीन बहुत छोटी पुस्तकें थीं, जो 1880 में प्रकाशित हुई थीं। *अशोकगुच्छ* (1901) उनके काव्य का पहला प्रतिनिधि संग्रह था। अन्य कविताएँ, जो मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, उनका संग्रह एक दर्जन पुस्तकों में किया गया, और सब एक साथ 1911 में प्रकाशित हुईं। इनके शीर्षकों का अन्त गुच्छ शब्द से होता है (सेन फूलों के प्रेमी थे) : *गोलाप-गुच्छ, शेफाली गुच्छ, पारिजात गुच्छ* आदि। इसके अलावा अन्य संग्रह हैं—*अपूर्व नैवेद्य, अपूर्व शिशुमंगल, अपूर्व ब्रजांगना* आदि। इनमें से कुछ पुस्तकों में परिशिष्ट में, कुछ कविताओं के अंग्रेज़ी रूपान्तर भी हैं।

सेन का मानस मूल रूप में कवि का था, और उनकी सर्वोत्तम कविता प्रेम पर है। परन्तु यह प्रेम विवाहित और गार्हस्थिक प्रेम है। कवि के मन में सदा नारी और बालक के प्रति पक्षपात रहा है। उनकी प्रवृत्ति धार्मिक भी थी जो उनके जीवन के अन्तिम काल में प्रकट हुई। सेन हमेशा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रशंसक रहे और वे हमेशा से युवा कवियों के प्रति संवेदनशील थे। वे प्रायः कलकत्ता आकर (जहाँ उन्होंने कुछ वर्षों तक एक हाई स्कूल चलाया) कुछ समय ठहरा करते थे, तब युवा लेखकों की एक छोटी-सी मण्डली उन्हें घेरे रहती थी।

गोविन्दचन्द्र दास (1855-1918) भी गार्हस्थिक प्रेम के कवि थे। परन्तु सेन से भिन्न उनकी कविताओं से हमेशा केवल गार्हस्थिक सुख नहीं टपकता था और न ही वे विवाहित प्रेम के आदर्श का गुणगान करते थे; मांसलता उन्हें उतना ही विचलित करती थी, जितना भाव और सम्बन्ध। जब दास ने लिखा :

> "मैं उसे हाड़-मांस सहित प्रेम करता हूँ। नारी के उस रूप में, उस मांस के स्तूप में, कामना के क़मनीय केलि-कालीदह में; उस कर्दम, उस पंक में, उस क्लेद, उस कलंक में मैं कालियनाग की भाँति अहोरात्रि सुखमग्न रहता हूँ। उसे मैं हाड़-मांस-सहित चाहता हूँ।"

तो यह बाङ्ला काव्य में एक अत्यन्त साहसिक और नया स्वर था।

अंग्रेज़ी साहित्य से दास का कोई परिचय नहीं था। उनके समसामयिकों में केवल देवेन्द्रनाथ सेन ने उन्हें प्रभावित किया था। दास की अनुभूति सच्ची और प्रबल थी, और उन्हें जीवन का कड़वा अनुभव था। वे असन्दिग्ध रूप से प्रतिभाशाली थे और इस कारण उनका काव्य निष्कपट, तीखा और कभी-कभी अभिभूत करनेवाला होता था। किन्तु उनकी शैली प्रायः पुराने ढंग की और अपर्याप्त होती थी और अभिव्यक्ति हमेशा कलात्मक नहीं होती थी। दास पूर्वी बंगाल के केन्द्र के निवासी थे, और उनकी कुछ कविताओं में उनकी जन्मभूमि की गन्ध है।

दास की सर्वोत्तम कविताओं के कुछ छोटे-छोटे संग्रह हैं, जो 1887 और 1905 के बीच प्रकाशित हुए, जैसे—*प्रेम ओ फूल* (1887), *कुमकुम* (1891), *कस्तूरी* (1895), *चन्दन* (1896), *वैजयन्ती* (1905) आदि।

अक्षय कुमार बराल (1895-1918) बिहारीलाल चक्रवर्ती के निकट अनुवर्ती थे, किन्तु उनके काव्य में संरचना की वह शिथिलता और भावों की वह बुदबुदाहट नहीं है, जो चक्रवर्ती के काव्य में मिलती है। देवेन्द्रनाथ सेन के काव्य की तरह बराल को उनकी प्रेरणा मुख्यतः विवाहित प्रेम-स्रोत से और पारिवारिकता से नहीं मिली; उनका काव्य दैनन्दिन जीवन की सीमा से आगे बढ़ गया। गोविन्दचन्द्र दास की तरह बराल मूलतः भावप्रवण कवि थे, पर उनकी तरह बराल का काव्य उतना आवेगमय नहीं। वह अधिक विचार-प्रधान अतः कुछ कम वास्तविक था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आरम्भिक कविताओं का प्रभाव बराल की कविताओं पर दिखाई पड़ता है किन्तु वह लगभग सतही है। ब्राउनिंग बराल के प्रिय कवियों में से थे, और इस बंगाली कवि की शैली जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण, और सृष्टि की तात्त्विक अच्छाई के प्रति उसकी निष्ठा पर, अंग्रेज़ी कवि के प्रभाव की छाप रह गयी है। अभिव्यक्ति-लाघव और शब्द-चयन में सतर्कता बराल की पदावली की विशेषताएँ हैं। परन्तु वे निक्षिप्त पदों का पूर्णतः परित्याग नहीं कर सके।

बराल की पहली कविता-पुस्तक *प्रदीप* 1885 में प्रकाशित हुई थी, और अंतिम *एषा* 1912 में। अन्तिम काव्य की रचना उन्होंने पत्नी की स्मृति में की है, जिनसे उन्हें गहरा प्रेम था। यहाँ कवि को अपने गहन पीड़ा-बोध को इस रूप में प्रस्तुत करने में सफलता मिली है, मानो वह एक निर्वैयक्तिक वास्तविक चीज़ हो।

> "यह मोह-कलंक-शिखा क्या तुम्हारी होमशिखा है जो नीचता और दैन्य का दहन करके आकाश की ओर बढ़ रही है?"

इस काल की कवयित्रियों का संक्षेप में यहाँ विवेचन किया जा सकता है। यद्यपि वे स्वच्छन्दतावादी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनके दृष्टिकोण की सामान्य विशेषता वस्तुनिष्ठता थी। गिरीन्द्रमोहिनी दत्त (1854-1924) ने बहुत लिखा, और वे

ठाकुर-परिवार के साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण के सम्पर्क में थीं। उनकी सर्वोत्तम कविताएँ वे हैं, जिनमें गाँव के घर में बीते बचपन के संस्मरणों की गन्ध है और कलकत्ता के परिदृश्य से मन पर पड़नेवाले प्रभाव का वर्णन है। उनकी ग्रन्थ-सूची में निम्नलिखित नाम हैं : *कविताहार* (1873), *भारत कुसुम* (1882), *अश्रुकण* (1887), *आभास* (1890), *अर्घ्य* (1902) आदि।

उपन्यासकार स्वर्णकुमारी देवी ने उदासीन भाव से काव्य-रचना की। परन्तु उन्होंने ही बाङ्ला में सबसे पहले रोमांटिक वीर-काव्य का आरम्भ किया; जिनमें *गार गाथा* (1890) में संगृहीत हैं।

कामिनी राय (1884-1933) कला-स्नातिका थीं और वे समसामयिक कवयित्रियों में पहली थीं, जिन पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता की शैली का गहरा प्रभाव था। पर स्वभाव से वे स्वच्छन्दतावादियों की अपेक्षा आभिजात्यवादियों के अधिक निकट थीं। उनकी कविता विषयप्रधान होती थी, पर हमेशा निर्वैयक्तिक नहीं। उनकी कविता में पूरे संकोच और अन्तर्बाधाओं के साथ एक नारी-हृदय उद्घाटित हुआ है। उनके काव्य में पश्चात्ताप और निराशा का एक निरन्तर वर्तमान और अस्पष्ट-सा स्वर है, पर वे कभी विद्रोहिणी नहीं होतीं :

"प्रियतम, मेरा अनन्त जीवन भले ही अन्धकारमय रहे।
बस, तुम्हारे पथ पर अनन्त काल तक उजाला रहे।"

श्रीमती राय का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम काव्य-ग्रन्थ *आलो ओ छाया* 1889 में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका उस समय के कविराज हेमचन्द्र बनर्जी ने लिखी थी। उनकी अगली पुस्तक *माल्य ओ निर्माल्य* (1913) में आरम्भिक जीवन की कुछ रचना (1880) के साथ-साथ नवीनतम (1913) रचनाएँ भी शामिल हैं। रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उनकी परवर्ती पुस्तकों (1901-30) में अधिक प्रभावकारी हुआ।

नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय को आनेवाली पीढ़ियाँ मुख्यतः उनके हास्य गीतों के लिए स्मरण रखेंगी, पर उनकी कुछ गम्भीर कविताएँ भी उपेक्षणीय नहीं हैं। ये 1882 और 1912 के बीच प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में संगृहीत हैं, जैसे दो खण्डों में *आर्यगाथा* (1882, 1893), *आषाढ़े* (1898), *मंद्र* (1902), *आलेख्य* (1907) और *त्रिवेणी* (1912)। उनकी सर्वोत्तम कविताओं की विशेषता है शैली और छन्द की स्वच्छन्दता और अगम्भीर मनःस्थिति। परन्तु उनमें अक्सर अकल्पनीय प्रयास और परिष्कार की कमी खटकती है।

□

22

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अपने विराट् व्यक्तित्व, व्याप्ति और गहरे प्रभाव की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941) ऐसी सर्वतोमुखी सर्जक-प्रतिभा से सम्पन्न हैं, जिसका सानी, किसी देश में यदि हो भी तो कभी-कभी ही दिखाई पड़ता है। उनके काव्य में रूप, कथ्य और अनुभूति का ऐसा परिष्कृत और सुसंहत रूप दिखाई पड़ता है, जो हमारी भाषा में अन्यत्र नहीं पाया गया। रवीन्द्रनाथ न तो माइकेल मधुसूदन दत्त की नयी कविता में और न ही बिहारीलाल चक्रवर्ती की स्वच्छन्दतावादी कविता के क्रम में आते हैं। उनका काव्य पूर्णतः उनका अपना था, फिर भी उसकी जड़ें अपने देश की धरती में हैं। उन्होंने भारतीय कविता के प्रमुख स्रोतों का रस औरों से कहीं गहरे पिया था : उपनिषदों का देशी और भव्य पर निश्चय ही अनादिम रहस्यवाद, कालिदास का सुकुमार अलंकरण और वैष्णव कवियों का भावप्रवण संगीत। वे भारतीय कवियों में सर्वाधिक भारतीय और साथ ही सबसे अधिक सार्वभौमिक कवि हैं। वे हमेशा हर कोने से और हर स्रोत से ग्रहण करने के लिए तत्पर रहते थे—अंग्रेज़ी कविता से लेकर बाङ्ला के बाल गीतों तक, और अत्यधिक जटिल शास्त्रीय सिम्फ़नी से लेकर सरलतम ग्रामीण धुनों तक। लेकिन जो कुछ भी वे ग्रहण करते थे उसे अपने रंग में रँग लेते थे, वे किसी भी प्रकार के अनुकरण में असमर्थ थे।

रवीन्द्रनाथ बहुत पढ़े-लिखे थे और स्थायी मूल्य से युक्त हर मानवीय वस्तु में उनकी गहरी रुचि थी। वे निस्सन्देह टेरेन्स के स्वर-में-स्वर मिलाकर कह सकते थे :

> 'मैं मानव हूँ, कोई मानवीय वस्तु मेरे लिए पराई नहीं हो सकती।' पर उनमें विदेशीपन नहीं था, और पाण्डित्य किसी भी रूप में उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता था। रवीन्द्रनाथ का काव्य जितना बाङ्ला है उतना ही भारतीय भी है, और उसमें से बहुत-सा जितना भारतीय है, उतना ही सार्वदेशीय है, क्योंकि वे उस गहराई तक उतरे हैं, जहाँ शाश्वत जीवन की धारा बहती है, जो हर रूप में जीवन की सृष्टि और निरन्तरता का चरम स्रोत है। रवीन्द्रनाथ का काव्य केवल इस अर्थ में सार्वभौमिक नहीं है कि सम्पूर्ण सच्ची कविता अपने तत्त्व रूप में सार्वभौमिक होती है, बल्कि वह इस अर्थ में सार्वभौमिक है कि उनकी अंकन-पद्धति भारतीय दृष्टि से सार्वभौमिक है।

रवीन्द्रनाथ का बचपन घर पर बीता परन्तु बीच-बीच में उन्हें हमेशा दूर और पास, बाहर निकलने की अदम्य लालसा होती थी। उन्होंने सम्पूर्ण सभ्य संसार की यात्रा की थी, और हर जगह उनका सहज हार्दिकता से स्वागत हुआ। जिस रूप में उनके स्वागत-समारोह आयोजित किये गये, वे किसी विदेशी शासक की आशा से भी परे थे। वे जहाँ भी गये, उसी भूमि पर उन्होंने काव्य-सृजन किया। पर वे हमेशा शान्तिनिकेतन के अपने निजी कोने में लौट आना पसन्द करते थे। कलकत्ता में उनके पैतृक घर और उसकी नागरिक सुविधाओं से केवल सौ मील दूर स्थित शान्तिनिकेतन, उस समय पश्चिमी बंगाल के एक सुनसान स्थल की एक छोटी-सी बस्ती थी। रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व बहुस्तरीय था; उसके विविध पक्ष केवल विरोधी नहीं थे : बल्कि एकदम विपरीत भी थे और एक दूसरे के पूरक भी थे। वे अधिकतर एक मूक विचारक थे, पर आवश्यकता पड़ने पर वे शीघ्र निर्णय लेने और अविलम्ब कार्रवाई करने में भी समर्थ थे। विश्वभारती और शान्तिनिकेतन उनकी संगठन-शक्ति और दीर्घकालीन योजना की क्षमता के प्रमाण हैं।

कवि की आत्मा की जिज्ञासा-वृत्ति आँखमिचौनी के एक निरन्तर चलनेवाले खेल के सदृश थी—निष्क्रिय कल्पना और अनन्त प्रयास, उद्‌भव और संघर्ष, अनुचिंतन और सिद्धि। एकान्तर ऋतुओं के रूपक का प्रयोग रवीन्द्रनाथ के काव्य की प्रिय युक्ति है, उनकी दृष्टि में यह प्रतीक है, उस विश्व का—जो उद्‌भव और विलय में क्रम-क्रम से स्पन्दित होता रहता है, उस प्रकृति का, जो रात और दिन में तथा जीवन एवं मृत्यु के बीच स्पन्दित होती है, और उसकी अपनी नियति का भी जो ज्ञात और अज्ञात के बीच झूलती है, जो असिद्ध और सिद्ध के बीच लटक रही है, और सत्य एवं असत्य के बीच दोलायमान है। एक गीत में उन्होंने कहा है :

> "रुदन-हास के झूले, पौष-फागुन के रूपक के मध्य आजीवन गीतों की डलिया वहन किये चलूँ, क्या यही तुम्हारी मर्जी है? इसीलिए क्या तुमने मुझे स्वरों की गन्ध में ढली हुई माला पहनाई है?
>
> क्या इसीलिए मेरी नींद टूटी है, मन के बन्धन चटके हैं और चिरवेदना के वन में पगली हवा की हिलोरें उठ रही हैं? मेरे दिवस-रजनी के समस्त अँधेरे-उजाले (इन हिलोरों में) काँप रहे हैं। क्या इसी में तुम्हारी खुशी है? इसीलिए क्या तुमने मुझे स्वरों की गन्ध में ढली हुई माला पहनाई है? रात का बसेरा तो तैयार नहीं ही हुआ, मेरे दिन के कामों में भी त्रुटियाँ रह जाती हैं। बेकार के कामों से ही मुझे छुट्टी नहीं मिलती। हाय! इस विश्व में मेरे लिए शान्ति कहाँ है? अशान्ति के आघात से ही तो वीणा बजती है। गीतों की प्राणदाहिनी अग्नि सदा सुलगी रहेगी। क्या इसी में तुम्हारी खुशी है? इसीलिए क्या तुमने मुझे स्वरों की गन्ध में ढली हुई माला पहनाई है?"

आधुनिक यूरोपीय कविता के प्रेमियों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जीवन के प्रति रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण स्वीकृति, प्रशंसा और कृतज्ञता का था, क्षोभ और शिकायत का नहीं।

रवीन्द्रनाथ पूरी तरह घरेलू थे। कलकत्ता में, जहाँ उनका परिवार एक शताब्दी से अधिक समय से बसा था, वे कुछ वर्षों तक अनियत ढंग से स्कूल गये, और एक वर्ष और कुछ महीने लन्दन में रहकर पढ़े। पर घर में उन्हें बाङ्ला, संस्कृत और अंग्रेज़ी की ठोस आधारभूमि प्रदान की गयी थी। साथ ही, विज्ञान के मूल सिद्धान्तों की भी, जिनमें शरीर-रचना-विज्ञान भी शामिल था। बचपन से ही उन्हें संगीत में रुचि थी और उन्होंने अपने समय के कुछ सर्वोत्तम गुरुओं से संगीत की शिक्षा पाई थी, जो या तो परिवार के मित्र थे अथवा वेतन पाते थे। व्यायाम, जिसमें कुश्ती भी शामिल थी, उनकी दिनचर्या का एक अंग था, और इसने उनके स्वस्थ शरीर को और भी स्वस्थ बनाया था। पचास वर्ष की वय से पहले वे कभी गम्भीर रूप से बीमार नहीं हुए, उनकी और उनकी कविता की सही समझ के लिए यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। उनकी कविता एक असामान्य रूप से शक्तिशाली, स्वस्थ और आकर्षक शरीर में बसनेवाले एक अत्यन्त स्वस्थ मानस की सृष्टि थी।

यह सौभाग्य की बात थी कि आरम्भ से ही स्कूल का जीवन रवीन्द्रनाथ को अत्यन्त अरुचिकर लगा था और उन्हें उनकी घरेलू शिक्षा से अलग नहीं किया जा सका। रवीन्द्रनाथ के घर का वातावरण सांस्कृतिक आवेग की जीवन्त धाराओं से हमेशा आविष्ट रहता था जिनमें आत्मसात् करनेवाली और सृजन करनेवाली दोनों शामिल थीं। उपनिषदों के कथ्य के प्रति देवेन्द्रनाथ ठाकुर का आकर्षण, उनकी उपासनामय विश्वविद्यालय की धारणा, भारतीय विचार-धारा और संस्कृति के मूल तत्त्वों में उनकी गहरी निष्ठा और निर्माणोन्मुख देशभक्ति के लिए उनके उत्साह ने उनके घर को भारत में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का केन्द्र बना दिया था। इससे उस परिवार को ऐसा वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ जो उसके तमाम क्रियाकलापों में व्यक्त होने लगा। हर व्यक्ति, जिसका ज़रा भी महत्त्व था, यह जानता था कि ठाकुर-परिवार के लोग औरों से भिन्न हैं। उनका दृष्टिकोण भारतीय था, केवल बंगाली नहीं। उनकी साहित्यिक पत्रिका का नाम ही द्रष्टव्य है। चटर्जी के *बंगदर्शन* के विरुद्ध इस पत्रिका का नाम *भारती* था।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक अत्यन्त धनवान और प्रभावशाली व्यक्ति के सबसे बड़े पुत्र थे, पर अपने दिवंगत पिता की ज़िम्मेदारियों को अस्वीकार करने के बजाय वर्षों उन्होंने अपने-आपको एक सामान्य व्यक्ति की तरह जीने के लिए बाध्य किया। जब रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ तब तक परिवार की अधिकांश सम्पत्ति वसूल कर ली गयी थी, पर घर में जीवन का स्तर अब भी सरल-सामान्य बना हुआ था। बालक रवीन्द्रनाथ के खाने-कपड़े की व्यवस्था लगभग एक सामान्य मध्यवर्गीय बालक के

सदृश की जाती थी। परन्तु रवीन्द्रनाथ और कलकत्ता के मध्यवर्गीय परिवारों में उनके समसामयिक लेखकों के बीच एक मौलिक अन्तर था। बालक रवीन्द्रनाथ को सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के बच्चे को सुलभ होनेवाला सामाजिक सम्पर्क नहीं मिला। चौदह सन्तानों में सबसे छोटे होने के कारण, रवीन्द्रनाथ की माँ उन पर उतना ध्यान नहीं दे सकी, जितना उन्होंने उनके बड़े भाइयों पर दिया था। चार या पाँच साल की आयु में ही उन्हें उनकी माँ के आवास से निकालकर नौकरों की देख-रेख में छोड़ दिया गया था। अपने संस्मरणों में रवीन्द्रनाथ ने इस बात का वर्णन किया है कि उनका कार्यभारी नौकर कैसे उन्हें बन्द रखता था, और वे कैसे नौकर के आवास में पहली मंज़िल के एक कमरे से घण्टों खिड़की से दिखाई पड़नेवाले प्राकृतिक दृश्य के खंड को देखा करते थे, और तब कैसे उनकी बाल-कल्पनाएँ बादलों पर सवार होकर हवा के साथ दौड़ जाया करती थीं। कवि की मननशील चित्त-वृत्ति और उन्मुक्त कल्पना का निर्माण यहीं और इस प्रकार होना था।

रवीन्द्रनाथ को साहित्य का पहला परिचय अपने प्रभारियों से और परिवार के परिकर में कुछ वरिष्ठ सदस्यों से मिला था। वे कृत्तिवास और काशीराम के काव्यों को सस्वर पढ़ा करते थे और दाशरथी राय के काव्य से सानुप्रासिक छन्दों का पाठ करते थे या फिर मधु कान के गीतों की पंक्तियाँ गाया करते थे। कृत्तिवास द्वारा वर्णित राम-कथा की करुणा ने, काशीराम द्वारा वर्णित *महाभारत* के आख्यानों के चमत्कार ने, दाशरथी के छन्दों की थिरकती पंक्तियों की झनकार ने, और मधु कान की मधुर भावुकता ने बच्चे के अत्यन्त कल्पनाशील मानस की कुँआरी धरती पर सबसे पहला प्रभाव अंकित किया था। उन पर इस प्रकार का दूसरा 'साहित्यिक' प्रभाव अपने सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ द्वारा *मेघदूत* के वाचन से पड़ा। वे अब तक संस्कृत के नाम पर कुछ नहीं जानते थे, पर कालिदास के छन्दों का संगीत उन्हें सम्मोहित करता था। वर्षों बाद जब उन्होंने काव्य को मूल रूप में पढ़ा तो उन पर उसका दुगुना प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्हें उसमें अपने बाल्यकाल की उस साहसिक कल्पना की सुस्पष्ट अनुगूँज मिली, जब वर्षा ऋतु में वे नौकर के कमरे की खिड़की से बादलों को देखा करते थे।

युवावस्था तक पहुँचने से पहले ही रवीन्द्रनाथ ने जयदेव के गीतों की जटिल छन्द-रचना को लय से पढ़ लिया था और बाङ्ला की सभी पठनीय पुस्तकों को पढ़ लिया था, जिनमें बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास भी शामिल थे (इनमें से कुछ उस समय *बंगदर्शन* में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रहे थे) और चण्डीदास और विद्यापति के वैष्णव पद भी, जो हाल ही में प्रकाशित हुए थे। माइकेल मधुसूदन दत्त के काव्य ने इस युवक पाठक को प्रभावित नहीं किया था, और जैसा कि *भारती* में प्रकाशित उसके आलोचनात्मक लेख से सिद्ध है वह निश्चित रूप से दत्त के *मेघनादवध* के विरुद्ध था। कारण ढूँढ़ना मुश्किल नहीं है। इस काव्य को एक पाठ्य पस्तक के रूप में घर पर उनके पण्डित अध्यापक ने उन पर थोप दिया था, अतः

आधुनिक बाङ्ला साहित्य में अपने ढंग के इस अकेले काव्य का उस समय उन पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। वे अंग्रेज़ी काव्य को हित और आनन्द के लिए पढ़ते थे। इस कार्य में राजनारायण बोस और अक्षयचन्द्र चौधुरी नें उनकी सहायता की। वे दोनों अंग्रेज़ी साहित्य के प्रेमी थे और बाङ्ला गद्य के अच्छे लेखक थे (चौधुरी कविता भी करते थे)। समसामयिक बाङ्ला काव्य में से युवक रवीन्द्रनाथ अपने सबसे बड़े भाई की रचना *स्वप्नप्रयाण* के और बिहारीलाल चक्रवर्ती की *बंगसुन्दरी* और *शारदा मंगल* के प्रशंसक थे। रवीन्द्रनाथ चक्रवर्ती के बहुत बड़े प्रशंसक थे और चक्रवर्ती के काव्य की मान्यता के लिए वे ही ज़िम्मेदार थे। परन्तु उनकी अपनी रचनाओं पर चक्रवर्ती का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। दूसरी ओर द्विजेन्द्रनाथ का प्रभाव उनके भीतर गहरे जाकर, आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक दबा पड़ा रहा, और बाद में उनके जीवन के परवर्ती कुछ वर्षों में रचित हल्की-फुल्की कविताओं और बाल-कविताओं द्वारा स्निग्ध रूप में प्रकट हुआ। रवीन्द्रनाथ की पत्रात्मक शैली के निकट परीक्षण से भी उनके सबसे बड़े भाई (और उनके पिता) का प्रभाव व्यक्त होता है।

रवीन्द्रनाथ का परिवार सही अर्थों में उस 'राष्ट्रीय' आन्दोलन का उद्गम स्रोत था, जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान के हाथ में हाथ डालकर चल रहा था। इसलिए इस बात की आशा की ही जा सकती थी कि रवीन्द्रनाथ के किशोर काल की रचनाओं के सबसे आरम्भिक उदाहरण देशभक्तिपरक थे और उन पर हेमचन्द्र बनर्जी के काव्य (विशेषकर *भारत संगीत*) का प्रभाव था। रवीन्द्रनाथ सही अर्थ में कलकत्ता से पहली बार बारह वर्ष की आयु में बाहर निकले, जब उनके पिता उन्हें हिमालय के निकट पंजाब तक अपने साथ लम्बे दौरे पर ले गये। परिणामस्वरूप हिमालय उनकी आरम्भिक कविताओं में (1873-75) पुनः-पुनः प्रकट होता है। ये कविताएँ मुख्यतः निराश प्रेम के रम्याख्यान हैं। इन कविताओं पर उन भारतीय और अंग्रेज़ी कवियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है, जिन्हें वे उन दिनों पढ़ और पसन्द कर रहे थे।

जब कवि-यश के प्रार्थी इस युवक ने वैष्णव पदों का, विशेषकर विद्यापति के पदों का अनुकरण करना आरम्भ किया तो अधिक प्रभावकारी परिणाम सामने आया—कुछ-कुछ टामस चैस्टर्टन की *राउले पोइम्स* के-से ढंग का। इन कविताओं में (बल्कि गीतों में क्योंकि उनकी रचना इसी रूप में हुई थी और बाद में उन्हें संगीतबद्ध भी किया गया) वैष्णव कवियों के ढंग पर कवि का नाम अन्तिम द्विपदी में आता है और रवीन्द्रनाथ अपने हस्ताक्षर 'भानुसिंह' या केवल 'भानु'[1] नाम से करते थे। जब

1. 'भानु' उनके नाम के पहले शब्द 'रवि' (सूर्य) का पर्याय है और 'सिंह' कुल-नाम ठाकुर के लिए है। (सम्भवतः विद्यापति के काव्य में 'शिवसिंह' की प्रतिध्वनि के रूप में)। *भारती* और अन्य स्थलों पर छपनेवाली अपनी कुछ गद्य रचनाओं में रवीन्द्रनाथ ने अपने नाम के लिए केवल आरम्भिक अक्षर 'भा' का प्रयोग किया है।

ये कविताएँ पहले-पहल *भारती* में छपीं (1877 और उसके बाद) तो इनसे साहित्यिक जगत् में खलबली मच गयी; क्योंकि लोगों ने समझा कि इन्हें किसी विस्मृत वैष्णव कवि की प्राचीन पाण्डुलिपि से उपलब्ध किया गया है। स्वभावतः इन कविताओं के बारे में रवीन्द्रनाथ की निजी राय बहुत ऊँची नहीं थी, पर मानना ही होगा कि इन कविताओं में वैष्णव कविता के उस रूप पर अधिकार दिखाई पड़ता है, जो सत्रहवीं शताब्दी के उपरान्त बहुत विरल ही देखने को मिलता था। इस अप्रौढ़ कवि में दिखाई पड़नेवाली यह प्रौढ़ता जयदेव के छान्दस अभ्यास से और विद्यापति और गोविन्ददास के काव्य का घनिष्ठ अध्ययन करने से आयी थी।

रवीन्द्रनाथ के दूसरे बड़े भाई, सत्येन्द्रनाथ, जो पहले भारतीय नागरिक पदाधिकारी थे, उन्हें अहमदाबाद ले गये और उन्हें सितम्बर, 1878 में अपने परिवार के साथ इंग्लैण्ड भेज दिया। आशा की जाती थी कि रवीन्द्रनाथ वकालत के लिए योग्यता हासिल कर लेंगे। पर ऐसा नहीं होना था। एक विदेशी भूमि के उन्मुक्त वातावरण में भी उन्हें क्लास का कमरा कारागृह से भी बदतर लगता था। वे 1880 के फ़रवरी मास में बिना अपनी योग्यता बढ़ाए वापस लौट आये। किन्तु यह प्रवास एकदम निष्फल नहीं गया। उनकी भेंट कुछ ऐसे लोगों से हुई जिनकी सहानुभूति और चरित्र से कवि की आत्मा को वह संवेदना मिली जो उसकी अपनी संकोचशीलता और लज्जाशीलता पर क़ाबू पाने में सहायक हुई। यूनिवर्सिटी कालिज, लन्दन में प्रोफ़ेसर हेनरी मोर्ले के व्याख्यानों में कुछ ही समय की उपस्थिति ने भी उन्हें प्रोत्साहित किया।

जब वे इंग्लैण्ड में ही थे तभी उनकी कविता में कुछ संकोच के साथ एक व्यक्तिगत स्वर की अनुगूँज सुनाई पड़ने लगी थी, जो प्रगीत काव्य की सच्ची ध्वनि होती है। घर लौटने के बाद इस व्यक्तिगत स्वर का आग्रह बढ़ गया। *सन्ध्या संगीत* (1882) में, उसकी अपक्वता और अस्पष्टता के बावजूद रवीन्द्रनाथ एक ऐसे कवि के रूप में सामने आये, जो पूरी तरह समझ में न आने पर भी अपने मौलिक दृष्टिकोण के कारण निश्चित रूप से विशिष्ट था। यह विशेषता उनके समय के आलोचकों को किसी भी ज्ञात कवि के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने में बाधक हो जाती थी। विषय अव्यवस्थित था; उसमें अपने लिए, एक ऐसे युवा कवि की केवल कुण्ठा और क्षोभ मुखर हुआ था, जो संसार को ग्राह्य नहीं था और संसार उसे ग्राह्य नहीं था। रेशम कीट की तरह कवि अपनी भावात्मक उलझनों में उलझा था। पर भावात्मक विषाद का यह निराशाजनक दौर केवल किशोरावस्था का दौर था और यह गुज़र गया, जैसा कि हमें उनके अगले काव्य-संग्रह *प्रभात संगीत* (1883) में दिखाई पड़ता है। यहाँ कवि को अपने चारों ओर का जीवन धूप के प्रभामंडल में स्नात दिखाई पड़ता है। जीवन की व्यस्त धारा के दृश्य और ध्वनियाँ, जिनसे वह इतने दिनों तक निर्वासित था, सहसा उसके उत्कण्ठित नेत्रों को स्फूर्तिदायक और आह्लादजनक दिखाई पड़ने लगे :

जी चाहता है, अपने-आपको भूलकर, अवाक् भाव से जगत् की ओर केवल देखता रहूँ, कुछ भी न कहूँ, कुछ बोलूँ नहीं।

अगली पुस्तक *छबि ओ गान* (1884) में कुछ कविताएँ और पहले लिखे गये कुछ गीत शामिल हैं। दो कविताएँ अत्यन्त विशिष्ट हैं : 'राहुर प्रेम' और 'आर्त्त स्वर'। पहली में प्यार की अत्यधिक क्षुधा को आवेगमय अभिव्यक्ति मिली है, और दूसरी में भावात्मक आवेग की पीड़ा एक तममयी तूफ़ानी रात के विक्षोभ में रूपान्तरित हो जाती है। वर्षा की रात्रि का रवीन्द्रनाथ के काव्य में अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है और वह *छबि ओ गान* की एकाधिक कविताओं में से झाँकती दिखाई पड़ती है। दहकता हुआ मध्याह्न भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और वह भी पहले-पहल यहीं प्रकट होता है।

छबि ओ गान और अगली काव्य-पुस्तक *कड़ि ओ कोमल* (1886) की कविताओं के बीच कवि की चेतना एक शोधक दौर से गुज़र चुकी है, क्योंकि कवि की एक अत्यन्त प्रिय मित्र (एक भाभी), जिन्होंने उसकी भावनात्मक सत्ता की प्रच्छन्न गहराइयों को झकझोरकर उसके काव्य के सर्वोत्तम को व्यक्त करा लिया था, सहसा दिवंगत हो गयीं; और पीछे रह गयी एक भावनात्मक खाई, जिसको भरना सम्भव नहीं था। आघात बहुत निर्मम था, पर शायद जागृति के लिए इसकी आवश्यकता भी थी। इस प्रहार ने कवि की आत्म-केन्द्रित कल्पना के भावुक छल को छितरा दिया और मानसिक सन्तुलन और भावात्मक गरिमा का केन्द्र उपलब्ध करने में कवि की सहायता की। केवल व्यक्तिगत शोक से उत्पन्न यह पीड़ा आध्यात्मिक संयोग का प्रतीकात्मक रूप बन गयी और इसने ऐसी कुंजी का काम किया, जिसने कवि के लिए प्रत्यक्ष बोध, कल्पना, सहानुभूति और रहस्योद्घाटन के लगभग सारे द्वार खोल दिए। रवीन्द्रनाथ के काव्य में मृत्यु का जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक मूल्य है, उसका जड़ें यहीं हैं। इस शोक का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि कवि अपनी रचनाओं के प्रति और अधिक सजग हो गया। इससे कवि की भावनाओं में मृदुता आयी। सौन्दर्य का अधिक उन्मुक्त रसास्वादन और जीवन में अधिक उत्साह पैदा हुआ और साथ ही पदावली में माधुर्य और छन्दों में सुस्पष्टता भी। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ की काव्य-कला में प्रौढ़ता अपने पहले सोपान तक पहुँच गयी।

कड़ि ओ कोमल में रवीन्द्रनाथ की आवेगपूर्ण प्रेम-कविताओं के कुछ सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। परन्तु कवि का आवेग स्थायी रूप से शारीरिक लालसा के वश में नहीं रहता :

> यह मोह भला कितने दिन रहता है? यह माया विलीन हो जाती है। कोमल बाहुओं की डोर छिन्न हो जाती है और मदिर आँखों से मदिरा भी नहीं उमड़ती। अँधेरी रात में कोई किसी को नहीं पहचानता। फूल खिलने के दिन बीतने पर पक्षी भी नहीं जाता।

मानसी (1890) की कविताएँ रवीन्द्रनाथ के काव्य में एक स्पष्ट प्रौढ़ता का उद्घाटन करती हैं। संगीतात्मकता का दौर, जिसकी व्याप्ति *संध्या संगीत* से *कड़ि ओ कोमल* तक थी, बीत गया था। कवि के सामने अब विचारों और आदर्शों के बीच संघर्ष था। इस प्रकार केवल विषय-वस्तु की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि विषम, अनियमित, अतुकान्त छन्द-रचना की दृष्टि से भी उनकी सर्वाधिक प्रातिनिधिक और सबसे असाधारण कविता 'निष्फल कामना' है :

> "तुममें जो अमृत छिपा है, वह कहाँ है? सन्ध्या के अँधियारे आकाश में जिस प्रकार एकाकी तारों में स्वर्ग का आलोकमय, असीम रहस्य काँपता है, उसी प्रकार उन नयनों के गहन तिमिर तले आत्मा की रहस्य-शिखा काँप रही है।"

कुछ कविताएँ जीवन और प्रकृति के दीप्त शब्द-चित्र हैं। एक प्राकृतिक दृश्य के शब्द-चित्र का उदाहरण है—

> सुबह की वेला तो कट गयी, शाम नहीं कटती।
> दिन के अन्त में थका-हारा सूरज किसी भी प्रकार जाना नहीं चाहता।
> धरती की ओर देखता रहता है, विदा नहीं माँगता।
> दिन मेघों से लिपटा रहता है, मैदानों में घुला-मिला रहता है,
> वृक्षों की फुनगियों पर पसरा रहता है,
> नदी के जल में काँपता रहता है
> और घाट-बाट पर दीर्घ छाया डालता हुआ खड़ा रहता है।

मानसी की कुछ कविताएँ उन वैचारिक नेताओं से कवि के मोह-भंग को व्यक्त करती हैं जिनका वह प्रशंसक रहा था। नव-हिन्दू पुनरुत्थान की भावुक हठधर्मिता ने उनकी लेखनी को कटु व्यंग्य के लिए प्रेरित किया। औसत नागरिक के संकुचित और आत्मतुष्ट जीवन और दृष्टिकोण से यह कवि, जिसकी दृष्टि निरन्तर आलोक और शक्ति को खोज रही थी, पीड़ित था। सामयिक जीवन की आत्मसन्तुष्टि के प्रति रवीन्द्रनाथ की प्रतिक्रिया उनकी एक अत्यन्त प्रखर और आवेगपूर्ण कविता 'दुरन्त आशा' में मुखर हुई है। ये कविताएँ गंगा के ऊपर की ओर कलकत्ता से पूर्व सात सौ किलोमीटर दूर स्थित गाजीपुर में लिखी गयी थीं।

मानसी के प्रकाशन से तत्काल पूर्व रवीन्द्रनाथ ने फ्रांस के रास्ते इंग्लैण्ड की बहुत अल्पकालीन (अगस्त से अक्टूबर 1890) यात्रा की थी। वापसी के कुछ महीने बाद उन्हें पारिवारिक जागीर की व्यवस्था का दायित्व दे दिया गया। इस जागीर में उत्तर मध्य बंगाल और उड़ीसा में स्थित व्यापक जायदाद शामिल थी। अब रवीन्द्रनाथ के अधिकांश दिन या तो सिलाइदह, साजादपुर या नदिया और पाबना ज़िलों में स्थित दूसरे स्टेशनों पर मैनेजर के आवास में गुज़रने लगे, या फिर इन स्थानों की समीपवर्ती नदियों में नाव पर। बंगाल के ग्राम्य और तटवर्ती जीवन के साथ इस दीर्घकालीन और अन्तरंग परिचय (1891-97) ने उन्हें प्रकृति और मानव के एकदम सन्निकट ला खड़ा

किया, और उनकी रचनाओं पर इसका गहरा और सुखद प्रभाव पड़ा। इस काल की आरम्भिक कविताएँ, जो *सोनार तरी* (1893) में संगृहीत हैं, प्रकृति के साथ कवि के प्रथम निकट सम्पर्क के प्रभाव और निर्वैयक्तिक जीवन के बोध को प्रतिबिम्बित करती हैं। *सोनार तरी* शीर्षक सार्थक है। दुर्ग्राह्य 'अभीप्सिता' सोनतरी में ही संतरण सकती थी।

सोनार तरी की कविताओं में व्यक्त कवि का मानव-जीवन का निरीक्षण और समझ भी कम असाधारण नहीं है। यही बात उन कहानियों के बारे में सही है, जो उन्होंने इस समय लिखनी आरम्भ की थीं। ये कहानियाँ अद्भुत शक्ति और प्रतिभा के साथ जीवन की ऐसी समझ को व्यक्त करती हैं जो एक साथ ही सरल और प्रखर तथा तात्त्विक और वैयक्तिक है। कविता की भाषा मृदुल और सरल है, और वह मांसलता, जिसका कविता में अभाव है, गद्य में उपस्थित है। कुछ कविताओं में रूपक और परी कथा का स्पर्श लघु-कथाओं के साथ उनके सम्बन्ध की ओर संकेत करता है, जिसकी उत्पत्ति का हवाला 'वर्षा-यापन' नाम की कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है :

> संसार की शत-शत असमाप्त बातें, असमय टूटी कलियाँ, अज्ञात जीवनों के समूह, अख्यात कीर्ति की धूलि, कितने ही भाव, कितने भय, कितनी भूलें संसार में चारों ओर दिन-रात झरने की तरह झर-झर झर रही हैं। क्षण-क्षण के अश्रु-हास की विपुल झड़ी लगी है और मैं उसकी अविराम ध्वनि सुन रहा हूँ।

सोनार तरी की विशिष्ट कविताओं, यथा 'जेते नाहि दिब' (मैं तुम्हें जाने न दूँगी), 'समुद्रेर प्रति' और 'वसुन्धरा में कवि' अपनी भावना के माध्यम से उस क्षणिक जीवन-धारा का बोध करता है, जो अविरल अतीत की ओर लालसापूर्ण और विलम्बित दृष्टि डालती हुई निरन्तर अविरल रूप में प्रवाहित है। घर से चलते समय उसकी अबोध बिटिया की पुकार, 'मैं तुम्हें जाने न दूँगी', देशकाल के बीच प्रतिध्वनित होती है। यह धरती माँ की हृदय विदीर्ण कर देनेवाली पुकार है; उसकी क्रोड़ में स्थित जीवन की उन चिनगारियों के लिए जिन्हें वह बहुत देर रोक नहीं पाती :

> विश्व के प्रान्तर में अनन्त की बाँसुरी ग्राम्य स्वर में रो रही है। (उसे) सुनकर विरागी वसुन्धरा जाह्नवी के तट पर दूर-दूर तक फैले धान के खेतों में धूप-सा सुनहला आँचल वृक्ष पर लपेटे, केश खोले बैठी है। उनके स्थिर युगल-नयन दूर नीले अम्बर में खोए हुए हैं : मूक, वाणीहीन बैठी है वे। उनका वह म्लान, स्तब्ध, मर्माहत मुख द्वार के निकट मैंने देखा—बिलकुल मेरी चार वर्षीया बिटिया-जैसा।

'वसुन्धरा' में कवि गहरी खोज करता है। वह महसूस करता है कि उसके हृदय में सृजनात्मक विकास की आदिम प्रेरणा स्पन्दित हो रही है तथा वह देश और कला

का अतिक्रमण करके विश्वात्म के साथ अपनी अभिन्नता के बारे में अस्पष्ट रूप से चेतन है। यह 'ब्रह्मवाद' की प्राचीन भारतीय अवधारणा और जैविक विकास के आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त का नवीन समंजन है। कविता में धरती के लिए रवीन्द्रनाथ के सघन प्रेम की श्वास है, विकास और क्षय की खिसकती हुई पृष्ठभूमि के विरुद्ध जीवन और प्रकृति के दृश्य, ध्वनियाँ, गन्ध, अनुभूतियाँ और भाव :

> मेरी पृथ्वी, तुम बहुत प्राचीन हो। अपनी माटी में मुझे छिपाये हुए तुमने अनन्त गगन में अश्रान्त चरणों से सूर्यमंडल की प्रदक्षिणा की है।...
>
> ...तभी तो आज किसी दिन जब पद्मा के तीर पर एकाकी बैठता हूँ, तो मुग्ध नयन पसारे, समस्त अंगों में, अन्तरतम में अनुभव करता हूँ कि तुम्हारी माटी में तृण के अंकुर कैसे सिहरकर उकस रहे हैं।

पहली और अन्तिम कविताएँ सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। पहली कविता के आधार पर काव्य-संग्रह का नामकरण हुआ है। यह कविता रवीन्द्रनाथ की सरलतम किन्तु सबसे अधिक विवादास्पद कविता है। इसमें पद्मा के तट पर आरम्भिक वर्षा का एक भव्य चित्र अंकित है—एक ऐसा चित्र, जिसमें ध्वनि और दृश्य पूर्णतः अभिन्न हो गये हैं। रूपक हल्का-सा, किन्तु महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का बृहत्तर और अपेक्षाकृत अधिक सत्य जीवन वह है जो उसे जीवन की उस धारा (अर्थात् विरासत) से जोड़ता है, जिसने उसके लिए संसार का सृजन किया है और यही व्यक्ति का अनश्वर अंश होता है। व्यक्ति का वह अंश, जिसका उसके व्यक्तित्व से बृहत्तर जीवन के लिए कोई महत्त्व नहीं है, स्थायी नहीं हो सकता। इससे पूर्व कि व्यक्ति लक्ष्य की खोज में निकले, उसे उन बहुत-सी चीज़ों को खो देने के लिए तैयार रहना चाहिए, जिन्हें व्यक्ति बहुत मूल्यवान समझता है, क्योंकि उनके लिए समय की सोनतरी में स्थान नहीं होगा। अन्तिम कविता 'निरुद्देश्य यात्रा' में उस 'मानसी' ने रहस्यात्मक रूप में उस नौका का दायित्व ले लिया है, जो पश्चिम की ओर प्रस्थान कर रही थी।

सोनार तरी की अन्तिम कविता में एक ऐसा स्वर सुनाई पड़ता है जो अगली पुस्तक *चित्रा* (1896) का प्रधान स्वर हो गया है। नाविक के रूप में *मानसी* की अनिश्चित भूमिका, कवि की भाग्य-विधायिनी देवी या रानी की स्थायी भूमिका में बदल जाती है जो कवि के विचारों और आवेगों का नियमन करती हुई, भाग्य-पथ पर उसका मार्गदर्शन करती है। कुछ कविताओं में इस भाग्य-विधायिनी देवी को जीवन की नियामिका के रूप में ग्रहण किया गया है, जिसे कवि अपने सर्वोत्तम प्रयासों की श्रद्धांजलि अर्पित करता है। कुछ अन्य कविताओं में यह भाग्य की मार्ग-दर्शिका है, जो जीवन के उलझे और टेढ़े-मेढ़े रास्ते में उसका मार्गदर्शन करती है।

आत्म-विश्रान्ति का बोध और प्रकृति के सौन्दर्य तथा जीवन के आनन्द की सरलता का शान्त ग्रहण, *चित्रा* में संगृहीत 'सुख', 'ज्योत्स्ना रात्रे' और कुछ अन्य

कविताओं की विशेषता है। परन्तु एक कवि का जीवन भी केवल शान्ति और मधुर विश्रान्ति से युक्त नहीं होता। उसके चारों ओर मृत्यु और क्षय, दुःख और निराशा, ग़रीबी और रोग, कठोरता और अन्याय है। कवि को अब अनुभव होने लगा है कि इस सबके बीच से गुज़रने वाले मार्ग पर चलने का समय हो गया है, और उसे देर नहीं करनी चाहिए। मानव-नियति उसका आह्वान कर रही है। इसलिए वह 'एबार फिराओ मोरे' (मुझे लौटा दो अब) में कहता है :

> वह कौन है, नहीं जानता, उसे मैं पहचानता नहीं—केवल इतना जानता हूँ कि उसी के लिए मानव-यात्री रात के अन्धकार में, तूफ़ान—झंझा, वज्रपात में भी अन्तर-प्रदीप को जलाए, यत्नपूर्वक सँभाले, युग से युगान्तर की ओर चला है। केवल इतना जानता हूँ कि जिसने भी उसका आह्वान-गीत सुना है, निर्भय होकर संकट के भँवर में कूद पड़ा है; विश्व-विसर्जन करके उसने अत्याचारों के आगे छाती खोल दी है; मृत्यु की गर्जना को उसने संगीत मानकर सुना है। अग्नि ने उसे जलाया, शूलों ने बींधा और कुठार ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए हैं। (पर) उसने अकातर भाव से अपनी सर्वप्रिय वस्तुओं का ईंधन बनाकर जीवन-भर उसी के लिए होमाग्नि प्रज्वलित की है। जीवन के अन्त में, भक्ति से परिपूर्ण होकर उसी की अन्तिम पूजा में उपहार के रूप में हृत्पिंड निकालकर रक्त कमल का अर्घ्य दिया है और मरण में अपने प्राणों को कृतार्थ कर लिया है।

अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्यों में से *उर्वशी* में रवीन्द्रनाथ ने एक ऐसे विषय को ग्रहण किया है, जो सम्भवतः भारतीय साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युगों में रह-रहकर प्रकट होनेवाला, एकमात्र सामान्य विषय है। इस देवांगना और उसके मानव-प्रेमी पर *ऋग्वेद* के सर्वोत्तम स्तोत्रों में से एक की रचना हुई है। यही कथा बाद की वैदिक गद्य-रचना *शतपथ ब्राह्मण* में, साथ ही लोकप्रिय महाकाव्य *महाभारत* में भी आती है। कालिदास ने इस विषय पर एक नाटक की रचना की थी। वैदिक काव्य में एक कामुक प्रेमी का चित्रण है। वह इस देवांगना को रोकने का प्रयत्न कर रहा है, जो उसे इसलिए छोड़कर जा रही है क्योंकि आपाततः उसका आवेग शान्त हो गया है। गद्य में रचित इस वैदिक आख्यायिका का कैनवस अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसमें प्राचीन काव्य के आवेग का अभाव है। यहाँ देवकन्या एक लुब्ध करनेवाली गणिका के रूप में सामने आती है। *महाभारत* का कवि उर्वशी के जन्म से लेकर पाण्डवों के समय तक का उसका विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करता है, पर वह एक अतिरिक्त कामुक, अनासक्त नारी से अधिक और कुछ नहीं दिखाई पड़ती। दूसरी ओर कालिदास इस वैदिक आख्यान के आधार पर एक सुन्दर प्रेम-कथा का निर्माण करते हैं, और उनके नाटक में ये प्रेमी सामान्य पुरुष और नारी की तरह

व्यवहार करते हैं। रवीन्द्रनाथ के काव्य में 'उर्वशी' (अभिधार्थ 'असीम लालसामयी नारी') उस आदिम इच्छा का प्रतीक हैं जो मनुष्य और प्रकृति में वर्तमान सर्जनात्मक आवेग है—वह आवेग, जो मनुष्य में सौन्दर्य की और सौन्दर्य के सृजन की प्यास जगाता है। मनुष्य के मन में आदर्श नारी और चरम सौन्दर्य की कसकती लालसा को, जो उसे बेचैन करती है, रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य की कथा के महीनतम आवरण में लपेटा है और उसका निर्माण एक ऐसे काव्य में किया है जिसमें यूनानी संगमरमर का सघन चिकनापन और परिष्कार मिलता है।

उर्वशी के बाद अगली रचना; 'स्वर्ग हइते विदाय' अगले ही दिन (24 अग्रहायण, 1302) लिखी गई थी। यह नारीत्व का दूसरा पक्ष है, जो उसके प्रेम और अच्छाई का प्रतीक है। यह उस नारी के प्रति श्रद्धांजलि है, जो धैर्यपूर्वक कड़ी मज़दूरी और स्नेहपूर्ण संरक्षण के प्रति अपने को समर्पित कर भौतिक जीवन का पोषण करती है। इसके विरुद्ध उर्वशी एक ऐसी अप्सरा है, जो लुब्ध तो करती है, पर स्थायी सन्तोष और शान्ति प्रदान नहीं कर सकती।

चित्रा की अन्तिम कविता 'सिन्धु पारे' रूपक रोमांस और रहस्यवाद का भव्य मिश्रण है। चेतना की खोज तब समाप्त होती है जब स्वर्ण तरी सागर के दूसरे तट पर पहुँच जाती है, और उसकी रहस्यमयी पथ-प्रदर्शिका मानसी, उसकी पुरानी प्रेमिका के रूप में अपना स्वरूप उद्घाटित कर, उसका अभिनन्दन करती है।

चैताली (वर्ष के अन्त की फ़सल, 1896) की कविताएँ *चित्रा* के प्रकाशन के तत्काल बाद, चार महीनों के दौरान लिखी गयीं। इन कविताओं का प्राण, खोज के तनाव से उल्लासपूर्ण मुक्ति की शान्ति है, जिसमें कवि के पहले और अन्तिम प्रेम—प्रकृति के भावन—से शान्ति-लाभ किया गया है। रवीन्द्रनाथ ने वैसा ही अनुभव किया, जैसा कि, उससे पच्चीस शताब्दियों से भी अधिक समय पूर्व उपनिषद् के कवि ने अनुभव किया था :

> मैं कृतार्थ हूँ कि आकाश के उजाले को देख रहा हूँ; कृतार्थ हूँ कि जगत् को मैंने प्यार किया है।

रवीन्द्रनाथ की अनुभूति वैदिक कवि के रहस्यात्मक अनुभव के समान नहीं थी, जो हर वस्तु को पारलौकिकता के पैमाने पर नापता है। रवीन्द्रनाथ का उल्लास इस गोचर जगत् की नश्वरता से उत्पन्न होता है, जीवन और प्रकृति के क्षणिक रूपाकारों के सांयोगिक भावन से।

रवीन्द्रनाथ के काव्य की पदावली बारी-बारी से सरल और अलंकृत के बीच परिक्रमा करती थी। *मानसी* की कठिन संरचना *सोनार तरी* में अनुपस्थित है, और *चित्रा* का आड़ा-तिरछा ढाँचा *चैताली* की सरल और स्पष्ट पंक्तियों में विलीन हो गया है (परवर्ती समय में भी एकान्तरण का यह क्रम बना रहा है—*कल्पना* से *क्षणिका* तक

और *नैवेद्य* से *खेया* तक, तथा उसके बाद भी) *चैताली* के सॉनेटों से हमें ऐसा महसूस होता है जैसे संयुक्त परिवार की जागीर की व्यवस्था की ज़िम्मेदारी के दबाव को अनुभव करता हुआ कवि, मूक और मुखर प्रकृति से क्षतिपूर्ति कर रहा था, और प्राचीन भारत की आडम्बरहीन सरलता के आदर्श में अन्वेषणरत था।

अब कालिदास की कविता में उसे एक नया आकर्षण दिखाई पड़ने लगा था परन्तु अपने चारों ओर के जीवन के प्रति वह बिलकुल उदासीन नहीं था। जितना अधिक दीन जीव उसकी आँखों के सामने आता था, उसके असाधारण मूल्य की उतनी ही अधिक गहरी अनुभूति कवि के मन में जगती थी। साजादपुर से प्रस्थान करने से पहले दिन की सन्ध्या को—जिसके बारे में वह यह नहीं जानता था कि स्थानीय काश्तकारी के स्वामी के रूप में यह उसका अन्तिम प्रस्थान होगा—कवि की रोमानी कल्पना पश्चिमी देहात की एक छोटी-सी नौकरानी के भविष्य पर टिक जाती है जो अपने कामों में लगी रहती है, और उस पर अपनी नौका के मूके से कवि का ध्यान प्रायः चला जाया करता था। अपनी कविता 'अनन्त पथे' में उसने लिखा है :

> खिड़की पर बैठकर खेलों से, चांचल्य से दूर, गम्भीर भाव से अपने काम में जुटी हुई उस छोटी-सी लड़की को तत्पर कदमों से काम पर आते-जाते रोज़ देखता हूँ। मेरा हृदय आँसुओं से भर उठता है पर मैं उसकी ओर देखकर स्नेह से मुस्करा देता हूँ। आज मैं अपनी नौका खोलकर देशान्तर को चल दूँगा; वह बालिका भी काम के समाप्त होने पर कभी अपने देश को लौटेगी। वह मुझे नहीं जानती; मैं भी उसे नहीं जानता; पर देखना चाहता हूँ कि जीवन के सूत्र के अन्त के साथ वह (किस किनारे पर) कहाँ पहुँचेगी। किसी दूर देश में किसी अनजाने ग्राम में किसी के घर की वधू होगी वह, और फिर माता भी बनेगी। उसके बाद सब समाप्त हो जाएगा—उसके भी बाद हाय, इस लड़की का रास्ता कहाँ जाता है?

चैताली की कुछ कविताओं का स्वर उपदेशात्मक है—विशेषकर दो लघु सूक्तिपरक कविताओं का। इस प्रकार की एक समूची पुस्तक, *कणिका* नवम्बर 1899 में प्रकाशित हुई। बाद के दिनों में रवीन्द्रनाथ को इस प्रकार की सैकड़ों चतुष्पदियाँ और द्विपदियाँ लिखनी पड़ीं। उन्होंने ऐसा अपने हस्ताक्षरों के लिए निरन्तर बढ़ती हुई उस माँग को पूरा करने के सिलसिले में किया, जिसका आरम्भ जापान में हुआ था (1916)। बाङ्ला और अंग्रेज़ी में ऐसी हस्ताक्षरयुक्त द्विपदियों का एक संग्रह बुडापेस्ट में कवि के हस्ताक्षर के ब्लाक से छपा और *लेखन* (1926) नाम से प्रकाशित हुआ। इन चतुष्पदियों और द्विपदियों में सुन्दर बिम्ब-योजना है, जो अत्यन्त सारगर्भित और ओजमयी अभिव्यंजना में व्यक्त हुई है। इसमें प्रायः चीनी लघुचित्रों का विरल सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। रवीन्द्रनाथ के अंग्रेज़ी मूल से एक उद्धरण का अनुवाद प्रस्तुत है :

भोर की बन्द आँखों पर विदा होती रात्रि का एक चुम्बन भोर के तारे के रूप में दमक रहा है।

समीर की स्वच्छन्दता और वृन्त का बन्धन झूमती शाखाओं के नृत्य में हाथ मिला रहे हैं।

इसके बाद कवि ने प्राचीन साहित्य और इतिहास से आत्मबलिदान की गौरवमयी घटनाओं और अन्य वीरतापूर्ण आख्यानों को चुना और उन्हें समाख्यान-काव्यों में मूर्त्त रूप दे दिया। यह भाव नवोदित राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वथा अनुरूप था, जिसमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए आत्मबलिदान का समर्थन किया गया था। *कथा* (1900) अत्यन्त सुन्दर रूप में कही गयी ऐसी कहानियों का संग्रह है। *काहिनी* (1900) में अधिक विस्तारपूर्वक और नाटकीय ढंग से कही गयी कहानियाँ हैं। कविताओं के ये दोनों संग्रह काफ़ी लोकप्रिय हुए। सामान्य पाठक उनका पूरी तरह आस्वादन इसलिए कर सकता था, क्योंकि उनका कथ्य सामान्यतः ग्राह्य था। (रवीन्द्रनाथ का काव्य समय से हमेशा इतना आगे चलता था कि उसे सही अर्थ में समझनेवाले पाठकों के प्रकट होने में वर्षों का समय अपेक्षित रहता था)। 'गान्धारीर आवेदन' और 'कर्णकुन्ती संवाद' में *महाभारत* के तीन महत्त्वपूर्ण पात्रों को एक नये और अधिक गरिमामय आलोक में प्रस्तुत किया गया है। 'श्रेष्ठ भिक्षा', 'पुजारिनी' और 'अभिसार'-जैसे काव्यों के माध्यम से रवीन्द्रनाथ ने बौद्ध साहित्य में संगृहीत कुछ दन्तकथाओं के माहात्म्य और नाटकीय मूल्य के प्रति ध्यान आकर्षित किया। वे हाल के इतिहास से कुछ सामान्यतः समादृत घटनाओं को भी प्रकाश में लाए। मराठा और सिख इतिहास की इन कथाओं के साथ ही, उनके उन देशभक्तिपरक गीतों ने, जिनकी बाढ़ आगे आनेवाली थी, लोगों के मानस में स्वतन्त्रता की प्यास को रोपने में बहुत दूर तक सहायता की।

इसके उपरान्त, जैसा कि *कल्पना* (1900) की कविताओं में मिलता है, काव्यात्मक कल्पना का एक झोंका फिर आया। इस पुस्तक की विशिष्ट कविताओं में लय का एक सन्तुलित और राजसी स्पन्दन मिलता है। *वैशाख* में शान्तिनिकेतन के बंजर और झुलसे क्षेत्र में ग्रीष्म के एक तप्त दिन के धधकते हुए मध्याह्न की कल्पना एक ऐसे क्षीणकाय बुभुक्षित योगी के रूप में की गयी है, जो अपना आसन बिछाकर तपस्या कर रहा है।

क्षणिका (1900) की कविताओं में, जो *कल्पना* के तत्काल बाद लिखी गयी, रवीन्द्रनाथ की कविता एक नये शिखर तक पहुँच गयी। इनमें रूप और कथ्य का एक ऐसा सहज समन्वय मिलता है, जो शायद *चैताली* को छोड़कर उनकी अन्य पुस्तकों में नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह तथ्य था कि इसकी साठ के लगभग कविताएँ दो महीने के दौरान लिखी गयी थीं (मई-जून 1900)। पदावली अद्भुत रूप से सरल

है, छन्द असाधारण रूप से सहज है और भाव कुछ चंचल रूप से उत्तेजक है। परन्तु एक प्रच्छन्न गम्भीरता और भावात्मक यथार्थ ने *क्षणिका* की कविताओं को एक ऐसी भंगिमा और गहराई प्रदान की है, जो गम्भीर और परम्परागत कविता की पहुँच से परे थी। हर प्रकार के फन्दों और आच्छादन की परतों से मुक्त कवि का हृदय इन कविताओं में, जो अस्तित्व के विशुद्ध उल्लास से स्पन्दित हैं, खोलकर रख दिया गया है। *क्षणिका* की कविताओं का अन्तर्निहित अर्थ सम्भवतः प्रगीत-काव्य का मूलभूत प्रयोजन है। यह प्रयोजन है दौड़ते हुए क्षण के दुर्ग्राह्य चरणचिह्नों के उनके सुख और दुःख में पकड़कर इस अनुभव को निर्वैयक्तिक स्मरणीय तथ्य में रूपान्तरित करना। *क्षणिका* का मूल स्वर 'शेष' कविता में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। जीवन समय के प्रवाह में बहा जा रहा है, उसका पूरा उपयोग करने के लिए प्रवाह के पीछे बहना होगा; क्षण को रोकना, चाहे वह उल्लास का हो या विषाद का, पर्याप्त आमोद-प्रमोद को खोना है, और समय के विरुद्ध बहना मूर्खता है।

> किसी वस्तु को आरम्भ से अन्त तक पहचानूँ, सब-कुछ सीख-समझ लूँ, इसके लिए तनिक भी समय नहीं बचा है। जगत् जीर्ण माया-मात्र है, यह समझने के पहले ही जीवन-रात्रि सारे सपने बटोरकर भाग निकलती है। जीवन यदि कार्य करने लिए होता तो दीर्घ होता, पर यह तो प्रेम की ही तरह केवल दो दिनों की छुट्टी है। यहाँ पर हम कोई भी नहीं रहेंगे भाई, कुछ भी नहीं रहेगा। इसी आनन्द से समय के पीछे-पीछे दौड़ते चलो।

प्रेम-कविताएँ तितली के पंखों की तरह रंगरंजित और हल्की हैं और उनमें निर्बन्ध गति में जीवन के अनिर्णीत क्षण बँधे हैं। कवि एक प्रसन्नमना राही है जिसके पास न कोई ऐसी मंज़िल है, जहाँ उसे जल्दी पहुँचना हो, और न ही उसे बातचीत करने में कोई कठिनाई है :

> तलैया के जल में माणिक-हीरे झलमला रहे हैं; सरसों के खेतों में मधुमक्खियाँ मस्त हो उठी हैं। यह पथ कितने गाँवों को गया है; कितने वृक्षों की छाँहों से होता हुआ, कितने मैदानों के शरीर से गुज़रता हुआ, कितने वनों को जाता है यह। केवल मैं ही यहाँ अकारण रुका हूँ।

किन्तु इस राही के निरुद्देश्य भटकने के पीछे भी एक गहरा उद्देश्य छिपा है। जीवन जैसा है, वह उसे उसी रूप में प्यार करता है, और वह संसार की अभद्र दृष्टि से बचने की बहुत कोशिश करता है :

> मैंने किसी को भी नहीं बताया है कि छाती से बाँसुरी सटाए, बिना किसी काम के ही मैं सुबह-शाम तुम्हारे पथ पर आ पहुँचता हूँ; छद्मवेश में (यहीं) घूमता रहता हूँ। मुख पर जो भी गीत आता है, तरह-तरह की रागिनियों में, तरह-तरह

के स्वर लगाकर वहीं गा देता हूँ, लेकिन एक गीत गोपन रखता हूँ। अनेक चेहरों की ओर नयन उठाकर देखता हूँ पर तुम्हारी ओर देखता हूँ (केवल) स्वप्न में।

अनुचिंतन की अकर्मण्य भावस्थिति से कवि चारों ओर के तरंगायित जीवन के प्रति *नैवेद्य* (1901) में जाग उठता है, और वह उस अव्यक्त शक्ति की राजसी उपस्थिति को चारों ओर अनुभव करता है, जो मानव-जीवन और विश्व की नियति का नियंत्रण करती है। *नैवेद्य* के गठे और तराशे हुए सॉनेटों में कवि के हृदय की उन धड़कनों का अनुभव किया जा सकता है जो उसे महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलाप के लिए प्रेरित करती हैं। देश का लज्जाजनक पिछड़ापन, शान्त मूर्खता और नितान्त विवेकशून्यता निरन्तर उसके हृदय को जीर्ण कर रही थीं : इसलिए उसकी गर्हणा अत्यन्त निर्मम है और आह्वान उत्तेजक है :

> इस मृत्यु का, इस भयजाल का, जड़ कूड़े-कर्कट के इस पुंज-पुंजीभूत ढेर का, मृत आवर्जना का भेदन करना होगा। अरे ओ, इस दीप्ति प्रभात वेला में, इस जाग्रत भव-विश्व में, इस कर्मधाम में जागना ही होगा।

मनुष्य आस्थाहीन हैं, वे या तो मात्र रूढ़िवादी हैं या अन्धविश्वासी, और पश्चिमी पद्धति का अनुकरण केवल दम्भ है। बोअर युद्ध ने आधुनिक यूरोपीय संसार के भीतर की सड़न को कवि के सामने उद्घाटित कर दिया :

> सभ्यता की क्रूर नागिन ने अपने गुप्त नख-दन्त को तीव्र विष से भरकर पलक झपकते कुटिल फन उठा लिया है। जाति-प्रेम के नाम पर प्रचण्ड अन्याय चल रहा है। बल की वन्या में धर्म को विसर्जित करने की चेष्टा हो रही है।

कवि भारत की शानदार तस्वीर एक ऐसे राष्ट्र के रूप में देखता है, जो अज्ञान और अकर्मण्यता के व्यामोह से जागने ही वाला है। दिसम्बर 1901 में रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में अपने 'ब्रह्मचर्य' स्कूल का आरम्भ किया, जो एक तरह से *नैवेद्य* में सुनी गयी प्रेरणा की अभिव्यक्ति है, और बचपन में कवि को स्वयं समुचित स्कूली शिक्षा न मिलने के बदले एक प्रकार की सान्त्वना भी।

उनकी पत्नी की मृत्यु 1902 में हो गयी। उनकी स्मृति में लिखी गयी कविताएँ *स्मरण* (1903) नाम से संगृहीत हैं। कोमल कारुणिकता और कृतज्ञतापूर्ण स्मृति की इन सरल कविताओं में विवेक का गहरा बोध व्याप्त है। वैयक्तिक हानि भावात्मक लाभ के रूप में व्यक्त होती है :

> उस रात तुम्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हम दोनों अपनी बातें पूरी कर पाते। मूक विदा की उस वेदना से व्याकुल होकर मैंने निष्फल कामना से चारों ओर देखा है। आज इस हृदय में समस्त भावनाओं के नीचे तुम्हारी और मेरी वाणी एक होकर मिल गयी है।

कवि ने अपने उन दो छोटे बच्चों की मूक पीड़ा की गहरी अनुभूति की थी, जिन्होंने कुछ ही समय पहले अपनी माँ को खो दिया था, और इस भाव की प्रतिक्रिया-स्वरूप काव्य-प्रेरणा का एक नवीन स्रोत उद्घाटित हो गया। *शिशु* (1903) की कविताएँ मानवता के सम्भवतः सबसे आदिम और असन्दिग्ध रूप से सबसे मौलिक भाव—वात्सल्य की अज्ञात गहराई को उद्घाटित करती हैं। बच्चे का दुर्ग्राह्य चारुत्व, उसका अननुमेय व्यवहार और आह्लादक चंचलता, उसकी तर्कातीत कल्पनाएँ और उसकी निराशाजन्य अमूर्त कारुणिकता—इस सबमें कवि को विश्व के सर्जनात्मक जीवन के स्पन्दन का अनुभव होता है। वैष्णव पदों में बालक के प्रति स्नेह और श्लाघा को एक प्रकार की काव्यात्मक स्वीकृति मिली थी। परन्तु वहाँ बालक सामान्य बालक न होकर मानव-शिशु के रूप में ईश्वर का अवतार है। रवीन्द्रनाथ के काव्य में किसी प्रकार का देवत्वारोपण नहीं है बल्कि शाश्वत रूप से निर्गत जीवन की चेतना के रूप में मानव-शिशु का साधारणीकरण है।

शिशु की अनेक कविताएँ बच्चों के लिए उपयुक्त हैं। (वस्तुतः उनमें से कुछ की रचना उनके मातृहीन पुत्र और पुत्री के लिए ही की गयी थी।) कुछ की रचना बहुत पहले उनकी युवावस्था के आरम्भ में उनके भतीजे और भतीजी (सत्येन्द्रनाथ ठाकुर के बच्चों के मनोरंजन के लिए की गयी थी और *कड़ि ओ कोमल* के शुरू के संस्करणों में उनका समावेश किया गया था)। परन्तु *शिशु* की सभी कविताओं का अपेक्षाकृत बड़े पाठकों के लिए भी गम्भीर महत्त्व है और वे बच्चों की कल्पना और बड़ों के चिन्तन दोनों के लिए सामग्री प्रदान करती हैं।

1903-4 के बीच मोहितचन्द्र सेन ने रवीन्द्रनाथ की कविताओं (और नाटकों) के एक संग्रह का सम्पादन किया। वे कलकत्ता कालिज में दर्शन के प्रोफ़ेसर थे, और रवीन्द्रनाथ की कविताओं के प्रेमी थे। इन रचनाओं को कथ्य के अनुसार खंडों में पुनर्व्यवस्थित करके, ऐसे शीर्षक दिये गये थे, जो सर्वत्र अंगभूत पुस्तकों के अनुसार नहीं थे। हर खण्ड के लिए कवि ने एक नयी प्रारम्भिक कविता की रचना की थी, जिसमें उसने खण्ड को दिये गये नाम के महत्त्व की ओर संकेत करने का प्रयास किया था। ये आरम्भिक कविताएँ बाद में एक स्वतन्त्र पुस्तक में संगृहीत करके *उत्सर्ग* (1914) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित की गयीं। इन कविताओं में कवि के द्वारा जीवन के बारे में उसके निजी दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध करने का पहला सचेत प्रयास मिलता है, यानी उसका अपना 'धर्म'। वह अपने भीतर अहं और पराहं के एक अनवरत युगलगान का अनुभव करता है :

> जो सुगन्ध फूल के हृदय के निकट काँपती है, भोर के आलोक में जो गीत सोया हुआ है, किरण-किरण में हँसती जो हिरण्य-हरित आभा आभास बनकर शारद-धान्य में नाचती है; उसी गन्ध से मैंने अपनी काया गढ़ी है, यह गीत

मुझमें नवीन माया की सृष्टि कर रहा है, उस आभा की छाया मेरे नयनों में पड़ी है; मेरे अन्दर मुझे कौन रोक रख सकता है?

अहं और पराहं दोनों नित्य हैं। अहं, पराहं की आत्मोपलब्धि का माध्यम है : जीवन से मृत्यु तक और मृत्यु से जीवन तक (यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि इस अन्तिमता से रवीन्द्रनाथ का अभिप्राय आत्मिक पूर्णता या मुक्ति ('मोक्ष' या 'निर्वाण') जैसी किसी बात से था। (यह एक विकासात्मक प्रक्रिया है जो जीवन सहित, विश्व को अनन्त विस्तार के लिए प्रेरित करती है) ।

हे चिर पुरातन, सदा से तुम मुझे नये रूपों में गढ़ते आ रहे हो। सदा से तुम मेरे साथ थे, और सदा साथ रहोगे।

इस विचार को रवीन्द्रनाथ ने संगृहीत कविताओं के सम्पादक को लिखे गये गये एक पत्र में स्पष्ट किया है :

मैं भी उस व्यक्ति को अनुभव करता हूँ, जिसे तुम रवीन्द्र के रूप में देखते हो। वह पेड़ों और पौधों की कलियों और फूलों की तरह एक प्राकृतिक वस्तु है। अगर वह खिल उठे तो बहुत अच्छा, यदि वह मुरझा जाय तो बहुत-कुछ नहीं बिगड़ता; ऐसा चारों तरफ़ हर समय होता रहता है। लेकिन मेरा अस्तित्व उसके बहुत आगे दूर तक व्याप्त है; मेरा अस्तित्व अनन्त देश में है। न हर्ष-शोक, न इतिहास, न जीवन और मृत्यु मुझे बाँधकर रख सकते हैं।

खेया (1906) की कविताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के आध्यात्मिक विचार वैष्णव काव्य के रहस्यवाद की ओर झुक रहे हैं और उसका प्रगीतवाद संगीतवाद के निकट पहुँच रहा है। *खेया* पाठक को सहज रूप से 'गीत अर्पण' के मन्दिर में ले जाती है।

बंगाल के उन वैष्णव रहस्यवादियों के गीतों के लिए, जिन्हें सामान्यतः 'बाउल' (अभिधार्थ, पागल व्यक्ति) कहा जाता था, रवीन्द्रनाथ के मन में बहुत सम्मोहन था। ये लोग हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच से समान रूप से अपने उपासक को आकर्षित करते थे। युवावस्था में शान्तिनिकेतन में राह चलते सुने गये बाउल गीत के निम्नलिखित खंड ने कवि के हृदय में एक स्थायी स्वर को झंकृत कर दिया था और एक मन्त्र के रूप में उसने उन्हें वह प्रेरणा दी थी जो कभी विलीन नहीं हुई :

अचीन्हा पाखी पिंजरे में कैसे आता-जाता है? जो पकड़ पाता तो उस पाखी के पैरों में मन की बेड़ियाँ डाल देता।

जब रवीन्द्रनाथ अपना अधिकांश समय पारिवारिक जागीर के व्यवस्थापक के रूप में उत्तर-मध्य बंगाल में बिताते थे, तब उन्हें कुछ अत्यन्त विशिष्ट बाउलों से मिलने का सुयोग मिला था, जिनमें सम्भवतः कुस्तिया के लालन फ़कीर भी थे। पर

उन पर सबसे प्रबल प्रभाव एक वैष्णवी का पड़ा, जो उनके पास सिलाईदह में अक्सर सुबह के समय आती थी, उनके चरणों में कुछ क्षण बैठती थी और फिर भिक्षा के रूप में कवि की मेज़ पर रखे फूलदान के मुरझाए फूलों के अलावा और कुछ न लेकर विदा हो जाती थी। इस वैष्णवी के असाधारण व्यक्तित्व को उन्होंने अपनी एक कहानी में अमर बना दिया। उसके बारे में अन्यत्र भी संकेत मिलते हैं।

रवीन्द्रनाथ को इसके बाद उत्तर-पश्चिमी भाग के रहस्यवादी सन्तों—कबीर, मीरा, दादू, ज्ञानदास तथा अन्य लोगों के काव्य की जानकारी मिली। बंगाल के बाउलों और ग़ैर-बंगाली सन्तों के रहस्यवादी गीतों के प्रभाव से रवीन्द्रनाथ के उस काव्य को एक नवीन प्रेरणा मिली, जो पहले ही वैष्णव दृष्टिकोण के प्रति झुकाव के कारण अन्तर्मुखी हो चला था। इसका यह अर्थ नहीं है कि रवीन्द्रनाथ वैष्णववाद से प्रभावित हुए थे। इसका अर्थ केवल इतना है कि चूँकि वैष्णव कविता जीवन के बारे में मूलतः भारतीय और विशेषकर बंगाली दृष्टिकोण पर आधारित थी और उसने साहित्य के माध्यम से एक प्रकार के प्रतीकवाद का विकास कर लिया था, अतः वह रवीन्द्रनाथ को तत्परता से ग्राह्य हो गयी। एक अज्ञात दूरी से उसका आह्वान करती हुई कृष्ण की बाँसुरी के लिए राधा की ललक का, रवीन्द्रनाथ के लिए उतना ही महत्त्व है जितना कालिदास के लिए उस यक्ष का, जो सुदूर अलकापुरी में रहनेवाली अपनी प्रिया के लिए मेघदूत भेजता है। इनमें से पहला कवि की आत्मिक ललक का प्रतीक था और दूसरा भावात्मक खोज का।

तथाकथित *गीतांजलि*-काल (1905-11) कवि के जीवन के अत्यन्त सन्तापमय वर्षों का काल है। कविता में और गद्य में, उपन्यास में और नाटक में, मूक विचार और गम्भीर सक्रियता में रवीन्द्रनाथ के प्रयासों का विकास कुछ इस रूप में हुआ, जिसकी आशा सम्भवतः स्वयं उन्होंने भी नहीं की थी। व्यक्तिगत रूप में यह काल भारी मानसिक दबाव और उथल-पुथल का काल था। उनकी पत्नी की मृत्यु (1902) के बाद जल्दी ही उनकी दूसरी बेटी की मृत्यु (1903) हो गयी और उसके बाद सबसे छोटे बेटे की (1907)। शान्तिनिकेतन का स्कूल उन्हें बहुत महँगा पड़ रहा था। बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन ने अस्थायी रूप से उन्हें उस एकान्त से बाहर निकाल लिया था। उन्होंने अपने कई निबन्धों और व्याख्यानों में एक रचनात्मक पाठ्य-क्रम की योजना प्रस्तुत की थी, जिसे उन्होंने आंशिक रूप से उत्तर-मध्य बंगाल में अपनी जागीर में आरम्भ भी किया था। राष्ट्रीय उत्साह की धारा को इसमें मिला देने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। पर इन विविध क्रिया-कलापों के बीच भी उन्होंने अपनी निस्संगता को बरक़रार रखा। वे अपने कवि के खोल से बाहर निकलने के लिए, भीतर से निरन्तर आनेवाली पुकार के बारे में सजग रहते थे। वे देश के राजनीतिक क्षेत्र में अपने रचनात्मक कार्यक्रम के साथ आये। पर देश की तैयारी में बहुत देर थी, और कवि निराश होकर वापस अपने खोल में सरक गया, पर बहुत देर के लिए नहीं। वह फिर

बाहर आया, पर इस बार मानवता के कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र में; स्वयं कोई कार्यक्रम या आदेश लेकर नहीं बल्कि खुद एक आह्वान के उत्तर में और उसे इस बात का विश्वास हो गया कि यह आवाज़ उसे मानवता के हृदय के और निकट खींच ले जाएगी।

गीतांजलि (1910), *गीतिमाल्य* (1914) तथा *गीतालि* (1914) इसी काल की रचनाएँ हैं। *गीतांजलि* और *गीतिमाल्य* के प्रकाशन के बीच कवि ने इंग्लैण्ड और अमेरिका की यात्रा की, बहुत-से मित्र बनाए और वर्ष 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार जीता। इस नोबेल पुरस्कार का भारत के लिए अत्यधिक महत्त्व था, क्योंकि स्वतन्त्र और प्रगतिशील दुनिया के लेखकों की सभा में बराबरी के साझीदार के रूप में समसामयिक भारत का यह पहला सम्मान था।

इन तीनों पुस्तकों की सामान्य विशेषता यह है कि इनका विषय जितनी मात्रा में कविताएँ हैं, उतनी ही मात्रा में गीत भी और उनका अर्थ स्पष्ट रूप से भक्तिपरक या रहस्यवादी है। *गीतांजलि* से आगे बढ़ने पर हम पाते हैं कि कविताएँ गीतों का रूप और पदावली अपनाती जा रही हैं। यह सही है कि रवीन्द्रनाथ की कविता में प्रायः प्रगीत और गीत के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं दिखाई पड़ती और अपनी अद्भुत सांगीतिक प्रतिभा से उन्होंने अपनी कुछ अत्यन्त विस्तृत और कठिन कविताओं को सफलतापूर्वक संगीत में बाँध लिया था। फिर भी गीत (एक ऐसी काव्यात्मक रचना, जो इस रूप में रची गयी हो कि तत्काल संगीत में बाँधी जा सके) और कविता (अर्थात् एक ऐसी काव्यात्मक रचना, जिसे पढ़ने और विचार करने के लिए लिखा गया हो) के बीच में अन्तर तो किया ही जा सकता है। गीतों में उनकी भावात्मक लालसाएँ मुखर और स्थायी हैं। कविताओं में उनका भावात्मक आवेग मंद और मूक है। गीतों की पदावली अपेक्षाकृत कहीं अधिक सरल है, उनका छन्द कहीं अधिक सहज है और जहाँ सम्भव हो सका है वहाँ उनका बिम्ब-विधान अधिक उत्कृष्ट है।

इसके उपरान्त रवीन्द्रनाथ की कविता ने प्रगीत और गीत के समानान्तर मार्गों को अपनाया। कुछ समय तक दोनों रास्ते अलग-अलग रहे। पहले प्रगीतों ने विषण्ण और ऐश्वर्यपूर्ण रूप अपनाया पर शीघ्र ही गीत की सरल पदावली का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया। पयार पर आधारित छन्द में विषम पंक्तियाँ और अनियत यति है, जो भाव की ऊँचाई और मूड की विविधता के अनुरूप है। रूपकों की अद्भुत ज़रदोज़ी, शब्दों की विलक्षण निनादिता और पंक्तियों की प्रभावशाली लय *बलाका* की विशिष्ट कविताओं को प्राचीन वास्तु-कला के भव्य ऐश्वर्य से भर देती है। भाषा के प्रगीत काव्य के लिए अब तक ज्ञात महानतम मानदण्ड की दृष्टि से *बलाका* की कविताएँ सही अर्थ में भव्य हैं। इसकी सानी का कुछ भी इससे पहले देखने को नहीं मिलता, *उर्वशी*-जैसे भव्य काव्य में भी नहीं।

बलाका हमें कुछ-कुछ *क्षणिका* का स्मरण दिलाती है, बावजूद इसके कि दोनों के कथ्य, मूड और पदावली में स्पष्ट अन्तर है। यहाँ कवि एक यात्री है, सैलानी नहीं, और वह अकेला भी नहीं है; उसके साथ सारा विश्व गतिमान प्रतीत होता है। *क्षणिका* में कोई मंज़िल नहीं है, जैसे कि एक आवारा बच्चे को उसका रास्ता किसी विशेष स्थान पर नहीं ले जाता, बल्कि वह उसे कहीं भी ले जाता है। *बलाका* में यह पथ सार्वभौमिक नियति का रास्ता है, इसे चाहे विकास कहें या कुछ और, मनुष्य अपनी नश्वरता में अनश्वर है। एक सहचारी स्वर पश्चदर्शन का स्वर है। कवि अनुभव करता है कि इस संसार को छोड़ने का समय निकट आ रहा है, और पहली बार उसे गृह-विरह अनुभव होता है। प्रथम विश्वयुद्ध को, जो तभी आरम्भ हुआ था, कवि पश्चिमी शक्तियों के लोभ और मानवता के दमन के लिए शोधक दण्ड के रूप में देखता है :

> हे मेरे रुद्र, लुब्ध तथा मोहग्रस्त वे लोग बिना निमन्त्रण के चुपचाप तुम्हारे सिंहद्वार को पार करके, सेंध मारकर तुम्हारे भण्डार में चोरी करते हैं। चोरी के धन का वह दुर्वह भार पल-पल उनके मर्म को छलता है; उतारने की शक्ति भी उनमें नहीं रह जाती।
>
> तब रो-रो कर तुमसे बारम्बार कहता हूँ—इन्हें क्षमा करो हे मेरे रुद्र! देखता हूँ, वह क्षमा प्रचण्ड झंझा के रूप में उतर आती है। उस तूफ़ान (के वेग) से वे धरती पर गिर पड़ते हैं। चोरी का प्रकाण्ड बोझ खण्ड-खण्ड होकर उस हवा में न जाने कहाँ उड़ जाता है।
>
> हे मेरे रुद्र, तुम्हारी क्षमा गरजती वज्राग्निशिखा में सूर्यास्त के प्रलय-लेख में, रक्त की वर्षा में, अकस्मात् संघात के घर्षण में (आती) है।

दस महीने बाद लिखी गयी एक कविता में, फ्रांस के युद्ध-क्षेत्र में प्रदर्शित संघर्ष-चेतना और निःस्वार्थ वीरता और देश-भक्ति के प्रति रवीन्द्रनाथ ने अपनी श्लाघा को लिपिबद्ध किया है, और यूरोप के पुनरुद्धार की उत्साहपूर्ण आशा व्यक्त की है :

> वीरों के रक्त के स्रोतों का, माताओं की अश्रुधाराओं का जो मूल्य है, वह क्या धरा की धूल में ही खो जाएगा? क्या (इनसे) स्वर्ग नहीं ख़रीदा जाएगा? विश्व की निधि का स्वामी क्या इतना ऋण नहीं चुकाएगा? रात की यह तपस्या क्या दिन को नहीं लाएगी? दुःख की निदारुण रजनी में जब मनुष्य ने मृत्यु के आघात से अपनी मर्त्य-सीमा को तोड़ दिया तब क्या देवताओं की अमर महिमा दर्शन नहीं देगी?

रवीन्द्रनाथ केवल एक विशेष काव्य-रूप के साथ लम्बे समय तक चिपके रहनेवाले कलाकार नहीं थे। उन्होंने अब *बलाका* के अनियमित छन्द की *पलातका*

(1918) की कविताएँ लिखने के लिए प्रयोग किया, जिससे प्रगीताख्यान-रचना की एक नयी विधा सामने आयी। इनमें से प्रत्येक में एक प्रकार का कथा-तत्त्व है, और सामान्य मानवता की छोटी आशाओं और अभिलाषाओं के कुंठित होने से पैदा होनेवाली गहरी वेदना की गूँज है।

शिशु भोलानाथ (1922) की कविताएँ, *शिशु* की कविताओं से सम्बद्ध हैं, परन्तु उनकी रचना अलग ढंग की भावस्थिति में हुई है और वे कवि के भीतर के बालक को उद्घाटित करती हैं। कवि विश्व को एक ऐसे बालक की उदास आँखों से लालसापूर्वक देखता है, जिसे उसकी इच्छा के अनुरूप घूमने की इज़ाजत न हो।

अगली काव्य-पुस्तक *पूरबी* (1925) की कविताएँ दक्षिणी अमेरिका में और समुद्र यात्रा के दौरान (सितम्बर 1924 से जनवरी 1925 तक) लिखी गयी थीं। 'मुक्ति' नाम की कविता में कवि ने अपने निजी उल्लास और आशाओं की अभिव्यक्ति की है।

महुया (1929) की कविताओं में कवि ने नारी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की है। इनमें विशेष उल्लेखनीय कविताएँ वे हैं, जो 'नाम्नी' शीर्षक के अन्तर्गत लिखी गयी हैं, जिनमें किशोरीपन के विविध रूपों में नारी की विभिन्न भावस्थितियों और सम्मोहन के विविध पक्षों का चित्रण किया गया है। *वन वाणी* (1921) की विशिष्ट कविताएँ उस लघु और विराट्, ज्ञात और अज्ञात वनस्पति-जगत् के प्रति कवि के प्रशंसा-भाव को वहन करती हैं, जो दुर्दमनीय और विजयोल्लसित जीवन के प्रतीक के रूप में, हमेशा उसके पोषण और प्रेरणा का स्रोत रहा है।

परिशेष (1932) की कविताओं की प्रधान मनःस्थिति अतीतदर्शन और संस्मरण की है। शैली में एक ऐसा उत्साह और ताज़गी दिखाई पड़ती है जो *बलाका* की ओजस्विता, और *क्षणिका* की सरलता की अपेक्षा कुछ अधिक सूचित करती है। रवीन्द्रनाथ की भाषिक अभिव्यक्ति की कला यहाँ एक नयी समन्वयात्मकता सिद्धि कर लेती है। इनमें एक महत्त्वपूर्ण छान्दस् मौलिकता भी है। अन्त की चौदह कविताएँ अतुकान्त विषम छन्द में लिखी गयी हैं, जो उनकी आगामी पुस्तकों में सामने आनेवाले वास्तविक मुक्त छन्द का पूर्व रूप है। (अगले संस्करण में इन कविताओं को यहाँ से हटाकर *पुनश्च* में जोड़ दिया गया)। कवि की मनःस्थिति अब न तो निराशावादी है और न ही उल्लासमयी; यह मनःस्थिति शान्ति की है। 'दिनावसान' शीर्षक कविता में कवि उस दिन की बात करता है जब वह यहाँ नहीं होगा। वह कहता है तब भी उसके भीतर का जीवन चिरन्तन काल तक निरन्तर व्याप्त रहेगा और उसका उल्लास उस सबमें बना रहेगा जो प्रकृति में और मनुष्य में अच्छा है और मधुर और सरल है। वह यह नहीं जानना चाहता कि उसकी स्मृति में बड़ी सभाएँ बुलाई जाएँगी और आडम्बरपूर्ण स्मारक खड़े किये जाएँगे।

जहाँ उस देवदार के पत्ते मर्मर-ध्वनि में बजते हैं; जहाँ उस हरसिंगार के तले ओस का क्षणिक हास चमक उठता है; जहाँ किरण-कणों की माला पहने छाया नींद में ढली पड़ती है; जहाँ मेरे कार्य की वेला कार्य का वेश धरकर खेलती रहती है; जहाँ कार्य की अवहेलना एकान्त में दीप जलाकर नानारंगी स्वप्नों से रूप की डलिया भर देती है, (वहाँ) मेरी स्मृति मेरे गीतों में ही गुँथी रहे।

पुनश्च (1932), *शेष सप्तक* (1935), *पत्रपुट* (1936) और *श्यामली* (1936) की कविताओं में जो मुक्त लय मिलती है, उसका झुकाव अंग्रेज़ी और फ्रेंच के मुक्त छन्द की अपेक्षा, गद्य की ओर अधिक है। इन गद्य-कविताओं की विशेषता केवल गद्य-लय ही नहीं है, बल्कि साथ ही उनमें से कई रचनाओं में गद्य की पदावली भी है। इन कविताओं को विषय-वस्तु की दृष्टि से इसी प्रकार के छन्द और पदावली अपेक्षित थे, वरना उनकी अनगढ़, विषम और अ-भावात्मक वैचारिक विषय-वस्तु समुचित रूप से प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी। रवीन्द्रनाथ के लिए यह कोई नया अनुभव नहीं था। उन्होंने इस प्रकार की कविताएँ (जिन्हें तब इस नाम से अभिहित नहीं किया गया था) बहुत पहले भी लिखी थीं, पर तब कवि के मन में इन्हें बाहर से कविता का रूप देने में संकोच था। इसलिए *लिपिका* (1922) में उनका समावेश काव्यात्मक गद्य में रचित कथा-खंडों के रूप में कर लिया गया था।

विचित्रा (1933) की कविताओं का विषय शान्तिनिकेतन के कुछ कलाकारों और स्वयं कवि और उसके मित्रों द्वारा बनाए गये चित्र हैं। यहाँ चित्रों के द्वारा कविताओं को स्पष्ट करने के बजाय, कविताओं के द्वारा चित्रों को स्पष्ट किया गया है।

वीथिका (1935) का मूल स्वर उसकी पहली कविता 'अतीतेर छाया' में ही मुखरित है। कवि का हृदय उस महान् अज्ञात शाश्वत अतीत के समीप आने की चुपचाप तैयारी कर रहा है, जिसने अपने कंठहार में पुरानी सदियों को उनकी हार्दिक पीड़ा और परिताप सबको शान्त करके एक-एक करके रत्नों की तरह जड़ लिया है।

खाप-छाड़ा (1937) में बाल-गीतों की शैली में जो छोटी-छोटी कविताएँ हैं, वे मुख्यतः बच्चों के लिए लिखी गयी हैं परन्तु वे बड़े लोगों द्वारा भी समान रूप से आस्वाद्य हैं। छन्द की विलक्षण स्फूर्ति और अद्‌भुत लचीलेपन तथा कल्पना के स्वच्छन्द प्रसार ने इन नये बाल-गीतों को आनन्दप्रद सरलता प्रदान की है।

दूसरी ओर *छड़ार छबि* (तुकान्त चित्र 1937) की कविताएँ आकार में अपेक्षाकृत लम्बी और कथ्य में बोझिल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने उनकी रचना किशोरों के लिए की थी, पर उसका आशय यह नहीं था कि वे सब-की-सब अप्रौढ़ पाठक के लिए तुरन्त ग्राह्य हो जाएँगी। इनमें से बहुत-सी कविताओं में कवि की बाल्यावस्था के संस्मरणों की अनुगूँज है। दो कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पिशि' (ताई)

में उन बहुत वृद्ध लोगों की गहरी और मूक करुणा है, जिनके पारिवारिक सम्बन्ध बहुत दिनों से बिखर गये हैं और जो तेज़ी से चुकती हुई स्मृति और अन्तिम विलयन के बीच अधर में रह रहे हैं :

> किसी समय गाँव के नाते से वह किसी की मौसी थी, मणिलाल की वह नानी लगती है और चुन्नीलाल की मामी। बात करते-करते अचानक वह थम जाती है—किसी का नाम ही याद नहीं आता। गहरी साँस छोड़कर चुपचाप सोचती है—इस तरह से और कितने दिन चलेगा।

अपने चारों ओर की प्रकृति और जीवन के साथ कवि के गहरे लगाव को 'पिछु डाका' (पीछे से पुकार) शीर्षक कविता में अभिव्यक्ति मिली है।

प्रान्तिक (1938) की छोटी कविताओं में से तीन को छोड़कर बाक़ी सबकी रचना पयार छन्द की बढ़ाई गयी पंक्तियों में की गयी है। इनमें अर्द्धचेतन मानस के झिलमिल भावों के साथ रोगशय्या की विषण्ण कल्पना का मिला-जुला वर्णन है—उस समय का, जब कवि एक अत्यन्त गम्भीर बीमारी से (सितम्बर 1937) स्वस्थ होकर बैठा था। वे कविताएँ उसी वर्ष सितम्बर से दिसम्बर के बीच लिखी गयी थीं। बहुत छोटी अन्तिम कविता उस चीनी-जापानी-युद्ध के प्रति रवीन्द्रनाथ की प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करती है, जो दूसरे विश्व-युद्ध का प्राक्कथन बनने वाला था :

> चारों ओर नागिनें विषाक्त निश्वास छोड़ रही हैं। (ऐसे में) शान्ति की ललित वाणी व्यर्थ परिहास-सी ही सुनाई देगी। इसीलिए विदा लेने के पहले उन लोगों को पुकार लेता हूँ जो दानव के साथ युद्ध करने के लिए घर-घर में तैयार हो रहे हैं।

कविता की अगली पुस्तक *सेंजुति* (सन्ध्या की ज्योति, 1938) कवि के दृष्टिकोण के पुनः सहज सन्तुलित स्थिति में लौटने को प्रकट करती है। *प्रहासिनी* (1939) की कविताएँ एक हल्के-फुल्के और विनोदी मिज़ाज में लिखी गयी हैं। अतीत के हर्ष-विषाद, जो बहुत समय पहले पीछे छूट गये थे, अब *आकाश प्रदीप* (1939) की कविताओं में अपनी छाया डाल रहे हैं। 'समयहार' कविता पूर्वी बंगाल के उन युवा लेखकों की मण्डली को रवीन्द्रनाथ का मृदुल, पर प्रभावशाली उत्तर है जो रवीन्द्रनाथ पर उनकी कविता की स्वीकृति के विरुद्ध खड़े होने का आरोप लगा रहे थे और जो पाठक को इस बात का विश्वास दिलाना चाहते थे कि रवीन्द्रनाथ अब पुराने और अप्रचलित हो गये हैं। यह कविता उस मिश्र रचना का उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ किसी प्रसिद्ध बाल-गीत की कुछ पंक्तियों को समान रूप से प्रसिद्ध मध्ययुगीन कवि की कुछ पंक्तियों के साथ गूँथकर वाग्विदग्ध वक्रता के साथ एक आह्लादक ढाँचे में निर्मित किया गया है।

नवजातक (1940) की महत्त्वपूर्ण कविताओं में कवि पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता के मूल्य पर प्रश्न उठाता है। 'प्रायश्चित्त' कविता में वह दूसरे विश्व-युद्ध की दिशा का पूर्वानुमान करता है, जो छिड़ने ही वाला था। अगली पुस्तक *सानाई* (1940) की 'अपघात' कविता में युद्ध की अमानवीयताओं को बड़े तीखे ढंग से व्यक्त किया गया है :

> सूर्यास्त के पथ से साँझ की धूप उतर आयी। हवा थककर रुक गयी है। पुआल से लदी गाड़ियाँ निर्जन मैदान से होकर दूर नदिया के हाट को जा रही हैं। पीछे-पीछे रस्सी से बँधा बछड़ा चल रहा है। राजवंशी मोहल्ले के छोर पर पोखर के किनारे बनमाली पण्डित का बड़ा बेटा पानी में बंसी डाले बैठा है। तभी टेलिग्राम आया कि सोवियत बमों की वर्षा से फ़िनलैण्ड पूरी तरह तबाह हो गया है।

रोगशय्याय (1940) की कविताएँ हमें *प्रान्तिक* की याद दिलाती हैं, पर यहाँ आद्यन्त बिना लेशमात्र निराशा के भी, उदासीनता की अन्तर्धारा वर्तमान है :

> जो कुछ एकान्त आग्रह से चाहा था, उसके चारों ओर से बाँहों के बन्धन खिसक जाएँगे। तब उस बन्धन से मुक्त क्षेत्र में जो चेतना उद्भासित हो उठती है, देखता हूँ, उसका स्वरूप प्रभात के आलोक से अभिन्न है। शून्य होकर भी वह शून्य तो नहीं है। तब ऋषि के उस कथन का अर्थ समझ में आता है—आकाश यदि आनन्दपूर्ण न होता तो जड़ता के नागपाश में देहमन निश्चल हो जाते।
>
> "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्
> यद् एष आकाशः आनन्दो न स्यात्।"

आरोग्य (1941) की कविताओं में मनःस्थिति कुछ हल्की हो गयी है। कवि उस स्नेहपूर्ण देखभाल के लिए कृतज्ञ है, जिससे उसके बचपन की पुनरावृत्ति के इस दौर में प्रकृति और मानव उसकी शुश्रूषा कर रहे हैं। दूर के किसी घड़ियाल की आवाज़ विस्मृत स्मृति की तहों के बीच से असंगत और निरर्थक दृश्य और ध्वनियों को बाहर निकालकर प्यारी धरती से आसन्न वियोग की करुणा को पुनर्जीवित कर देती है।

पर अपनी प्यारी धरती से विमुक्त होने का यह अर्थ नहीं है कि जीवन का अन्त हो जाएगा : वह धरती की मिट्टी के नीचे चला जाएगा।

जन्मदिने (1941) कवि के जीवन में प्रकाशित अन्तिम काव्य-कृति है। इसकी विशिष्ट कविताओं में रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन और उपलब्धियों का विनम्रतापूर्वक आकलन किया है। इनमें एक गहरी कृतज्ञता का बोध अन्तर्निहित है। *जन्मदिने* साठ साल पहले शुरू किये गये *सन्ध्या-गीत* का उपयुक्त उपसंहार है।

रवीन्द्रनाथ के गीतों में प्रगीत-काव्य ने वह सूक्ष्मता और परिष्कृति हासिल की है, जिसने उनके क्षेत्र को लयात्मक वाणी मात्र की सीमा के बहुत आगे तक विस्तृत कर दिया है। सौन्दर्य के स्रष्टा रवीन्द्रनाथ साहित्यिक और कलात्मक रूपों के अनेक क्षेत्रों में असाधारण हैं, तथा संगीत-रूपों, धुनों और गीतों के सृजन में वे अपना सानी नहीं रखते। उन्होंने कुछ धुनें संगीत की ताल को तीव्र या विलम्बित करके छन्दों के संशोधन से बनाई हैं, कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है मानो रवीन्द्रनाथ की कविता का छन्द, सामान्य छन्द-योजना के अधीन नहीं है, पर तब वह केवल किसी सांगीतिक रचना या धुन का अनुसरण करता है। कुछ कविताओं और गीतों का छन्द-परीक्षण दोनों तरह से किया जा सकता है, छन्द की दृष्टि से भी और संगीत की दृष्टि से भी, और ऐसी स्थिति में सांगीतिक परीक्षण निरपवाद रूप से रसास्वादन में वृद्धि करता है। जब किसी कविता को गीत की तरह संगीतबद्ध किया जाता है, तब कभी-कभी थोड़ा-सा शाब्दिक परिवर्तन करना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ द्वारा सृजित धुनों और गीतों में एक अवर्णनीय सम्मोहन है, जो संगीत की ऊँची और शास्त्रीय शैली के साथ लोक-शैली के मिश्रण से, या यूरोपीय संगीत की तड़क-भड़क से उतना नहीं आया है, जितना संगीत-योजना की ऐसी वक्रता से, जिसमें धुन एक निजी लय का अनुसरण करती है—एक ऐसी लय का, जिसमें छन्द, संगीत और नृत्य, तीनों की ताल का मेल है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ का संगीत कभी-कभी लयात्मक गायन की तरह सुनाई पड़ता है।

अपने समापन के वर्षों में रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक यह थी, कि रवीन्द्रनाथ ने एक ऐसे गीत की रचना की, जो प्रगीतात्मकता और अन्य रूढ़ काव्यात्मक युक्तियों से मुक्त था, साथ ही उन्होंने 'उर्वशी' और 'छवि'-जैसी अपनी कुछ सुगठित और ठोस कविताओं से अत्यन्त उत्कृष्ट गीतों की रचना की।

रवीन्द्रनाथ का पहला नाटक 1881 में उनके इंग्लैण्ड से लौटने के तुरन्त बाद लिखा गया। यह एक संगीत-नाटक है, जो डाकू वाल्मीकि के आदिकवि बनने की कथा पर लिखा गया है और उसका शीर्षक है, *वाल्मीकि प्रतिभा*। इसका मंच पर प्रदर्शन हिन्दू और प्रेसीडेंसी कालिज के पुराने विद्यार्थियों के पुनर्मिलन के अवसर पर उनके घर में हुआ। रवीन्द्रनाथ ने वाल्मीकि की भूमिका ली : अन्य भूमिकाएँ उनके युवा भतीजे-भतीजियों ने ले लीं। *वाल्मीकि प्रतिभा* बाङ्ला ऑपेरा के एक नये रूप को प्रस्तुत करता है जिसमें गीत-संवादों की अनुगूँज नहीं है, बल्कि गीत और संवाद (इन्हें भी गाया जाता है) परस्पर पूरक हैं। प्रदर्शन पूरी तरह सफल हुआ। दर्शकों में कलकत्ता के अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार और बुद्धिजीवी उपस्थित थे।

अगला नाटक *काल-मृगया* (1882) उसी प्रकार का है जैसा *वाल्मीकि प्रतिभा*। इसकी कथा भी *रामायण* से ली गयी थी—राजा दशरथ के द्वारा दुर्दैवात् ऋषि सिन्धु

के पुत्र का दुर्घटनावश वध। यह नाटक भी कालिज के विद्यार्थियों के अगले पुनर्मिलन के अवसर पर प्रस्तुत किया गया था।

रवीन्द्रनाथ का तीसरा नाटक *प्रकृतिर परिशोध* (1884) दक्खिन में करवर में लिखा गया था, परन्तु कुछ गीत बाद में जोड़े गये। इसकी विषय-वस्तु पहली बार जीवन के विषय में रवीन्द्रनाथ के दृष्टिकोण की झलक प्रस्तुत करती है। इसमें हृदय की स्निग्धता के द्वारा प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व का समंजन किया गया है। तपस्वी का पलायनवाद कोई स्थायी हल नहीं प्रस्तुत करता, और वास्तविक सफलता तब मिलती है जब मनुष्य का जीवन प्रकृति की चेतना के स्वर-से-स्वर मिला लेता है। *प्रकृतिर परिशोध* मंचीय नहीं, प्रगीतात्मक है, और मंच पर उसका प्रदर्शन कभी नहीं किया गया।

अगले नाटक *नलिनी* (1884) की कहानी, लेखक के अपने ही समाख्यान-काव्य *भग्नहृदय* (1881) से ली गयी है। इसका भी रंगमंचीय प्रदर्शन नहीं हुआ।

राजा ओ रानी (1889) पाँच अंकों में रचित एक त्रासदी है। यह शोलापुर (दक्खिन) में लिखी गयी थी और मुख्यतः छन्दोबद्ध है। विषय-वस्तु का बीज *मानसी* की कविता 'निष्फल कामना' में ढूँढ़ा जा सकता है। राजा विक्रमदेव अपनी पत्नी सुमित्रा के प्रेम में इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें अपने राजकीय कर्तव्यों के पालन का भी समय नहीं मिलता। सुमित्रा को यह अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उसे विश्वास है कि इसकी प्रतिक्रिया होगी, जिससे यह मोह नष्ट हो जाएगा। वह यह भी जानती है कि जो प्रेम किसी के कर्तव्य में बाधा देता है, वह कभी सच्चा नहीं होता। इसलिए रानी अपने पति को इस बात के लिए प्रोत्साहित नहीं करती थी कि वह प्रेम में उलझा रहे और अपने कर्तव्य की उपेक्षा करे। परन्तु राजा की काम-वासना को नियन्त्रित नहीं किया जा सका और प्रेम तथा कर्तव्य के इस द्वन्द्व का अन्त त्रासदी में हुआ। इसमें एक गौण कथा भी है--कुमारसेन और इला की प्रेम-कथा, जो मुख्य कथा के साथ एकदम सटीक नहीं बैठती, और इस दूसरी कथा का सनसनीख़ेज अन्त कुछ खटकता है।

अपनी ख़ामियों के बावजूद *राजा ओ रानी* बाङ्ला भाषा में अब तक लिखी गयी त्रासदियों में सर्वोत्तम है। सार्वजनिक मंच पर इसके बार-बार अत्यन्त सफल प्रदर्शन हुए और इसने यदि कवि रूप में नहीं तो नाटककार के रूप में रवीन्द्रनाथ की ख्याति को स्थापित कर दिया। रंगमंच के दर्शक, रवीन्द्रनाथ के नाम से ही परिचित थे। उनके उपन्यास *बउ ठाकुरानीर हाट* (1883) को केदारनाथ चौधरी ने रंगमंचीय नाटक के रूप में रूपान्तरित किया, और उसमें रवीन्द्रनाथ के कुछ गीत डाल दिए। यह नाटक (*राजा बसन्त राय*) रंगमंच पर लोकप्रिय हुआ। 1909 में रवीन्द्रनाथ ने इसी उपन्यास पर आधारित पाँच अंक का एक नाटक *प्रायश्चित्त* लिखा। बहुत बाद में (1929) इस नाटक का संशोधित रूपान्तर *परित्राण* नाम से छपा था।

चालीस साल बाद, रवीन्द्रनाथ ने गौण कथा को निकालकर *राजा ओ रानी* नाटक फिर से लिखा, जिसमें कुछ अन्य असंगतियों को दूर कर दिया गया, और दो नये चरित्र जोड़कर *तपती* (1929) नाम से इसका प्रकाशन हुआ। यह पूर्णतः गद्य में है। वास्तव में *तपती* एक नया नाटक है।

विसर्जन (1890) एक प्रगीतात्मक त्रासदी है और रवीन्द्रनाथ के सर्वोत्तम नाटकों में से है। रंगमंच पर प्रस्तुति की दृष्टि से भी उसकी श्रेष्ठता सिद्ध हो चुकी है। कथा उनके किशोर उपन्यास *राजर्षि* (1889) से ली गयी है, जिसका विषय सत्रहवीं शताब्दी में टिप्पेरा के इतिहास से लिया गया है। इसकी नाटकीय रोचकता, गहन भावावेग, उत्कृष्ट मनीषा और जीवन के व्यापक दृष्टिकोण के साथ अन्धी रूढ़िवादिता, संकुचित कर्तव्य-भावना और प्रभाव-क्षेत्र के भ्रान्त अधिकारों के संघर्ष में निहित है। चरित्र-चित्रण भव्य है।

चित्रांगदा[1] (1892), *बिदाय-अभिशाप* (1894) और *मालिनी* (1895) विविधतापूर्ण विस्तार के नाटकीय प्रगीत हैं। *मालिनी* की कथा का संकेत-मात्र बौद्ध पुस्तक *महावस्तु* से लिया गया है, पर विस्तार रवीन्द्रनाथ का अपना है और समापन एक स्वप्न पर आधारित है, जो रवीन्द्रनाथ ने अपनी दूसरी लन्दन-यात्रा (1890) के समय देखा था।

1885 और 1897 के बीच रवीन्द्रनाथ ने अनेक हास्यपरक नाटिकाएँ और रेखाचित्र लिखे और दो प्रहसन : *गोड़ाय गलद* (एक ग़लत शुरुआत, 1892) और *बैकुंठेर खाता* (1897); *गोड़ाय गलद* दुबारा *शेष रक्षा* (1928) शीर्षक से लिखा और प्रकाशित किया गया। रवीन्द्रनाथ के ऐसे नाटकों, नाटिकाओं और रेखाचित्रों का वाग्वैदग्ध्य और हास्य अत्यन्त आनन्ददायक है और वे आज भी उतने ही ताज़ा हैं, जितने पहले थे। *गोड़ाय गलद* लेखक के निर्देशन में पहली बार संगीत समाज में प्रस्तुत किया गया। भारतीय रंगमंच और अभिनय कला के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

चिरकुमार सभा हास्यपरक नाटक का एक विशेष रूप प्रस्तुत करता है। कथा आद्यन्त संवादों के माध्यम से आगे बढ़ती और वह पढ़ने में लगभग उपन्यास की तरह लगता है। वर्षों बाद (1925) उसे नाटक का समुचित रूप भी दे दिया गया। *चिरकुमार सभा* पहले *भारती* (1900-1) में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ, परन्तु पुस्तक के रूप में यह *प्रजापतिर निबन्ध* (1901) शीर्षक से प्रकाशित हुआ। एक अपेक्षाकृत छोटी, पर रूप में *चिरकुमार सभा* से मिलती-जुलती पुस्तक *कर्मफल* (1903) है। बाद में वह वास्तविक प्रहसन के रूप में *शोधबोध* (1926) शीर्षक से दुबारा लिखी गयी। चिरकुमार सभा और *शोधबोध* दोनों कृतियाँ रंगमंच की दृष्टि से सफल रहीं।

---

1. *चित्रांगदा* के अंग्रेज़ी रूपान्तर का लन्दन में सफल प्रदर्शन किया गया था।

रवीन्द्रनाथ ने रहस्यात्मक या आध्यात्मिक आशय के संगीत-नाटकों की रचना शान्तिनिकेतन में स्थायी रूप से आकर बसने के किसी समय बाद आरम्भ की। ऐसे आरम्भिक नाटकों : *शारदोत्सव* (1908), *फाल्गुनी* (1915) और *बसन्त* (1923) में, ऋतु की आत्मा प्रकृति के उन विभिन्न रूपों का प्रतीक है, जिनके स्वर के साथ प्रगतिशील मानव-आत्मा का स्वर मिला रहता है, और त्याग शाश्वत आनन्द का रहस्य है। *शारदोत्सव* सहज रूप में एक लोककथा रूढ़ि पर आधारित है और उसकी संरचना में यात्रा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। *फाल्गुनी* की क्षीण कथा का संकेत मखादेव (*महावस्तु* में) की बौद्ध कहानी से लिया गया था। नाटक की आत्मा कुछ-कुछ *बलाका* की महत्त्वपूर्ण कविताओं के सदृश है। कलकत्ता में, मित्रों और सम्बन्धियों और शान्तिनिकेतन के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की मण्डली की सहायता से कवि ने इसका जो प्रदर्शन (मार्च 1915) आयोजित किया, वह वर्तमान शती के बाङ्ला रंगमंच और रंग-सज्जा के इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। कवि स्वयं युवा कवि शेखर और वृद्ध बाउल की दुहरी भूमिका में प्रस्तुत होता है।

राजा (1910)[1] रवीन्द्रनाथ का सही अर्थ में पहला प्रतीक-नाटक है। कथा की रूपरेखा राजा कुश की बौद्ध कथा (*महावस्तु* के अनुसार) से ली गयी है। *राजा* का एक संक्षिप्त रंगमंचीय रूपान्तर *अरूप रतन* नाम से प्रकाशित हुआ था (1920)। प्रतीकात्मकता का संकेत संक्षेप में भूमिका में किया गया है।

राजा और *अचलायतन* (1911) दोनों आठ महीने के समय के अन्दर उस समय लिखे गये थे, जब कवि एक बार फिर उत्तर-मध्य बंगाल में रह रहा था। *अचलायतन* की कथा पूर्णतः मौलिक है, परन्तु उसकी आत्मा और सम्पूर्ण वातावरण अद्भुत रूप से जीवन के सदृश और ऐतिहासिक है। ईसवी सन् की पहली सहस्राब्दी की समापन शताब्दियों और अगली सहस्राब्दी की आरम्भिक शताब्दियों में पूर्वी भारत में महायान के बौद्ध मत का तथाकथित वज्रयान और मन्त्रयान साधनाओं में विशेष रूप से विकास हुआ। अनेक बौद्ध विहार पैदा हो गये, जहाँ धर्म, दर्शन और उच्चतर शिक्षा का पोषण भक्तिपरक उत्साह के साथ किया गया; पर कुल मिलाकर गुह्य साधना और कठोर तपस्या से सिद्ध की जाने वाली इन अलौकिक शक्तियों में लगभग धर्मान्ध आस्था थी और इन्हीं को बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का एकमात्र लक्ष्य माना जाता था। यह विश्वास सर्वव्यापक हो गया और इसका परिणाम हुआ सामाजिक एवं बौद्धिक अपक्षय तथा आध्यात्मिक उपहास। और जैसा कि इतिहास से ज्ञात होता है, इसने अन्ततः पूरे देश को अकर्मण्यता और असहायता के उस पतनोन्मुख मार्ग पर ढकेल दिया जिससे शताब्दियों तक स्वतन्त्रता खो गयी। *अचलायतन* में रवीन्द्रनाथ ने इस सामाजिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक निष्क्रियता का ऐसा

1. अंग्रेज़ी रूपान्तर का शीर्षक है *द किंग ऑफ़ डार्क चेम्बर* (अँधेरे कक्ष का राजा)।

काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है, जो किसी वास्तविक चित्र से कम नहीं है, और उन्होंने इससे बचाव के साधनों की ओर भी संकेत किया है। यह नाटक इस बात को सिद्ध करता है कि रवीन्द्रनाथ ने केवल बौद्ध दर्शन का अच्छा अध्ययन ही नहीं किया था बल्कि उनके पास इतिहास का सच्चा परिप्रेक्ष्य भी था। *अचलायतन* एक सशक्त और आनन्दप्रद नाटक है और साथ ही तांत्रिक बौद्ध मत के पतन एवं पराजय का, आर्यों और अनार्यों के बीच संघर्ष का, और अन्त में दोनों के समायोजन का दैदीप्यमान इतिहास है।

गुरु (1918) *अचलायतन* का संक्षिप्त रूपान्तर है, जो शान्तिनिकेतन के स्कूल के छात्रों द्वारा रंगमंचीय प्रस्तुति के उपयुक्त है।

डाकघर (1912) रवीन्द्रनाथ के प्रतीक-नाटकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। नाटक के रूप में *डाकघर* का मूल्यांकन करने पर ज्ञात होता है कि वह उतना नाटकीय नहीं है जितना समाख्यानात्मक, और उसमें कहने के लिए बहुत कथा भी नहीं है। कवि ने उसे नाटक के रूप में एक 'गद्य-गीत' कहा है। लेकिन यह नाटक सशक्त और गत्यात्मक है, और कठिन होने पर भी, शान्तिनिकेतन में (तथा अन्यत्र भी) इसका प्रदर्शन असाधारण रूप से सफल हुआ।

डाकघर में व्यक्ति की आत्मा की आध्यात्मिक खोज को प्रतीकात्मक रूप दिया गया है। अगला प्रतीकात्मक नाटक *मुक्तधारा* (1922) राष्ट्रवाद और दक्षता के नाम पर शक्ति और लोलुपता के द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध मानव की भलाई की विजय को प्रतीक रूप देता है। एक तरह से *मुक्तधारा* दूसरे विश्व-युद्ध के द्वारा आनेवाली उस महाविपदा की भविष्यवाणी करता है, जो बीस वर्ष से भी कम समय में सामने आनेवाली थी। जब यह लिखा गया उस समय भारत में असहयोग आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था। नाटक के कथानक पर इसकी कुछ छाया है।

रवीन्द्रनाथ का अन्तिम और सम्भवतः सबसे कठिन प्रतीकात्मक नाटक *रक्त करबी* (1924) है। इसके चरित्र सब एकदम रक्त-मांस के मानव हैं। यहाँ प्रतीकात्मकता पूर्णतः स्पष्ट है। इसकी रचना साहसपूर्वक की गयी है और यह नाटक सशक्त है। शक्ति और सम्पत्ति का अन्धा बना देने वाला लोभ, जो आज की सभ्य मानव-जाति की नियति को लगातार नियंत्रित कर रहा है और जन-समूह को अपमान, कुरूपता, पाशविकता और निष्प्राणता की ज़िन्दगी जीने के लिए बाध्य कर रहा है, इस नाटक की विषय-वस्तु है। नाटक में इस बात का संकेत किया गया है कि मानव-जाति की मुक्ति को ऐसे जीवन में खोजना है जहाँ ज्ञान और शक्ति अस्तित्व की सादगी में

---

1. वैगनर ने बर्नोफ़ के अनुवाद से उक्त कथा को पढ़ा और कथा के नाटकीय तत्त्व ने उन्हें आकर्षित किया। एक लम्बे समय तक वे इस पर एक ऑपेरा की रचना करने के विचार को पाले रहे। उन्होंने एक प्रारूप लिखा (मई, 1856) और उसे 'द विक्टर्स' नाम दिया।

सहायक हों—ऐसी सादगी, जिसका प्रकृति के जड़ और चेतन, दोनों रूपों के साथ पूर्ण सद्भाव हो।

रवीन्द्रनाथ का अगला नाटक *गृह-प्रवेश* (1925) है। कथानक, लेखक की अपनी कहानी *शेषेर रात्रि* से लिया गया है। यह सीधा-सादा नाटक है, जिसमें प्रतीकात्मकता का कोई स्पर्श नहीं है। यह नाटक रंगमंच पर प्रस्तुति की दृष्टि से बहुत सफल था।

नटीर पूजा (1926) एक ऐसा नाटक है जिसमें संगीत और नृत्य-नाटक समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसका क्षीण कथानक एक बौद्ध आख्यान पर आधारित है जिस पर कवि ने *पुजारिनी* कविता लिखी थी। यह नाटक रवीन्द्रनाथ के अत्यन्त लोकप्रिय गीति-नाटकों में से है। इसने नृत्य-संगीत की एक नयी प्रणाली आरम्भ की। *चाण्डालिका* (1933) एक पूरी संगीत-नृत्य-नाटिका है। कथानक एक बौद्ध आख्यान (*शार्दूलकर्णावदान*)[1] पर आधारित है। यह कुछ-कुछ *चित्रांगदा* से सम्बद्ध है। *चित्रांगदा* की नायिका ने अपने प्रिय के हृदय को उधार लिये हुए रूप से आधार पर जीतने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता तभी मिली जब उसने उसका परित्याग कर दिया और उसके पास अब अपने प्रेम के अतिरिक्त देने को और कुछ न रहा। *चाण्डालिका* में निम्न जाति की कन्या ने भिक्खु आनन्द के प्रेम पर विजय पाने का प्रयत्न किया जिन्हें वह अपना हृदय समर्पित कर चुकी थी। इस कार्य के लिए उसकी माँ ने उसकी ओर से तंत्र-शक्ति का प्रयोग किया, परन्तु सफलता के एकदम निकट आकर उसे अक्ल आ गयी। उसने देखा कि वह आनन्द के शरीर पर अधिकार कर सकती है पर उनके हृदय को नहीं रोक सकती। उसने अपनी माँ से गायन बन्द कर देने के लिए कहा और संन्यास का मार्ग अपना लिया।

ताशेर देश (1933) लेखक की एक अपनी रूपक-कथा पर आधारित है। यह हल्के-फुल्के नाच-गाने से भरा हुआ एक रुचिकर नाटक है। *बाँशरी* (1933) एक ऐसा नाटक है, जो पढ़ने में संवादों में रचित प्रेम-कहानी लगता है। इसमें बहुत क्रिया-व्यापार नहीं है, किन्तु उससे कोई विशेष क्षति नहीं हुई है। इसका कभी रंगमंचीय प्रदर्शन नहीं हुआ।

रवीन्द्रनाथ की अन्तिम नाट्य रचनाएँ, तीन संक्षिप्त नृत्य नाटिकाएँ हैं : *चित्रांगदा* (1936), *चाण्डालिका* (1938) और *श्यामा* (1938)। अन्तिम का कथानक रवीन्द्रनाथ की अपनी कविता 'परिशोध' पर आधारित है, जिसकी कथा बौद्ध जनश्रुति से ली गयी थी। नृत्य-नाटिकाएँ रवीन्द्रनाथ के गीति-नाट्यों के विकास की अन्तिम स्थिति को प्रकट करती हैं। यहाँ नृत्य नाट्याभिव्यंजना का साधन है, गीतों का सहायक या अलंकरण-मात्र नहीं। इन नृत्य-नाट्यों के द्वारा रवीन्द्रनाथ ने एक नये प्रकार के काव्यास्वाद की सृष्टि की, जहाँ कविता संगीत, नृत्य और नाट्य के साथ बराबर की मात्रा में मिला दी गयी है।

रवीन्द्रनाथ सही अर्थ में बाङ्ला-कहानी के जनक भी हैं (1891) और अभी तक सर्वोत्तम लेखक भी। उनकी कहानियाँ जीवन के निम्नतर क्षेत्रों से आनेवाले सामान्य नारी-पुरुषों से सम्बद्ध हैं। रवीन्द्रनाथ की कहानियों की संख्या लगभग सौ के क़रीब है और वे वैविध्यपूर्ण हैं। रवीन्द्रनाथ को पहले-पहल कहानी लिखने की प्रेरणा कैसे मिली, इसका वर्णन एक कविता में किया गया है, जो उनकी आरम्भिक कहानियों की समकालीन है। (और कुछ पत्रों में भी) :

> निरन्तर इच्छा होती है कि अपने मनचाहे ढंग से एक-एक करके कहानियाँ लिखूँ—छोटे प्राणों की छोटी-छोटी व्यथाएँ, छोटे-छोटे नितान्त ही सहज-सरल दुःखों की कहानियाँ—विस्मृति की जो राशि प्रतिदिन बहती चली जा रही है, उसी में आँसू की दो-चार बूँदें।
>
> (उन कहानियों में) न वर्णन की छटा होगी, न घटनाओं का घटाटोप, न कोई तत्त्व, न उपदेश। (उन्हें रचकर) अन्तर अतृप्त ही रहेगा, पूरा करने पर लगेगा कि समाप्त होकर भी ये समाप्त नहीं हुईं। उन सब उपेक्षित, क्षणिक लीलाओं का ढेर चारों ओर लगाकर उन्हींसे जीवन की श्रावणी निशा की एक विस्मृति-वृष्टि की रचना करूँ।

रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी कहानियों में एक धीमे-से कारुणिक स्वर की अन्तर्धारा है, परन्तु वह प्रचलित अर्थ में त्रासदीय नहीं है। यह जीवन की गहरी समझ के परिणामस्वरूप होनेवाली कुण्ठा और असारता के बोध से उत्पन्न पश्चात्ताप का स्वर है। रवीन्द्रनाथ जिस समय अपनी आरम्भिक कहानियाँ लिख रहे थे, उसी समय लिखे गये एक गीत में, मानव-जीवन में कुण्ठा का यह बोध सारगर्भित और तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है :

> (यह) केवल जाना और आना है—केवल प्रवाह में बहना, उजाले-अँधेरे में रोना-हँसना।
>
> केवल दर्शन पाना, सिर्फ़ छू जाना, दूर जाते-जाते रोकर देखना मिथ्या आशा को पीछे छोड़कर नयी दुराशा के साथ आगे चलते जाना।
>
> कामना अशेष है, पर बल टूटा हुआ। प्राणपण से कार्य करके भी फल खण्डित ही मिलता है। यह तो टूटी हुई नौका लेकर सागर पर तैरने के समान है। भाव रो-रोकर मरते हैं—भाषा, जो टूटी हुई है।
>
> हृदय से हृदय का आधा ही परिचय है। आधी बात पूरी भी नहीं होती। लज्जा, भय, त्रास और अधूरे विश्वास के कारण प्रेम भी केवल आधा ही है।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों में कथ्य और रूप की विविधता है, और उनकी पहुँच प्रेम की भूमि से लेकर भूतों के अधिकार-क्षेत्र तक है। एक साहित्यिक विधा के रूप में रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ स्पष्ट और आदर्श हैं, और उनकी तुलना किसी भी भाषा

की सर्वोत्तम कहानियों से अच्छी तरह की जा सकती है। कविता और गीतों की तरह, कहानियाँ भी रवीन्द्रनाथ के एकदम अन्तिम दिनों तक लिखी गयी थीं। उन कहानियों का ध्यान से अध्ययन करने पर रवीन्द्रनाथ की कला का उत्तरोत्तर वैविध्य उद्‌घाटित होता है।

रवीन्द्रनाथ के पहले दो उपन्यासों के कथानक बंगाल की सत्रहवीं शताब्दी के इतिहास से लिए गये हैं। *बउ ठाकुरानीर हाट* (1883) के कथानक का संकेत घोष के *बंगाधिप-पराजय* (1869) से लिया गया था, परन्तु वह ऐतिहासिक की अपेक्षा पारिवारिक ढंग का अधिक है। *राजर्षि* (1885) एक किशोर उपन्यास है और कथानक टिप्पेरा के इतिहास से लिया गया है। हृदय और बुद्धि के बीच संघर्ष इन दोनों उपन्यासों के कथ्य का मूल स्वर है। पहले पर बंकिमचन्द्र चटर्जी का हल्का-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है, लेकिन दूसरे पर नहीं।

अगला उपन्यास लगभग पन्द्रह वर्ष बाद लिखा गया। इसका नाम है, *चोखेर बालि* (1902)। यहाँ भारतीय साहित्य में पहली बार व्यक्तियों के मानस पर पड़े प्रभाव के फलस्वरूप घटित क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं, बाह्य घटित घटनाएँ नहीं। चरित्रों की मनोविकृतियों का यथार्थवादी ढंग से अनुसरण किया गया है, और यह भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। वर्तमान काल के कुछ पाठकों को कथा का अन्त कथानक के यथार्थवाद के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाता, और रवीन्द्रनाथ स्वयं भी इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं। परन्तु वह किसी और रूप में इससे बेहतर नहीं हो सकता था। विनोदिनी की जीवन-चर्या का किसी भी दूसरे रूप में अन्त वर्तमान समय के आधुनिक से आधुनिक पाठक को भी अकारण रूप से कठोर आघात पहुँचाता, और रवीन्द्रनाथ को इस प्रकार के आकस्मिक आघात पहुँचाने में कोई आस्था नहीं थी और उन्होंने कभी अमर्यादित रूप से मौलिक[1] होने का प्रयत्न भी नहीं किया। समकालीन लम्बी कहानी 'नष्ट नीड़' (1903) में रवीन्द्रनाथ ने वह कर दिखाया, जो वे *चोखेर बालि* में नहीं कर सके थे।

नौका डूबी (1905) *चोखेर बालि* के लगभग तत्काल बाद लिखी गयी थी। *चोखेर बालि* में वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ पारिवारिक समस्याओं से उलझी हुई हैं। *नौका डूबी* में वैयक्तिक जीवन की समस्या सामाजिक जीवन से उलझी हुई है। *चोखेर बालि* में घटनाएँ अपेक्षाकृत कम हैं, परन्तु *नौका डूबी* में घटनाओं और दुर्घटनाओं की कोई कमी नहीं है। दोनों उपन्यास पहले *बंग-दर्शन* (नयी शृंखला)

1. यह सुझाव दिया गया है कि रवीन्द्रनाथ ने नायिका के लिए सुखमय समापन इसलिए बचाया क्योंकि उसका अर्थ होता या तो विधवा-विवाह या अविवाहित साहचर्य, जिससे उनके पिता, जो उस समय जीवित थे, अप्रसन्न होते। जो व्यक्ति रवीन्द्रनाथ को उनके जीवन और कृतियों के माध्यम से समझते हैं, वे इस विचार को स्वीकार नहीं करते।

में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। रवीन्द्रनाथ उस समय इस पत्रिका के सम्पादक थे।

रवीन्द्रनाथ के महान् उपन्यास *गोरा* (1910) में व्यक्ति की, समाज की और राज्य की समस्याएँ आपस में गुँथी हुई हैं। कथानक की व्यापकता और साथ ही उसके कुशल प्रस्तुतीकरण के कारण *गोरा* को आधुनिक भारत के *महाभारत* के रूप में देखा गया है, और सही देखा गया है। देश की सामाजिक और राजनीतिक नियति का साहसपूर्वत संकेत किया गया है और साथ ही महात्मा गाँधी के उस असहयोग आन्दोलन की स्पष्ट भविष्यवाणी की गयी है जो एक दशाब्द से भी अधिक समय के बाद सामने आनेवाला था। रवीन्द्रनाथ ने एक ही पद्धति का उपयोग अपने उपन्यासों में कभी नहीं किया और *गोरा* की रचना लगभग अलग ढंग से हुई है।

चतुरंग (1916) में, जैसा नाम से स्पष्ट है, चार परस्पर सम्बद्ध कहानियाँ हैं, जो पहले स्वतन्त्र कथाओं के रूप में अपने निजी शीर्षकों से *सबुजपत्र* (1915) के पृष्ठों पर छपी थीं। शीर्षक का अर्थ शतरंज भी है। यह उपन्यास के रूप में इस कृति की अन्विति को भी सूचित करता है, और उन चार व्यक्तियों के हाथ में नायिका की नियति को भी, जो क्रमशः उसकी नियति का संचालन करने के लिए आते हैं। तकनीक और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से *चतुरंग* बेजोड़ कृति है, और एक अर्थ में यह बाङ्ला भाषा की सर्वाधिक सुसंहत और प्रांजल कथा-कृति है। *चतुरंग* में समस्या बाह्य नहीं है; यह वह कठिनाई है जो किसी व्यक्ति के सामने तब आती है जब वह भावात्मक संकट की स्थिति में मन और आत्मा के बीच सन्तुलन की खोज करता है।

घरे बाइरे (1916), *चतुरंग* के तुरन्त बाद सबुजपत्र के पृष्ठों पर प्रकाशित हुई, और उसने गद्य में एक नयी शैली और कथा-साहित्य में एक नये रूप का आरम्भ किया। इसका समय शताब्दी का पहला दशाब्द था, जब बुद्धिजीवी बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन की उत्तेजना व्याप्त थी। समझदार लोग उस समय प्रगतिशील आन्दोलन के अनेक क्षेत्रों से गहरे सम्बद्ध थे : देश की आर्थिक स्वतन्त्रता, नारी-शिक्षा, अप्रचलित विचारों की परम्परागत लीक का परिहार और सामाजिक एवं पारिवारिक अत्याचार से मुक्ति की तलाश आदि। पश्चिम से कामविषयक नयी धारणाएँ (जिसमें काम मनोविज्ञान भी शामिल था) तभी आयी थीं। नायक निखिलेश अपने देश को प्यार करता है, लोगों को चाहता है और अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करता है, और वह इस प्रेम और प्रशंसा को हर प्रकार की बाध्यता और मजबूरी से मुक्त करना चाहता है। वह स्वदेशी का समर्थक है परन्तु हर विदेशी वस्तु का अन्धाधुन्ध बहिष्कार करने के विरुद्ध है और वह हर रूप में हिंसा का विरोध करता है। वह अपनी पत्नी को वैवाहिक निगरानी से मुक्ति देना चाहता है ताकि वह विवाह से विकसित होनेवाले प्रेम की सच्ची प्रकृति को समझ सके और उसका सच्चा मूल्यांकन कर सके। निखिलेश को इस विचार मात्र से घृणा है कि उसकी पत्नी, अपने परम पावन कर्तव्य के रूप में उससे

प्रेम करने के लिए बाध्य हो। इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने घर के भीतर और बाहर, नये और पुराने चलन के बीच अन्तर का चित्रण किया है। वर्णन तीन प्रमुख पात्रों के व्यक्तिगत संस्मरण और डायरी के रूप में किया गया है, जो संघर्ष का त्रिकोण बनाते हैं।

जोगाजोग (1930) विशुद्ध घरेलू कथा है। एक परिवार है जो पीढ़ियों से संस्कृति के दबाव से मृदुल हो गया है परन्तु अब निर्धन है। संघर्ष इस परिवार की विचारधारा और संवेदनशीलता तथा एक ऐसे सामान्य व्यक्ति की अभद्रता और पाशविक लोलुपता के बीच है जिसने अपने अध्यवसाय और कर्मठता से अपार धन एकत्र कर लिया है। पहले रवीन्द्रनाथ ने उपन्यास की योजना बनाई थी—एक ऐसा उपन्यास जिसमें एक परिवार की तीन पीढ़ियों की जीवन-चर्या का चित्रण किया जाय। पहली पीढ़ी की कथा से *जोगाजोग*[1] में परिचय करा दिया गया है, किन्तु कथा दूसरी पीढ़ी के जन्म की सम्भावना के साथ समाप्त हो जाती है।

शेषेर कविता (1929) बंगलौर में लिखी गयी थी (1928)। यह कथा कहने की एक नयी शैली प्रस्तुत करती है, जिसमें छन्द-रचना गद्य-वर्णन में सहायक है। संस्कृत साहित्य की चम्पू शैली से इसकी हल्की-सी समानता है, रूप और कथ्य की दृष्टि से *शेषेर कविता* के निकट है, और इसलिए चरित्र-चित्रण, गद्य में रचित सामान्य कथा-साहित्य की अपेक्षा कम सुस्पष्ट है। यह एक प्रेम-कहानी है, जिसकी रचना मानो और सभी प्रेम-कहानियों के समापन के लिए की गयी है और इसकी विषय-वस्तु शब्द के प्रचलित अर्थ में 'आधुनिक' है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अपने मूल रूप में प्रेम सहवास की किसी प्रकार की आवश्यकता से परे है। रवीन्द्रनाथ ने यहाँ प्रकारान्तर से अपने युवा आलोचकों को, जो स्वयं लेखक भी हैं, बड़ा प्रभावशाली उत्तर दिया है। गहरी व्यंग्यात्मकता के बावजूद *शेषेर कविता* को इन युवा आलोचकों से प्रशंसा भी मिली।

दुइ बोन (दो बहनें, 1933) और *मालंच* (मालिन का बगीचा, 1934) लम्बी कहानियाँ या लघु उपन्यास हैं। विषय-वस्तु कुछ-कुछ *शेषेर कविता* से सम्बद्ध है यानी स्त्री के प्रति पुरुष के प्रेम के दो रूप हो सकते हैं; वह एक ही समय में एक स्त्री को पत्नी के रूप में और दूसरी को प्रेमिका के रूप में प्यार कर सकता है, और प्रेम के इन दोनों रूपों में कोई अन्तर्निहित विरोध नहीं है, गो कि टकराहट वर्जित नहीं है। *शेषेर कविता* में कोई टकराहट नहीं है, *दुइ बोन* में 'संघर्ष' है किन्तु उसका अन्त समझौते में होता है, और *मालंच* में स्त्रियों के मध्य तो द्वन्द्व है, पर पुरुष के लिए नहीं।

---

1. उपन्यास की पहली दो किस्तों (पहले *विचित्रा* में धारावाहिक रूप से प्रकाशित) का शीर्षक *तीन पुरुष* (तीन पीढ़ियाँ) था।

चार अध्याय (1934) की रचना श्रीलंका में हुई थी। यह निस्सन्देह उपन्यास है, पर विस्तार में यह एक लम्बी कहानी से ज़रा ही बड़ा है। यहाँ असहयोग आन्दोलन के उपरान्त बंगाल में घटित होनेवाले क्रान्तिकारी और हिंसक कार्य-कलापों के वास्तविक उद्देश्यों और मूल्यों का विश्लेषण करने का प्रयास है और रवीन्द्रनाथ ने यह दिखाया है कि कोई देशभक्तिपरक और लोकोपकारक उद्देश्य चाहे कितना भी उन्नत क्यों न हो, यदि वह उसकी अन्तश्चेतना और सद्विवेक के विरुद्ध हो तो मनुष्य का कर्तव्य है कि उसका अनुसरण कभी न करे। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रति रवीन्द्रनाथ की गहरी संवेदना, और उन युवकों और युवतियों के प्रति, जिन्होंने स्वतन्त्रता के लिए आत्म-बलिदान दिया, उनकी अनुशंसा की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति उनके इस अन्तिम उपन्यास में हुई है। साथ ही, उनकी तीव्र अन्तर्दृष्टि और दूरदर्शिता से, रक्त-क्रान्ति के प्रच्छन्न फन्दे छिपे नहीं रहे। क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में रवीन्द्रनाथ का विश्लेषण और मूल्यांकन असन्दिग्ध रूप से सही था, यह बात इस विपरीत पद्धति से सिद्ध हो गयी कि जब यह उपन्यास पहली बार प्रकाशित हुआ, तो साधारण पाठकों की सामान्य उदासीनता के कारण इसका उत्साहपूर्ण स्वागत नहीं हुआ।

इसकी प्रस्तावना में रवीन्द्रनाथ ने ब्राह्मबांधव उपाध्याय से व्यक्तिगत भेंट का चलताऊ-सा उल्लेख किया है। वे क्रान्तिकारी आन्दोलन के आरम्भ में उसके सर्वोच्च नेताओं में से थे और 1901 में जब शान्तिनिकेतन स्कूल की स्थापना हुई थी, उस समय रवीन्द्रनाथ के मुख्य सहायकों में से थे। बिना किसी वास्तविक कारण के इस बात पर आपत्ति की गयी और रवीन्द्रनाथ ने जनंता की भुनभुनाहट के सामने सिर झुका दिया और पहले संस्करण के पूरा बिकने से पहले भूमिका को निकाल लिया।

निबन्ध-लेखक के रूप में आरम्भ से ही रवीन्द्रनाथ का विशिष्ट स्थान था, यद्यपि गद्य-लेखक के रूप में उनकी प्रसिद्धि, एक लम्बे समय तक कवि के रूप में उनकी ख्याति से ग्रस्त रही। रवीन्द्रनाथ के गद्य में उनके काव्य की अपेक्षा प्रौढ़ता कहीं जल्दी आ गयी थी, और उनके पहले आलोचनात्मक निबन्ध (1876) में दृष्टिकोण की जो मौलिकता दिखाई पड़ती है, उसकी उम्मीद उस समय किसी भी दूसरे युवा या वृद्ध लेखक से नहीं की जा सकती थी। उन्होंने विभिन्न विषयों पर निबन्ध-लेखन का सिलसिला कभी बन्द नहीं किया। इन विषयों में साहित्य का आस्वादन और आलोचना, सामाजिक समस्याएँ और राजनीतिक धर्म-संकट, धर्म और दर्शन, संगीत और व्याकरण, यात्रा और आत्मकथा, हास्य और व्यंग्य सब शामिल हैं। रवीन्द्रनाथ के गद्य-लेखन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप पत्र-लेखन है।

रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, उनकी विषय-वस्तु चाहे जो भी रही हो, आलोचनात्मक विश्लेषण की अपेक्षा सृजनात्मक कला के अधिक निकट हैं। कालिदास के काव्य और

बाण की *कादम्बरी* पर उनके निबन्ध संस्कृत-काव्य में एक नये सौन्दर्य और गहराई का उद्‌घाटन करते हैं। विभिन्न युगों के दौरान भारतीय आत्मा के व्याख्याता के रूप में रवीन्द्रनाथ का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। उनके मन में बनारस के कबीरदास और कुश्तिया के लालन फकीर की उतनी ही गहरी समझ और उनके प्रति वैसा ही प्रशंसा भाव है जैसा उपनिषदों के ऋषियों के प्रति है। रवीन्द्रनाथ ही वे व्यक्ति थे जिन्होंने मध्ययुगीन और आधुनिक भारत की रहस्यवादी कविता के प्रति सुसंस्कृत संसार का ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया। कोई भी ऐसी वस्तु जिसमें सौन्दर्य और सत्य का तत्त्व हो, उनके ध्यान से नहीं बच पाती थी। रवीन्द्रनाथ से पहले बंगाल में किसी ने बाल-कविताओं की ओर ध्यान नहीं दिया था। बाल-काव्य और लोक-काव्य पर उनके लेखों ने उत्कर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त किया। रवीन्द्रनाथ ही वह व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में बाल-कविताओं का पहला संग्रह किया। आज भी रवीन्द्रनाथ आधुनिक साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। उनकी *पंचभूत* (1897) साहित्यिक और सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना और विचारों का ग्रन्थ है, और पढ़ने में वह किसी काव्य-कृति या कथा-कृति के समान आनन्दप्रद है। रवीन्द्रनाथ की दिलचस्पी बाङ्ला व्याकरण और भाषा-विज्ञान में भी थी। उनके *शब्दतत्त्व* (शब्दों का विज्ञान, 1909) में आधुनिक बाङ्ला भाषा के स्वर-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ मौलिक खोज की गयी है। *बाङ्ला भाषा परिचय* में बाङ्ला के वैयाकरणों के लिए कुछ विचारपूर्ण सुझाव हैं।

रवीन्द्रनाथ प्राचीन भारत के इतिहास के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता रहे हैं। अतीत में उनकी तीव्र रुचि ने उन्हें बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। यह अध्ययन केवल काव्य और नाटक के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि निबन्धों की दृष्टि से भी फलदायक रहा। *भारतवर्षेर इतिहासेर धारा* (1911) में आर्यों के आधिपत्य के आरम्भ से ही शुरू हो जानेवाली, हमारे देश के इतिहास की कुछ मूलभूत प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन हुआ है। सही अर्थ में, शायद इसे ऐतिहासिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता, पर यह इस विषय पर एक शैक्षिक कृति मात्र से अधिक है।

धार्मिक विषयों पर रचित रवीन्द्रनाथ के निबन्ध और शान्तिनिकेतन में उनके साप्ताहिक प्रवचन साहित्यिक दृष्टि से कम मूल्यवान नहीं हैं, साथ ही उनका उदात्त स्वर और गहरा उत्साह उन्हें सार्वभौम रूप में ग्राह्य बना देता है।

कुछ राजनीतिक निबन्धों में, विशेषकर *स्वदेशी समाज* (1904) में और पाबना के प्रादेशिक सम्मेलन के अवसर पर सभापति-पद से दिए गये भाषण में, रवीन्द्रनाथ ने देश के ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जो वर्तमान सरकार के द्वारा बनायी गयी किसी भी ऐसी योजना से आज भी बहुत आगे है।

रवीन्द्रनाथ का पहला यात्रा-वृत्तान्त *युरोप-प्रवासीर पत्र* (1881) है। ये पत्र मूल रूप में घर पर सम्बन्धियों और मित्रों को लिखे गये थे। शैली बोल-चाल की है, इसके

बाद उन्होंने भारत और विदेश में अपनी व्यापक यात्राओं पर छह ग्रन्थ और अनेक फुटकर निबन्ध प्रकाशित किए।

जीवन-स्मृति (1912) रवीन्द्रनाथ के आरम्भिक जीवन की आत्मकथा है—जहाँ तक उनकी स्मृति जाती है वहाँ से *कड़ि ओ कोमल* के प्रकाशन तक। यहाँ रवीन्द्रनाथ की गद्य शैली की वर्तुलता और लचीलापन एकदम मुग्ध कर लेता है आत्मविश्लेषण और आकलन में उन्होंने दुर्लभ प्रखरता और निस्संगता का परिचय दिया है। *छेलेबेला* (बचपन काल, 1940) किशोरों के लिए लिखी गयी है, किन्तु बुजुर्गों के लिए भी कम आनन्दप्रद नहीं है। यह *जीवन-स्मृति* का परिशिष्ट है। *गल्पशल्प* (1941) की कहानियाँ भी किशोरों के लिए लिखी गयी हैं। ये उनके शैशव और आरम्भिक बाल्य-काल की घटनाओं पर आधारित हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की लेखनी ने पत्र-लेखन को बाङ्ला में एक साहित्यिक विधा के स्तर तक उठा दिया। अपने लम्बे जीवन-काल में रवीन्द्रनाथ ने आद्यन्त असंख्य पत्र लिखे और उनमें लगभग सभी साहित्यिक लालित्य में भरे हैं और उनमें से अधिकांश विचारपूर्ण विषयों से समृद्ध हैं। उनके कुछ पत्र अनेक खंडों में मिलते हैं, परन्तु उनका बहुलांश संगृहीत और प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में है। *छिन्न पत्र* (1912) में मित्रों और सम्बन्धियों को लिखे गये पत्रों के उद्धरण हैं। कुछ समकालीन कविताओं और कहानियों की गहरी समझ के लिए *छिन्न पत्र* से बहुत सहायता मिलती है।

सृजनात्मक कलाकार के रूप में रवीन्द्रनाथ की अन्तिम भूमिका एक चित्रकार की है। उन्हें चित्र बनाने और उनमें रंग भरने का पहले से न कोई अभ्यास था और न ही प्रशिक्षण मिला था, पर साठ की आयु के आरम्भ में वे सहसा कला की अपनी निजी विशिष्ट शैली के अधिकारी के रूप में प्रकट हुए। इसका आरम्भ उनकी कविताओं की रफ़ कापी में टेढ़ी-सीधी रेखाएँ खींचने से हुआ। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने एक बार अपने किसी मित्र को लिखा था कि ये निरर्थक टेढ़ी-सीधी पंक्तियाँ, उनके अवचेतन को इस बात की प्रेरणा देंगी कि वे उन्हें व्यक्त करें। कलाकार के रूप में रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा और प्रवृत्ति उनकी साहित्यिक प्रेरणा और प्रवृत्ति से अलग ढंग की है। साहित्य में विचार पहले उद्बुद्ध होता था और तब वह लिखित रूप ग्रहण करता था पर चित्रकला में रेखा पहले घटित होती थी और विचार पंक्ति का अनुसरण करता था और इस प्रकार (कृति का) रूप विकसित होता था। उनकी चित्रकला की जड़ें उनकी साहित्यिक कला की अपेक्षा कहीं गहरी हैं; वे अवचेतन तक गहरी उतरती जाती हैं, और एक अर्थ में वे उनके साहित्यिक सृजन की पूरक हैं। विरूप, विषण्ण और असंगत उनकी चित्रकला का विषय तो है, लेखन का नहीं। शायद यही विशेषता रवीन्द्रनाथ को विश्व में होनेवाले कला के पूर्णतम लोगों में स्थान दिलाती है। □

23

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ

उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ अन्तिम वर्षों में धार्मिक और सांस्कृतिक चिन्तन पर रूढ़िवादिता के पुनः प्रकोप की विस्तृत छाया से बौद्धिक और साहित्यिक प्रगति को ख़तरा पैदा हो गया। पुनर्जागरणवाद की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध रवीन्द्रनाथ ठाकुर लगभग अकेले संघर्ष करते रहे, और उन्होंने पहली पारी जीत ली। उनके सुयोग्य विरोधी चुप हो गये किन्तु उनके पिछलग्गुओं को आसानी से शान्त नहीं किया जा सका, क्योंकि उनके पास साप्ताहिक *बंगवासी*-जैसा अत्यधिक मुखर मुखपत्र था और व्यंग्यकार जोगेन्द्रचन्द्र बोस, इन्द्रनाथ बनर्जी और कालिप्रसन्न काव्यविशारद-जैसे ढिंढोरची थे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिशील ब्राह्म समाज, और साथ ही सामान्य पूर्वाग्रह-मुक्त शिक्षित व्यक्तियों के विचारों को वाणी देने के लिए *संजीवनी* मौजूद थी। पर कृष्णकुमार मित्र द्वारा सम्पादित *संजीवनी* की दिलचस्पी धर्म और संस्कृति की अपेक्षा राजनीति में अधिक थी। इसलिए रवीन्द्रनाथ और उनके मित्रों को एक ऐसी साप्ताहिक पत्रिका की ज़रूरत महसूस हुई, जिसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो; और परिणाम हुआ *हितवादी* (अप्रैल, 1891)। द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसका आदर्श-वाक्य भारवि से चुना : 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। रवीन्द्रनाथ को साहित्यिक खण्ड का दायित्व सौंपा गया और पाठकों का मनोरंजन करने के लिए उन्होंने छोटी कहानियाँ लिखनी शुरू कर दीं, जिनमें से सात, पत्रिका के कुछ आरम्भिक अंकों में प्रकाशित हुईं। पत्रिका काफ़ी नुक़सान में चली और इसके प्रवर्त्तकों ने इसे एक नयी व्यवस्था को दे दिया। *हितवादी* से रवीन्द्रनाथ का सम्बन्ध अब टूट चुका था।

किन्तु नयी प्रवृत्ति का दबाव बना रहा। रवीन्द्रनाथ को लगा कि साहित्य में अब कुछ ताज़े मनोभावों को लाया जाना चाहिए, जो हमारे जीवन और साहित्य के बीच बढ़ती हुई खाई को कम करने के लिए संघर्ष करें और स्वतन्त्र चिन्तन तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण के स्वस्थ वातावरण का सृजन करें, और इस प्रकार साहित्य में नये क्षेत्र उन्मुक्त करें। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने मासिक *साधना* (नवम्बर, 1891) का आरम्भ किया। उन्होंने सम्पादक के रूप में अपने उस युवा भतीजे सुधीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम डाल दिया, जिसने हाल ही में कलाओं में स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी, परन्तु सम्पादकीय काम वे पूरी तरह स्वयं किया करते थे;

और कभी-कभी तो वे एक अंक के अकेले लेखक रहते थे। *साधना* चार वर्ष तक चलती रही, और अन्तिम वर्ष में सम्पादक की हैसियत से रवीन्द्रनाथ का नाम सामने आ गया। *साधना* का आदर्श वाक्य ही स्वयं अपना प्रमाण है :

> "आगे चल, आगे चल भाई! पीछे पड़े रहना तो झूठ-मूठ मरे रहने के समान है। (उस दशा में) जीकर भी लाभ क्या है? आगे चल, आगे चल भाई।"

रवीन्द्रनाथ ने सहायता के लिए दोहरा आह्वान किया। वह अपने कुछ योग्य मित्रों को लेखक के रूप में देखना चाहते थे। वे मित्र, जिन्होंने अभी तक लिखा नहीं था पर जिनका चिन्तन स्वतन्त्र था, और जिन्होंने यूरोपीय साहित्य बहुत अच्छी तरह पढ़ा था और इसलिए वे एक आधुनिक लेखक के अनिवार्य उपकरणों से लैस थे। उनकी दृष्टि में ऐसे तीन लोग थे : आशुतोष चौधुरी, जो उस समय बैरिस्टर थे (बाद में कलकत्ता हाईकोर्ट के जज हो गये), लोकेन्द्रनाथ पालित, एक आई. सी. एस., और आशुतोष के छोटे भाई प्रमथनाथ (बाद में प्रमथ) चौधुरी; जो बाद में बैरिस्टर हो गये। आशुतोष ने रवीन्द्रनाथ की भतीजी से विवाह किया था और छोटे चौधुरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। पालित कुछ समय तक यूनिवर्सिटी कालिज लन्दन में रवीन्द्रनाथ के सहपाठी थे। आशुतोष ने कुछ अंग्रेज़ और फ्रांसीसी कवियों पर *भारती* में कुछ अच्छे लेख लिखे थे। इस समय वे हाईकोर्ट बार के उदीयमान सदस्य थे, और उनसे वकालत छुड़ाई नहीं जा सकती थी। कनिष्ठ चौधुरी भी कुछ संकोच के साथ आये, और चूँकि उन्हें जल्दी ही वकालत की योग्यता प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड जाना था, इसलिए वे एकाध लेख ही लिख सके। पालित ही मुख्य आशा के रूप में बचे रहे। उस समय पालित अंग्रेज़ी में छन्द-रचना करते थे। रवीन्द्रनाथ ने उनकी एक कविता का बाङ्ला अनुवाद किया और यह अनुवाद *मानसी* में सम्मिलित है। पालित ने बाङ्ला काव्य-रचना का भी प्रयास किया। किन्तु इनमें से बहुत कम रचनाएँ *साधना* और *भारती* में प्रकाशित हो सकीं। पर एक लेखक के रूप में उभरकर आने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी। इसके बजाय वे पत्राचार के माध्यम से साहित्य पर बहस करना ज़्यादा पसन्द करते थे। इस प्रश्न पर उनके और रवीन्द्रनाथ के बीच कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। कुल मिलाकर, रवीन्द्रनाथ उनसे सहमत थे। इसलिए *साधना* के प्रथम अंक के प्रकाशन से पहली सन्ध्या को रवीन्द्रनाथ ने पालित को उत्तर में लिखा :

> "लेखन के सम्बन्ध में तुम्हारा प्रस्ताव अति उत्तम है। मासिक पत्रों में लिखने की अपेक्षा मित्र को पत्र लिखना बहुत सहज है; क्योंकि हमारे अधिकांश भाव हरिण-जैसे होते हैं, अपरिचित को देखते ही भाग जाते हैं। और पालतू भावों और पालतू हरिणों में वह स्वाभाविक वन्यश्री नहीं होती।...
> कोई एक विशेष प्रसंग लेकर उस पर सांगोपांग विचार न हुआ, न सही; उसकी मीमांसा भी भले ही न हो, यदि केवल दो व्यक्तियों के मनों के आघात-प्रतिघात

द्वारा विचार-प्रवाह से नयी-नयी तरंगें उठाई जायँ—ताकि उनके ऊपर प्रकाश-छाया का विविधवर्णी खेल हो सके—तो भी बहुत खूब होगा। साहित्य में ऐसा सुअवसर हमेशा नहीं आता—सभी लोग सर्वांग-सुन्दर मत प्रकट करने में जुटे रहते हैं। इसीलिए अधिकतर मासिक पत्रों को मृत विचारों का 'म्यूज़ियम' ही कहा जा सकता है।...

सत्य को यदि मानव-जीवन के साथ मिला दिया जाय तो वह अच्छा लगता है।...

सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया जाय जिससे पाठक अविलम्ब समझ जाय कि वह स्वयं उसी के मन से विशेष रूप से प्रकट हुआ है। मेरी पसन्द-नापसन्द, मेरे सन्देह तथा विश्वास, मेरा अतीत तथा वर्तमान, उसके साथ घनिष्ठ भाव से सम्बद्ध हों तभी सत्य मात्र जड़ पिण्ड से अलग कुछ दिखाई देगा।

मुझे लगता है, यही साहित्य का मूल भाव है।"

रवीन्द्रनाथ का लक्ष्य, बहरहाल सिद्ध नहीं हो सका। पालित को साहित्यिक क्षेत्र की ओर आकर्षित नहीं किया जा सका और रवीन्द्रनाथ इस कार्य में अकेले रह गये। फिर वे आस-पास के जीवन से कुछ युवा लेखकों में रुचि पैदा करने में सफल हो गये। उन्होंने हमारे सांस्कृतिक इतिहास में भी रुचि पैदा करने का प्रयत्न किया। अतः उन्होंने अक्षयकुमार मैत्रेय द्वारा सम्पादित ऐतिहासिक शोध की त्रैमासिक पत्रिका *ऐतिहासिक चित्र* (1899) के पहले अंक के प्रारम्भिक लेख में लिखा :

"ग़ैर के रचे हुए इतिहास को बिना सोचे-समझे आद्योपान्त रटकर परीक्षा में ऊँचे अंक प्राप्त करके पण्डित हुआ जा सकता है, मगर स्वदेश का इतिहास स्वयं संगृहीत करने और रचने के उद्योग का फल कोरा पाण्डित्य नहीं है। उससे हमारे देश के मानसिक बद्ध जलाशय में प्रवाह का संचार होगा। उस उद्यम, उस चेष्टा से हम स्वस्थ होंगे, प्राणवन्त होंगे।"

साधना के गिने-चुने विशिष्ट लेखकों में रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी (1864-1919) और उमेशचन्द्र बटव्याल (1852-1898) थे। त्रिवेदी कलकत्ता के एक कालिज में पहले विज्ञान के प्रोफ़ेसर और बाद में प्रिंसिपल थे। हमारे प्राचीन धर्म, संस्कृति और दर्शन के अध्ययन में उनकी गहरी रुचि थी और बाङ्ला भाषा और साहित्य में भी। वे भाषा के सर्वाधिक प्रसिद्ध निबन्धकारों में से थे और उनकी रचनाएँ गहन और विविधतापूर्ण पाण्डित्य और चुस्त एवं समुचित अभिव्यक्ति के लिए उल्लेखनीय हैं। मेधावी गद्य-लेखक और राष्ट्रवादी के रूप में उन्हें केवल रवीन्द्रनाथ के बाद माना जाता था। *प्रकृति* (1896), वैज्ञानिक विषयों पर रचित उनके निबन्धों की पहली पुस्तक है। *जिज्ञासा* (1903) और *कर्मकथा* (1913) उनके चिन्तन-प्रधान तथा दार्शनिक निबन्धों के संग्रह हैं। भाषा-वैज्ञानिक लेख *शब्दकथा* (1917) में संगृहीत हैं।

तीन और निबन्ध-संग्रह उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए। उन्होंने प्राचीनतम वैदिक गद्य ग्रन्थ *ऐतरेय ब्राह्मण* का बाङ्ला में अनुवाद किया। जोगेशचन्द्र राय विद्यानिधि (1859-1956) विज्ञान के दूसरे प्रोफ़ेसर थे जिन्हें हमारी प्राचीन संस्कृति और बाङ्ला भाषा में गहरी रुचि थी। साहित्य के क्षेत्र में राय कुछ देर से आये थे और उन्होंने *साधना* में कभी नहीं लिखा था। उनके लिखने की एक निजी, सरल और सशक्त शैली थी। उन्होंने बाङ्ला वर्तनी और मुद्रण-कला को सरल रूप देने का प्रयत्न किया और उनके प्रयासों से बाङ्ला में लाइनोटाइप के ग्रहण के लिए मार्ग तैयार हुआ। उपभाषा की शब्दावली पर राय के कार्य का बाङ्ला-भाषा-शास्त्र में विशिष्ट योगदान है। उनके अन्य मूल्यवान शोध-कार्यों में *आमादेर ज्योतिषी ओ ज्योतिष* (1903) है।

उमेशचन्द्र बटव्याल आलोचनात्मक मानस के संस्कृत विद्वान् थे। वैदिक इतिहास और सांख्य दर्शन पर उनके लेख और व्याख्या, भाषा में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सांख्यदर्शन पर लिखे गये लेख उनकी मृत्यु के बाद *सांख्यदर्शन* (1899) शीर्षक से *साधना* में छपे थे।

अक्षयकुमार मैत्रेय (1861-1930) वकील थे, जो राजशाही में वकालत करते थे। हमारे देश के इतिहास में उनकी गहरी दिलचस्पी थी और वे *साधना* के प्रमुख लेखकों में से थे। मैत्रेय बंगाल में वर्तमान शताब्दी के पुरातात्त्विक अनुसन्धान के अग्रगामियों में से थे और वे राजशाही में बारेन्द्र रिसर्च सोसायटी के संस्थापकों में से थे। वे बाङ्ला गद्य के योग्य लेखक थे और स्वदेशी आन्दोलन के दौर में हमारे प्रमुख इतिहासकारों में से एक के रूप में सम्मानित थे। उनकी कृतियों में *सिराजुद्दौला* (1897), *मीर कासिम* (1904) और *फिरिंगी वणिक* (1922) शामिल हैं। पहली दो कृतियाँ बंगाल के दो अन्तिम नवाबों की जीवन-कथा के लोक-प्रचार में बहुत सहायक हुईं। उनमें भारतीय विद्वानों के द्वारा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इतिहास के स्वतन्त्र अध्ययन के प्रथम प्रयास दिखाई पड़ते हैं।

इस सन्दर्भ में एक अन्य साहित्यिक व्यक्तित्व की विराट् छाया दिखाई पड़ती है। सखाराम गणेश देउसकर (मृ. 1916) का जन्म एक ऐसे मराठा परिवार में हुआ था, जो पीढ़ियों से देवघर में बस गया था, जो उस समय बंगाल की सीमा में था। उन्होंने स्कूल में बाङ्ला पढ़ी थी और वे कुछ सर्वोत्तम लेखकों की तरह बाङ्ला अच्छी तरह लिखते और बोलते थे। देउसकर ने स्कूल में अध्यापक के रूप में अपनी जीवन-चर्या आरम्भ की किन्तु महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक के नेतृत्व में छिड़े राजनीतिक आन्दोलन ने उन्हें उसी प्रकार खींच लिया जैसा कि सैकड़ों अन्य बंगाली युवकों के साथ हुआ था। मराठा इतिहास में अब बंगाल जिज्ञासापूर्ण दिलचस्पी ले रहा था, विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के उन मराठा स्त्री-पुरुषों के जीवन और क्रिया-कलाप में जिन्होंने भारत में अंग्रेज़ी सत्ता का विरोध किया था। देउसकर ने उनके इतिहास-लेखन का भार वहन किया। उनकी जाँच-पड़ताल के परिणाम निम्नलिखित पुस्तकों में

समाविष्ट किये गये : *बाजीराव* (1899), *झाँसीर राजकुमार* (1901) और *आनन्दी बाई* (1903)। देउसकर की रुचि भूमि की कुछ ज्वलन्त समस्याओं में भी थी, जैसा कि उनकी *कृषकेर सर्वनाश* (1904), *देशेर कथा* (1904) आदि पुस्तिकाओं से स्पष्ट है। देउसकर एक सफल पत्रकार थे; कुछ वर्षों तक वे *हितवादी* के सहायक सम्पादक भी रहे थे।

साधना के युवा लेखकों में शायद सबसे होनहार बालेन्द्रनाथ ठाकुर (1870-99) थे। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भतीजे थे, जिनमें रवीन्द्रनाथ की बहुत रुचि थी। बालेन्द्रनाथ कलकत्ता संस्कृत कालिज के छात्र थे और अंग्रेज़ी साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में लिखा, परन्तु उनका सच्चा उत्साह गद्य के प्रति था। उनकी गद्य-रचनाएँ निबन्धों के रूप में हैं, जो मुख्यतः हमारे प्राचीन साहित्य और कला पर लिखे गये हैं। कुछ निबन्ध जो *साधना* और *भारती* में छपे थे, *चित्र ओ काव्य* (1894) नाम से एक छोटे-से ग्रन्थ में संगृहीत हैं। बालेन्द्र ने कविताओं का प्रकाशन, जो केवल सानेट थे, *माधविका* (1896) और *श्रावणी* (1897) नाम की दो पुस्तिकाओं में किया। ये प्रेम-कविताएँ रंगरंजित और ऐंद्रिय—जिन पर जहाँ-तहाँ उनके चाचा के काव्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है। युवा रवीन्द्रनाथ की गद्य और काव्य, दोनों प्रकार की रचनाओं में सही अर्थ में सम्भावनाएँ थीं, जिनकी नियति में, दुर्भाग्यवश, पूरा होना नहीं बदा था।

साधना युग के क्रिया-कलापों की एक मुख्य दिशा थी—सामान्य जन-जीवन को समझने का प्रयत्न। रवीन्द्रनाथ की कहानियों के माध्यम से आम आदमी, अब साहित्य में सामने आ गया था। उन्होंने अपने कुछ युवा मित्रों को साधारण नर-नारी के घटनाहीन जीवन को कहानियों और रेखाचित्रों का विषय बनाने का निमन्त्रण दिया। उनके आह्वान के उत्तर में सबसे पहले आनेवाले लेखक उनके पुराने मित्र श्रीशचन्द्र मजुमदार (मृ. 1908) थे, जो उस समय बिहार के देहात में नियुक्त राजस्व अधिकारी थे। उन्होंने *साधना* के लिए कुछ रेखाचित्र लिखे, जिनमें दक्षिणी बिहार के कृषक जीवन पर प्रकाश डाला गया था। मजुमदार के छोटे भाई शैलेशचन्द्र (मृ. 1914) ने भी कुछ कहानियाँ और रेखाचित्र लिखे, जिनमें मुख्यतः निम्न-मध्य वर्ग के युवा बंगाली की कुण्ठा और निरर्थकता की सामान्य अनुभूतियों का वर्णन किया गया है। ये कहानियाँ और रेखाचित्र *चित्र-विचित्र* (1902) शीर्षक के अन्तर्गत संगृहीत किये गये। अक्षयचन्द्र चौधुरी की पत्नी शरत्कुमारी चौधुरानी (1861-1920) ने बंगाल के परिवारों में महिला वर्ग के कुछ सुन्दर रेखाचित्र लिखे। वे दोनों ठाकुर परिवार के पारिवारिक मित्र थे। बाद में इनका संग्रह *शुभविवाह* (1905) ग्रन्थ में किया गया। इस प्रकार की एक अत्यन्त विशिष्ट (अब विस्मृत) पुस्तक जतीन्द्रमोहन सिन्हा (1858-1937) की *उड़िष्यार चित्र* (1903) है, जिसमें उड़ीसा के अमीर और ग़रीब निवासियों के दैनन्दिन जीवन का चित्रण किया गया है। ये रेखाचित्र पहले *भारती* (1900-1902) में

धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए थे। सिन्हा उड़ीसा में नियुक्त सरकारी राजस्व अधिकारी थे। उन्होंने कुछ उपन्यास और कहानियाँ भी लिखीं। परन्तु बाद में वे लेखकों के रूढ़िवादी वर्ग के समर्थक हो गये, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की कुछ कृतियों की निन्दा की और *साहित्येर स्वास्थ्य-रक्षा* (1922) नामक पुस्तक तैयार की।

प्रभातकुमार मुखर्जी (1873-1932) ने, जो रवीन्द्रनाथ के बाद बाङ्ला कहानी के सर्वाधिक प्रसिद्ध लेखक थे, अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कवि के रूप में किया। ऐसा उस समय साहित्यिक रुचि रखनेवाला हर शिक्षित युवा बंगाली करता था। उन्हें काव्य-रचना छोड़कर गद्य, विशेषकर कहानियाँ, लिखने की सलाह रवीन्द्रनाथ ने दी थी। गद्य-लेखन में उनका पहला प्रयास रवीन्द्रनाथ के नवप्रकाशित काव्य-संग्रह *चित्रा* की समीक्षा मई 1896 में *दासी* में छपी थी। यह अनभिज्ञ, पूर्वाग्रहग्रस्त, और विद्वेषी लोगों के द्वारा रवीन्द्रनाथ के काव्य के विरुद्ध किये गये आक्षेपों का पहला खुला प्रतिवाद था। मुखर्जी की असली लघुकथा, जो स्पष्ट रूप से अंग्रेज़ी से रूपान्तरित थी, चार महीने बाद प्रकाशित हुई। लगभग दो वर्ष बाद उन्होंने *भारती* के लिए नियमित रूप से कहानियाँ लिखनी शुरू कर दीं, और उनकी पहली चार कहानियाँ उस समय प्रकाशित हुईं, जब रवीन्द्रनाथ पत्रिका के सम्पादक थे (1898-99)। मुखर्जी वकालत की योग्यता प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गये (1901), परन्तु उन्होंने *भारती* के लिए कहानियाँ लिखनी बन्द नहीं कीं। उन्होंने अपना पहला उपन्यास *रमा सुन्दरी* उस समय लिखा, जब वे इंग्लैण्ड में थे। उपन्यास के कुछ अध्यायों में कश्मीर की दृश्य-योजना है। मुखर्जी भारत के उस भाग में स्वयं कभी नहीं गये थे, और उन्होंने आवश्यक दृश्य-सम्बन्धी और स्थलाकृतिक सामग्री ब्रिटिश संग्रहालय में उपलब्ध पुस्तकों से एकत्रित की थी। उनके कश्मीर के वर्णन इतने सजीव थे कि उपन्यास को दूसरी बार पढ़ने पर रवीन्द्रनाथ के मन में उस प्रदेश के भ्रमण (1914) का प्रलोभन पैदा हुआ। भारत लौटने पर मुखर्जी ने वकालत पहले रंगपुर में की, फिर गया में और अन्ततः कलकत्ता में परन्तु उन्होंने साहित्य के लिए वकालत छोड़ दी, यद्यपि वे अन्त तक यूनिवर्सिटी ला कालिज, कलकत्ता में कानून के प्राध्यापक रहे। अन्त के दस-बारह वर्षों में उनका मुख्य व्यवसाय *मानसी ओ मर्मवाणी* मासिक पत्रिका के प्रवर्त्तक, नाटोर के महाराजा, जगदीन्द्रनाथ राय के साथ पत्रिका का सम्पादन था।

मुखर्जी की कथा-कृतियों की संख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं : *नवकथा* (1900), *षोडशी* (1906), *देशी ओ बिलाती* (1910), *गल्पांजलि* (1913), *गल्पवीथि* (1916), *पत्रपुष्प* (1917), *गहनार बाक्स* (1921), *हताश प्रेमिका* (1923), *नूतनबउ* (1928) और *जामाता बाबाजी* (1931)। उन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे : *रमा सुन्दरी* (1907), *नवीन संन्यासी* (1912), *रत्नदीप*

(1915), *जीवनेर मूल्य* (1917), *सिन्दूर-कोउटा* (1919) आदि। उनके सब उपन्यास पहले पत्रिकाओं में धारावाहिक प्रकाशित हुए थे।

सुगठित और प्रवाहपूर्ण समाख्यानों के रूप में मुखर्जी के उपन्यासों का विशेष दस्तावेज़ी मूल्य नहीं है परन्तु वे हमेशा पठनीय होते हैं। कथानक का आधार प्रायः तथ्यात्मक है और घटनाओं को कहानियों की तरह उजागर किया गया है। कुछ गौण चरित्रों का चित्रण अत्यन्त प्रभावशाली है। पर वह आवयविक पूर्णता और विकास कम ही मिलते हैं, जिनकी उपन्यास में आशा की जाती है। स्थितियों और व्यवहार में उनकी दिलचस्पी सीमित क्षेत्र में ही थी। यह बात उनके सफल उपन्यासकार होने के मार्ग में बाधक हुई।

कथा-लेखन में मुखर्जी को सहज ही सफलता मिल गयी, क्योंकि वे आरम्भ से ही रवीन्द्रनाथ के मार्ग को बचाकर निकले। रवीन्द्रनाथ ने जीवन को उसकी आन्तरिक गहराई में देखा परन्तु मुखर्जी ने उसकी ऊपरी सतह को देखा, जो हमें भी दिखाई पड़ती है। मुखर्जी की कहानियों में एक मिलनसार व्यक्ति की चेतना और ऐसे जीवन के प्रति प्रेम उद्घाटित होता है, जो हमेशा जीने योग्य है। वह जीवन, जो संकटों और दुःखों के, असफलताओं और टूटन के बावजूद, सुपरिचित है। मुखर्जी का जन्म पश्चिमी बंगाल के एक गाँव में हुआ था। उनकी स्कूल और कालिज की शिक्षा बिहार में हुई। कुछ समय वे कलकत्ता में छात्रों के भोजन-गृह में रहे, ब्रिटेन की यात्रा की, और बैरिस्टर के रूप में अपने व्यवसाय के आरम्भ के कुछ वर्षों में उन्हें उत्तरी बंगाल और दक्षिणी बिहार के लोगों के सम्पर्क में आने का अनुभव हुआ। हर जगह उन्हें लोगों के जीवन और व्यवहार ने आकर्षित किया। पशु भी उनके सहानुभूतिपूर्ण ध्यान-क्षेत्र से बाहर नहीं रहे। वे सम्भवतः बाङ्ला में पशुओं पर ऐसी कहानियाँ लिखनेवाले पहले व्यक्ति थे, जिनमें पशु मनुष्य के साथ बराबर का सहभागी रहा। निम्न मध्य वर्ग का जीवन विशेषकर वे विद्यार्थी और युवक, जिन्होंने हाल ही में अपना व्यवसाय आरम्भ किया था, उन्हें विशेष आकर्षित करते थे। उन्होंने हमें कलकत्ता में विद्यार्थियों के भोजन-गृहों के भीतर के जीवन के बहुमूल्य चित्र दिए हैं। बाहर के स्टेशनों में एकाकी रेलवे क्वार्टरों का जीवन, मुफ़स्सिल वकील-समुदाय का जीवन, बनारस में बंगाली क्वार्टर का जीवन तथा एडिनबरा और लन्दन में विद्यार्थियों के रूप में बंगाली युवकों का जीवन। मुखर्जी ही वे व्यक्ति थे, जिन्होंने पहले-पहल बंगाली जीवन के क्षितिज को बंगाल के बाहर, बल्कि भारत के बाहर तक विस्तृत किया।

कुछ और कथाकार भी थे, जिन्होंने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखीं। इनमें से दो नाम उल्लेखनीय हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक भतीजे सुधीन्द्रनाथ ठाकुर, जिनका चुनाव, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, *साधना* के सम्पादक के रूप में किया गया था। उन्होंने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखीं, जिनका बाद में कभी छोटी-छोटी पुस्तकों में संग्रह किया गया; *मंजूषा* (1903), *करंक* (1912), *चित्राली* (1916) आदि। सुरेन्द्रनाथ

मजुमदार (मृ. 1931) बिहार में राजस्व अधिकारी थे। उन्होंने शास्त्रीय संगीत की अच्छी शिक्षा पायी थी। उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखीं, जो केवल *साहित्य* में प्रकाशित हुईं और दो छोटे ग्रन्थों में संगृहीत की गयीं : *छोट-छोट गल्प* (1915) और *कर्मयोगेर टीका* (1918)। मजुमदार की कहानियाँ एक सुस्पष्ट और परिवर्तनशील लय की निजी शैली में लिखी गयी हैं; जो विषय-वस्तु के हल्के ढंग के चित्रण के एकदम अनुकूल है। पर उनकी कहानियाँ कभी उतने व्यापक रूप में नहीं पढ़ी गयीं, जितनी कि पढ़ी जानी चाहिए थीं। इसके तीन कारण प्रतीत होते हैं : लेखक का मूड तीखा और व्यंग्यात्मक है; शैली असामान्य है, और कहानियाँ एक ऐसी पत्रिका में छपीं, जिसका वितरण *भारती* के समान व्यापक नहीं था।

रवीन्द्रनाथ ने *साधना* का आरम्भ साप्ताहिक *हितवादी* के साहित्यिक स्तम्भ की ज़िम्मेदारी छोड़ने के तुरन्त बाद किया। एक साल पहले विद्यासागर के पौत्र और आश्रित सुरेशचन्द्र समाजपति (1870-1921) ने मासिक पत्रिका *साहित्य* का आरम्भ किया था। कुछ ही वर्षों में *साहित्य* ने पाठक वर्ग का ध्यान आकर्षित करना शुरू कर दिया, केवल पाठ्य-सामग्री के कारण नहीं बल्कि चित्रों के कारण भी। यह बाङ्ला की पहली पत्रिका थी, जो मध्ययुगीन और आधुनिक यूरोपीय कला की सर्वोत्तम कलाकृतियों की हाफ़टोन प्रतिकृतियों का नियमित प्रकाशन कर रही थी। एक अन्य नियमित विशेषता थी, अंग्रेज़ी में प्रकाशित होनेवाले महत्त्वपूर्ण लेखों और प्रकाशित पुस्तकों का सार प्रस्तुत करना। बाङ्ला पत्रिकाओं में प्रकाशित कटु आलोचना, जो प्रायः द्वेषमुक्त नहीं होती थी, सामान्य पाठक के लिए पत्रिका के किसी अंक का सबसे आनन्दप्रद अंश हुआ करती थी। लेखक अधिकतर विख्यात व्यक्ति होते थे। देवेन्द्रनाथ सेन की कविताएँ नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं, और अक्षयकुमार बराल के मन्द गति से चलनेवाले प्रयास भी—जब भी कभी वे तैयार हो जाते थे। रवीन्द्रनाथ यदा-कदा कविताएँ दे देते थे और वह भी कुछ आरम्भिक वर्षों में। *साहित्य* में युवा कवियों का हमेशा तत्परता से स्वागत होता था। उनमें से कुछ रवीन्द्रनाथ के प्रति प्रायः सौहार्द नहीं रखते थे और उन्होंने धीरे-धीरे पत्रिका को रवीन्द्रनाथ और उनके लेखन का विरोधी बना दिया। 1899 के बाद कलकत्ता का साहित्यिक जगत् सुस्पष्ट रूप से दो शिविरों में बँट गया : रवीन्द्रनाथ का (या *भारती* का) शिविर और समाजपति (या *साहित्य*) का शिविर। परन्तु समाजपति के पत्र के कुछ बड़े लेखक, उदाहरण के लिए देवेन्द्रनाथ सेन और रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी कभी भी समाजपति के शिविर के अनुयायी नहीं रहे। तटस्थ लोगों की संख्या भी कम नहीं थी। उनमें अनेक युवा कवि थे। 1905 तक *साहित्य* का गुट द्विजेन्द्रलाल राय के नेतृत्व में आ गया जो कुछ दिन से रवीन्द्रनाथ के प्रति कृपालु नहीं थे और अब तो खुलकर विरोध करने लगे थे। पर रवीन्द्रनाथ भी असमर्थित नहीं थे। मासिक पत्रिका *प्रवासी* (जो 1901 में *माडर्न रिव्यू*

के सम्पादक रामानन्द चटर्जी ने आरम्भ की थी) ने अपने पृष्ठों में रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को प्रमुखता देकर उनका पक्ष समर्थन किया। 1905 से रवीन्द्रनाथ की मृत्यु (1941) तक *प्रवासी* लगभग अकेली पत्रिका थी, जिसे रवीन्द्रनाथ की सर्वोत्तम रचनाओं को पहली बार प्रकाशित करने का सौभाग्य मिला। चटर्जी का पत्र, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्त्तित 'न्यू स्कूल आफ़ ओरिएण्टल आर्ट' का भी प्रबल समर्थक था, और बहुत समय तक *प्रवासी* भारतीय भाषा में प्रकाशित एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पत्र रहा। यह पत्र साहित्य, कला और समाज-सुधार में प्रगतिशीलता का और साथ ही रचनात्मक राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करता था।

1901 में उपन्यासकार और रवीन्द्रनाथ के घनिष्ठ मित्र श्रीशचन्द्र मजुमदार ने, रवीन्द्रनाथ के सम्पादकत्व में *बंगदर्शन* को फिर से चालू किया। कुछ ही पहले कवि ने शान्तिनिकेतन में अपने स्कूल (ब्रह्मविद्यालय) का आरम्भ किया था और कुछ महीनों तक ब्रह्मबांधव उपाध्याय (1861-1910) को अपना सहायक रखा। उपाध्याय का व्यक्तित्व सशक्त एवं गत्यात्मक था। वह जन्म से उच्च वर्ग (कुलीन) का ब्राह्मण था, जिसने ईसाई मत (पहले प्रोटेस्टेण्ट और बाद में कैथोलिक) स्वीकार कर लिया था और अन्ततः वह 'क्रिश्चियन वेदान्ती' संन्यासी हो गया था। वह सम्भवतः बंगाल के आरम्भिक क्रान्तिकारी आन्दोलन का पथ-प्रदर्शक व्यक्तित्व था और उसने उसके प्रचण्ड मुख-पत्र *सन्ध्या* का संचालन किया था। उपाध्याय *बंगदर्शन* के पहले वर्ष की नयी शृंखला में एक अत्यन्त उत्तेजक गद्य-लेखक की सम्भावना के साथ दिखाई पड़ा।

पत्र में लिखनेवाले युवा कवियों में, असन्दिग्ध रूप से सर्वोत्तम थीं प्रियंवदा देवी (1871-1935), जो एक प्रतिभा-सम्पन्न परिवार से सम्बन्ध रखती थीं (उनकी माँ प्रसन्नमयी देवी पिछली शताब्दी के आठवें दशाब्द में प्रकाशित अपनी दो काव्य-रचनाओं के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थीं। उनके दो मामा थे—आशुतोष और प्रमथ चौधुरी)। उन्होंने *रेणु* (1900) शीर्षक से सॉनेट काव्य की एक पुस्तक लिखी, जिसका बहुत स्वागत हुआ। प्रियंवदा बीच में रुक-रुककर लेकिन अन्त तक काव्य-रचना करती रहीं। उनकी बाद की कविताएँ तीन छोटी पुस्तकों में संगृहीत हैं : *पत्रलेखा* (1910), *अंशु* (1927) और *चम्पा ओ पाटल* (1939)। प्रियंवदा की कविताएँ एक नारी के प्रेमी हृदय की भीनी सुगन्ध से सुवासित हैं; स्वर शान्त, कोमल और मन्द है। यह कहना पर्याप्त होगा कि उनकी कुछ छोटी कविताओं को, जो *बंगदर्शन* में बिना उनके हस्ताक्षर के छपी थीं, कई पाठक रवीन्द्रनाथ की लेखनी से निस्सृत मानने लगे थे।

बंगदर्शन के एक अन्य होनहार कवि सतीशचन्द्र राय (1882-1904) थे। वे कवि के प्रिय पात्र और शान्तिनिकेतन के एक युवा अध्यापक थे। उनकी असमय मृत्यु ने बाङ्ला के एक अत्यन्त योग्य लेखक के आविर्भाव की सम्भावना को समाप्त कर दिया।

रवीन्द्रनाथ के पचास वर्ष की आयु पूरी करने पर, रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी, जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय, शरद्चन्द्र मित्र, मनीन्द्रचन्द्र नन्दी (कासिम बाज़ार के महाराजा), जगदीन्द्रनाथ राय (नाटोर के महाराजा) और बंगाल के कुछ अन्य लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के नेतृत्व में बंगीय साहित्य परिषद ने, कलकत्ता टाउन हाल में, 28 जनवरी, 1912 को कवि के अभिनन्दन का आयोजन किया। इतने उत्साहपूर्वक और कलात्मक रूप में आयोजित समारोह पहले कभी नहीं हुआ था। रवीन्द्रनाथ के निन्दकों का द्वेषपूर्ण स्वर इसमें लगभग डूब गया और 1913 में जब उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला, अन्तिम रूप से घुट गया। एक भारतीय को इस पुरस्कार के मिलने के महत्त्व का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। पर यदि यह विश्वास किया जाय कि रवीन्द्रनाथ को पहली सार्वजनिक मान्यता पश्चिम से मिली, तो इससे बड़ी भूल न होगी। टाउन हाल का स्वागत-समारोह भारत मे ऐतिहासिक घटना थी। □

24

विश्व-युद्ध से असहयोग तक

बंगाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन सरकार की दमन नीति के कारण भूमिगत हो गया और परिणामस्वरूप उसने युवा पीढ़ी की सहानुभूति और हर प्रकार की सम्भव सहायता पायी। प्रौढ़ लोगों में से, जो ज़्यादा समझदार थे, उन्होंने भी इस आन्दोलन में प्रदर्शित दिलेरी और आत्म-बलिदान की भावना की प्रशंसा की। पर साथ ही असंख्य पीढ़ियों से सहिष्णुता और अहिंसा की चेतना में सराबोर लोगों के मनोबल की जो क्षति इस आन्दोलन से निश्चित थी, उसके प्रति भी ये लोग पूरी तरह सजग थे। अधिक खेद की बात थी सामाजिक, बौद्धिक और औद्योगिक विकास के रचनात्मक कार्यक्रमों के लिए मेधावी जन-शक्ति का लोप। रवीन्द्रनाथ शायद अकेले व्यक्ति थे, जो देश की सर्वांग प्रगति के मार्ग में इन गम्भीर आशंकाओं को लेकर आरम्भ से ही सजग थे। लेकिन जो बात उन्हें अधिक विक्षुब्ध करती थी, वह थी हिंसा की चेतना को (जिसे किसी उपयुक्त सन्दर्भ में स्वीकार भी किया जा सकता है, और उचित भी माना जा सकता है) माँ की आराधना की भावुकता के पवित्र आवरण में लपेटने की बढ़ती प्रवृत्ति, और उसके प्रति हिन्दू धर्म की आस्था का-सा समर्पण भाव। उन्होंने *बंगदर्शन* का सम्पादन छोड़ दिया था और अब वे एक ऐसी पत्रिका की तत्काल आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, जो विचार और कर्म में प्रगतिशीलता का साहसपूर्वक पक्ष-समर्थन कर सके और जिसे प्रचार और आर्थिक लाभ की चिन्ता न हो। *साधना*-काल में उनके द्वारा मनोनीत एक व्यक्ति, जिसे उस समय सामने नहीं लाया जा सका था, अब इस नयी पत्रिका का सम्पादक चुना गया। यह व्यक्ति प्रमथ चौधुरी (1868-1948) था, जिसने रवीन्द्रनाथ की एक प्रिय भतीजी से विवाह किया था और अब कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करता था। कुछ समय से चौधुरी *भारती* (और *साहित्य* के लिए भी) के लिए गद्य और कविताओं की रचना कर रहे थे, और उनकी रचनाएँ अभिव्यक्ति के तीखेपन और वैदग्ध्य की चमक तथा विचारों की ऐसी सुस्पष्टता के कारण विशिष्ट थीं, जो सब उनके निजी थे।

सबुजपत्र मई 1914 में प्रकाशित हुआ। उसका सुविधाजनक और साफ़-सुथरा आकार और विज्ञापनों का अभाव एक सुखद नवीनता थी। उसमें प्रतीक रूप में हरी-भरी पृष्ठभूमि पर एक ताड़-पत्र के छायाचित्र के अतिरिक्त कोई चित्र नहीं था।

ताड़-पत्र का चुनाव एक ऐसे पेड़ के धीर, सदाबहार पत्र के रूप में किया गया था, जो चारों ओर की हरीतिमा के बीच अकेला सिर उठाए खड़ा रहता है। उसके प्रमुख लेखक, बल्कि कुछ अंकों में एकमात्र लेखक और सम्पादक रवीन्द्रनाथ होते थे। अन्य सब लेखक अपेक्षाकृत ऐसे युवा लोग थे, जो उनके नेतृत्व का अनुसरण करते थे और चौधुरी की गोष्ठियों में भाग लेते थे। वे सब स्पष्ट और वैयक्तिक चिन्तन और सीधे एवं सरल लेखन में विश्वास करते थे। पत्रिका ने पूरा बल देकर लेखनी और वाणी की भाषा के बीच फैले अन्तराल को समाप्त करने की वकालत की। चौधुरी ने अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ 'साधुभाषा' के स्थान पर 'चलित भाषा' (आम बोल-चाल की भाषा) के ग्रहण के लिए मार्गदर्शन किया।

चौधुरी की काव्य-रचना लम्बे समय तक नहीं चली, और उनकी कविताएँ, (जिनमें अधिकांश सॉनेट थे) दो पतली किताबों में संगृहीत की गयीं : *सॉनेट पंचशत* (1913) और *पदचारण* (1919)। साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर उनके निबन्ध—जो विदग्ध, तीक्ष्ण, विचार-सम्पन्न और मौलिक थे—कुछ ग्रन्थों और पुस्तिकाओं में संगृहीत हुए जैसे *तेल नून लकड़ी* (1906), *बीरबलेर हालखाता* (1917), *नाना कथा* (1919), *दुइ-यारकी* (1920), *नानान चर्चा* (1932) आदि। उनमें पैने निबन्ध सामान्यतः उनके उपनाम 'बीरबल' से प्रकाशित होते थे। नाम के चुनाव से यह संकेत मिलता है कि अकबर के प्रसिद्ध दरबारी की तरह विदग्ध चुटकलों द्वारा उन्होंने भी अपने श्रोताओं को उत्तेजित करने का प्रयास किया है। चौधुरी ने कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिखीं, जिनमें आरम्भिक और सर्वोत्तम था *चार-यारी-कथा* (1916) *चतुष्टय*।

सबुजपत्र के प्रथम प्रकाशन से एक-दो वर्ष पहले मनिलाल गांगुली (1888-1929) और उसके मित्रों के नेतृत्व में युवा लेखकों की एक मण्डली ने प्राचीन मासिक पत्र *भारती* में नयी चेतना अनुप्राणित की। इन लोगों ने आंशिक रूप से अपनी प्रेरणा 'विचित्र सभा' नाम की एक साहित्यिक सांस्कृतिक सभा से ग्रहण की थी, जो कलकत्ता में रवीन्द्रनाथ के घर पर उन्हीं की अध्यक्षता में हुआ करती थी। कलाकार बन्धु गगनेन्द्र और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसमें रहते थे और साथ ही असितकुमार हाल्दार (1890-1964) और नन्दलाल बोस (1883-1966) आदि अवनीन्द्रनाथ के वरिष्ठ शिष्य भी।

भारती के कुछ युवा लेखकों ने, साथ ही सम्पादक गांगुली और सहसम्पादक सौरिन्द्रमोहन मुखर्जी (1884) ने कथा-लेखकों के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। इनमें चारुचन्द्र बनर्जी (1877-1938), हेमेन्द्रकुमार राय (1888), हेमेन्द्रलाल राय (1892-1935), सुरेशचन्द्र बनर्जी (मृ. 1882-?), प्रेमांकुर आतर्थी (1890), विभूतिभूषण भट्ट (1881-?) तथा कुछ अन्य लोग शामिल थे। गांगुली की अध्यक्षता में *भारती*

मंडल के युवा सदस्यों के द्वारा लिखी गयी कुछ विशिष्ट कहानियों और उपन्यासों में तथाकथित यथार्थवाद के प्रति झुकाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

भारतीय कला की आधुनिक धारा के प्रवर्त्तक अवनीन्द्रनाथ टैगोर (1871-1951) पुनर्नवीकृत *भारती* के सबसे विशिष्ट गद्य-लेखक थे। अवनीन्द्रनाथ को उनके चाचा रवीन्द्रनाथ ने 1895 में ही लेखनी उठाने के लिए प्रेरित किया था और परिणाम हुआ दो छोटी-छोटी बहुत अच्छी बाल-कथा-पुस्तकें; जिनके चित्र स्वयं लेखक ने बनाए थे। एक देशी लोक-कथा पर आधारित थी और दूसरी शकुन्तला की कथा पर। इसके बाद उन्होंने राजपूती वीरता की कुछ कथाओं की रचना की। ये भी मुख्य रूप से किशोर पाठकों के लिए लिखी गयी थीं। ये पहले *भारती* में प्रकाशित हुईं (1904-1908) और बाद में *राजकाहिनी* नाम से दो खण्डों में संगृहीत की गयीं। परन्तु अवनीन्द्रनाथ द्वारा रचित किशोर-साहित्य की सबसे विशिष्ट कृतियाँ वे थीं, जिनमें सारे चित्र उन्होंने ही बनाए थे, *भूतपतरीर देश* (भूत-पिशाचों का देश, 1915) और *खातांचिर खाता* (खजांची का खाता, 1916) थीं। इनमें से पहली एक फ़ैंटेसी है। जिसमें बाल-कथाओं और *अरेबियन नाइट्स* का स्वप्निल जादू बुना गया है। ऐसी कृति ऐसे ही सिद्ध कलाकार के द्वारा रची जा सकती थी लेखनी और तूलिका पर जिसका समान अधिकार हो। अन्तिम रचना में लेखक ने वासभूमि के अतिपरिचित कोने में से स्वप्निल वातावरण का सृजन किया है। अवनीन्द्रनाथ ने अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों तक बच्चों के लिए लिखना कभी बन्द नहीं किया। उनकी अन्य रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वे कहानियाँ और रेखाचित्र जो *पथे-विपथे* में संगृहीत हैं (1919); बंगाली महिलाओं के लोक-रिवाजों और उनकी सहवर्ती कला पर अत्यन्त सचित्र निबन्ध *बाङ्लार ब्रत* (1919) और ललित कलाओं के बागेश्वरी प्रोफ़ेसर के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में कला और कला-समीक्षा पर दिये गये व्याख्यान (1923-28), जो *बागेश्वरी शिल्प प्रबन्धावली* (1941) शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे। कलाविषयक उनके पहले निबन्ध, जो समय-समय पर *भारती* में प्रकाशित होते रहते थे, हाल ही में *भारत शिल्प* नाम से एक छोटे-से ग्रन्थ में संगृहीत किये गये हैं। अवनीन्द्रनाथ की अन्तिम रचनाएँ आत्म-कथात्मक हैं। *घरोया* (घरेलू बातें, 1941) और *जोड़ासाँकोर धारे* (जोड़ासाँको के किनारे, 1944) दोनों की रचना श्रीमती रानी चंदा के सहयोग से हुई थी। इन दोनों में ठाकुर परिवार के बारे में अनेक रोचक तथ्य और मनोरंजक आख्यान हैं।

अवनीन्द्रनाथ का *भारती*-मंडल से सीधा सम्बन्ध नहीं था। वे कभी भी उस गोष्ठी में नहीं देखे गये, जो उनके जमाता मनिलाल गांगुली हर सन्ध्या को उस भवन की सबसे ऊपर की मंज़िल के कक्ष में किया करते थे, जिनमें पत्रिका का दफ़्तर और प्रेस थे। पर उन युवा लेखकों को वे सीधी प्रेरणा देते थे। जिन्होंने भारतीय कला के प्रति प्रेम, सहज रूप में इतमीनान की ज़िन्दगी की पसन्द, कलात्मक अभ्यास और

मिज़ाज का पोषण और फ़ारसी कविता के प्रति अनुराग (निस्सन्देह उस कविता के प्रति जिसका सम्बन्ध मुग़ल चित्रों और उमर ख़य्याम से था) मुख्यतः अवनीन्द्रनाथ से पाया था।

सत्येन्द्रनाथ दत्त (1882-1922) *भारती*-मंडल के विशिष्ट सदस्य थे। वे ऐसे कवि थे, जिनका प्रभाव सभी समसामयिक बाङ्ला के कवियों पर पड़ा था। यह प्रभाव अपने समय में रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से कहीं अधिक था। उनकी यदा-कदा नक़ल की जा सकती थी पर उनका सफल अनुकरण कभी नहीं किया जा सकता था; जबकि दत्त का अनुकरण हमेशा सफल और लाभप्रद हो सकता था।

सत्येन्द्रनाथ मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक अक्षयकुमार दत्त के प्रौत्र थे। दादा की वैज्ञानिक ज्ञान की पिपासा, उनकी जिज्ञासु चेतना, उनकी शान्त जीवन-पद्धति और देशभक्तपरक अनुभूतियाँ उनके पौत्र ने विरासत में पायी थीं, जो उनकी कृतियों में प्रतिबिम्बित होती हैं। देश को उत्तेजित करनेवाले सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के प्रति श्री दत्त तत्काल प्रतिक्रियाशील होते थे। स्वदेशी आन्दोलन के आरम्भ होते ही उन्होंने काव्य-रचना आरम्भ कर दी, और मृत्यु ने उनकी जीवन-लीला को उस समय समाप्त कर दिया जब स्वदेशी आन्दोलन अपने पूरे उत्कर्ष पर था। दत्त की दो आरम्भिक कविताएँ पुस्तिकाओं के रूप में छपी थीं (1900-1905)। इन पर और अन्य आरम्भिक कविताओं पर, जो *वेणु ओ वीना* (1906) और *होमशिखा* (1907) में छपी थीं, माइकेल मधुसूदन दत्त, देवेन्द्रनाथ सेन और अक्षयकुमार बराल का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सम्भवतः इनमें से अन्तिम दो कवियों के लेखन ने उन्हें अत्यन्त युवावस्था में *साहित्य* की मण्डली के प्रति आकर्षित किया था। उनके कालिज के मित्र सतीशचन्द्र राय के प्रभाव ने उन्हें रवीन्द्रनाथ और उनकी कृतियों से परिचित कराया था।

दत्त आरम्भ से ही इस बात को समझते थे कि रवीन्द्रनाथ के काव्य का अनुकरण करना बेकार है और गहरी अनुभूति में खोजबीन करना और गम्भीर भावों का मंथन करना उनके वश की बात नहीं है—उन्होंने अपना रास्ता कविता के चित्रात्मक रूप का विकास करके चुन लिया। उस रूप का, जो ऐन्द्रिय संवेदनों की अपेक्षा शाब्दिक लय और छान्दस निनादिता पर अधिक निर्भर रहता है। मौलिक काव्य की उनकी तीसरी पुस्तक *फुलेर फसल* (1911) में, जिसका शीर्षक आपाततः फारसी कविता के प्रचलित पद 'फ़स्ल-ए-गुल' से लिया गया है, प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। अगले ग्रंथ *कुहु ओ केका* (1912) में यह बना रहा है। *तुलिर लिखन* (1914) की सभी कविताएँ 'गाथा' या बैलेड के ढंग की हैं और वे 1909 की वर्षा ऋतु में लिखी गयी थीं। *अभ्र आबीर* की कविताएँ (1916), जो 1913 और 1915 के बीच लिखी गयीं, छान्दस प्रयोगों के प्रति कवि के लगाव को उद्घाटित करती हैं। कोई

अनूदित उद्धरण सही रूप में उस सफलता को नहीं दिखा सकता जो कवि ने इस क्षेत्र में पायी थी।

दत्त अपनी हास्य-व्यंग्य की कविताओं में अधिक सहज होते थे। ऐसी कविताओं का एक छोटा-सा संग्रह 1917 में *हसंतिका* शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। ऐसी कई कविताओं में दत्त उतने ही तीखे और कटु हैं, जितने अपने कुछ निबन्धों में प्रमथ चौधुरी थे। उदाहरण के लिए, हरप्रसाद शास्त्री ने बंगीय साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन में, सभापति पद से अपने भाषण में कहा था कि समसामयिक बंगाली लेखक केवल छोटी और हल्की रचनाएँ कर रहे हैं और इनमें से किसी को भी महाकाव्य की तरह बृहद् या व्यापक या भारी-भरकम नहीं माना जा सकता। इस आक्षेप को दत्त का उत्तर अगले ही महीने *प्रवासी* में प्रकाशित एक कविता में मिल गया। एक अंश का अनुवाद इस प्रकार है :

> "देख चुटकी, सांख्यकार ने कुल सत्तर सूत्र लिखे। इसीलिए कान्फ्रेंस में भाषण-मंच पर उसे कुर्सी नहीं मिली। अरे भैया, अगर वही तीन वॉल्यूम लिखता तो (लोगों को) उसके इल्म का भी पता चलता और जोड़-तोड़ करके दर्शन-विभाग की किसी शाखा का अध्यक्ष भी हो जाता वह। हाय, थोड़े में निपटाने जाकर मारा गया बेचारा। लिखा भी क्या—ह-य-ब-र-ल। इस जंबूद्वीप में किसी (विश्वविद्यालय की) फ़ेलोशिप पर प्रवक्ता भी न बन सका।"

पहले विश्व-युद्ध की समाप्ति ने ऐसे बहुत-से लोगों का मोह-भंग किया, जो विदेशी आधिपत्य के दबाव से कुछ राहत की आशा कर रहे थे। इस निराशा से 1920 में महात्मा गाँधी द्वारा आरम्भ किये जानेवाले असहयोग आन्दोलन के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गयीं। अपने कुछ गम्भीरमना हमवतनों के विपरीत दत्त ने इस आन्दोलन का सोत्साह स्वागत किया, और भारत के साहित्य में उसकी कविता इसकी प्रशस्ति में सबसे पहले मुखर हुई। उत्साह के पहले विस्फोट में, अंग्रेज़ों ने जो कुछ भी किया था, वह सब बुरा लगने लगा, और मज़दूर वर्ग के लिए सहानुभूति ने एक नया महत्त्व ग्रहण किया। दत्त ने अपने *चर्खार गान* में लिखा :

> "यह भस्मलोचन रूखी सभ्यता मशीनों के द्वारा जवानों की जवानी को निगल रही है। यह जिस ओर (तकती है) खेत-ज़मीन सब चिमनी के धुएँ से छा जाते हैं, (और) गंगा तो (मानो) सैप्टिक टैंक की धोवन है।"

1914 से उनकी मृत्यु तक लिखी गयी कविताएँ दो पुस्तकों में संगृहीत हैं : *बेलाशेषेर गान* और *बिदाय आरती*। दोनों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद (1922) हुआ। इन कविताओं में कोई विकास नहीं दिखाई पड़ता, सिवाय इसके कि काव्य-भाषा अधिक सहज हो गयी है और लय अधिक अन्तःस्फूर्त है। देशज शब्दों के प्रति कवि का आग्रह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है। इनमें से कुछ कविताएँ दत्त की

सर्वोत्तम कविताओं में से हैं और इन सर्वोत्तम कविताओं में पाठक उन चित्रों और झलकियों के क्रम से मोहमुग्ध हो जाता है, जो शब्दों के सतर्क चुनाव से उत्पन्न होते हैं, और छान्दस लय के त्वरित स्पन्दन से युक्त है। 'पालकीर गान' और 'दूरेर पाला' ऐसी ही कविताओं में से हैं।

सत्येन्द्रनाथ दत्त ने थोड़ा-बहुत गद्य भी लिखा। उनके अधिकांश लेख व्यंग्यात्मक हैं और उनकी व्यंग्यात्मक कविताओं की तरह, उनके उपनाम 'नवकुमार कविरत्न' से लिखे गये हैं। एक लम्बा निबन्ध, जो कि एक पुस्तिका के आकार का है, रोचक है। उसका शीर्षक है 'छन्द : सरस्वती' और वह *भारती* में प्रकाशित हुआ था (1918)। इसकी रचना फ़ैण्टेसी के रूप में, मुख्यतः छन्द में हुई है। यह बाङ्ला छन्द की प्रकृति, गुण और प्रवृत्ति की काव्यात्मक व्याख्या है। दत्त ने अंग्रेज़ी के और यूरोप के लेखकों के कुछ लघु नाटकों का अनुवाद किया। इन लेखकों में स्टीफ़न फ़िलिप्स, पी. एच. पिअर्स और मॉरिस मेटरलिंक आदि थे। ये नाटक *रंगमल्ली* (1913) नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं। उनकी एकमात्र मौलिक नाट्य कृति *धूपेर धोंआय* (*भारती*, 1920) नामक एक हास्यपरक नाटिका है, जिसमें केवल स्त्री पात्र हैं। कथानक का विन्यास राजा दशरथ के अन्तःपुर में किया गया है। लेखक ने प्राचीन वातावरण का पुनर्निर्माण करने के लिए विस्तार से रंगमंच और वेश-भूषा-सम्बन्धी ब्यौरे देने में काफ़ी परिश्रम किया है।

दत्त ने एक ऐतिहासिक उपन्यास भी आरम्भ किया था, जो एकदम बोलचाल की शैली में लिखा गया था, पर वह पूरा नहीं हुआ। उन्हें केवल *जन्म-दुःखी* नामक कथा-कृति (1912) की रचना का श्रेय है, और यह नारवेजियन लेखक जोनस लाइ की रचना *लिव्सलेवन* का अनुवाद है। यह अनुवाद निम्न-जाति के मज़दूर वर्ग के प्रति दत्त की सहानुभूति का संकेत करता है। *चीनेर धूप* (1912) में चार लघु निबन्धों के द्वारा बाङ्ला के पाठकों का परिचय ताओवाद और कनफ़्यूशियसवाद से कराया गया है।

दत्त ने संसार की लगभग सभी प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से कविताओं का अनुवाद किया। वे संस्कृत और अंग्रेज़ी बहुत अच्छी तरह जानते थे और फ्रेंच का उन्हें कामचलाऊ ज्ञान था। उन्हें कुछ फ़ारसी भी आती थी, और कुछ भारतीय भाषाओं का, और एक-दो और यूरोपियन भाषाओं का पल्लवग्राही ज्ञान था। अतः उनके 'मूल' अधिकतर अंग्रेज़ी अनुवाद थे। अनूदित कविताएँ तीन ग्रन्थों में प्रकाशित हुई थीं, *तीर्थ सलिल* (1908), *तीर्थरेण* (1910) और *मणिमंजूषा* (1915)। अनूदित कविताओं में वैदिक ऋचाओं और लौकिक संस्कृत की कविताओं के अतिरिक्त इण्डो-आर्य, द्राविड़ी, आग्नेय और तिब्बती-बर्मी भाषाओं की कविता, चीनी और जापानी कविताएँ, मलयाली कविताएँ, अंग्रेज़ी कविताएँ और क्लासिकल तथा आधुनिक यूरोपीय कविताएँ भी शामिल हैं। दत्त ने जिन अंग्रेज़ी और यूरोपीय (जर्मन और फ्रेंच) कवियों का अनुवाद किया, उनमें एलफ्रेड ऑस्टिन, राबर्ट ब्रिजेज़, विलियम बटलर

येट्स, एज़रा पाउण्ड, आर्थर ओ' शॉनेसी, आर्नो होल्ज़, विक्टर ह्यूगो, मॉरिस मेटरलिंक, चार्ल्स बॉदलेयर, पाल वर्ले, सली प्रूडोम, पॉल वेलरी तथा एमिल वहरिन आदि थे।

दत्त के अनुवाद अत्यन्त उत्कृष्ट थे। उनके अनुवाद भले ही हमेशा बहुत विश्वसनीय न हों किन्तु उनका बाङ्ला रूप सर्वथा निर्दोष है।

इस शताब्दी के दूसरे दशाब्द में कुछ उत्साही साहित्यकारों ने, कुछ बेहतर कविताएँ और पर्याप्त मात्रा में पठनीय छन्द-रचना की। उनमें से बहुत-से लोग दत्त की सुन्दर पद्य-रचना के प्रभाव से नहीं बच सके और उन्होंने पाठक-समुदाय के लिए ग्राह्य पद्य-रचना की। ऐसे बहुत कम लोगों में, जो दत्त के प्रभाव से बचे रहे, एक द्विजेन्द्रनारायण बागची (1873-1927) थे। बागची रवीन्द्रनाथ के काव्य के प्रबल प्रेमी थे और उनके अपने काव्य में रवीन्द्रनाथ की गन्ध है। उन्होंने बहुत नहीं लिखा और हमारे लिए केवल एक काव्य-पुस्तक *एकतारा* (1917) छोड़ी है। द्विजेन्द्रनारायण के रिश्ते के भाई जतीन्द्रमोहन बागची (1878-1948) भी रवीन्द्रनाथ के काव्य के प्रशंसक थे। कनिष्ठ बागची की कविताएँ 1899 से श्रेष्ठतम पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। वे अनेक पुस्तकों में संगृहीत हैं : उदाहरणार्थ, *लेखा* (1906), *रेखा* (1910), *अपराजिता* (1913), *नागकेसर* (1917), *नीहारिका* (1927) आदि। जतीन्द्रमोहन का काव्य स्निग्ध और चित्रात्मक है। अपने अनेक समसामयिकों की तरह उनके सर्वोत्तम प्रयासों में सरल जीवन और गाँव के प्राकृतिक दृश्यों के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है।

करुणानिधान बनर्जी (1877-1955), कुमुदरंजन मलिक (ज. 1882) और कालिदास राय (ज. 1889) को उनकी जीविका की दृष्टि से तो एक वर्ग में रखा ही जा सकता है, भले ही कविता के प्रति उनके रुख़ की दृष्टि से यह सम्भव न हो। वे सब स्कूल में अध्यापक थे। बनर्जी पहले-पहल 1901 में अपनी छोटी-सी कृति *बंगमंगल* के साथ सामने आये। यह स्वदेशी-आन्दोलन के प्रथम विस्फोट पर एक विजय-गीत था। काव्य की दृष्टि से यह रचना प्रौढ़ नहीं थी, पर इसमें सम्भावना दिखाई पड़ रही थी और इसने सामान्य पाठकों से उन्हें परिचित करा दिया था। इसके बाद उनकी काव्य रचनाएं हैं–*प्रसादी* (1904), *झरा फूल* (1911), *शान्तिजल* (1913), *धानदूर्बा* (1921) और *रवीन्द्र आरती* (1937)। बनर्जी की कविताएँ सरल और ईमानदार कविताएँ हैं, और वे हमें देवेन्द्रनाथ सेन की याद दिलाती हैं। उन्होंने बहुत नहीं लिखा, और बहुत-से विषयों पर भी नहीं लिखा।

मलिक अपने दृष्टिकोण में बनर्जी और बागची से भिन्न हैं। वे केवल ग्राम के प्रशंसक और ग्रामवासियों के प्रेमी ही नहीं हैं बल्कि वे ग्राम-जीवन के बाहर किसी और चीज़ को बहुत कम स्वीकार करते हैं। वे लगभग वैष्णव भक्त हैं, और उनके काव्य में यह बात छिपी नहीं रहती। मलिक 1900 से काव्य-रचना कर रहे हैं और उन्होंने तेरह छोटे ग्रन्थ रचे हैं। उनमें से तीन *उजानी, बनतुलसी* और *शतदल* 1911 में प्रकाशित हुए थे और सबसे बाद की कृति *स्वर्णसन्ध्या* 1948 में। मलिक की कविताएँ

छोटी, और उनकी शैली आडम्बरहीन होती है परन्तु वे पौराणिक प्रसंगों से अनुप्राणित रहती हैं।

बागची की तरह राय भी मासिक पत्रिका *मानसी ओ मर्मवाणी* के प्रवर्त्तक नाटोर के महाराजा जगदीन्द्रनाथ राय के परिसर में थे। राय ने अठारह काव्य-ग्रन्थ लिखे थे, जैसे *कुन्द* (1908), *किसलय* (1911), *पर्णपुट* (1914), *क्षुदकुंडा* (टूटे चावल और भूसा, 1922), *बैकाली* (1940) आदि। राय का काव्य सहज और सरल है और प्रकृति के प्रति रोमानी प्रेम के उत्साह से प्राणवान है।

मनिलाल गांगुली के रिश्ते के भाई किरनधन चटर्जी (1887-1931) का उल्लेख उन समसामयिक कवियों में किया जा सकता है, जिन्होंने परिमाण में कम लिखा। चटर्जी ने प्रायः केवल *भारती* में ही लिखा। उन्होंने कविताओं की केवल एक पुस्तक रची, *नतुन खाता* (1923); और इसके उपरान्त कुछ कविताएँ *भारती* में तथा अन्यत्र प्रकाशित हुईं। चटर्जी भी पारिवारिक प्रेम के कवि थे, परन्तु देवेन्द्रनाथ सेन और करुणानिधान बनर्जी से भिन्न वे भक्तिप्रवण नहीं थे। इसलिए उनका काव्य यथार्थवादी रूप में रोमाण्टिक है।

उपेन्द्रकिशोर रायचौधुरी (1863-1915) के सबसे बड़े पुत्र सुकुमार रायचौधुरी (1887-1923) भारत में हाफ़टोन मुद्रण के अग्रगामी थे और बाङ्ला की सर्वाधिक प्रसिद्ध बाल-कथा की पुस्तकों में से एक *टुनटुनिर बोइ* (1910) के संकलनकर्त्ता थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र सुकुमार रायचौधुरी (1887-1923) *भारती*-मंडल के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। वे फ़ोटोग्राफ़ी की कला में सिद्ध थे और उन्होंने 1921 में *सन्देश* पत्रिका की स्थापना की, जो बाङ्ला की सर्वोत्तम किशोर-पत्रिका सिद्ध हुई। अपनी इस पत्रिका के लिए उन्होंने कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट बाल-कविताओं की रचना की, जो हमारे किशोर-साहित्य की स्थायी निधि बन गयी हैं।

कथा-साहित्य में सामान्यतः रूप परम्परागत ही बना रहा किन्तु विषय-वस्तु में स्वस्थ प्रगति दिखाई दी। हरप्रसाद शास्त्री (1853-1931) और उनके शिष्य राखालदास बनर्जी (1885-1930) दोनों भारत-विद्या के प्रमुख विशेषज्ञ थे और दोनों ने ऐतिहासिक उपन्यास-रचना में सफलता प्राप्त की थी। शास्त्री की *बेणेर मेये* (व्यापारी की बेटी, 1920) ऐसी शैली में लिखा गया है, जो बोल-चाल के बहुत निकट है। इसमें पश्चिमी बंगाल में ग्यारहवीं शताब्दी के पारिवारिक और सामाजिक वातावरण का अत्यन्त विश्वसनीयता और वैभव के साथ पुनर्निर्माण किया गया है। उनकी दूसरी कथा-कृति—एक ऐतिहासिक कथा—*कंचनमाला* भी बहुत अच्छी रचना है। यह पहले *बंगदर्शन* (1883) में प्रकाशित हुई थी। शास्त्री अपने तमाम वृद्ध और युवा समसामयिक लेखकों से बेहतर बाङ्ला लिखते थे। यद्यपि वे प्रथम श्रेणी के संस्कृतज्ञ थे, फिर भी उन्होंने अपनी साहित्यिक शैली पर कभी विद्वत्तापूर्ण शब्दों और संस्कृतवाद का बोझ नहीं डाला।

बनर्जी ने तीन पारिवारिक और सात ऐतिहासिक उपन्यास लिखे; इनमें से केवल बाद के उपन्यास महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। *पाषाणेर कथा* (1914) का कथा के रूप में विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु वह भारतीय इतिहास में शक-युग के वातावरण को प्रस्तुत करती है। *करुणा* (1917) की विषय-वस्तु गुप्त साम्राज्य के पतन के आरम्भिक समय से सम्बद्ध है। उस समय वृद्ध शासक कुमारगुप्त सिंहासनासीन थे। *शशांक* (1914) में पूर्वी भारत के मध्यकालीन इतिहास के एक अत्यन्त रोमांटिक और दुर्गाह्य चरित्र को प्रस्तुत किया गया है। *धर्मपाल* (1915) में पाल वंश के महानतम शासक के यशस्कर कार्य-कलापों का वर्णन किया गया है। *मयूख* (1917) एक रोमानी कथा है, जो शाहजहाँ के शासन-काल के दौरान बंगाल में मुग़ल और पुर्तगाली शक्तियों के बीच संघर्ष पर केन्द्रित है। *असीम* (1924) का कथानक अठारहवीं शती के आरम्भ के बंगाल से सम्बद्ध है। *लुत्फुल्ला* (1927-29 में धारावाहिक प्रकाशित) के कथानक में नादिरशाह के अधिकार-काल की दिल्ली प्रस्तुत है। दो उपन्यास (*हेमकण* और *ध्रुवा*) अधूरे छूट गये हैं। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से बनर्जी के ऐतिहासिक उपन्यास बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यासों के आगे विशेष विकास नहीं प्रकट करते, लेकिन पाठक पर इनकी एक विशेषता का अचूक प्रभाव पड़ता है। यह विशेषता है उनकी वह शक्ति, जिससे वे ऐतिहासिक सामग्री (जिसमें से कुछ उनकी अपनी शोध से उपलब्ध हुई है) का आयोजन एक विश्वसनीय वातावरण के निर्माण के लिए कर लेते हैं।

भारती से सम्बद्ध अपेक्षाकृत युवा लेखकों ने सामान्यतः प्रचलित प्रेम-कहानियों और घरेलू कथाओं से बचने की कोशिश की है। उनमें से कुछ अपेक्षाकृत साहसी लोगों ने विवाहेतर प्रेम का समावेश करके उसमें एक हल्का-सा सेक्स का स्वर उठाने का प्रयास किया है। इस प्रकार की सर्वाधिक उल्लेखनीय रचनाएँ हैं : 'मुक्ति' (मनिलाल ग़ांगुली की एक कहानी, जो पहले *भारती* में प्रकाशित हुई थी, 1914), *पंकतिलक* (चारुचन्द्र बनर्जी का एक उपन्यास, 1919) और *झड़ेर यात्री* (हेमेन्द्रकुमार राय की एक लम्बी कहानी, 1923)।

भारती-मंडल के युवा लेखकों में सबसे अधिक अनुभवी थे सौरिन्द्रमोहन मुखर्जी (1884-1966)। वे पत्रिका से 1908 से सम्बद्ध थे। पहले सहायक सम्पादक के रूप में और तदुपरान्त संयुक्त सम्पादक के रूप में। मुखर्जी 1903 से कहानियाँ लिख रहे थे और 1913 तक उन्होंने मौलिक कहानियों की तीन पुस्तकों की रचना कर ली थी : *शेफाली* (1909), *निर्झर* (1911) और *पुष्पक* (1913)। उनके उपन्यासों, कथा-पुस्तकों और नाटकों की संख्या अब एक सौ से अधिक है, किन्तु उनमें से अधिकतर या तो अंग्रेज़ी से रूपान्तर हैं या अनुवाद। जिन लेखकों का अनुवाद किया गया है, उनमें मौलियर, गोल्डस्मिथ, ह्यूगो, तालस्ताय, मैटरलिंक, दाउदे, गीर्की, तुर्गनेव, मोपासां, हैगर्ड, मा-तुन (चीनी), ड्यूमा, स्टीवे़न्सन, रस्किन, डिकेन्स, स्विफ़्ट, वर्न, हैंस एण्डरसन,

वाशिंगटन इर्विंग और लाल बिहारी दे आदि शामिल हैं। मुखर्जी ने *महाभारत* से सावित्री के आख्यान पर एक मौलिक नाटक (*स्वयंवरा*, 1931) की रचना की है। उनके अनेक नाटक (अनुवाद या रूपान्तर) सार्वजनिक रूप में मंच पर कुछ सफलता के साथ प्रस्तुत किये गये।

चारुचन्द्र बनर्जी (1876-1938) ने मुखर्जी की तरह प्रचुरता से नहीं लिखा, परन्तु उन्होंने भी अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कहानी-लेखक के रूप में किया और अंग्रेज़ी के और कुछ अन्य विदेशी उपन्यासों एवं कहानियों का अनुवाद और रूपान्तर किया। उन्होंने लगभग एक दर्जन कहानी की पुस्तकें लिखीं, जिनमें *वरणडाला* (1910), *पुष्पपात्र* (1910), *सौगात* (1911), *वनज्योत्स्ना* (1938) आदि शामिल हैं। ढाका विश्वविद्यालय में बाङ्ला के प्राध्यापक नियुक्त होने से पहले बनर्जी *प्रवासी* पत्रिका के साथ सहायक सम्पादक के रूप में सम्बद्ध थे। उन्हें रवीन्द्रनाथ के सम्पर्क में आने का सुयोग मिला था, जिन्होंने उन्हें कम-से-कम तीन उपन्यासों के लिए विषय-वस्तु प्रदान की थी : *स्रोतेर फुल* (1915), *दुइ तार* (1918) और *हेरफेर* (1919)। बनर्जी का दूसरा उपन्यास *परगाछा* (1917) सम्भवतः उनकी सर्वोत्तम रचना है। यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो जीवन में असफल रहा। युवा लोगों के लिए बनर्जी ने अंग्रेज़ी से *द पर्शियन टेल्स* (1910) और *रॉबिन्सन क्रूसो* (1910) का रूपान्तरण किया।

मानसी ओ मर्मवाणी में अपनी कृतियों को धारावाहिक प्रकाशित करानेवाले लेखक बहुत नहीं थे। उन सबमें प्रभातकुमार मुखर्जी अग्रणी थे। अन्य लोगों में फकीरचन्द्र चटर्जी (मृ. 1932), जो पत्रिका के संस्थापकों में से थे, मनमोहन चटर्जी, माणिक भट्टाचार्य, सुरेन्द्रनाथ गांगुली और इन्दिरा देवी का उल्लेख किया जा सकता है।

इन्दिरा देवी, उनकी छोटी बहन अनुरूपा देवी और उनके बचपन की सहेली निरुपमा देवी ने मिलकर अपने समय की महिला उपन्यासकारों की एक मण्डली बनाई और यदि शरत्‌चन्द्र को भी उसमें शामिल कर लिया जाय तो इसे कथा-लेखकों का भागलपुर-मण्डल भी कहा जा सकता है। इस वर्ग में इन महिलाओं के और चटर्जी के भी कुछ सम्बन्धी शामिल रहे होंगे, जैसे सौरिन्द्रमोहन मुखर्जी, विभूतिभूषण भट्ट, सुरेन्द्रनाथ गांगुली (1881-1956) और उपेन्द्रनाथ गांगुली (1883-1960)। भागलपुर-मंडल के इन लेखकों के द्वारा रचित उपन्यासों की सामान्य विषयवस्तु है—नीरस पारिवारिक जीवन में प्रेम और विवाह (एक-पत्नी और बहुपत्नी) का रोमांस और त्रासदी। सौरिन्द्रमोहन मुखर्जी ने अपने पहले उपन्यास *आँधी* (*भारती* में धारावाहिक प्रकाशित 1911-12) में ही इस मंडल के प्रति अपनी सुस्पष्ट निष्ठा का परिचय दिया। शरत्‌चन्द्र चटर्जी इस मंडल के निर्विवाद अध्यक्ष थे, यद्यपि वे सामने आनेवालों में पीछे थे।

शरत्‌चन्द्र चटर्जी (1876-1938) का पालन-पोषण भागलपुर में अपनी ननिहाल में हुआ था। वहीं उनकी स्कूल की शिक्षा और दो वर्ष कालिज की शिक्षा हुई थी।

माता-पिता की मृत्यु ने उनके पारिवारिक जीवन को नष्ट कर दिया और कुछ वर्ष तक उन्हें उत्तरी बिहार में एक लावारिस का जीवन बिताना पड़ा। 1903 में वे बर्मा चले गये और उन्हें सरकारी दफ़्तर में एक क्लर्क की नौकरी मिल गयी। बर्मा जाने से पूर्व उन्होंने अपने मामा सुरेन्द्रनाथ गांगुली के नाम से एक पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिए एक कहानी भेज दी। उसे प्रथम पुरस्कार मिला और वह 1904 में प्रकाशित हुई। एक बड़ी कहानी (बड़दीदी) उनके अपने नाम से दो किश्तों में *भारती* में प्रकाशित हुई (1907)। परन्तु नियमित रूप से वे 1913 में सामने आये, जब उनकी कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध कहानियाँ *जमुना, साहित्य* और *भारतवर्ष* में प्रकाशित हुईं। इन कहानियों की सफलता से उनकी एक नियमित आमदनी निश्चित हो गयी। चूँकि बर्मा में उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था इसलिए नौकरी छोड़कर वे भारत लौट आये और कलकत्ता के एक उपनगर में लेखन को व्यवसाय के रूप में अपनाकर बस गये। वे भारत के पहले उपन्यासकार थे, जो अपने साहित्यिक सृजन की आमदनी से कुछ आराम से जीवन बिता सके। उनकी तात्कालिक प्रसिद्धि और निरन्तर लोकप्रियता का हमारे साहित्यिक इतिहास में सानी नहीं मिलता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो क्या, बंकिमचन्द्र चटर्जी की कृतियों को भी, कभी सामान्य पाठक ने इतनी ललक और उत्साह से नहीं ग्रहण किया। चटर्जी की कहानियाँ प्रायः लम्बी होती हैं और उनके उपन्यासों में विस्तार-वैविध्य मिलता है। उन पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव तो है परन्तु उनकी भावात्मक गहराई और वैविध्य नहीं है। शरत्चन्द्र चटर्जी की कहानियों और उपन्यासों में भाव के अभाव की कमी कुछ दूर तक एक ऐसी भावुकता से पूरी हो जाती है जो सामान्य पाठक को बड़ी तत्परता से ग्राह्य होती है। गहराई और परिष्कार के अभाव के बावजूद, कुछ कहानियाँ अपनी सुस्पष्ट ईमानदारी और यथार्थवादी आधार के कारण बहुत प्रभावशाली हैं। इनमें *बिन्दुर छेले* (1913), *रामेर सुमति* (1914), *अरक्षणीया* (1916) आदि प्रमुख हैं।

विभिन्न कारणों से शरत्चन्द्र के बाल्य-काल और किशोरावस्था का समय सुखी नहीं था। इससे उनमें कड़वाहट तो नहीं आयी, पर वे जीवन को ईमानदारी से देखने में असमर्थ हो गये। उनकी कहानियों में ग़लतफ़हमियाँ, विरक्ति और कड़वाहट सब कुछ है परन्तु अन्त में हर विघ्न दूर हो जाता है और कथा का अन्त, चाहे सुखान्त हो या नहीं, हमेशा रुचिकर होता है। उपेक्षित नारीत्व के प्रति उनकी सहानुभूति ने और उनकी सहज, सीधी और प्रसन्न वर्णन-शैली ने इस विशेषता के साथ संयुक्त होकर उनकी कहानियों की प्रभावमयता में योगदान दिया है।

शरत्चन्द्र की एकदम आरम्भ की रचनाओं में बंकिमचन्द्र चटर्जी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। *देवदास* (1901 में लिखित, 1917 में प्रकाशित), *परिणीता* (1914), *बिराज बउ* (1914) और *पल्ली समाज* (1916) में विषय-वस्तु और उसकी प्रौढ़ प्रस्तुति चटर्जी से बहुत भिन्न नहीं है, पर उन्हें एक आधुनिक वातावरण में और

एक अपेक्षाकृत सरल और वास्तविक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। रवीन्द्रनाथ का, विशेषकर उनकी कहानियों और उनके *चोखेर बालि* और *गोरा* नामक उपन्यासों का प्रभाव चटर्जी की कुछ कहानियों और उपन्यासों में ढूँढ़ा जा सकता है। चटर्जी के मन में उस नारी के प्रति संवेदना थी, जिसका घर में दमन किया जाता था और जिस पर घर-बाहर अत्याचार किया जाता था। उनके मन में उनके लिए पक्षपात था, जो बिना कुछ किये, परिवार या बिरादरी के दोष का पात्र हो जाती थी। चटर्जी की कहानियों और उपन्यासों का सामाजिक और पारिवारिक वातावरण कुल मिलाकर, सुदूर अतीत का है परन्तु कथा की रोचकता पाठक को परिस्थिति की विश्वसनीयता या अन्य बातों को भुला देती है। वे निश्चित रूप से उस समय तत्कालीन समाज की आलोचना करते हैं जब वह उनके अपने विचारों से मेल नहीं खाता, पर वे हिन्दू-समाज के स्वीकृत नैतिक आधार की किसी भी समय अवज्ञा नहीं करते।

चटर्जी का सर्वोत्तम रूप वहाँ व्यक्त होता है जब वे निजी अनुभव से ग्रहण करते हैं। ऐसी कृतियों में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं : *श्रीकान्त* के चार भाग (1917, 1918, 1927, 1933), *चरित्रहीन* (1917), *बिराज बउ* (1914), *पल्ली समाज* (1916), *देवदास* (उनका प्रथम उपन्यास) का पहला भाग और उनकी पहली प्रकाशित कहानी 'मन्दिर' (1904)। यह बात ध्यान देने की है कि ये कृतियाँ (*श्रीकान्त* के अन्तिम दो भागों को छोड़कर, जिनका स्तर पहले दो की तुलना में बहुत हीन है) चटर्जी के लेखन के पहले दौर की रचनाएँ हैं, अर्थात् 1913 तक की; जब उन्हें कथा-साहित्य के एक सशक्त लेखक के रूप में मान्यता मिली ही थी। दूसरा दौर एक ऐसे सजग प्रयास से शुरू हुआ, जिसमें रवीन्द्रनाथ के *गोरा* के ढंग के कथानक से जूझने की कुछ कोशिश की गयी है। परिणाम हुआ उनका सबसे बृहद् उपन्यास *गृहदाह* (1919)। एक क्षीण-सी कथा को जिस तरह धुना गया है, वह ऊबाऊ है, और इसका कभी सामान्य रूप से स्वागत नहीं किया गया। *गृहदाह* समाप्त करने से पहले ही चटर्जी फिर रोमानी प्रेम-कथाओं की ओर लौट गये और उन्होंने *दत्ता* (1917 में धारावाहिक प्रकाशित) और *देना पावना* (1913) लिखी। पहली कृति की कथा में चार्ल्स गार्विस की 'लेओला दालेज फ़ॉर्चून' से गहरी समानता है। परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अपने भास्वर अपरिचित रंगों और रोमांस की अतिशयता के बावजूद कथा सुखद ढंग से कही गयी है।

बंगाल के उस क्रान्तिकारी आन्दोलन ने, जो बर्मा और सुदूर पूर्व में परिचालित था, उनके रोमांस *पथेर दाबी* (1926) को पृष्ठभूमि प्रदान की। बिना किसी अकाट्य कारण के, सरकार ने उपन्यास पर प्रतिबन्ध लगा दिया। *विप्रदास* (1935) में चटर्जी घरेलू उपन्यास पर लौट आये पर उसमें किसी नयी दृष्टि या मूल्य का उद्घाटन बहुत कम हुआ है। उनका अन्तिम पूर्ण उपन्यास *शेष प्रश्न* (1931) बौद्धिक उपन्यास लेखन की दिशा में किया गया प्रयास है, जहाँ क्षीण-सी कथा को मुख्यतः प्रेम और

विवाह से सम्बद्ध व्यक्ति और समाज की समस्याओं पर आडम्बरपूर्ण बातों के द्वारा निस्तार दिया गया है।

चटर्जी की कुछ लोकप्रिय कथाओं के नाट्य-रूपान्तर सार्वजनिक मंच पर काफ़ी सफलता से प्रदर्शित किये गये। चटर्जी की कृतियों का कई-कई बार सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया है।

जब चटर्जी अपनी किशोरावस्था में ही थे, उन्होंने अपने चारों ओर साहित्यिक यश के प्रार्थी अत्यन्त युवा लोगों की भीड़ जमा कर ली थी। उन्होंने एक किशोर साहित्यिक सभा की अनौपचारिक ढंग से स्थापना की और उसके हस्तलिखित मुखपत्र *छाया* (लगभग 1896 ई.) का आरम्भ किया। इस मंडली के लगभग सभी लेखक, बाद के जीवन में, कथा-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक हुए। इन सबमें चटर्जी सबसे वरिष्ठ भी थे और उनके पथ-प्रदर्शक भी। उन्होंने कहानियाँ लिखीं, जो इसकी बैठकों में पढ़ी जाती थीं या हस्तलिखित पत्रिका में वितरित की जाती थीं। चटर्जी की इस आरम्भिक कृतियों का उनके युवा प्रशंसकों के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। भागलपुर-मंडल के कथाकारों की कुछ कहानियों और उपन्यासों की विषय-वस्तु में विचित्र प्रकार की समानता की व्याख्या इस तथ्य से हो जाती है। ये सभी लेखक, केश तैल कुन्तलिन और अन्य इत्रों के निर्माता एच. बसु द्वारा प्रवर्तित कथा-प्रतियोगिताओं में पुरस्कार विजेता थे। इनकी कुछ आरम्भिक रचनाएँ *भारती* में प्रकाशित हुई थीं।

सौरिन्द्रमोहन मुखर्जी की कृतियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनकी रिश्ते की बहनें (भूदेव मुखर्जी की पौत्रियाँ) इन्दिरा और अनुरूपा प्रकाशित होनेवाले अगली महिलाओं में थीं। इन्दिरा देवी (1820-1922) को मौलिक कहानियों की चार पुस्तकों और एक उपन्यास *स्पर्शमणि* (1988) का श्रेय दिया जाता है। उनका उपन्यास अच्छी रचना है और उसमें घरेलू वातावरण अच्छी तरह चित्रित किया है। उन्होंने कुछ अनुवाद भी किया था, जो अच्छा है। इन्दिरा की छोटी बहन अनुरूपा देवी (1882-1958), अपेक्षाकृत बहुप्रज्ञ लेखिका हैं। उनका पहला उपन्यास *ज्योतिहारा* (1915) एक पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हुआ था; परन्तु उन्हें पाठकों के बीच प्रसिद्धि अपने दूसरे उपन्यास *पोष्यपुत्र* (1912) से मिली। उनके बाद के उपन्यासों में *वाग्दत्ता* (1914), *मन्त्रशक्ति* (1915), *महानिशा* (1919), *माँ* (1920) आदि हैं। अनुरूपा देवी के अन्य किसी उपन्यास की अपेक्षा *मन्त्रशक्ति* अधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी विषय-वस्तु पाठक को शरत्चन्द्र की पहली प्रकाशित (1904) कहानी 'मन्दिर' की बड़ी तीव्रता से याद दिलाती है।

विभूतिभूषण भट्ट (1881) ने केवल कहानियाँ लिखीं, जो अधिकतर छोटी थीं। उन्हें चार पुस्तकों का श्रेय है : *स्वेच्छाचारी* (1917), *अकाजेर काज* (1920), *सहजिया* (1922) और *सप्तपदी* (1923)। उनकी पहली कथा-पुस्तक *अष्टक* (1917) में उनकी बहन निरुपमा देवी (1883-1951) द्वारा लिखी गयी कहानियाँ भी हैं।

निरुपमा ने कुछ और कहानियाँ भी लिखीं, जो *आलेया* (1917) में संगृहीत हैं, और एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे। उनके उपन्यासों में पहला है, *अन्नपूर्णार मन्दिर* (1913)। इसकी विषय-वस्तु लगभग वैसी ही है जैसी शरत्चन्द्र चटर्जी की लघुकथा *अनुपमार प्रेम* की। उनका सबसे लोकप्रिय उपन्यास है *दीदी* (ज्येष्ठ सपत्नी, 1912-13, 1915 में धारावाहिक प्रकाशित)। उनके अन्य उपन्यासों में *उच्छृंखल* (1920), *देवत्र* (1927) आदि हैं। निरुपमा के उपन्यास पठनीय हैं। वे न बहुत भारी-भरकम हैं और न नीरस। उनकी शैली आडम्बरहीन है और उसमें न शिक्षा देने का प्रयास किया गया है, न नैतिक रंग देने का। *श्यामली* (1919) उपन्यास में एक जन्मना अल्पबुद्धि और गूँगी लड़की का विवाह ग़लती से एक युवा लड़के से कर दिया जाता है। परन्तु अपने पति के संवेदनशील कोमल व्यवहार से उसके मस्तिष्क में बुद्धि और हृदय में स्नेह का उदय होता है। हाल में ही इसका नाट्य रूपान्तर करके कलकत्ता के सार्वजनिक मंच पर उसका अभूतपूर्व सफलता से प्रदर्शन किया गया है।

शैलबाला घोषजया (ज. 1894) भागलपुर-मंडल से सम्बद्ध नहीं थीं पर सामान्यतः उनका नाम इन्दिरा, अनुरूपा और निरुपमा के साथ लिया जाता है क्योंकि उन्होंने भी नारी-सुलभ दृष्टि से रचना की; यद्यपि उनका दृष्टिकोण कुछ अलग था। वे भी पहले कहानी-लेखिका के रूप में सामने आयीं और उनके बाद उपन्यास-लेखिका के रूप में उनका पहला उपन्यास *सेख आन्दु* (1915-1917 में धारावाहिक प्रकाशित) अपने कथानक की दृष्टि से साहसिक रचना है। इसमें एक शिक्षित और संस्कृत हिन्दू लड़की की, अपने पिता के युवा मुसलमान शोफ़र के प्रति निराश प्रेम की कथा है। *मिष्टिशर्बत* (1920) में एक मुस्लिम परिवार की प्रीतिकर कथा है। *जन्म-अपराधी* (1920) में एक अत्यन्त युक्तियुक्त कथा प्रस्तुत की गयी है। शैलबाला ने लघु कथाओं की सात या आठ पुस्तकें, लगभग दो दर्जन उपन्यास और एक नाटक लिखा है।

अनुभवी पत्रकार रामानन्द चटर्जी की पुत्रियों शान्ता देवी (1894) और सीता देवी (ज. 1895) ने कहानियाँ और उपन्यास केवल *प्रवासी* के लिए लिखे। उन्होंने कुछ अच्छी बाल-कथाएँ लिखीं। उनका पहला उपन्यास *उद्यानलता* (1919) एक सहयोगी प्रयास था।

सबुजपत्र का पहला अंक मई (1914) में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष नवम्बर में, विरोधी पक्ष का मासिक मुखपत्र *नारायण* सामने आया। इस पत्रिका का प्रवर्त्तन चित्तरंजन दास (1870-1925) ने किया, जो उस समय कलकत्ता हाईकोर्ट के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली सदस्य थे। परन्तु उसके पथ-प्रदर्शक व्यक्ति थे, विपिनचन्द्र पाल (1827-1932)। पाल, रवीन्द्रनाथ के उपरान्त *बंगदर्शन* के सम्पादक हुए, जिसका प्रकाशन (1913 में) बन्द हो गया। *नारायण* का आरम्भ किसी निश्चित योजना से नहीं, बल्कि रवीन्द्रनाथ और उनके नेतृत्व का अनुसरण करनेवाले उनके अनुयायियों

का विरोध करने के इरादे से किया गया था। हरप्रसाद शास्त्री इस पत्रिका में नियमित रूप से लिखते थे। दास ने कविताएँ लिखीं और पाल ने कुछ लेख और कुछ कहानियाँ। नारायणचन्द्र भट्टाचार्य (मृ. 1927) *नारायण* के मुख्य कथा-लेखक थे और उनकी कहानी की पुस्तकों और उपन्यासों की संख्या पचास से अधिक है। उनकी कहानी की पहली पुस्तक *कथाकुंज* 1907 में प्रकाशित हुई थी और उनका पहला उपन्यास *कुलपुरोहित* 1909 में। कथाकार के रूप में नारायणचन्द्र की तुलना कुछ दूर तक शरत्चन्द्र चटर्जी से की जा सकती है, परन्तु उनमें शरत् की-सी भाव-प्रवणता, आग और प्रतिभा का अभाव था। बहुज्ञ दार्शनिक ब्रजेन्द्रनाथ सील की बेटी सरयूबाला दासगुप्त (1889-1949) ने कुछ चिन्तनपरक निबन्ध और गद्य-काव्य लिखे। उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक थी, *वसन्त प्रयाण* (1914)। यह प्रतीकात्मकता के झीने आवरण में एक भावात्मक अनुभव की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी भूमिका लिखी थी। उनकी अन्य कृतियाँ, जो इस पहली रचना के समान ही हैं, *त्रिवेणी* (1915) और *देवोत्तर विश्वनाट्य* (1916) हैं। अन्तिम एक प्रतीकात्मक नाटक है, जिस पर रवीन्द्रनाथ का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसमें श्रमिक और पूँजीपति एवं शासक और शासित के बीच सम्बन्ध-जैसी अत्याधुनिक समस्याओं के सीधे संकेत हैं। उनकी सभी रचनाओं में उनके दार्शनिक पिता का प्रभाव देखा जा सकता है।

नारायण के एक अत्यन्त विचारवान लेखक हरिदास हालदार (1862-1934) थे। उन्होंने पत्रिका के लिए सामान्य से अधिक यथार्थवादी विषयों पर कुछ कहानियाँ लिखीं। ये बाद में एक छोटे-से ग्रन्थ में *मदन पियादा* (1918) शीर्षक से संगृहीत की गयीं। हालदार की पहली पुस्तक *गोबर गणेशेर गवेषणा* (1916) ने रवीन्द्रनाथ का ध्यान आकर्षित किया और विचारवान पाठकों द्वारा उसका अच्छा स्वागत हुआ। इसमें अपने समय की कुछ सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ज्वलन्त समस्याओं पर छह निबन्ध हैं। शैली सरल और रमानेवाली है, जिसमें दुर्लभ विनोदशीलता है और लेखक के विश्लेषण में गहराई है।

सत्येन्द्रकृष्ण गुप्त ने *नारायण* के लिए कुछ यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं; परन्तु बाद में कथा-लेखन की 'यथार्थवादी' शाखा के लिए सही अर्थ में ज़िम्मेदार व्यक्ति डॉ. नरेशचन्द्र सेनगुप्त (1882) थे। उनकी कहानियों की पहली पुस्तक *द्वितीय पक्ष* (1919) में संगृहीत उनकी कहानी *ठानदीदी* पहले *नारायण* में छपी थी (1918)। डॉ. सेनगुप्त ढाका के नव्य स्थापित विश्वविद्यालय में विधि के प्रोफ़ेसर होकर गये थे। कुछ ही वर्षों में वे कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करने के लिए आये, परन्तु वहाँ उन्होंने एक नये साहित्यिक आन्दोलन के बीज बो दिये थे जो अपने-आपको 'प्रगतिशील' कहता था। *नारायण* में प्रकाशित कहानी के बाद *शुभा* (1920) और *शास्ति* (1921) उपन्यास लिखे गये। इन उपन्यासों में यौन-सम्बन्धों के बारे में कुछ धुँधले-से

रूढ़िमुक्त विचार व्यक्त हुए हैं पर वे भी आलोचकों के रोष को भड़काने के लिए काफ़ी स्पष्ट हैं। अगला उपन्यास *पापेर छाप* (1922), जो 'मेघनाद' शीर्षक से धारावाहिक प्रकाशित हुआ था, काम और अपराध-विज्ञान को कुछ दूर तक साहसिकता से चित्रित करता है। इसके उपरान्त डॉ. सेनगुप्त बाङ्ला उपन्यासकारों के लिए सुरक्षित और प्रचलित मार्ग पर लौट आये। उन्होंने कुल मिलाकर उपन्यासों, कहानियों और कुछ नाटकों के लगभग पचास ग्रन्थ लिखे।

गिरीशचन्द्र घोष की मृत्यु के उपरान्त नाटकों के चरित्र और रचना में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। परन्तु लोक-प्रचलित नाटकों का धार्मिक स्वर कुछ मन्द हो गया और उनके विस्तार में भी स्पष्ट रूप से कमी दिखाई देने लगी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक, विशेषकर *नूरजहाँ* (1908), *शाहजहाँ* (1908) और *चन्द्रगुप्त* (1911) का सामान्य सफलता के साथ कालिज के कुछ विद्यार्थियों ने शौकिया मंचन किया। इनसे हल्के-फुल्के ऐतिहासिक नाटकों का नया फ़ैशन चला। लोकप्रिय नाटकों के लेखकों में क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद (1863-1927), अपरेशचन्द्र मुखर्जी (1875-1934), निशिकान्त बसुराय एवं अन्य लोग थे। विद्याविनोद, जो कलकत्ता के एक कालिज में कैमिस्ट्री पढ़ाते थे, प्राचीन धारा के अनुभवी व्यक्ति थे। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने नाटकों को नयी प्रवृत्ति के अनुकूल ढाला। उनका *किन्नरी* (1918) उस समय के सार्वजनिक मंच का सर्वाधिक लोकप्रिय आपेरा था।

शिशिरकुमार भादुड़ी (1889-1960) ने 1924 में रंग-शिल्प में सुधार किया। वे अंग्रेज़ी के कालेज-प्रोफ़ेसर थे और उन शौकिया मंडलियों के प्रमुख सदस्य थे, जिन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों को लोक-प्रचलित बनाया। सार्वजनिक रंगमंच और प्रदर्शनों के सुधार की दिशा में भादुरी को मनिलाल गांगुली और अन्य मित्रों व सहयोगियों से अच्छी सहायता मिली। भादुड़ी रवीन्द्रनाथ की 'विचित्रा' की कुछ बैठकों में उपस्थित रहे थे और उन्होंने 'फाल्गुनी' का प्रदर्शन भी देखा था। उनमें असाधारण अभिनय-शक्ति थी। इसलिए वे इस कार्य में सर्वथा योग्य थे। सार्वजनिक मंच पर भादुड़ी सबसे पहले योगेशचन्द्र चौधुरी (1887-1948) के नाटक *सीता* (1924) में व्यावसायिक तौर पर उतरे। इस नाटक की अद्‌भुत सफलता ने भारतीय रंगमंच के इतिहास की दिशा मोड़ दी।

□

25

स्वतन्त्रता-आन्दोलन से दूसरे विश्व-युद्ध तक

असहयोग आन्दोलन के प्रथम उन्मेष के बाद, राजनीतिक प्रयासों को क्रम-क्रम से दो लहरों में प्रवाहित किया गया—नागरिक अवज्ञा और ब्रिटिश सरकार से असहयोग, और उसीसे उस स्थिति में सहयोग, जब कुछ दूर तक स्वदेशी सरकार मिल जाय। जनता धीरे-धीरे एक प्रकार की राजनीतिक चेतना के प्रति जागरूक हो रही थी और देश के औद्योगिक विकास का आधार मज़बूत दिखाई पड़ रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रामीण वर्गों में बढ़ती हुई गति से फैल रही थी, और कलकत्ता शहर तथा प्रादेशिक नगर अपनी ग्रामीण सीमाओं से धीरे-धीरे प्राण-शक्ति खींच रहे थे। साहित्य पर इसका दोहरा प्रभाव पड़ा। युवा लेखकों के एक वर्ग ने नगरों और उपनगरों की गन्दी बस्तियों की ज़िन्दगी का वर्णन करने के संकल्प से आरम्भ किया। जल्दी ही इस वर्ग के साथ वे अपेक्षाकृत कुछ पुराने लेखक भी जुड़ गये जिन्होंने *भारती* और *नारायण* के पृष्ठों पर यथार्थवाद की शुरुआत की थी। साहित्य में इस नये आधुनिक आन्दोलन का मुखपत्र था *कल्लोल*। इसका आंरम्भ 1923 में गोकुलचन्द्र नाग और दिनेशरंजन दास ने किया था।

इसकी अग्रणी *झड़ेर दोला* (1922) नाम की एक छोटी-सी पुस्तक थी, जिसमें चार कहानियाँ थीं। ये कहानियाँ गोकुलचन्द्र नाग, दिनेशरंजन दास, सुनीति देवी और मनीन्द्रलाल बसु ने लिखी थीं। इन सबने प्रकाशक की हैसियत से 'फ़ोर आर्ट्स क्लब' का गठन किया था। नाग गवर्नमेंट आर्ट स्कूल के छात्र थे और दास एक शौकिया अभिनेता थे। सुनीति देवी ने काव्य-रचना की और बसु ने कहानियाँ लिखीं। *कल्लोल* के युवा लेखकों की कुछ कहानियाँ उस समय की स्वीकृत साहित्यिक नीतियों की दृष्टि से अनुचित समझी गयी। पत्रिका किसी भी रूप में लोकप्रिय पत्रिकाओं में से नहीं थी और लिखनेवाले अब तक अधिकतर अप्रसिद्ध लोग थे। ऐसी स्थिति में कुछ समय तक पाठकों की प्रतिक्रिया की आशा नहीं की गयी। पर कुछ अन्य लेखकों ने (जो बहुत युवा नहीं थे) *कल्लोल*-मण्डल के लेखकों के विरुद्ध लट्ठ तान लिया और केवल इसी उद्देश्य के लिए प्रकाशित एक पत्रिका में, उनकी रचनाओं का उपहास उड़ाकर, उनके प्रतिकूल प्रतिक्रिया जगाने का प्रयत्न किया। यह पत्रिका *शनिवारेर चिठि* थी,

जो पहले साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित हुई (नवम्बर, 1924) और तदुपरान्त एक मासिक पत्रिका के रूप में। इसकी स्थापना अशोक चटर्जी ने की और बाद में संचालन सजनीकान्त दास ने। कुछ तीर निस्सन्देह ठिकाने बैठ गये, किन्तु अभीष्ट प्रभाव दिखाई नहीं पड़ा। उलटे इसने उस नयी 'प्रगतिशील' धारा के लिए दुष्टतापूर्ण किन्तु प्रभावशाली प्रचार का रूप ग्रहण कर लिया, जिस पर अन्यथा बिलकुल ध्यान न गया होता। उस समय *कल्लोल* के अगल-बग़ल दो पत्रिकाएँ सामने आ गयीं : कलकत्ता से *कालि-कलम* (1927) और ढाका से *प्रगति* (1928)।

सभी नए 'प्रगतिशील' लेखकों ने अपने लिए रवीन्द्रनाथ से पोषण ग्रहण किया था; किन्तु जैसाकि उनमें से कुछ ने स्वीकार किया है, भारतीय परम्परा की आत्मा से अपरिचित होने के कारण वे रवीन्द्रनाथ के काव्य को पूरी तरह समझ नहीं सके। इनमें से कुछ लेखक, सम्भवतः अंग्रेज़ी कवियों की युवा पीढ़ी के द्वारा, पूर्वी पद्धति के नाम पर रवीन्द्रनाथ के काव्य की अस्वीकृत से प्रभावित हुए थे। परन्तु उनके रवीन्द्र-विरोधी रुख़ के पीछे वास्तविक शक्ति इस प्रवीण साहित्यकार और उसकी रचनाओं के विरुद्ध विद्वेष के पुनः प्रकोप की थी। 'प्रगतिशील' वर्ग की ढाका-शाखा ने, जिसका नेतृत्व उपन्यासकार डॉ. नरेशचन्द्र सेनगुप्त और कवि-अध्यापक मोहितलाल मजुमदार कर रहे थे, घोषणा की कि रवीन्द्र साहित्य का समय बीत गया। उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर उनके अनुयायियों ने कहा कि रवीन्द्रनाथ उनके लिए बाधा हैं। नलिनीकांत गुप्त (ज. 1889)-जैसे विचारशील आलोचकों ने इस बात को स्वीकार किया कि कुछ 'प्रगतिशील' लेखकों में दृष्टिकोण की मौलिकता और अभिव्यक्ति की शक्ति दिखाई पड़ती है। पर वे निश्चित रूप से ऐसी समस्याओं और स्थितियों का सृजन करने के विरुद्ध थे, जो वास्तविक नहीं थीं। वे ऐसे विदेशी विचारों और आदर्शों को भी आरोपित करने के विरुद्ध थे, जो हमारे मानसिक वातावरण और सांस्कृतिक परम्परा के लिए विदेशी और प्रतिकूल थे।

दोनों विरोधी दलों की ओर से रवीन्द्रनाथ के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि वे समसामयिक बाङ्ला साहित्य में 'परम्परागत' और 'प्रगतिशील' के बीच की समस्या के बारे में निर्णय दें। यह स्थिति उनके लिए कुछ कठिन अवश्य थी, किन्तु वे अपने कलकत्ता-निवास के विचित्र कक्ष में एक सभा बुलाने के लिए राजी हो गये। दोनों खेमों के समर्थक और कुछ निर्दलीय साहित्यकार आमंत्रित किये गये। दो बैठकें हुईं (मार्च 1927)। पहले दिन रवीन्द्रनाथ ने सभा में भाषण दिया और कहा कि साहित्य-कला का मुख्य उद्देश्य नये रूपों का सृजन है और विषय वस्तु आयातित हो, मिश्रित हो, परम्परागत या मौलिक हो, उसका महत्त्व उतनी ही दूर तक होता है, जहाँ तक वह किसी नये रूप के सृजन में सहायक होती है। उन्होंने समसामयिक यूरोपीय साहित्य के 'आधुनिकपन' का विश्लेषण किया और बंगाल में समसामयिक साहित्य के लिए उसकी मान्यता को अस्वीकार किया। तीन दिन के बाद दूसरी बैठक में बहस

हुई परन्तु किसी निर्णय तक नहीं पहुँचा जा सका। रवीन्द्रनाथ के विश्लेषण और निर्णय से 'प्रगतिशील' वर्ग के लोगों का परितोष नहीं हुआ पर वे उस समय चुप रहे। रवीन्द्रनाथ ने भाषण के उपरान्त साहित्य के तत्त्व पर एक निबन्ध ('साहित्येर धर्म', जुलाई 1928) लिखा। डॉ. नरेशचन्द्र सेनगुप्त ने उत्तर में अपने निबन्ध 'साहित्य धर्मेर सीमाना' (अगस्त 1928) लिखा। डॉ. सेनगुप्त ने रवीन्द्रनाथ पर स्वयं सीमाओं का अतिक्रमण करने का आरोप लगाया, परन्तु उनकी युक्तियाँ कुल मिलाकर वही थीं, जो कई वर्ष पहले द्विजेन्द्रलाल राय प्रस्तुत कर चुके थे। द्विजेन्द्रनारायण बागची ने अपना अन्तिम निबन्ध 'साहित्यधर्मेर सीमाना विचार' लिखा, और रवीन्द्रनाथ का प्रबल पक्ष लिया। डॉ. सेनगुप्त ने बागची के लेख का उत्तर लिखा। यह बहस 'विचित्रा' के पृष्ठों पर चलती रही। यह विवाद अनिश्चित समय तक चला होता, यदि रवीन्द्रनाथ *शेषेर कविता* नामक उपन्यास और 'गद्य कविता' (पूर्णतः मुक्त छन्द) का सृजन करके, इसे रोकने में कारगर न हो गये होते।

युद्धोत्तर असन्तोष और असहयोग का तत्काल फल हुआ, काज़ी नज़रुल इस्लाम का काव्य (ज. 1899)। नज़रुल जब स्कूल के ही विद्यार्थी थे, तभी नयी भरती की गयी बंगाली रेज़ीमेंट (1917) में शामिल हो गये, और उन्हें युद्ध-स्थगन से कुछ महीने पहले मेसोपोटेमिया भेज दिया गया। रेज़ीमेंट को युद्ध लड़ने का अवसर नहीं दिया गया किन्तु नज़रुल को युयुत्सा का भरपूर अनुभव हुआ। बाद में जो काव्यात्मक उद्‌गार और आवेश के रूप में अभिव्यक्त हुआ। इस रेजीमेंट में पंजाब का एक मौलवी सम्मिलित था, जो फ़ारसी काव्य का प्रेमी था। नज़रुल ने उसके साथ हाफ़िज़ को पढ़ा। काव्य में यह उनकी सच्ची दीक्षा थी। घर लौटने पर (1918) उन्होंने हाफ़िज़ की व्याख्या करते हुए कुछ कविताएँ लिखीं। उनकी दो आरम्भिक महत्त्वपूर्ण कविताएँ 'प्रलयोल्लास' और 'विद्रोह' 1922 के आरम्भ में प्रकाशित हुईं और उनका पहला काव्य-संग्रह *अग्निवीणा* वर्ष समाप्त होने से पहले प्रकाशित हो गया। पुस्तक का जिस उत्साह से स्वागत हुआ, वैसा उत्साह पहले और बाद में, फिर कभी नहीं देखा गया। नज़रुल अब *कल्लोल*-मण्डल में शामिल हो गये और उन्होंने पूरी दक्षता से तीखे छन्दों में ढेर-से गीत लिखे। उन्होंने कविताओं और गीतों की बीस से अधिक पुस्तकें लिखीं (अधिकतर छोटी) और कुछ कथा-साहित्य और नाटक भी लिखे। उनकी पूर्ववर्ती कुछ कविताएँ अच्छी थीं, पर *अग्निवीणा* की अग्नि अब शान्त हो चुकी थी।

नज़रुल एक भावुक व्यक्ति थे, परन्तु उनके भाव अस्थिर और चंचल थे। जो लोग उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आते थे, वे उनके दुर्दमनीय उत्साह और ईमानदारी से प्रभावित होते थे। परन्तु, *अग्निवीणा* की आरम्भिक कविताओं को छोड़कर, उनका साहित्यिक सृजन, उनकी योग्यता की तुलना में बहुत पीछे है। नज़रुल के व्यक्तित्व की भावपूर्णता ने इन कविताओं को जो जीवन्तता प्रदान की, वह उनके समकालीनों की कविताओं से उन्हें एकदम विशिष्ट बना देती है। उनकी पदावली फ़ारसी और

अरबी शब्दों के प्रभावशाली प्रयोग से अनुप्राणित है। नज़रुल की दिलचस्पी राजनीति में हो गयी और बाद में भक्तिवाद में भी, जो उनकी कविता के लिए हानिकर हुआ। *अग्निवीणा* के उपरान्त उनकी कविताओं और गीतों की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तकें हैं *दोलनचाँपा* (1923), *बिषेर बंशी* (1924), *भाँगार गान* (1924), *पूबेर हावा* (1925) और *बुलबुल* (1928)।

मोहितलाल मजुमदार (1888-1952) स्कूल में अध्यापक थे, किन्तु उनके लिए उनके व्यवसाय का विशेष अर्थ न था। वे भी काज़ी नज़रुल इस्लाम के साथ *कल्लोल*-मण्डल में शामिल हो गये, पर वे कुछ वर्ष पहले से ही काव्य-रचना कर रहे थे। वे देवेन्द्रनाथ सेन के सम्बन्धी थे और उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन सेन के काव्य के प्रशंसक के रूप में आरम्भ किया था। मजुमदार की पहली काव्य-पुस्तक *देवेन्द्र-मंगल* (1912) नाम की एक पतली-सी पुस्तिका है, जिसमें उन्होंने वरिष्ठ कवि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। 1919 में वे *भारती*-मण्डल से सम्बद्ध हो गये और उसके नियमित लेखक हो गये। उनकी कविता अब सत्येन्द्रनाथ दत्त की सुरीली और थिरकती काव्य-पद्धति का अनुसरण करने लगी। उन्होंने इस प्रभाव से मुक्त होने का पूरा प्रयत्न किया। नज़रुल के प्रभाव ने ऐसा करने में उनकी सहायता की। उनकी काव्य-भाषा अब फ़ारसी के शब्दों और फ़ारसी काव्य के विषयों में भी रस लेने लगी। मजुमदार की पहली महत्त्वपूर्ण काव्य-पुस्तक *स्वप्न-पसारी* (सपनों का सौदागर, 1922) ने उनकी ख्याति एक सशक्त और होनहार कवि के रूप में फैला दी। जीवन और मृत्यु के प्रति उनका रुख़ पहले ही उनकी एक कविता 'अघोरपन्थी' में स्पष्ट हो गया था, जो पहले-पहल 1920 में छपी थी। उसमें उमर ख़य्याम का किंचित् आभास है। जब *स्वप्न-पसारी* प्रकाशित हुआ, तो ऐसा लगा कि मजुमदार के मन में रवीन्द्रनाथ के काव्य के प्रति उत्साह समाप्त हो गया है। इससे *कल्लोल*-मण्डल तक उनकी पहुँच आसान हो गयी, यद्यपि वे उनमें सबसे बड़े व्यक्ति से भी आयु में बहुत बड़े थे।

उनके दूसरे काव्य-संग्रह *विस्मरणी* (1929) में संकलित कुछ विशेष कविताएँ पहले *कल्लोल* में छपी थीं : कवि अब जीवन को उसके प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करता है और किसी भी मूल्य पर उसका भोग करना चाहता है। उसके लिए अब मृत्यु के परे केवल शून्य है। 'मोह मुद्गर' कविता में वह रवीन्द्रनाथ को चुनौती देता है :

> "हे कवीन्द्र! मुख उठाकर धूलिहीन रजनी की मल्लिका-माधवी की शोभा देखकर, नीहारिका की छवि निहारकर; धरती के पूर्ण पयोधर की दुग्धधारा की उपेक्षा कर रक्तहीन अधरों से कल्पना के द्राक्षा-वन का मधु चूसकर; स्वयं सदा वंचित रहकर (भी) बुभुक्षु मानवों के लिए इन्द्रजाल की रचना करके; मोहन-मदिरा पिलाकर मर्त्यजनों को कब तक बहलाओगे?"

जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण में 'पान्थ' कविता में संशोधन हुआ है। यह कविता 'दार्शनिक और संन्यासी' शॉपेनहावर को सम्बोधित है। यहाँ कवि मृत्यु से परे किसी प्रकार की परा-चेतना की निरन्तरता की अपेक्षा करता है। यह आत्मा नहीं है, बल्कि एक सातत्य प्रवाह है, जो बौद्ध दर्शन में पंच स्कन्धों को बाँधता है। मजुमदार ने दो काव्य-संग्रह और रचे—*स्मरगरल* (1936) और *हेमन्त गोधूलि* (1941)। सॉनेट छन्दों की एक पुस्तक *चन्द्रचतुर्दशी* (1944) उनकी मृत्यु के बाद का प्रकाशन है। ढाका विश्वविद्यालय में बाङ्ला के प्राध्यापक के रूप में कार्यारम्भ करने के बाद मजुमदार ने शीघ्र ही प्रगतिशील धारा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। इस धारा के क्रिया-कलाप का मुख्य केन्द्र अब, एक समय की पूर्वी बंगाल की राजधानी में जा रहा था। परन्तु वे रवीन्द्रनाथ की ओर नहीं लौटे बल्कि उन्हें पार करके उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों—माइकेल मधुसूदन दत्त और बंकिमचन्द्र चटर्जी की ओर गये। अब उन्होंने काफ़ी संख्या में आलोचनात्मक लेख लिखे, बाद में इन्हें *आधुनिक बाङ्ला साहित्य* (1936), *साहित्य-कथा* (1938), *साहित्य वितान* (1942) आदि पुस्तकों में संगृहीत किया गया।

मजुमदार कविता के सजग और धीर लेखक थे और वे अपनी पदावली के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क थे। यह भी एक कारण है कि उन्होंने कम लिखा।

जतीन्द्रनाथ सेनगुप्त (1887-1954) इंजीनियरिंग के स्नातक थे और ज़िला मुर्शिदाबाद में निरीक्षक इंजीनियर के पद पर थे। वे यदि और पहले से नहीं, तो 1910 से तो काव्य-रचना कर ही रहे थे, पर उनकी पहली काव्य-पुस्तक 1923 से पहले प्रकाशित नहीं हुई। उनकी तीन आरम्भिक पुस्तकें हैं—*मरीचिका* (1923), *मरुशिखा* (1927) और *मरुमाया* (1930)। इन शीर्षकों से, जीवन के प्रति उनके विशिष्ट दृष्टिकोण का संकेत मिलता है। यह रवैया न तो विरोध का है, और न अस्वीकार का। वे जीवन को कुल मिलाकर अच्छा ही समझते हैं, किन्तु वे उसकी निराशाओं, कुण्ठाओं, असफलताओं और पीड़ाओं की सफ़ाई नहीं दे पाते। अतः उनकी कविता की विशेषता एक मद्धिम किन्तु व्यंग्यात्मक विरोध के स्वर में है। सेनगुप्त और मजुमदार के बीच प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट रूप से उनकी 'दुःखेर कवि' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। मजुमदार की कविता बहुत बाद में लिखी गयी थी और सम्भवतः यह दूसरे कवि की कविता का रूपान्तर है। सेनगुप्त कहते हैं :

"सुना है उसने प्रण किया है : 'भाग्य में यदि खरा सोना न हो,
तो बिना गहनों के दिन रोते-रोते भले ही बीतें,
मिलावटी सोने से मुझे दिल नहीं बहलाना है।'

भक्ति और प्रेम क्या है? दण्डभय से श्रीचरणों में मस्तक झुकाना?
मुक्ति क्या है? रस्सी तुड़ाकर, दौड़कर सीधे माँद में घुस जाना?"

मजुमदार का विचार है :

"यदि किसी को झूठे मोह से सचमुच ही सुख मिलता है;
अगर कोई ठण्डे-बासी भात को ही गरम मानकर खाना चाहता है;
अगर गोपाल की पाषाण-पुतली पर ही किसी बंध्या का स्नेह उमड़ पड़ता है,
तो उसके इस सुख को देखकर किसका हृदय नहीं भर आता?
कौन है जो कठोर सत्य का स्मरण करा उसे समझाना चाहेगा?"

एक लम्बे अन्तराल के बाद सेनगुप्त ने दो काव्य-ग्रन्थ और प्रकाशित किए : *सायं* (1940) और *त्रियामा* (1948)। *निशान्तिका* (1957) मृत्यु के बाद का संग्रह है। उनकी एकमात्र गद्य-कृति *काव्य-परिमिति* (1930) में सामान्य रूप से काव्य-शास्त्र का विवेचन किया गया है।

कल्लोल के सह-संस्थापक गोकुलचन्द्र नाग (1895-1925) गवर्नमेंट आर्ट स्कूल के विद्यार्थी थे, पर उन्होंने अपना कोर्स पूरा किये बग़ैर ही स्कूल छोड़ दिया। उनकी कलकत्ता में फूलों की दुकान थी। अपनी आदतों और चरित्र में, और साथ ही व्यवसाय में भी वे कलात्मकता के प्रेमी थे। उन्होंने दिनेशरंजन दास (1888-1941) की सहायता से मई 1923 में मासिक पत्रिका *कल्लोल* का आरम्भ किया। अपने अस्तित्व के सातों वर्षों में यह पत्र बाङ्ला साहित्य में नये प्रगतिशील आन्दोलन का प्रमुख मुखपत्र रहा। जब *कल्लोल* का आरम्भ हुआ, उस समय 'भारती' पत्र मरणासन्न था और *सबुज पत्र* अनियत रूप से चल रहा था। प्रसिद्ध पत्रों में सबसे पुरानी और सबसे नयी पत्रिकाओं का प्रकाशन 1927 वर्ष पूरा होने से पहले अन्ततः बन्द हो गया था। नाग की मृत्यु के बाद *कल्लोल* का संचालन दास करने लगे।

नाग के आरम्भिक प्रयासों में रवीन्द्रनाथ की *लिपिका* के ढंग पर कहानियों की रचना थी। ये *प्रवासी* और *भारती* में तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुईं और *रूपरेखा* (1922) नामक ग्रन्थ में संकलित की गयीं। उनकी कुछ प्रौढ़ कहानियाँ, उनकी मृत्यु के बाद *मायामुकुल* (1927) में संगृहीत हुईं। किन्तु उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है, उनका उपन्यास *पथिक* (1925) जो *कल्लोल* में उसके पहले अंक से ही धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इसकी कहानी बहुत दूर तक सुसम्बद्ध नहीं है, पर इसके जिस रूप में जीवन की झलकियों को बाँधने की कोशिश की गयी है उसने और लेखक की सरल एवं सतर्क शैली ने इसे नयी पद्धति के कथा-साहित्य की पहली रचना और एक पठनीय पुस्तक बना दिया है।

दिनेशरंजन दास ने कुछ कहानियों की रचना की थी, जिनमें से पाँच *माटिर नेशा* (1918) और *भुइं चंम्पा* (1925) नामक पुस्तकों में प्रकाशित हुईं। दास अच्छे शौकिया अभिनेता थे और रंगमंच में उनकी रुचि थी। पत्रिका के समापन के बाद वे व्यवसाय के लिए सिनेमा की ओर चले गये।

मनीन्द्रलाल बसु (ज. 1897) अपेक्षाकृत कम प्रगीतात्मक हैं और उनका झुकाव, निश्चित रूप से *भारती*-मंडल के स्वच्छन्दतावाद की ओर है। उनका पहला उपन्यास *रमला* (1923) सुविधापूर्ण जीवन जीनेवाले सामाजिक वर्ग की एक रोमानी प्रेम-कथा था। इसने कथा-साहित्य के कुछ युवा लेखकों को प्रभावित किया है। बसु ने अपना साहित्यिक जीवन कहानी-लेखक के रूप में शुरू किया, जिससे उन्हें मान्यता मिली। उन्होंने कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित किए : *मायापुरी* (1923), *रक्त कमल* (1924), *सोनार हरिन* (1924), *कल्पलता* (1935), *सहयात्रिणी* (1941) आदि। उनकी अन्य रचनाओं में *अजय कुमार* (1932) और *जीवनायन* (1936) उपन्यास हैं।

शैलजानन्द मुखर्जी (ज. 1900) पश्चिमी बंगाल के एक खान-उद्योग-प्रधान नगर में काज़ी नज़रुल इस्लाम के सहपाठी और सखा थे। मुखर्जी भी बंगाली रेज़ीमेंट में भरती होने के इरादे से अपने मित्र के साथ घर से भाग गये थे। पर उनके अभिभावकों ने उन्हें कलकत्ता में ढूँढ़ लिया और घर वापस ले गये। मेसोपोटेमिया से नज़रुल की वापसी के बाद, मुखर्जी ने अपने मित्र के साथ अपना अबाधित साहित्यिक कार्य फिर आरम्भ कर दिया। स्कूल के दिनों में मुखर्जी की प्रवृत्ति पद्य-रचना की ओर थी, जबकि नज़रुल की दिलचस्पी गद्य में कहानियाँ लिखने में थी। पर उनकी रुचियाँ एकदम से बदल गयीं। मुखर्जी ने कहानियाँ लिखनी आरम्भ कर दीं और नज़रुल ने कविता; और उनके ये आरम्भिक प्रयास *बंगीय मुसलमान साहित्य पत्रिका* 1921 में प्रकाशित हुए। मुखर्जी की शुरू की कहानियाँ *आमेर मंजरी* (1923) नाम की पुस्तक में संगृहीत की गयीं। दो कहानियाँ मुस्लिम पारिवारिक जीवन की अच्छी झलक प्रस्तुत करती हैं। इसके बाद तत्काल दो लम्बी कहानियाँ या लघु उपन्यास सामने आये और ये रचनाएँ, कुछ दूर तक, कलकत्ता में लेखक के आरम्भिक अनुभवों पर आधारित हैं। किन्तु इन अनुभवों का लेखक की 'ध्वंसपथेर यात्रीएरा'-जैसी कुछ बाद की कहानियों में सशक्त और तीव्र प्रयोग किया गया है।

मुखर्जी सुविज्ञ पाठकों के समक्ष, सही अर्थ में पहली बार अपनी उन कहानियों के माध्यम से आये जिनमें उनके अपने नगर के पास कोयले के क्षेत्रों में स्थानीय मज़दूर के जीवन का चित्रण किया गया है। इनमें से आरम्भिक हैं—*प्रवासी* (मार्च 1923) में प्रकाशित 'रेज़िंग रिपोर्ट', उसी पत्रिका में 'बलिदान' (अप्रैल 1923), *कल्लोल* (अप्रैल 1923) में 'माँ' और *कल्लोल* में ही (मई 1923) 'नारीर मन'। इस प्रकार की कहानियाँ *कल्लोल, प्रवासी, बंगवानी* और *बिजली* में 1925 के अन्त तक छपती रहीं। *कयलाकुठि* (1930) और *दिनमजुर* (1932) ग्रन्थों में संगृहीत ये कहानियाँ बाङ्ला साहित्य में युगान्तरकारी घटना हैं। केवल अपने सजीव यथार्थवाद और भयंकर त्रासदी के कारण ही नहीं बल्कि पहली बार आंचलिक कथा-साहित्य के चलन की शुरुआत करने के लिए। मुखर्जी की बाद की कहानियों में भी यह स्तर बना रहा।

कथानक व्यक्तिगत अनुभव या तात्कालिक जानकारी से ग्रहण किये गये हैं और वे ईमानदारी से बिना किसी भावात्मक आरोप के उतार दिये गये हैं। कथानक और उसके कार्यान्वयन के बीच कहीं भी लेखक की किसी चरित्र को काटने की इच्छा बाधक नहीं हुई है। *अतसी* (1925), *नारीमेध* (1928), *वधू-वरण* (1931), *पौष पार्वण* (1931), *सती-असती* (1933), *नारीजन्म* (1934) आदि ग्रन्थों में संगृहीत कहानियों में मुखर्जी की सर्वोत्तम कहानियाँ सम्मिलित हैं। उनके उपन्यास, बल्कि लघु उपन्यास जैसे *माटिर घर* (1923), *झड़ो हावा* (1923), *जोयार-भाटा* (1924), *अनाहूत* (1931), *अनिवार्य* (1931) आदि कुछ निर्बल हैं। किन्तु *सोल-आना* (1925) इस दृष्टि से अपवाद है। यह सामान्य अर्थ में उपन्यास नहीं हैं; इसमें पश्चिमी बंगाल में गाँव के देवता के वार्षिक उत्सव के चारों ओर केन्द्रित जीवन का चित्रण है। एक ऐसा जीवन जो फटेहाल है किन्तु यथार्थपूर्ण और जीवन्त है, और जिसे न चमकाया गया है और न ही अतिरंजित किया गया है।

यथार्थवादी कहानी के लेखक के रूप में जगदीशचन्द्र गुप्त (1886-1957) को सामान्यतः शैलजानन्द मुखर्जी से सम्बद्ध किया जाता है। दोनों लेखकों ने जीवन और अनुभव से ग्रहण किया, किन्तु जहाँ मुखर्जी की कहानियाँ एकदम निर्वैयक्तिक और हल्की-सी भावात्मक हैं, गुप्त उन्हें हल्का-सा रंग देकर उपहास के साथ अनगढ़ रूप में पेश कर देता है। गुप्त ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ गोविन्दचन्द्र दास के अनुकरण पर काव्य-रचना से किया, इनमें से कुछ *अक्षरा* नामक ग्रन्थ में संकलित की गयीं। उन्होंने कविता लिखना कभी नहीं छोड़ा, परन्तु अब ये प्रगीतात्मक कविताएँ नहीं रह गयी थीं। गुप्त की पहली कहानी 'पेइंग गेस्ट' और उसके बाद की कहानियाँ भी सबसे पहले *बिजली* (1925) में छपी थीं। आगामी कहानियाँ *कालि-कलम* (1926), *कल्लोल* और *बंगवानी* में सामने आयीं। उनकी सर्वाधिक विशिष्ट रचनाओं का पहला ग्रन्थ है, *विनोदिनी* (1928)। उन्होंने कहानियों के आठ या नौ ग्रन्थ और लिखे। जैसे, *रूपेर बाहिरे* (1929), *श्रीमती* (1930), *गतिहारा जाह्नवी* (1935), *शशांक कविराजेर स्त्री* (1935), *पाइक श्री मिहिर प्रामाणिक* (1940), *मेघावृत अशनि* (1947) आदि। उन्होंने एक दर्जन लम्बी कहानियाँ या छोटे उपन्यास लिखे, उदाहरण के लिए, 'असाधु सिद्धार्थ' (1929), 'महिषी' (1929), 'दुलालेर दोला' (1931), 'रोमन्थन' (1931) आदि। गुप्त की कहानियाँ निर्मम रूप से यथार्थवादी हैं, प्रायः रुग्ण रूप में कठोर। उनमें से कुछ असामान्य ढंग की मनोविकृतियों का अनुसरण किया गया है और उनमें से कुछ-कुछ ग्रीक त्रासदियों का-सा भीषण भाग्यवाद व्याप्त है। उनकी लम्बी कहानियों या लघु उपन्यासों के कथानक इस प्रकार के निरूपण के योग्य नहीं हैं और कमोबेश प्रचारात्मक हैं। स्वयं लेखक इस बात से हमेशा अनभिज्ञ नहीं होता था। अतः 'दुलालेर दोला' के प्राक्कथन में वह कहता है कि यदि इन कृतियों का

मूल्यांकन कथा-साहित्य के रूप में न करके निबन्धों में किया जाय तो उसे आश्चर्य नहीं होगा।

विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय (1899-1950) लगातार कहानियाँ लिख रहे थे, जो *प्रवासी* में 1922 से छप रही थीं; किन्तु उन्होंने विशेष ध्यान तब तक आकर्षित नहीं किया जब तक नयी आरम्भ हुई पत्रिका *विचित्रा* में उनका पहला उपन्यास *पथेर पांचाली* (1929) प्रकाशित नहीं हो गया। इस पत्रिका के सम्पादक उपेन्द्रनाथ गांगुली (ज. 1881) पुराने भागलपुर मंडल के सदस्य थे, और *राजपथ* (1925) उपन्यास के अतिरिक्त अन्य उपन्यासों और कहानियों के लेखक थे। विभूतिभूषण की यह श्रेष्ठ कलाकृति और इसकी उत्तरकथा *अपराजित* (1932, जो लेखक की अपनी जीवन-कथा पर आधारित है), असाधारण ईमानदारी और भावमयता से लिखी गयी है। परिणामतः किसी भावुक लेखक के मन में एक आत्मीय संवेदना का स्वर उठे बिना नहीं रहता। परन्तु उनका सर्वोत्तम कुछ ऐसी कहानियों में दिखाई पड़ता है, जो उन्होंने पहले लिखी थीं। इनमें 'उमारानी' (पहले 1922 में प्रकाशित) और 'पुइ-माचा' (पहले 1925 में प्रकाशित) का उल्लेख किया जा सकता है। ये और उनकी बाद की कहानियाँ एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों में संकलित हैं, जैसे *मेघमल्लार* (1931), *मौरी फुल* (1932), *जात्रा बदल* (1943) आदि। बंद्योपाध्याय के उपन्यासों की संख्या काफ़ी है। जिनका उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त इनमें निम्नलिखित रचनाएँ भी शामिल हैं : *दृष्टि प्रदीप* (1935), *आरण्यक* (1938), *आदर्श हिन्दू होटल* (1940), *विपिनेर संसार* (1941), *देवयान* (1944), *इच्छामती* (1949) आदि। बंद्योपाध्याय वनस्पति के प्रेमी थे। उन्हें पठार और वन्य प्रदेश अच्छे लगते थे, और यह प्रेम *आरण्यक* में पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है। उनका स्वभाव रोमाण्टिक और प्रगीतात्मक था और तंत्र-मंत्र एवं अध्यात्म के प्रति उनका निश्चित झुकाव था। यह बात उनके कुछ पिछले उपन्यासों में देखी जा सकती है।

विभूतिभूषण मुखोपाध्याय (ज. 1896) ने अपनी सबसे आरम्भिक कहानियों में से एक को 1923 में *प्रवासी* में प्रकाशित कराया। उसके उपरान्त उनकी कहानियाँ विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं और इनका संकलन अनेक ग्रन्थों में किया गया है, जैसे *राणुर* प्रथम भाग (1937), *राणुर* द्वितीय भाग (1938), *राणुर कथामाला* (1941), *हाटे खड़ि* (1947) आदि। मुखोपाध्याय ने कुछ उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। उनकी कहानियाँ हल्के-फुल्के और विनोदपूर्ण ढंग से लिखी गयी हैं और काफ़ी लोकप्रिय हैं।

रवीन्द्रनाथ मित्र ने (1896-1933), जिन्हें अपने जीवन-काल में उपनाम 'दिवाकर शर्मा' से जाना जाता था, सफलतापूर्वक ऐसी कहानी का संवर्धन किया जो आकार में बहुत छोटी होते हुए भी प्रगीतात्मक या 'गद्य काव्य-पद्धति' की कहानी नहीं थी। उसमें स्पष्ट रूप से वास्तविक जीवन के चित्र दिखाई पड़ते थे। उनकी पहली और

सर्वोत्तम कहानियों में से एक कहानी 'थर्ड क्लास' *बिजली* (1925) में प्रकाशित हुई थी। इसमें यात्रियों से खचाखच भरे तीसरी श्रेणी के एक डिब्बे में रेल-यात्रा की झलकी है। उनकी कहानियाँ सात पुस्तकों में संकलित हैं : *थर्ड क्लास* (1928), *वास्तविकता* (1931), *उदासीर माठ* (1931), *दिवाकरी* (1931), *त्रिलोचन कविराज* (1933) आदि। उनका प्रहसन-नाटक *मानमयी गर्ल्स स्कूल* (1932) शौकिया रंगमंच पर लम्बे समय तक लोकप्रिय रहा।

केदारनाथ बनर्जी (1863-1949) रवीन्द्रनाथ के *बालक* (1885) के लेखक थे, परन्तु उन्होंने बीस वर्ष से भी अधिक समय के लिए लिखना बन्द कर दिया। वे सरकारी नौकरी करते थे और उत्तर भारत में विभिन्न स्थानों पर उनकी नियुक्ति हुई थी। उन्हें चीन भेजा गया था और उनकी इस यात्रा के फलस्वरूप वे लेख रचे गये जो पहले-पहल *भारती* में (1903-04) एक प्रवासी के पत्रों के रूप में छपे थे और काफ़ी बाद में वे *चीनयात्री* (1918) शीर्षक से एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए; किन्तु उनकी पहली पुस्तक बनारस के सामान्य जीवन पर रचित एक हास्य कविता है : 'काशीर किंचित्' (1915)। कहानी लेखक के रूप में बनर्जी पहले-पहल *कालि कलम* (1926) में अपनी कहानी 'कबलुटि' के माध्यम से सामने आये। बाद में वे नियमित रूप से *भारतवर्ष* में लिखने लगे। बनर्जी कहानियाँ हल्के-फुल्के ढंग से लिखते थे और यही बात उन्हें सामान्य पाठकों में लोकप्रिय बनाती थी। उनकी शैली पिछली पीढ़ी की कलकतिया बोली पर आधारित है, किन्तु कुछ भंगिमाओं के बावजूद यह शैली सहज और सुखद है। उनके उपन्यास कमोबेश सुखद वार्तालाप और गपबाज़ी की दीर्घ शृंखला के समान हैं। उदाहरण के लिए : 'कोष्ठीर फलाफल' (1929), 'भादुड़ी मशाय' (1931), 'आइ हैज़' (1935) आदि। उनकी कहानियों का कहीं अधिक स्थायी मूल्य है। वे कई पुस्तकों में संकलित हैं, जैसे *आमरा कि ओ के* (1927), *कबलुटि* (1928), *पाथेय* (1930), *दुःखेर देआलि* (1932) आदि।

राजशेखर बसु (1880-1960) बाङ्ला में हास्यकथा के सर्वोत्तम लेखकों में से थे; और उनकी तुलना अंग्रेज़ी लेखक जेरोम के. जेरोम से की जा सकती है। बसु की कहानियों को जतीन्द्रकुमार सेन ने स्याही और क़लम से सचित्र बनाया है। सेन के क़लम और स्याही चित्रांकन और पार्श्वचित्र प्रभातकुमार मुखर्जी द्वारा सम्पादित *मानसी ओ मर्मवाणी* का प्रमुख आकर्षण थे। सेन के इन्हीं चित्रांकनों ने किसी-न-किसी रूप में बसु को कहानियाँ लिखने के लिए प्रेरित किया था। इनमें से कुछ आरम्भिक कहानियाँ *भारतवर्ष* में प्रकाशित हुई थीं और जैसे ही पहली कहानी 'विरिंचि बाबा' प्रकाशित हुई, इस अनाम लेखक की सफलता निश्चित हो गयी। उत्तरोत्तर रचित कहानियों (सभी उनके छद्मनाम 'परशुराम' से प्रकाशित) ने उनके यश में वृद्धि की और अब वे बाङ्ला के सर्वोत्तम लेखकों में माने जाते हैं। हमारे मध्यवर्गीय समाज में जो कुछ छिछोरपन और पाखण्ड है, बसु उस सबका उपहास उड़ाते हैं, किन्तु यह

उपहास किसी को चोट नहीं पहुँचाता, सबका मनोरंजन करता है। बसु ने हास्य-कथाओं के कई ग्रन्थ प्रकाशित किए, जैसे *गड्डलिका* (1925), *कज्जली* (1927), *हनुमानेर स्वप्न* (1937), *कृष्णकलि* (1953) आदि। बसु ने कुछ वैचारिक निबन्ध भी लिखे हैं, जो *लघुगुरु* (1939), *बिचिन्ता* (1956) आदि में संकलित हैं।

प्रबोधकुमार सान्याल (ज. 1907) ने अपनी एक आरम्भिक कहानी 'कल्लोल' (1924) में प्रकाशित की। कुछ ही महीनों में वे शैलजानन्द मुखर्जी, प्रेमेन्द्र मित्र और मुरलीधर बसु द्वारा प्रवर्त्तित *कालि-कलम* (1926) के प्रमुख लेखकों में उभरकर आये। ये कहानियाँ या रेखाचित्र *निशिपद्म* (1931) शीर्षक पुस्तक में संकलित हैं। किन्तु उनकी पहली पुस्तक *जाजावर* (1928) शीर्षक उपन्यास थी। इसके उपरान्त उन्होंने *काजललता* (1931), *कलरव* (1932) आदि की रचना की। सान्याल अपने यात्रा-वृत्तान्तों में विशेष उल्लसित दिखाई पड़ते हैं; इनमें *महाप्रस्थानेर पथे* (1933) विशेष उल्लेखनीय है। सान्याल साफ़-सुथरी और सहज शैली में लिखते हैं, जिसका अपना आकर्षण है। अपनी कहानियों और उपन्यासों में वे एक ऐसे धीर प्रेक्षक के रूप में दिखाई पड़ते हैं जिसकी दृष्टि से कुछ नहीं बचता।

प्रेमेन्द्र मित्र, अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त और बुद्धदेव बसु ने अपने साहित्यिक जीवन के पहले दौर में एक ऐसी त्रयी का निर्माण किया, जो नये 'प्रगतिशील' वर्ग के निन्दकों द्वारा बदनाम कर दिया गया। उन लोगों के बीच एक विशेषता सामान्य है: उन्होंने जब साहित्य-रचना आरम्भ की, तब उन्होंने गद्य और पद्य दोनों के लेखन में बराबर दक्षता का परिचय दिया और सेनगुप्त को छोड़कर, बाक़ी लोग और भी अधिक दक्षता से रचना करते रहे हैं। इस त्रयी ने दो उपन्यासों की रचना करने के लिए सहयोगी प्रयास भी किया।

प्रेमेन्द्र मित्र (ज. 1904) दो वर्ष तक (1926-28) *कालि-कलम* के सम्पादक-मंडल के सदस्य थे। इसी पत्रिका में उनकी कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। इससे पहले वे *प्रवासी* में लिख रहे थे। पर मुख्य रूप से उन्होंने साप्ताहिक *बिजली* में और बाद में अजित दत्त और बुद्धदेव बसु द्वारा सम्पादित तथा ढाका से प्रकाशित *प्रगति* में भी लिखा। उनकी सबसे पहली रचना *पाँक* (कीचड़, 1927) नाम का लघु उपन्यास था, जिसमें कलकत्ता की गन्दी बस्तियों में रहनेवाले लोगों के घरेलू जीवन का वर्णन किया गया है, *बिजली* में (1925) धारावाहिक प्रकाशित होना आरम्भ हुआ, और फिर *कालि-कलम* (1926) में जारी रखा गया। *पाँक* ने उनके लिए अपयश अर्जित किया, किन्तु उसके बाद की रचनाओं से उन्हें समुचित यश मिला। उनकी कहानियाँ कई पुस्तकों में संकलित हैं, जैसे *पंचशर* (1929), *बेनामी बन्दर* (1930), *मृत्तिका* (1932) आदि।

मित्र की ख्याति कवि के रूप में अधिक है और सही है। आरम्भ से ही उनकी कविताओं में एक सादगी और प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है, जिससे उनके अधिकांश

समसामयिक वंचित हैं। जीवन में विपत्तियाँ और असफलताएँ उन्हें बहुत प्रभावित करती थीं; विशेषकर उन अभागे और वंचित लोगों की, जो धनवानों और भाग्यवानों की खुशहाली के लिए, बिना पर्याप्त पारिश्रमिक पाए कड़ी मेहनत करते हैं। परन्तु न वे कभी दुर्भावपूर्ण होते हैं, न क्रुद्ध; और न ही अपनी निन्दा में मुखर होते हैं। अपने कुछ अन्य सहयोगियों की तरह यौन का उनके लिए कभी अभिभूत करनेवाला महत्त्व नहीं रहा। वस्तुतः किसी और बात से अधिक यह स्वस्थ जीवनानन्द की अनुभूति थी, जिसने कवि के हृदय को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह अपने-आपको उन लाखों लोगों के समान अनुभव करे, जो घृणित रूप से कठोर श्रम करते हैं। 'पाओंदल' कविता (सबसे पहले 1925 में प्रकाशित) में वे कहते हैं :

"कौन है, जिसके पाँव पालकियों पर चढ़-चढ़कर पंगु हो गये हैं?
आज इन नग्न, सजल पाँवों के साथ तुम भी क़दम मिलाकर चलो।
लोगों के सिरों पर चल-चलकर जिसके पाँव से पाप भारी हो गये हैं,
उस पुण्यपथ की माटी पर वह भार उतार दो।"

मज़दूरों के प्रति प्रेम का यह दौर देखते-देखते गुज़र गया और मित्र की कविता सौम्य और प्रगीतात्मक हो गयी और उस पर भौगोलिक दृष्टि से असीम प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वप्निल दृश्य व्याप्त हो गया।

मित्र ने अब तक चार काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं, जो कुछ छोटे हैं : *प्रथमा* (1932), *सम्राट्* (1940), *फेरारी फ़ौज* (1948) और *सागर थेके फेरा* (सागर से वापसी, 1956)। उनके निबन्धों की एक-मात्र पुस्तक है, *वृष्टि एलो* (1954)। मित्र ने बच्चों के लिए भी कहानियाँ लिखी हैं।

अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त (ज. 1903-1976) गद्य की तुलना में काव्य-रचना में अधिक सहज हैं। उनकी पहली महत्त्वपूर्ण कविता 'अमावस्या' (1930) एक आह्लादजनक रचना है। उनमें सहज प्रवाह और आवेग है, जो अक्सर पाठक को काज़ी नज़रुल इस्लाम की याद दिलाता है। उन्होंने कविता की तीन पुस्तकें और लिखीं : *आमरा* (1935), *प्रिया ओ पृथ्वी* (1936) और *नील आकाश* (1950)। सेनगुप्त का पहला उपन्यास (और पुस्तक) 'बेदे' (बनजारा, 1928) सीधे नट हैम्सन के *हंगर* से प्रभावित है। यह पहले *कल्लोल* में (1926-27) धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इसके बाद हैम्सन के *पैन* का अनुवाद *टुटा फुटा* (1929) प्रकाशित हुआ। *टुटा फुटा* छह कहानियों का संकलन है, जो पहले अलग-अलग पत्रिकाओं में छपी थीं। इसके बाद सेनगुप्त ने उपन्यासों और लम्बी कहानियों के तीस से अधिक और छोटी कहानियों के बीस से अधिक ग्रन्थ लिखे। उनके उपन्यासों में, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं : *आकस्मिक* (1930), *विवाहेर चेये बड़ो* (1931), *प्राचीर ओ प्रान्तर* (1932), *ऊर्णनाभ* (मकड़ी, 1933), *इन्द्राणी* (1933), *तुमि आर आमि* (1934) आदि। उनकी कहानी की पुस्तकों में से

निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है : *इति* (1932), *रुद्रेर आविर्भाव* (1934), *डबल डेकर* (1938), *जतन बिबि* (1944), *काठ-खाड़-केरोसिन* (1945), *हाड़ी मुचि डोम* (1948) आदि।

अपने लगभग सभी अन्य समसामयिक लेखकों की तरह सेनगुप्त भी उपन्यास की अपेक्षा कहानी-रचना में अधिक सहज हैं। उनके आरम्भिक उपन्यास और कहानियाँ एक समय सामान्य पाठक को ग्राह्य नहीं थीं, क्योंकि वे विषय-वस्तु और उसके निरूपण—दोनों में शास्त्र-विरोधी प्रतीत होते थे। शैली प्रायः आरोपित है और प्रसन्न नहीं दीखती। सेनगुप्त और उनके मंडल के विशिष्ट कथा-साहित्य के विरुद्ध सामान्य पाठक की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हुई कि सरकार को उनके दो उपन्यासों—*विवाहेर चेये बड़ो* और *प्राचीर ओ प्रान्तर* तथा बुद्धदेव बसु की एक कहानी-पुस्तक (*एरा ओरा एवं आरो अनेके*) को अश्लीलता के कारण अवैध क़रार देने की कार्यवाही के लिए प्रेरित किया गया। सेनगुप्त प्रदेश के अनेक ग्रामीण और नागरिक शहरों में सरकारी न्यायिक अधिकारी नियुक्त हुए। इस हैसियत से मानव और उसके व्यवहार के बारे में उनके समृद्ध अनुभव पर उनकी पिछली कहानियाँ सामान्यतः आधारित हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आख़िरी दौर में सेनगुप्त ने भक्तिपरक साहित्य के अलंकरण की ओर ध्यान दिया। रामकृष्ण परमहंस के जीवन और उपदेशों पर उनकी पुस्तक बहुत अधिक लोकप्रिय हुई।

बुद्धदेव बसु (ज. 1908) लेखक के रूप में सामने आने से पहले ढाका (जहाँ जिन्होंने शिक्षा पायी थी) से प्रकाशित होनेवाली एक ऐसी पत्रिका के सह-सम्पादक के रूप में सामने आये, जो युवा लेखकों के प्रगतिशील वर्ग के प्रयासों का समर्थन कर रही थी। यह पत्रिका *प्रगति* थी, जिसे अत्यन्त मुखर विरोधी वर्ग ने बदनाम कर दिया था। पत्रिका दो वर्ष और कुछ महीने तक प्रकाशित हुई। प्रेमेन्द्र मित्र की तरह बसु की गति गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से सहज थी, यद्यपि आरम्भ से ही उनका काव्य गद्य की तुलना में अधिक प्रौढ़ था। (ऐसी उनकी गद्य शैली में सायास अंग्रेज़ी-करण के कारण हुआ)। आरम्भिक रचनाओं में बसु की निष्ठा डी. एच. लॉरेन्स के प्रति दिखाई पड़ती है। ढाका से प्रकाशित (1925) उनकी पहली कविता-पुस्तक *मर्मवाणी* एकदम विस्मृत कृति है। अगली रचना *बन्दीर वन्दना* (1930) में भावुक-उत्कट प्रेम की ग्यारह कविताएँ हैं। दृष्टिकोण और प्रस्तुतीकरण—दोनों दृष्टियों से, बसु ने इन कविताओं में परम्परा से विच्छेद करने का प्रयत्न किया, और उन्होंने अपनी ओर से लय से बचने की पूरी कोशिश की। रवीन्द्रनाथ से भिन्न ढंग की रचना का अपनी ओर से पूरा प्रयास करने के बावजूद वे रवीन्द्रनाथ से नहीं बच सके। उनकी अनेक पुस्तकों (उपन्यासों और कहानियों) के शीर्षक रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों या वाक्यांशों से दिये गये हैं। कुछ कविताएँ पाठक को रवीन्द्रनाथ के उपन्यास *शेषेर कविता* का लगातार स्मरण दिलाती हैं। बसु की कविता से असंगति और किशोर-सुलभ भावप्रवणता शीघ्र

विदा हो गई और बहुत समय तक वह प्रौढ़ता से वंचित नहीं रही। उनकी पिछली काव्य-रचनाओं में बहुत अच्छी कविता मिलती है, जैसे *पृथिवीर पथे* (1933), *कंकावती* (1937), *दमयन्ती* (1943), *द्रौपदीर साड़ी* (1948) आदि में।

बसु की गद्य-रचनाओं में उपन्यास, कहानियाँ और साहित्यिक एवं व्यक्तिगत निबन्ध शामिल हैं। इन सबमें सतर्क लेखन-शैली का प्रमाण मिलता है। कथा-साहित्य में बसु पूरी तरह अन्तर्दर्शी हैं; उनके नायक हमेशा अपने विचारों में उलझे रहते हैं और अपने स्रष्टा के व्यक्तित्व पर निर्भर रहते हैं। न तो इनमें कार्य-व्यापार है और न ही विशेष वैविध्य है। इसीलिए उनके वर्णनों की उत्कृष्टता के बावजूद, बसु का कथा-साहित्य सामान्यतः दुर्वल दिखाई पड़ता है। उनके पहले उपन्यास *साड़ा* ने (1930) विरोधियों के खेमे में जोश उभार दिया, यद्यपि उसमें ऐसा कुछ नहीं था जिससे कोई संकोची पाठक भी अप्रसन्न हो सकता था। उनके अन्य उपन्यासों में, जिनकी संख्या लगभग चालीस से भी अधिक है, निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है : *अकर्मण्य* (1931), *आमार बन्धु* (1933), *जेदिन फुटला कमल* (1933), *धूसर गोधूलि* (1933), *परस्पर* (1934), *कालो हावा* (1942), *तिथिडोर* (1949) आदि। कहानी में बसु की सफलता निर्विवाद है। अन्तर्दर्शी भावस्थिति ने उनकी कहानियों की गति को धीमा नहीं किया, बल्कि उन्हें एक दीप्ति प्रदान की है। वे कई पुस्तकों में संकलित हैं, जैसे *रेखाचित्र* (1931), *अभिनय अभिनय नय* (1930), *एरा ओरा एवं आरो अनेक* (ये, वो और अन्य कई, 1932) *मिसेज़ गुप्त* (1934), *घरेते भ्रमेर एलो गुनगुनिये* (भ्रमर गुनगुन करता कमरे में आ गया 1935), *फेरिवाला* (1940) आदि।

लेखकों के नये वर्ग के नेता के रूप में बसु ने हमेशा वादी और प्रतिवादी दोनों की दुहरी भूमिका निभाई। उन युवा लेखकों के लापरवाह नेता के रूप में, जिन्होंने साहित्य में परम्परा की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया, बसु परम्परावादी वर्ग के आक्रमणशील समर्थकों के आक्रमण का मुख्य लक्ष्य रहे। बसु और उनके मित्रों ने केवल बुरा-भला कहकर प्रतिकार नहीं किया, वे अपने चुने हुए मार्ग पर बराबर चलते रहे, किन्तु बसु ने कुछ और भी किया। पहले *प्रगति* के सह-सम्पादक के रूप में और फिर *कविता* (1935) के संस्थापक-सम्पादक के रूप में, ऐसे निबन्ध और पुस्तक-समीक्षाएँ लिखीं, जिनसे नयी कविता का दृढ़तापूर्वक सशक्त पक्ष-समर्थन हुआ। यह त्रैमासिक नयी कविता के प्रति समर्पित था। इसमें आश्चर्य नहीं कि बसु इस लड़ाई को शत्रु की भूमि पर ले गये; कुछ प्राचीन साहित्यकारों की कृतियों के बारे में स्वीकृत निर्णयों की मान्यताओं को उन्होंने गम्भीर रूप से चुनौती दी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जीवनानन्द दास-जैसे व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण कवि को बहुत दूर तक बसु के आग्रह के कारण मान्यता मिली। बसु के इस प्रकार के और दूसरे निबन्ध भी निम्नलिखित ग्रन्थों में संकलित हैं : *उत्तरतिरिश* (तीस के ऊपर, 1945), *कालेर पुतुल*

(समय की पुतलियाँ, 1946) और *साहित्य-चर्चा* (1954)। उनकी अन्य गद्य-रचनाओं में यात्रा और संस्मरणों पर चार ग्रन्थ हैं : *आमि चंचल हे* (1936), *समुद्रतीर* (1937) और *सब पेयेछिर देश*। नाटकीय कविताओं के साथ बसु किशोरों के लिए भी लिखते रहे हैं।

अजित दत्त (ज. 1907) *प्रगति* के सह-सम्पादक थे। उन्होंने अपनी पहली काव्य-पुस्तक *कुसुमेर मास* 1930 में प्रकाशित की। यह उनके सहयोगी की *बन्दीर वन्दना* के प्रकाशन का वर्ष था। उनके उपरान्त उन्होंने चार और ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं : *पाताल कन्या* (1938), *नष्ट चाँद* (1945) और *पुनर्नवा* (1947)। दत्त ने बहुत गद्य नहीं लिखा। *जनान्तिके* (1949) वैयक्तिक निबन्धों की अत्यन्त आह्लादजन्य रचना है। उनके छद्मनाम 'रैवत' से प्रकाशित कृति *मनपवनेर नावो* (1937) की भी यही स्थिति है।

दत्त मूलतः कवि हैं। उनकी कविता में वह स्निग्ध, कोमल और सुखद अन्तर्धारा है जो भद्र भाव से उत्पन्न होती है। उनकी कविताओं की पदावली यथासम्भव सहज और सरल है। साथ ही वह सहज और स्थिर है। पाठक को चौंकाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

जीवनानन्द दास (1899-1954) नयी धारा के कवियों में यदि सबसे अधिक व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण नहीं, तो सबसे अधिक शास्त्रविरोधी और मौलिक कवि अवश्य हैं। दास का पालन-पोषण बरिसाल में हुआ था। वहीं उनकी स्कूल की और आरम्भिक कॉलेज-शिक्षा भी हुई थी। उन्होंने विश्वविद्यालय-शिक्षा कलकत्ता में पूरी की। छन्द-रचना के उनके आरम्भिक प्रयास शास्त्रीय पद्धति के अनुसार किये गये थे और उनकी आरम्भ की कविताओं में सत्येन्द्रनाथ दत्त और काज़ी नज़रुल इस्लाम की पद्धति का अनुसरण किया गया है। उनकी आरम्भिक कविताएँ, जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, *झरा पालक* (1928) शीर्षक संग्रह में संकलित की गयीं। इसके प्रकाशन से कुछ समय पहले वे 'नयी कविता' में प्रयोग कर रहे थे। पुस्तक के प्रकाशन के बाद उन्होंने इसी को अपना नया रास्ता समझा और एकाग्रचित्त से अपने-आपको इसे समर्पित कर दिया। उनकी कविताओं का, जो प्रायः प्रबल रूप से नयी और अनगढ़ हैं, विरोधी पक्ष के लोगों ने उपहास उड़ाया और उनके विद्रूप चित्र बनाए। इसका कवि के भावुक मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि वह स्वभाव से अन्तर्दर्शी, संकोची और एकाकी था। जब उनकी कविता के दुर्भावपूर्ण विद्रूप चित्रों ने कॉलेज के अधिकारियों को उनसे रुष्ट कर दिया और जिस समय उनकी नौकरी छूटी उस समय ये कलकत्ता कॉलेज में अंग्रेज़ी के कनिष्ठ प्राध्यापक थे। उन्होंने एक वर्ष के लिए दिल्ली के एक कॉलेज में काम किया और बेकारी के एक लम्बे दौर के बाद वे कॉलेज में अध्यापक होकर अपने शहर में वापस लौट गये और वहाँ तब तक (1948) रहे, जब तक राजनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें पूर्वी बंगाल छोड़कर कलकत्ता

लौट आने के लिए बाध्य नहीं कर दिया। अपनी मृत्यु के समय वे कलकत्ता के एक उपनगरीय कॉलेज में अध्यापक थे।

'नयी कविता' की दिशा में दास के आकस्मिक और दृढ़तापूर्वक परिवर्तन का कारण अज्ञात है। पर इस बात का निरापद रूप से अनुमान किया जा सकता है कि यह एज़रा पाउण्ड और टी. एस. एलियट के काव्य की प्रेरणा थी, जिसका उन्हीं दिनों अंग्रेज़ी-भाषी संसार में फ़ैशन हो रहा था। एलियट और बिम्बवादियों के अनुसार किसी सर्जक कलाकार को कविता-जैसे कलात्मक सृजन की प्रक्रिया के लिए ज्ञात और सरल मार्ग की तलाश नहीं करनी चाहिए; लेखक और पाठक दोनों के लिए, इस दृष्टि से कल्पना का श्रमसाध्य कार्य अपेक्षित है; इसलिए 'नयी कविता' में भाषा अनिवार्यतः प्रतीकात्मक होती है और अभिव्यंजना गूढ़। वे यह भी मानते हैं कि आधुनिक कविता का सम्बन्ध मानवीय ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र से होता है—ऐतिहासिक और वैज्ञानिक, यहाँ तक कि अवचेतन और असंगत संज्ञान से भी। उनका विश्वास है कि खंडित प्रभावों के संकेतन और कटे बिम्बों से भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। अर्थात् अलंकारों, अनुप्रासों, लय या इसी प्रकार के अन्य पिछड़े साधनों की तुलना में, जो केवल लफ्फ़ाज़ कवियों की युक्तियाँ हैं, कवि की अनुभूति और भावदशा को पाठक के मानस तक अधिक सटीक रूप में पहुँचाया जा सकता है। दास ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया और तदनुसार अपनी काव्य-रचना की। उनकी पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक *धूसर पाण्डुलिपि* (1936) की सत्रह कविताओं में से अनेक *प्रगति* में प्रकाशित हुई थीं (1927-30); और बाक़ी *कल्लोल* एवं अन्य पत्रिकाओं में। उनकी अन्य काव्य-पुस्तकें हैं; *बनलता सेन* (1942), *परिवर्धित* (1952), *महापृथिवी* और *सातटि तारार तिमिर* (सात तारों का अन्धकार, *1948*)। उनके *श्रेष्ठ कविता* नामक संकलन में वे कविताएँ भी हैं, जो अन्य ग्रन्थों में नहीं हैं। दास ने हाल में गद्य लिखने का प्रयास भी किया, किन्तु एक या दो अपवादों को छोड़कर, उनके साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्ध प्रारूप-भर होकर रह गये और लेखक को उन्हें अन्तिम रूप देने का समय नहीं मिला। अब ये *कवितार कथा* (1956) नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो गये हैं। इन निबन्धों में दास ने नयी बाङ्ला कविता का समर्थन करने का प्रयास किया है। रवीन्द्रनाथ की तुलना में कवियों की नयी शाखा का मूल्यांकन करते हुए दास का कहना है :

> "रवीन्द्रोत्तर काल *कल्लोल* के प्रकाशन से आरम्भ हुआ...इस काल में कोई अकेला रवीन्द्रनाथ नहीं है किन्तु यहाँ कुछ ऐसे कवि विद्यमान हैं, जिन्होंने एक दूसरे रवीन्द्रनाथ की आवश्यकता को नष्ट कर दिया है।"

'हाय चील' कविता का निम्नलिखित उद्धरण जीवनानन्द दास की कविता का उदाहरण है :

"हाय चील, सुनहले डैनों वाली चील, इस भीगी,
मेघावृत दोपहरी में धानसिरी नदी के आस-पास उड़-उड़कर
तुम अब और रोना मत!
तुम्हारा रुदन-स्वर सुन बेंत के फूलों-जैसी उसकी म्लान आँखें याद आती हैं।
पृथ्वी सुन्दरी राजकन्याओं की तरह
वह जो अपना रूप लेकर सुदूर चली गयी है,
उसे फिर क्यों बुला लाती हो?
हाय, कौन है, जिसे हृदय खोदकर वेदना जगाना अच्छा लगता है!
हाय चील, सुनहले डैनों वाली चील, इस भीगी मेघावृत्त दोपहरी में
धानसिरी नदी के पास
उड़-उड़कर तुम अब और रोना मत!"

विष्णु दे (ज. 1909) भी अंग्रेज़ी के एक अवकाश-प्राप्त कालेज-प्रोफ़ेसर हैं और उन्होंने भी *प्रगति* से प्रारम्भ किया। उनकी काव्य-पुस्तकें आधी दर्ज़न से अधिक हैं जिनमें *उर्वशी ओ आर्टेमिस* (1933), *चोराबाली* (1937), *पूर्वलेख* (1941), *संद्वीपेर चर* (1947), *अन्विष्ट* (अभीष्ट, 1950) और *नाम रेखेछि कोमल गान्धार* (मैंने उसका नाम कोमल गान्धार रखा है, 1953) हैं। अन्तिम शीर्षक रवीन्द्रनाथ से लिया गया है। दे अध्यवसायी लेखक हैं और अपनी कुछ आरम्भिक कविताओं में उन्होंने एलियट के अनुकरण पर, सायास क्लासिकी यूरोपीय साहित्य के अपरिचित और पांडित्यधर्मी प्रसंगों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। उनकी पहली काव्य-पुस्तक से इसका संकेत मिलता है। वे सहजता से बचते हैं और अपनी कविता को अपरिचित सन्दर्भों और कोशगत शब्दों के अंतःक्षेपण से विषम और दुबोध्य बनाते हैं। वे एक सीमा तक अपनी कविता को सामान्य शिक्षित व्यक्ति के लिए दुर्बोध बनाने में एलियट का अनुसरण करते हैं। वे गद्य भी लिखते हैं, परन्तु कभी-कभी। उन्होंने कुछ निबन्ध-पुस्तकों की रचना की है जिनमें *रुचि ओ प्रगति* और *साहित्येर भविष्यत्* (1952) शामिल हैं। उन्होंने एलियट की कुछ कविताओं का अनुवाद किया है।

प्रगति का उसके तीसरे वर्ष समापन हो गया और जब सुधीन्द्रनाथ दत्त (1901-60) ने 1931 में *परिचय* आरम्भ किया, तब तक *कल्लोल* भी मृतप्राय हो चुका था। यह नये परिवेश में मानो *सबुजपत्र* का पुनः आविर्भाव था। *परिचय* का लक्ष्य समसामयिक साहित्यिक चिन्तन और पश्चिम की कृतियों के परिचय से साहित्य में नयी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना था। उसने प्राचीनों के प्रति नयी शाखा के लेखकों के उग्र रवैये में भी संशोधन करने का प्रयास किया। दत्त ने 1929 या उसके आस-पास एक काव्य-पुस्तक प्रकाशित की थी, जो लम्बे समय से अप्राप्य है। उनकी पहली महत्त्वपूर्ण कविता 'आर्केस्ट्रा' *परिचय* में प्रकाशित हुई (1932)। उसके बाद दत्त की चार कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं : *आर्केस्ट्रा* (1935), *क्रन्दसी* (1937),

उत्तरफाल्गुनी (1940) और *संवर्त* (1953)। उनके साहित्यिक निबन्ध *स्वगत* (1948) में संकलित हैं। काव्य के चलताऊ निर्बाध पथ पर चलते हुए दत्त अपने काव्य को समाप्त करने के लिए तैयार नहीं थे; वे अक्सर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे, जो संस्कृत कोशों के बाहर नहीं मिलते। दत्त का काव्य भी कठिन है किन्तु उसी रूप में नहीं, जिस रूप में दे का काव्य। दत्त का गद्य भी समान रूप से कठिन है।

समर सेन (ज. 1916) काव्य की नयी शाखा के सबसे युवा कवि थे। वे नगर के निम्न मध्यवर्गीय जीवन के निरावेग और आशान्वित दृष्टिकोण को कुछ दूर तक पकड़ पाने में सफल हो गये थे। उनका रुख़ व्यंग्यात्मक है और कटुता कुछ-कुछ अकालपक्व। सेन की कविताएँ चार छोटी पुस्तकों में संकलित हैं : *कयेकटि कविता* (कुछ कविताएँ, 1937), *ग्रहण* (1940), *नाना कथा* (कई बातें, 1942) और *तिनपुरुष* (1944)।

हुमायूँ कबीर (1904-68) कविता की दो लोकप्रिय पुस्तकों के लेखक हैं : *स्वप्नसाध* (1927) और *साथी* (1932)। कबीर की ख्याति विद्वान् शिक्षक और प्रशासक के रूप में हुई परन्तु उन्होंने साहित्य से सम्पर्क बनाए रखा। वे त्रैमासिक *चतुरंग* (1937) के सम्पादक थे, जो पिछले तमाम वर्षों में उच्च स्तर बनाए रखने में सफल रहा। अब दिलीप गुप्त *चतुरंग* के सम्पादक हैं।

अन्नदाशंकर राय (ज. 1904) की शिक्षा उड़ीसा और बिहार में हुई थी। वे ओड़िया भी उतनी ही अच्छी तरह जानते हैं जितना अपनी मातृभाषा, और उन्होंने इस भाषा में कुछ काव्य और गद्य-रचनाएँ की हैं। राय गद्य और पद्य दोनों में लिखते हैं, किन्तु गद्य विशेष रूप से। उनकी काव्य-पुस्तकों में निम्नलिखित हैं : *राखी* (1929), *एकटि वसन्त* (1932), *कालेर शासन* (1933) और *कामना पंचविंशति* (1934)। *उड़की धानेर मुर्की* (1942) तुकबन्दियों, कविताओं और वीर गीतों की पुस्तक है। राय ने साहित्यिक, जीवनीपरक और वैयक्तिक निबन्धों की कई पुस्तकें लिखी हैं। ये ग्रन्थ हैं : *तारुण्य* (1928), *आमरा* (1937), *जीवन-शिल्पी* (1941), *इशारा* (1943), *बिनुरबाइ* (1944), *जीवनकाठि* (1949), *प्रत्यय* (1951) आदि। *पथे प्रवासे* (1931) में लेखक की उस समय की यूरोप यात्राओं का वर्णन है, जब वे वहाँ भारतीय नागरिक सेवा के लिए प्रशिक्षण पा रहे थे। ये पहले *विचित्रा* में धारावाहिक प्रकाशित हुए और इनसे उस समय तक काफ़ी अज्ञात लेखक ने ख्याति अर्जित की। *यूरोपेर चिठि* (1943) इसी प्रकार की एक और रचना है, जो किशोरों के लिए लिखी गयी है।

राय ने लघु कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं। उनकी कहानियाँ *प्रकृतिर परिहास* (1934), *मन पवन* (1946), *जोवनज्वाला* (1950) और *कामिनी कंचन* (1954) में मिलती हैं। उनके छह उपन्यास *सत्यासत्य* शीर्षक कथा का सूत्र वहन करते हुए षट्कोण का निर्माण करते हैं। इनमें *यार येथादेश* (1932), *अज्ञातवास* (1933), *कलंकवती* (1934), *दुःख-मोचन* (1936), *मर्तेर स्वर्ग* (पृथ्वी पर स्वर्ग,

1940) और *अपसरण* (1942) शामिल हैं। अन्य उपन्यास हैं, *आगुन निये खेला* (आग से खेल, 1930), *असमापिका* (1931), *पुतुलनिये खेला* (गुड़ियों से खेल, 1933), *ना* (नहीं, 1951), *कन्या* (1953) आदि।

सजनीकान्त दास (1900-1962) के सम्पादकत्व में *बंगश्री* के पृष्ठों पर कथा-लेखकों का एक समुदाय उभरा। दास ने कुछ अच्छी कविताएँ लिखीं, छन्दों में डूबकर विडम्बनापूर्ण लिखे और गद्य में विद्रूप और हास्यकर रेखा-चित्र लिखे। ये *पथ चलते घासेर फुल* (1929), *अंगुष्ठ* (1931), *मधु ओ हुल* (1931), *कलिकाल* (1940) आदि में मिलते हैं। उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा : *अजय* (1931)। उसकी कथा से दिखाई पड़ता है कि लेखक कम-से-कम उस समय प्रगतिशील धारा से जुड़ा हुआ था, जो बाद में उसके व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य हो गयी। दास ने कुछ काव्य-ग्रन्थ भी लिखे : उदाहरण के लिए, *राजहंस* (1935), *आलो आँधारि* (1936), *पंचिशे बैशाख* (1942) आदि।

सरोजकुमार रायचौधुरी (ज. 1902) और *ताराशंकर बंद्योपाध्याय* (ज. 1898) पहले-पहल *कल्लोल* में सामने आये। परन्तु उनके नियमित प्रयास *बंगश्री* (1933) में आरम्भ हुए। रायचौधुरी कुछ पठनीय पुस्तकों के लेखक हैं, जिनमें कहानियाँ और उपन्यास हैं, जैसे *बन्धनी* (1931), *शृंखल* (1932), *आकाश ओ मृत्तिका* (1933), *मयूराक्षी* (1936), *हंसबलाका* (1937), *सोमलता* (1938), *कालो घोड़ा* (1946) आदि।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय प्रचुर कहानियों और उपन्यासों के लेखक हैं। एकमात्र अपवाद 'राजकमल' को छोड़कर–जिसका विस्तार बाद में (1935) लघु उपन्यास के रूप में कर लिया गया–उनकी आरम्भिक कहानियों में सर्वोत्तम कहानियाँ *बंगश्री* और *प्रवासी* में प्रकाशित हुई थीं। ये कहानियाँ निम्नलिखित पुस्तकों में संकलित हैं : *छलनामयी* (1936), *जलसा घर* (1937), *रसकलि* (1938), *प्रसादमाला* (1945) आदि। ताराशंकर ने बीस से भी अधिक उपन्यास लिखे, जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं : *चैताली घूर्णि* (1929), *नीलकंठ* (1930), *आगुन* (1937), *धात्री देवता* (1939), *कालिन्दी* (1940), *कवि* (1941), *गणदेवता* (1942), पंचग्राम (1943), *हाँसुलि बाँकेर उपकथा* (1947), *आरोग्य निकेतन* (1952), *नागिनी कन्यार काहिनी* (1952) आदि। ताराशंकर की आंचलिक कहानियाँ और उपन्यास विशेष उल्लेख्य हैं। वे देश के जिस हिस्से के निवासी हैं (पश्चिम बंगाल में बीरभूम ज़िला) वहाँ के मनुष्यों और प्रकृति को खूब जानते हैं, और उनकी कहानियाँ हमेशा रोचक होती हैं। ताराशंकर ने आत्मकथा और संस्मरणों के अब तक दो खण्ड लिखे हैं : *आमार कालेर कथा* (1951) और *आमार साहित्य जीवन* (1953)।

बालाइचाँद मुखर्जी (ज. 1899) डॉक्टरी की उपाधि प्राप्त करने से बहुत पहले से काव्य-रचना कर रहे थे और अपने साहित्यिक कार्यों के लिए आरम्भ से ही वे

छद्मनाम 'बनफूल' का प्रयोग करते रहे। मुखर्जी भागलपुर के निवासी हैं। उन्होंने कुछ आह्लादजनक हास्य-कविताएँ और विडम्बन लिखे हैं, जो *बनफूलेर कविता* (1936) में मिलते हैं। उनकी अन्य काव्य-पुस्तकें हैं–*अंगारपर्णी* (1940), *आह्वनीया* (1943) आदि। उनकी कुछ कहानियाँ बहुत अच्छी हैं, विशेषकर वे जो पहले मेडिकल के विद्यार्थी और बाद में रोगविज्ञानी के रूप में उनके निजी अनुभव से ली गयी हैं। परन्तु उन्हें अत्यन्त लघु कथाओं में (जिन्हें अमरीकी साहित्यिक भाषा में 'शॉट-शॉर्ट्स' कहा जाता है) विशेष सफलता मिली है। उनकी कहानियों (और लघु कहानियों) की पुस्तकें हैं : *बनफूलेर गल्प* (1936), *बैतरणीर तीरे* (1937), *बाहुल्य* (1943), *अदृश्यलोके* आदि। मुखर्जी की तकनीकी शिक्षा ने उनके उपन्यासों के कथ्य और अभिव्यक्ति को एक वैशिष्ट्य प्रदान किया है। मानव-व्यवहार में उनकी दिलचस्पी केवल एक कलाकार के रूप में ही नहीं बल्कि एक वैज्ञानिक के रूप में भी है। उनके विशिष्ट उपन्यास हैं : *तृणखण्ड* (1935), *किछुक क्षण* (1937), *द्वैरथ* (1937), *निर्मोक* (1940), *जंगम* (खण्ड 1, 1943) तीन खण्डों में, *स्थावर* (1951), *डाना* (1948), *पंचपर्व* (1954) आदि। मुखर्जी ने कुछ अच्छे जीवनीपरक नाटक लिखे हैं। उनके *श्री मधुसूदन* (1939) और *विद्यासागर* (1941) ने बाङ्ला में इस प्रकार के नाटकों का फैशन चलाया।

बालाइचाँद मुखर्जी की तरह शरदिन्दु बनर्जी (1899-1970) भी बिहार के निवासी थे। वे विधि के स्नातक थे, पर उन्होंने बहुत समय तक वकालत नहीं की। अनेक अन्य लोगों की तरह बनर्जी ने भी काव्य-रचना से आरम्भ किया। परन्तु उन्होंने कथा-साहित्य के लिए शीघ्र ही इसे छोड़ दिया। ऐतिहासिक विषयों और सामान्य जीवन, दोनों पर उनकी कहानियों का अच्छा स्वागत हुआ। अब उनकी गणना बाङ्ला भाषा के प्रमुख लेखकों में की जाती है। बनर्जी ने कुछ अत्युत्तम प्रेत-कथाएँ लिखीं, और वे जासूसी उपन्यासों के सर्वोत्तम लेखक माने जाते हैं। बनर्जी सम्मोहक सरल शैली में लिखते थे और इसी विशेषता के कारण वे अपने समसामयिकों में विशिष्ट हैं। *जातिस्मर* (1938), *डिटेक्टिव* (1937), *चुयाचंदन* (1942), *कालकूट* (1945) आदि उनकी कहानियों की कुछ आरम्भिक पुस्तकें हैं।

बनर्जी ने कुछ नाटक भी लिखे थे जिनका सफलतापूर्वक रंगमंचीय और सिने-प्रदर्शन हुआ। ये हैं, *बन्धु* (1937), *पथ बेधे दिल* (1941), *कालिदास* (1943) आदि।

मानिक बंद्योपाध्याय (1908-1956) अपने *दिवारात्रिर काव्य* के साथ पहले *बंगश्री* में सामने आये। यह 1935 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इसके बाद *पुतुल नाचेर इतिकथा* (1936) प्रकाशित हुई। इन दो उपन्यासों ने ध्यान आकर्षित किया, और लेखक का स्वागत एक ऐसे मौलिक रचयिता के रूप में हुआ, जिसका अपना दृष्टिकोण और अपनी दिशा है। इसके बाद ही उनकी छोटी-बड़ी कहानियाँ सामने

आयीं जो उन्हें ग्राम्य परिवेश में सामान्य मनुष्य के अन्तर्बाह्य जीवन का प्रखर पर्यवेक्षक सिद्ध करती हैं। परन्तु उनकी परवर्ती कहानियों और उपन्यासों में उनके भीतर के मनोवैज्ञानिक और प्रचारक ने उभरकर प्रायः साहित्य को क्षति पहुँचाई है। जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त मानिक के सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास और कथा-पुस्तकें निम्नलिखित हैं : *जननी* (1935), *अतसी मासी* (1935), *पद्मानदीर माझी* (1936), *प्रागैतिहासिक* (1937), *मिहि ओ मोटा काहिनि* (1938), *सहरतली* (दो खण्ड : 1940-41), *हलुदपोवाडा* (1945), *चतुष्कोण* (1948), *सोनार चेयें दामी* (दो खण्ड, 1951-52), *हरफ* (1954), *हलुद नदी सबुज बन* (1956) आदि।

प्रमथनाथ बिशि (ज. 1901) की स्कूल और कॉलेज की शिक्षा शान्तिनिकेतन में हुई, और हमारे बीच वे एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिन्हें रवीन्द्रनाथ की आत्मा और परिवेश को उसके जन्म-स्थल में आत्मसात् करने का सर्वोत्तम अवसर मिला। बिशि की शुरू की अच्छी कविताएँ कुछ सॉनेट हैं (जिनमें से कुछ पहले *बंगश्री* में प्रकाशित हुए थे) जो तीन छोटे ग्रन्थों में सम्मिलित हैं : *प्राचीन आसामी हयते* (1934), *विद्यासुंदर* (1934) और *प्राचीन गीतिका हयते* (1937), ये सब अब अप्राप्य हैं। बिशि की बाद की कविताएँ, जिनमें दुर्लभ संवेदनशीलता और उत्साह दिखाई पड़ता है, *अकुंतला* (1946), *जुक्तवेणी* (1948), *उत्तर मेघ* (1953) आदि में मिलती हैं। बिशि ने कुछ लम्बी कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं, जैसे *पद्मा* (1935), *जोड़ा-दिघीर चौधुरी परिवार* (1937) *चलनबिल* (1949) आदि। उन्होंने सामान्यतः हल्के ढंग की कहानियाँ प्रचुरता से लिखीं। उनकी कहानियों की अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में हैं *श्रीकान्तेर पंचम पर्व* (1939), *अशरीरी, गल्पेर मत* (1945), *डाकिनी* (1945), *ब्रह्मार हासि* (1948) आदि। बिशि अपने हास्य-नाटकों के लिए भी समान रूप से प्रसिद्ध हैं। *ऋणं कृत्वा* (1935), *घृतं पिबेत्* (1936), *मौचाके ढिल* (1948) और *परिहास-विजल्पितम्* आदि। ये नाटक मौकिया रंगमंच पर लोकप्रिय हैं।

बिशि गद्य के लोकप्रिय लेखक हैं और उनकी शैली व्यंग्य और विनोद की कौंध से विशिष्ट हो जाती है। वह अक्सर पाठक को प्रमथ चौधुरी का स्मरण दिलाती है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ पर आलोचनात्मक अध्ययन के कई ग्रन्थों की रचना की है। *रवीन्द्रनाथ ओ शान्तिनिकेतन* (1944) उनकी सर्वोत्तम रचनाओं में से है। यह उनके विद्यार्थी-जीवन के संस्मरणों पर आधारित है।

अमिय चक्रवर्ती (ज. 1901) लम्बे अरसे तक शान्तिनिकेतन में रहे, और रवीन्द्रनाथ के सचिव के रूप में इस उत्कृष्ट कलाकार से उनका निकट सम्पर्क रहा। अपने समसामयिक लेखकों से भिन्न चक्रवर्ती ने केवल कविताएँ लिखीं और उन्हें कई पुस्तकों की रचना का श्रेय है; *खसड़ा* (पहला प्रारूप, 1938), *एकमुठो* (1939), *पारापार* (1953), *पालाबदल* (1955) आदि। चक्रवर्ती की कविता उनकी निजी है,

और अक्सर वह रवीन्द्रनाथ के काव्य के साथ विचित्र सम्बन्ध को उद्घाटित करती है। 'एरोप्लेन' कविता का निम्नलिखित उद्धरण इस बात का उदाहरण है :

> "विस्तृत एकाकीपन से भरे काल से जुड़े जीवन का यह क्षण बहुत ही मूल्यवान है जो प्रायः हीन इस्पात से मुड़े क्षितिज में माया-कुहेलिका की रचना करता है। क्षण के पर्दे पर नाना रंगों का स्पर्श। वह विशेष क्षण तब मेरा अपना बन जाता है। इस क्षण के परे नदी-पेड़ प्रियजन सब गतिशील दिखाई पड़ते हैं, दुकानों, कालेजों तथा ट्रेन की उस समय की गति का क्या अर्थ है, समझ नहीं पाता। मैं तो केवल तुम्हारी इस पृथ्वी के उस क्षण में जीता हूँ।"

इस इतिहास का सीमित विस्तार उन लेखकों के अन्तर्भाव की गुंज़ाइश नहीं देता, जिन्होंने 1941 के उपरान्त अपना स्थान बनाया—वह वर्ष जो रवीन्द्रनाथ की मृत्यु और दूसरे विश्व-युद्ध के आवागमन का सूचक है। ऐसे अनेक लेखकों का विवरण देना भी सम्भव नहीं हो सका है जिन्होंने अच्छी और लोकप्रिय कृतियों की रचना की, पर जो न तो किसी नये मार्ग की योजना बना सके और न ही किसी नये रूप का सृजन कर सके। सौन्दर्य की ही भाँति, साहित्य का सार तत्त्व, उसकी नित्य नवीनता या फिर जैसा कि हमारी प्राचीन भाषा में कहा गया है, 'लावण्य' में निहित रहता है।

□□

अनुवाद में उद्धृत अवतरणों का मूल पाठ

पृष्ठ 22.

धनियो : पक्कोदनो दुद्धखीरो हम अस्मि
अनुतीरे महिया समानवासो
छन्ना कुटि आहितो गीनि
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।
भगवा : अक्कोधनो वीगतखिलो हम अस्मि
अनुतीरे महिय एकरत्ति वासो
विवटा कुटि निब्बुतो गिनि
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

—*सुत्तनिपात* ('धनियासुत्त'—1-2)

पृष्ठ 23.

शुतनुका नम देवदशिक्यि
तं कमयिथ बलन शेये
देवदिने नम लुपदखे।

—जोगीमारा गुफ़ाओं में अंकित
(*आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया,* वार्षिक रिपोर्ट, 1903-4)

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मनोरह पच्छि
जं अच्छसि तं मानिअइ होसइ कर तु म अच्छि।
जइ केंव-इ पावीस पिउ अकिआ कुड्ड करीसु
पाणिउं नवि सरावि जिंव सव्वंगे पइसीसु

—*सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन* (अध्याय 8)

पृष्ठ 24.

सो महु कन्ता दूर दिगन्ता
पाउस आवे चेउ चलावे।
नवि मंजरी लिज्जिअ चूअइ गाच्छे
परिफुल्लिअ केसु-लआ वण आछे।

जइ इत्थि दिगन्तर जाइह कन्ता
किमु बम्मह णत्थि कि णत्थि वसन्ता।
—*प्राकृत-पैंगल*

पृष्ठ 26.

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूहलम्
मधुर-कोमल-कांत-पदावलीम्
शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्।
—*गीत गोविन्द* (सर्ग—1)

पृष्ठ 39.

चिअ सहजे शुन सम्पुन्ना
कान्ध-वियोए मा मोहि विसन्ना।
मन कइसे काह्णु नाहि
फरइ अनुदिनं तैलोए पमाइ।
मूढा दिठ नाठ देखि काअर
भांग-तरंग कि सोसइ साअर।
मूढा अच्छन्ते लोअ न पेखइ
दुध माझें लड़ च्छन्तें ण देखइ।
भव जाइ ण आवइ एसु कोइ
आइस भावे विलसइ काह्निल जोइ।
—*चर्यागीति-पदावली* (42)

पृष्ठ 40.

तिनि भुअण मइ बाहिअ हेलेम्।
हाउम् सुतेलि महासुह-लीलेम्॥
कइसणि हालो डोम्बी तोहोरि भाभरियाली।
अन्ते कुलीण-जण माझेम् कावाली॥
तई लो डोम्बी सअल बिटलिउ।
काज ण कारण ससहर टालिउ॥
केहो केहो तोहोरे बिसआ बोलइ।
बिदुजण लोअ तोरे कण्ठ न मेलई॥
काह्नन गाइउ कामचण्डाली।
डोम्बित आगलि नाहि च्छिनाली॥
—वही (18)

टालत मोर घर नाहि पडवेषी।
हाडीत भात नाँहि निति आवेशी॥
बेगे संसार बहिल जाअ।
दुहिल दुधु कि बेंटे षामाय॥
बलद बिआएल गाविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥
जो सो बुधी सोइ निबुधी।
जो सो चउर सोइ दुषाधी॥
निते निते षिआला सिंहे सम जुझअ।
ढेंढण-पाएर गीत विरले बुझइ॥

—वही (33)

पृष्ठ 40-41.

भाव न होइ अभाव ण जाइ।
आइष सम्बोहे को पतिआइ॥
लूह भणइ बट दुलक्ख बिणाणा।
तिअ-धाए विलसइ उह न जाना॥
जाहेर बान-चिह्न रूव ण जाणी।
सो कइसे आगम बेए बखानी॥
काहेर किष भणि मइ दिबि पिरिच्छा।
उदक-चाँद जिम साच न मिच्छा॥
लूइ भणइ (मइ) भाइब कीस।
जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दीस॥

—वही (29)

पृष्ठ 41.

उट्‌ठ भडारो करुण मणु
पुअखसि महु परिनाउ
महासुह-जोए काम-महु
इच्छहि सुण्ण-सहाउ।
तोंहा-विहुण्णे मरमि हउँ
उट्‌ठहि तुहुँ हेवज्ज
चङ्कहि सुण्ण-सहावता
सवरिअ सिज्झउ कज्ज।
लोअ णिमन्तिअ सुरअ-पहु

सुण्ण अच्छसि कीस
हउँ चण्डाली बिण्ण नमि
तइ बिणु उहमि न दीस।
इन्दीआली तुट्ठ तुहुँ
हउँ जाणामि तुहुँ चित्त
अम्हे डोम्बी च्छेअमणु
मा कर करुण विच्छित।

—*हेवज्रतंत्र* (*दोहाकोष* से उद्धृत, (सं.) प्रबोध चन्द्र बागची)

पृष्ठ 42.

सिद्धिरत्थु मइ पढमे पढिअउ।
मण्ड पिवन्तें विसरिअ एमइउ॥
अक्खरमेवक एत्थ मइ जाणिउ।
ताहर णाम ण जणमि ए सहिउ॥

—सरह का *दोहाकोष*

कन्ध-भूत-आअत्तण-इन्दी
विसअ-विआरु अपहुअ।
णाउ णाउ दोहा च्छन्दे
कहवि ण किम्पि गोप्प॥
पाण्डिअ-लोअ खमहु महु
एत्थु ण किअइ विअप्पु।
जो गुरुवअणें मइ सुअउ
तहि किं कहमि सुगोप्पु॥
कमल-कुलिश बेवि मज्झठिउ
जो सो सुरअ-विलास।
को त रमइ णह तिहुअणे हि
कस्स ण पूरइ आस॥

(वही)

पृष्ठ 49.

कहन्ति गुरु परमाथेर बाट।
कर्म कुरंग समाधि कपाट॥
कमल विकसिल कहिह ण जमरा।
कमल-मधु पिविव ढोके न भमरा॥

—*चर्यागीति-पदावली* (2)

पृष्ठ 52.

पोखरीत पाणी नाइ पाड़ केन बुड़े
बासा-घरे डिम्ब नाइ छाओ केन उड़े।
नगरे मनुष्य नाइ धर चाले चाल
आंधले दोकान दिया खरीद करे काल।
झिम जाउ बरिषा अतले जाउ मीन
झाँपिआ तरीते पाड़ि समुद्र गहीन।

—*गोरक्षविजय* (फैजुल्ला तथा अन्य द्वारा)

पृष्ठ 62.

काङुरेर कामचण्डी कामताय आइसे
बल देखि नारीर धातु कोथा बइसे।

—*धर्ममंगल* : रूपराम

पशु नय पक्षी नय डिम्ब मध्ये छा
निमेषे नीघति मारे नाही हात-पा।
सकल देखिये पुणि केह ना देखिये
परम रतन सेइ यत्नेते राखिये
उपरे सिंदुर-राग अधे त काजल
सदाइ चंचल लौह को ढलढल
काङुरेर कामचण्डी कामताय आइसे
अष्टांग थाकिते धातु वात चक्षे बइसे।

—वही

पृष्ठ 75-76.

तिरीर संभव मान करे।
तात रोष ना करे नागरे॥
ए तोम्हार वचने।
सब कोप खण्डिल एखने॥
एही जांग तोम्हार चरणे।
आम्बा समे ना करिह आने॥
तोम्हार आम्हार दुई मणे।
एक करी गाँथिल मदने॥
तार आनुरूप वृन्दावने।
तोर बोल ना करिब आने॥

विधि कइल तोर मोर मेहे।
एकइ पराण एक देहे॥
से नेह तियज नाहि सहे।
से पुनि आम्हार दोष नहे॥
के बुलिते पारे तोर गुणे।
एके एके बसे मोर मने॥
एबे आसि बइश मोर पाशे।
गाइल बडु चण्डीदासे॥

—*श्रीकृष्ण कीर्तन* ('वृन्दावन-खण्ड')

पृष्ठ 77.

तोम्हे जबे योगी हइला सकल तेजिंआ।
थाकिब योगिनी हंआ तोहाक सेबिंआ॥

—वही ('राधाविरह')

पृष्ठ 79.

बाशुली आदेशे नित्या चलिल
सहज जानबार तरे।

पृष्ठ 80.

शुक्ला दशमी तिथि वैशाख मासे।
शियरे बसिया पद्मा कइला उपदेशे॥
पाचाली रचिते पद्म करिला आदेश।
सेइ से भरसा आर न जानी विशेष॥
कवि गुरु धीरजने करि परिहार।
रचिल पद्मार गीत शास्त्र-अनुसार॥
सिन्धु इन्दु वेद मही शक परिमाण।
नृपति हुसेन शाहा गौड़ेर प्रधान॥

—*मनसाविजय* : विप्रदास

पृष्ठ 81.

पण्डिते मण्डित सभा खान महामति।
एक दिन बसि आछे बान्धव-संहति॥
शुनिल भारत पोथा अति पुण्यकथा।
महामुनि जैमिनीर पुराण-संहिता॥

अश्वमेध कथा शुणि प्रसन्नहृदय।
सभाखण्डे आदेशिल खान महाशय॥
व्यास गीत भारत शुनिल चारुतर।
ताहात कहिल जैमिनी मुनिवर॥
संस्कृत भारत ना बुझे सर्वजण।
मोर निवेदन किछु सुन कविगण॥
देशी-भाषे एही कथा करिया प्रचार।
संचारउ कीर्ति मोर जगत मितर॥
ताहान आदेश-माल्य माथे आरोपिया।
श्रीकर नन्दीए कहे पांचाली रचिया॥

—*महाभारत* (श्रीकर नन्दी)

पृष्ठ 83.

अयि दीन-दयार्द्रनाथ हे।
मथुरा-नाथ कदावलो वयसे॥
हृदयं त्वद लोक-कातरम्।
दयित भ्राम्यति किं करोमि अहम्॥

—*पद्यावली*

पृष्ठ 87.

श्री-चैतन्य नारायण करुणा सागर।
दुःखितेर बन्धु प्रभु मोरे दया कर॥

—*चैतन्य-भागवत*

पृष्ठ 88.

चेतोदर्पण मार्जनं भवमहावाग्निनिर्वापणम्।
श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधूजीवनम्॥
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥1
नाम्नामकारि बहुता निजसर्वशक्ति।
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः॥
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥2
तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना
अमानिना मानवेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥3

न धनं न जनं न सुन्दरीम्
कवितां वा जगदीशकामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहेतुकी त्वयि ॥4
अयि नन्दतनुज किंकरं माम्
पतितं विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपंकज
स्थितं धूलि सदृशं विचिन्तय ॥5
नयनं गलदश्रुधरया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नाम ग्रहणे भविष्यति ॥6
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे ॥7
आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु माम्
अदर्शनान्मर्महतां करोतु वा
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राण नाथस्तु स एव नापरः ॥8

पृष्ठ 95.

व्रज पुरे	रूप-सागरे	रसेर नदी बय
तीर बहिया	ढेउ आसिया	लागिल गोरा गाय
गौर अंगे	प्रेमतरंगे	उठिछे दिवाराति
ज्ञान-कर्म	योग-धर्म	तप छाड़िल यति
मने-मने	कतजने	दिच्छे रूपेर दाय
से जे रूप	सुधा-कूंप	ठोर नाहिक पाय
रूप-भावना	गलाय सोना	घुचिबे मनेर धांधा
रूपेर धारा	'बाउल' पारा	बहिछे जगत आंधा
रूप रसे	जगत भासे	ए चौदह भुवने
खाइले जजे	देखिले मजे	कहिले केबा जाने।
विषम सेवा	लइया जेबा	आपना मारे जे
लोचन बले	अवहेले	गौर पावे से।

—*विवर्त विलास*

पृष्ठ 101.

सखि हे फिरिया आपन-घरे जाओ
जीयन्ते मरिया जे आपना खाइया छे
तारे तुमि कि आर बुझाओ।
नयन-पुतली करि लइलो मोहन रूप
हियार माझारे करि प्राण
पिरीति-आगुनि ज्वालि सकलि पोड़ाइयाछि
जाति - कुल - शील - अभिमान।
ना जानिया मुई लोके कि जानि की बले मोके
न करिये श्रवण-गोचरे
स्रोत-बिथार जले ए तमु भासाइयाछि
कि करिबे कूलेर कुकुरे।
खाइते शुइते रहते आन नाहि लय चीते
बन्धु बीने आन नाहि भाय
मुरारि गुपते कहे पिरीति एमनि हइले
तार यश तिन लोके गाय।

—पदकल्पतरु

कि छार पिरीति कइला जीयन्ते बधिया आइला
बांचिते संशय भेल राइ
शफरी सलिल बिन गोंआइब कत दिन
शुन शुन निठुर माधाइ।
घृत दिया एक रति ज्वलि आइला युग-बाति
से कमने रहे अमयोगाने
ताहे से पवने पुण निबाइल बासो बेन
झाट आसि राखह पराणे।
बुझिलाम उद्देशे साक्षाते पिरीति तोषे
स्थान-छाड़ा बन्धु बैरी हय
तार साक्षी पद्म-भानु जल-छाड़ा तार तनु
शुखाइले पिरीति ना रय।
जत सुखे बाढ़ाइला तत दुःखे पोड़ाइला
करिला कुमुद-बन्धु भाति
गुप्त कहे एकमासे द्विपक्ष छाड़िल देशे
निदाने हइल कुहू राति।

—वही

पृष्ठ 102.

अहे नव जलधर वरिष हरिष बड़ मने
श्यामेर मिलन मोर सने।
बरिष मन्द झिमानि
आजु हाम बंचिब रजनी।
गगने सघने गरजना
दादुरि दुन्दुभि बाजना।
शिखरे शिखण्डिनी-रोल
बंचिब सुरनाथ कोल।
दोहार पिरीति-रस-आशे
डुबल वासुदेव घोषे।

—*रसकलिका* : नटवरदास

पृष्ठ 102-103.

किशोर-वयस कत बैदगधि ठाम
मूरति-मरकत अभिनव काम।
प्रति अंग कौन विधि निरमिल किसे
देखिते देखिते कम अमिय बरिषे।
मलुम मलुम किवा रूप देखिलू स्वप्ने
खाइते शुइते मोर लागियाछे मने।
अरुण अधर मृदु मन्द मन्द हासे
चंचल नयन-कोणे जालिकुल नाशे।
देखिया बिदरे बुक दुटि भरु-भंगि
आइ आइ कोथा छिल से नागर रंगी।
मन्थर चलन खानि आध-आध जाय
पराण केमन करे कि कहिब काय।
पाषाण मिलाये जाय गायेर बतासे
बलरामदासे कय अवश पराशे।

—*पदकल्पतरु*

पृष्ठ 103.

आलो मुई केन गेलुमू कालिन्दीर जले
चित हरि कालिया नागर निल छले।

रूपेर पाथारे आखि डुबिया रहिल
यौवनेर वने मन हाराइया गेल।
घरे याइते पथ मोर हइल अफुरान
अंतरे बिदरे हिया फुकरे पराण।
चन्दन-चांदेर माझे मृगमद-धाँधा
तार माझे हियार पुतली रइले बाँधा।
कटि पीत-वसण रशन ताहे जड़ा
विधि निरमिल कुल-कलंकेर कोड़ा।
जाति कुल शील सब हेन बुझि गेल
भुवन भरिया मोर घोषणा रहिल।
कुलवती सती हइया दुकुले दिलुम दुख
ज्ञानदास कहे दृढ़ करि बाँध बुक।

—वही

पृष्ठ 104.

काहारे कहिब मनेर कथा कबा याय परतीत
हियार माझारे मरम-वेदन सदाइ चमके चीत।
गुरुजन-आगे बसिते ना पाइ सदा छल-छल आखि
पुल के आकुल दिग नेहारिते श्याममय देखि।
सखि संगे यदि जलेरे याइ से कथा कहिल नय
यमुनार जल मुकुत कवरी हये कि पराण रय।
कुलेर धरम राखिते नारिनु कहिल सबार आगे
रामचन्द्र कहे श्यामनागर सदाइ मरमे जागे।

—हिस्ट्री ऑफ़ ब्रजबुलि लिटरेचर

पृष्ठ 105.

मन्दिर बाहिर कठिन कपाट।
चलइते शंकिल पंकिल बाट॥
तहि अति दुरतर बादल दोल।
वारि कि बारइ नील निचोल॥
सुन्दरि कइछे करगि अभिसार।
हरि रह मानस-सुरधुनी पार॥
घन-घन झन-झन बजर-निपात।
शुनइते श्रवण-मरम जरि यात॥
दशदिश दामिनी-दहन बिथार।

हेरइते उचकइ लोचन-तार ॥
इथे यदि सुन्दरि तेजबि गेह।
प्रेमक लागि उपेखबि देह ॥
गोविन्ददास कह इथे कि विचार।
छूटल वाण किये यतने निवार ॥

—*पदकल्पतरु*

पृष्ठ 106.

सखि हे कि पुछसि अनुभव मोय,
सोइ पिरीति अनुराग बखानिये
अनुखन नूतन होय ॥
जनम अवधि हइते ओ रूप नेहारलुम्
नयन ना तिरपित भेल,
लाख लाख युग हिये हिये मुखे मुखे
हृदय जुड़न नाहि गेल।
वचन-अमिया रस अनुखन शूनलुम
श्रुतिपथे परस ना भेलि,
कत मधु-यामिनी रमसे गोआँयलुम
ना बुझलुम कइछेन केलि ॥
कत बिदग्ध-जन रस अनुमोदइ
अनुभव काहु ना पेखि,
कह कविवल्लभ हृदय जुड़ाइते
मीलये कोटि-में एकि ॥

—वही

पृष्ठ 107.

आमार सुन्दर नाय ये आसिया देइ पाय
हासिया गणये षोल पण,
ए तौर नितम्ब कुच अति गुड तर उच
एकलाए भरा दश जन ॥
गोयालिनि बुझिल तुमि गड़ ढाट
दान फुराइया चाप झाट।
लाखेर पशरा तोर नाये पार हबे मोर
इहाते पाइब आमि की,
बुझिया आपने बल पाछे येन नहे कल

एइ जीविकाय आमि जी ॥
तुमि तो युवती माइया आमि-ह युवक नाइया
हास-परिहासे गेल दिनं,
ओ कूले मानुष डाके खेया रहे भिछा पाके
एत-क्षणे हइत भरा तिन ॥
क्षीर नवनीत दइ आगुआन किछु खाइ
नौका बाहिते हउ बल,
द्विज माधव कहे रसिक यादव-राये
मिछाइ करये वाक्-छल ॥

—*कृष्णमगल*

पृष्ठ 109.

जय नर नारायण नृपति प्रधान।
जाहार समान राजा नाहिक ये आन ॥
धर्म नीति पुराण भारत शास्त्र यत।
अहोरात्रि विचारन्त बसिया समात ॥
गौडे कामरूपे यत पण्डित आछिल।
सबाक आनिया शास्त्र-देओयान पातिल ॥
कवि सके शास्त्र बखानन्त सदा तात।
आमाक नियाया थइया-आछंत सभात ॥

—*महाभारत* (वन-पर्व)

पृष्ठ 110.

शुक्लध्वज अनुज आहार युवराज।
परम गहन अति अद्भुत काज ॥
तेहे मोक बुलिलन्त महाहर्ष मने।
भारत-पयार तुमि करियो जतने ॥
आमार धरत आछे भारत प्रशस्त।
नियोक आपन गृहे दिलोहो समस्त ॥
एहा बुलि राजा पाछे बलधि जोड़ाइ।
पठाइल पुस्तक आमासाक ठाइ।
खाइबार सकल द्रव्य दिलन्त आपार।
दास दासी दिला नाम कराइला आमार।
एते के ताहान आज्ञा धरिया शिरत ॥
कृष्णेर युगल-पद धरि हृदयत।

बिरचिलो पद इतो अनुपाम।
परम सुन्दर वन-पर्व यार नाम॥

—वही

पृष्ठ 116.

धन्य राजा मानसिंह विष्णु-पदे लोल भृंग
गौड़ बंग उत्कल समीपे
अधर्मी राजार काले प्रचार पापेर फले
खिलात पाय मामूद सरिफे।
उजीर होइल रायजादा बेपारी-क्षत्रिय खेदा
ब्राह्मण-वैष्णवे हइल अइरि
भापे कोणे दिया द्रड़ा पनर काठाय कुड़ा
नाहि शुने प्रजार गोहारि।
सरखेल हइल काल खिल भूमि लिखे नाल
बिनि उपकारे लय धुति
पोतद्वार हइल यम टाका आढ़ाइ आना कम
पाइ लभ्य लय दिन प्रति।
मिथ्या ए जगाति भण्ड पर द्रव्ये करे दण्ड
डाका देइ दिवस दुपरे
विषय राज्येर लोक पर द्रव्य खाइते जोंक
देखिते देखिते वित्त हरे।
डिहिदार आबुध खोज कड़ी दिले नाही रोज
धान्य गोरु केह नाहि किने
प्रभु गोपीनाथ नन्दी विपाके हइला बन्दी
हेतु किछु नाहि परित्राणे।
जानदार प्रति नाछे प्रजा पलाय पाछे
दुआर छापिआ देइ थाना
प्रजा धान्ये विकलित बेचे घर कुड़ा नित्य
टाकाकेर द्रव्य द श आना।

—चण्डीमंगल

पृष्ठ 118-119.

कांदे सिंह पशु आसि स्मरिया अभया।
अपराध विना माता दूर कइले दया॥

भाले टीका दिया माता करि मृगराज।
करिब तोमार सेबा राज्ये नाहि काज॥
प्राणेर दोसर भाइ गेल परलोक...

उइ चारा खाइ पशु जातिते भालुक।
नेउगी चौधुरी नाहि ना करि तालुक॥
सात पुत्र वीर माइल बाँधि जाल-पाशे।
सवंशे मजिलू माता तोमार हाब्यासे... ॥

मागु मइल पुत्र मइल दुइ नाति पौषे।

धूलाय धूसर हइया कांदये हस्तिनी।
मिछा वर दिया माता वध कइले केनि॥
श्यामल सुन्दर पुत्र कमललोचन।
भुरु काम धनु रूप मदन-गंजन॥
कानन करये आलो कपालेर चाँदे...

बड़ नाम बड़ ग्राम बड़ कलेवर।
लुकाइते नाहि ठाइ वीरेर गोचर॥
कि करिब कोथा याब कोथा गेले तरि।
आपनार दन्त दुटा आपनार वैरी॥
हेकचि करिया काँदे सजारु शशारु।
दुःख ना घुचिल मोर सेवि कल्पतरु॥
गाढ़ेर भितर थाकि लुकि भाले जानि।
कि करि उपाय वीर गाढ़े ढाले पानी॥
चारि पुत्र मइल मोर आर दुटि झी।
मागु मइल बुढ़ा काले जीया काज कि॥

(वही)

पृष्ठ 119.

बड़इ दानिशमन्द कहारे ना करे छन्द
प्राण गेले रोजा नाहि छाड़ि
धरये कम्बोज-वेश माथे नाहि राखे केश
बुक अच्छादिया राखे दाड़ि।
ना छाड़े आपन पथे दश रेखा टुपि माथे
इजार परये दृढ़ दड़ि
यार देखे खाली माथा तासने ना कहे कथा
सारिया चेलार मारे बाड़ि।

(वही)

पृष्ठ 120.

आरे बाछा आय बाछा आय।
कि लागिया कांदे बाछा कि धन चाय॥
आनिब तुलिया गगन-फुल।
एकेक फुलेर लक्षेक मूल॥
से फुल गांथिया पराब हार।
सोना-बाछा मोर ना काँद आर॥
गगन-मण्डले पातिब फाँद।
बाँधिया दिब तोरे शरद-चाँद॥
कपाले दिब तोरे से चाँद फोटा।
कालि गड़ाइया दिब सोनार भाटा॥
खाओयाब क्षीर-खण्ड माखाब चुया।
कर्पूर पाका पान सरस गुया॥
रथ गज घोड़ा यौतुक दिया।
राजार दुइ कन्या कराब बिया॥
श्रीमन्त चापिबे सोनार नाय।
कस्तूरी कुंकुम चन्दन गाय॥
खाटे निद्रा याबे चामर-बाय।
अम्बिका-मंगल मुकुन्द गाय॥

(वही)

पृष्ठ 126.

गोटा दुइ अक्षर पड़ाते याय दिन।
पड़ाबार बेला होइ एहार अधीन॥
बिशा-शय पड़्या थाके मोर मुख चाइया।
दुइ प्रहर बेला याय एहार लागिया॥
गोटा चारि अक्षर अनन्त वर्ण कय।
सदाइ पाठेर बेला जंजाल लागाय॥
पड़ाते नारिल तोरे थाह निज घर।
नहे नवद्वीप याह किबा शान्तिपुर॥
नहे जोग्राम चल कणादेर ठाइं।
तार सम भट्टाचार्य शान्तिपुरे नाइं॥

—*धर्ममंगल*

बलिते बलिते वाक्य पावकेर कणा।
विटंक मुखेर शोभा बसन्तेर चिना॥
एमन वचन शुनि मने लागे डर।
सूर्येर सभा गुरु परम सुन्दर॥
अलंघ्य गुरुर वाक्य लंगे कोन जन।

(वही)

पृष्ठ 127.

एके शानिवार ताय ठिक दुपर बेला।
सम्मुखे दांडाइल धर्म गले चन्द्रमाला॥
गलाय चांपार मालाआसा बाड़ि हाथे।
ब्राह्मणेर रूपे धर्म दांड़ाइल पथे॥

(वही)

पृष्ठ 127-128.

बाड़िते बसिते भाइ बइल कुवचन।
जननी सहित नाइं हइल दरशन॥
दादा बड़ निदारुण बले उच्चस्वरे।
कालि गियाछ पाठ पढ़िते आजि आइला घरे।
काछाड़िल जुमर अमर अभिधान।
वाहिरे सुवन्त-टीका गड़ागड़ी यान॥
पुनर्वार मरमे बांधिल खुंगी पूथी।
नवद्वीपे पड़िबारे याब दिवाराति॥
सोना हीरा दुटि बनि आछिल-दुआरे।
जननी के बारता बलिते नाइं पारे॥

(वही)

पृष्ठ 128.

चिड़ा भाजा उड़ूया गेल शुधू खाइ जल।
खुंगी पूथि बया जाइते अंगे नाइ बल॥
दैव हेतु दुःख पाइ सहजे कातर।
दक्षिणा मांगिते गेलाम तांतिदेर घर॥
धाओयाधाइ तांतिघरे दिल दरशन।
चिड़ा-दधिर घटा देखि आनन्दित मन॥

(वही)

पृष्ठ 130.

तोमार कवित्व जार भाल नाहि लागे।
सवंशे ताहारे आमि संहारिमु माघे॥

रायमंगल

पृष्ठ 131.

अर्धेक मथाय काला एकभागे चूड़ा टाला
वनमाला छिलिमिलि साथे,
धवल अर्धेक काय अर्ध नील मेघ प्राय
कोरान पुराण दुइ हाथे।

(वही)

पृष्ठ 134.

कन्या के डाकिया किछु बले निशाचरी।
पुषिनु तोमार तरे अति यत्न करि॥
तुमि त आमार तरे सदत से बिले।
जनक जननी हत्या मने ना करिले॥
ब्राह्मणेरे बिभा दिनु याह निज घरे।
करिह स्वामीर सेवा परम आदरे॥
अपराध आमार सकल कर क्षेमा।
निन्दावाद ना करिह भाग्यवती रामा॥
बलिते बलिते दुटि चक्षे जल झरे।
कन्यार गलय गिया ममताय धरे॥

—कमलामगल

पृष्ठ 139.

श्रावण मासेते मयना बड़ सुख लागउ।
रिमिझिमि बरिषाए मने भाव लागउ॥
धरति बहए धारा राति आँधियारी।
खेलए बन्धुर सने प्रेमेर धामारी॥
श्यामल अंबर श्यामल खेति।
श्यामल दश दिश दिवसक जुति॥
खेलये बिजली मेहु-ढामरेर संगे।
तमस्री भीमशि निशि रंग-बिरंगे॥
श्रावणे सुन्दर ऋतु लहरी ओछार।
हरि बिने कइछने पाइब पार॥

खरतर सिन्धुरव पवन दारुण।
चौगुण बाड़िया विरह-आगुन.:.।
जनम-दुखिनी तुइ राजार दुहिता।
विफल से नाम धर लोरेर वनिता॥
सुजन-पिरीति जान नित्य-नव माला।
लस्कर नायाक-मणि जग उजियाला॥

—दौलत काज़ी

पृष्ठ 141.

आहा मोर बिदरे पराण
जागिते स्वपने देखि भूमे नाहि आन।
कि जानि लिखिछे विधि ए पाप करमे
पाइया परस-मणि हाराइलुम भ्रमे।
से सब मनेर दुःख काहाके कहिब
व्यथित बान्धव-कुल स्मरिते मरिब।
युगेर अधिक याय दुःखे निशि दिन
केमने सहिब प्राणे जल बिने मीन।
कि लागि दारुण जीउ आछे मोर घटे
कठिन पाषाण हिया ए दुखे ना फाटे।
महन्त सैयद मुसा ज्ञाने त कुशल
विरह-वेदना गाहे हीन आलाओल।

—*सेफुल-मुल्क बदीउज्ज-माल*

पृष्ठ 147-148.

चण्डी यदि देन देखा तबे कि से याय लेखा
पांचालीर अमनि रचन,
बुद्धि नाइ यार घटे तारा बले सत्य बटे
पथे चण्डी दिला दरशन।
एत दोष उद्धारिते लोकेर चैतन्य दिते
चण्डी रचे रामानन्द यती,
अनेकेर उपरोध केह ना करिओ क्रोध
अनेक शिष्येर अनुमति।

—*चण्डीमंगल* : रामानन्दयती

पृष्ठ 151-152.

ओहे विनोद-राय धीरे जाओ हे
अधरे मधुर हासि बाँशिटि बाजाओ हे।
नव जलधर तनु शिखिर पुच्छ शक्रधनु
पीत-घड़ा बिजुलिते मयूरे नाचाओ हे
नयन चकोर मोर देखिया हयेछे भोर
मुख-सुधाकर-हासि-सुधाय बाँचाओ हे।
नित्य तुमि खेल याहा नित्य भालो नहे ताहा
आमि ये खेलिते कहि से खेला खेलाओ हे
तुमि ये चाहनी चाओ से चाहनी कोथा पाओ
भारत येमन चाहे सेइ-मत चाओ हे।

—*अन्नदामंगल*

पृष्ठ 153.

मन रे कृषि-काज जान ना
एमन मानव-जमिन रइल पतित अबाद करले फलत सोना,
कालिर नामे देओर बेड़ा फसले तछरूप हबेना।
मुक्तकेशीर शक्त बेड़ा तार काछे तो यम घेंसेना,
अद्य अब्द-शतांते वा बाजेआप्त हबे जान ना।
आछे एकतारे मन एइ-बेला तुइ चुटिये फसल केटे ने ना,
गुरु-दत्त बीज रोपण करे भक्ति वारि ताय सेंच ना।
एका यदि ना पारिस मन रामप्रसाद के संगे ने ना॥

—रामप्रसाद सेन

पृष्ठ 155.

फेलाए लांगल माठे
फेलाए लांगल माठे पालाय छुटे चत चाषी-गण,
बेगार धरिते आइल कत शत जन।
येन चैत मासे
भक्त्या-धरा व्यापहारा जेदिके जाके पाय,
हाते बेंधे गोप्ता मेरे रास्ताते खाटाय।
हाते कोरे बेतेर बाड़ि
हाते कोरे बेतेरबाड़ि ताड़ाताड़ि मारे सबार पिठे,
बेतेर भये यत कोड़ा चतुर्दिगे छुटे।

खावा दावा बन्ध कोरे
खावा दावा बन्ध कोरे राखे धरे सन्ध्ये काले छुटि,
कोदाल पिठे झुड़ि हाते याय गुटि गुटि।
सन्ध्ये रसद निते
सन्ध्ये रसद निते चारि भिते करे महा गोल,
क्षुधार ज्वालाय बिकलि करे बले हरि बोल।
शुने बख्शी एलो धेये
शुने बख्शी एलो धेये रसद लये मापुइ संगे करि,
रसद देखे यत कोड़ा बइसे सारि सारि।
कयाल रसद मापे
रसद पेये चले धेये कड़कड़े चिबाय,
हुट-पाट कोरे घाटे जल गिया खाय।
बले हाय प्राण बाँचिल
बले हाय प्राण बाँचिल धूलाय शुल नुटुपटु हये,
घुम भाँगिल पिपिड़ा खाय चले वेगे धेये॥

—राधामोहन

देवान बले रायत सब करते पारे।
काके-ओ स्वर्गे तोले काके आछड़े मारे॥
रायत लइंया सबार ठकुरालि।
यत देख सोनार बाला रायतेर कड़ि॥

—कृष्णहरि दास

पृष्ठ 156.

धीरे धीरे जाय देख चाय फिरे फिरे।
केमने आमरे बल याइते घरे॥
ये छिल अंतरे मोर बाह्ये देखि तारे।
नयन-अंतरे हले पुनः से अंतरे॥

—निधु बाबू

पृष्ठ 157.

नाना देशे नाना भाषा
बिने स्वदेशीय भाषे पूरे कि आशा।
कत नदी सरोवर

कि वा फल चातकीर
धारा जल बिने कभु घूचे कि तृषा॥

—वही

भालो बासिबे बोले भालोबासि ने
आमार स्वभाव एइ तोमा बोइ आर जानिने।
विधुमुखे मधुर हासि
देखिले सुखेते भासि
से जन्ये देखिते आसि देखा दिते आसि ने॥

—श्रीधर 'कथक'

मने रइल सइ मनेर वेदना
प्रवासे जखन जाय गो से
तारे बलि बलि आर बला होलो ना।

—राम बसु

पृष्ठ 195.

क्षमा, सखे—पोषा पाखी पिंजर खुलिले,
चाहे पुनः पाशिबारे पूर्व कारागारे?
एस तुमि, एस शीघ्र, जाब कुंजे-बने—
तुमि हे विहंगराज, तुमि संगे निले।
देह पदाश्रय आसि—प्रेम-उदासिनी
आमि, जथा जाओ जाब, करिब जाकर—
बिकाइब काय-मनः तक राँगा-पाये!

—*वीरांगना* (सर्ग-2)

पृष्ठ 196.

केन एत फुल तुलिलि स्वजनि—
भरिया डाल?
मेघावृत हले परे कि रजनी
तारार माला?
आर कि जतने कुसुम रतने
ब्रजेर बाला?...

आर कि परिबे कभु फुल-हार
ब्रज-कामिनी?
केन, लो हरिलि भूषण लतार
वनशोभिनी?
अलि बंधु तार, के आछे राधार?—
हतभागिनी!

—*व्रजांगना* (कुसुम)

पृष्ठ 197.

लिखिनु कि नाम मोर विफल जतने
बालिते, रे काल, तोर सागरेर तीरे,
फेन-चूड़ जल राशि आसि, कि रे, फिरे,
मुछिते तुमच्छेते त्वरा ए मोर लिखते?
अथवा खोदिनु तारे यशोगिरि शिरे,
गुण-रूप यन्त्रे काटि अक्षर सु-क्षणे,
नारिबे उठाते याहा, धुये निज नीरे,
विस्मृति, वा मलिनिते मलेर मिलने?
शून्य-जल जल-पथे जले लोक स्मरे;
देक-शून्य देचालये अदृश्ये निबासे
देवता; भस्मेर रासि ढाके वैश्वानरे।
सेइरूप, धड़ जाबे परे कालग्रासे,
यशोरूपा श्रमे प्राण मर्त्ये बास करे;
कु-जशे नरके येन सु-जशे आकाशे।

—*चतुर्दशपदी कवितावली* ('यश')

पृष्ठ 226-227.

आजि विश्व आलो कार किरण-निकरे।
हृदय उथले कार जयध्वनि करे।...
क्रमे-क्रमे निबितेछे लोक-कोलाहल
ललित बांशरी-तान उठिछे केवल!
मन येन मजितेछे अमृत-सागरे
देह येन उड़िते हे, समावेग-भरे।

—*निसर्ग-संदर्शन*

पृष्ठ 227.

परेर पताड़ा-चाटा आपनार नाइ।
मतामत-कर्त्ता ताँरा बाँगलार चांइ॥
मन कभु धाय नाइ कवित्वेर पथे।
कविरा चलुक तबु ताँहादेरि मते॥
जनमेते पान नाइ अमृतेर स्वाद।
अमृत बिलाते किन्तु मने बड़ साध॥

—*साधेर आसन* (4)

पृष्ठ 229.

भालोबासि नारी नरे
भालोबासि चराचरे
भालोबासि आपनारे, मनेर आनन्दे रह।

(वही)

पृष्ठ 230.

प्रदीप लइया करे, समीर शंकाय
एसो बाला सुमन्द गमने,
दीप्त मुख, दीर्घ रक्त-प्रदीप-शिखाय
चुम्बित, चंचल समीरणे।

—*सविता सुदर्शन*

पृष्ठ 232.

दक्षिणेर द्वार खुलि मृदु-मन्द-गति।
वन-भूमे पदार्पिया ऋतु-कुलपति॥
लतिकार गाँटे गाँटे फुटाइल फुल।
अंगे घेरि पराइल पल्लव-दुकूल॥
कि जानि किसेर लागि हइया उदास।
घरेर बाहिर हइल मलय-बातास॥
फूलेर घोमटा खुलि काड़ए सुवास।
'ए नहे से' बलि शेष छाड़ए निश्वास॥

—*स्वप्न प्रयाण* (ii)

माते जथा सत्य-हेम, माते जथा वीर।
गुण-ज्योति हरे यथा मनेर तिमिर॥

नव शोभा धरे यथा सोम आर रवि।
सेइ देव-निकेतन आलो करे कवि ॥-

—वही (iii)

पृष्ठ 233.

देखा दिल अट्टालिका महाकाय,
पार्श्व पड़ितेछे भांगि, उच्च-शिरे महत्त्व शिखाय।
भाङा जानालाय
वायु फुसलाय।

—वही (iv)

तुमि ठिक जेन हृषीकेश।
बारोमास अनन्त-शयूयाय लीन,
एक-रति चेतन केवल हय वेतनेर दिन।

—वही (iv)

मन्त्री बले, "भूप
वेतन कि रूप
दु-चक्षे ना देखिलाम बत्सरेक तिन।"

—वही (iv)

भूप बले, "सकलेइ क्षीण-जीवी,
तुमि-इ केवल हइतेछ देखि मांसेर ढिबि।
छिले शुधु अस्थि
हइयाछ हस्ती,
वेतन पैले की आर थाकिबे पृथिवी?"

—वही (iv)

कवि तुमि—किसेर दुःख तो मार, व्यथा पेले प्राणे।
फुटिया कहिते पार वेदना जगत-जन काणे॥
याहा शुनि अशान्त नितान्त ये बालक—खेला त्यजि।
सेओ बसे शान्त हये; सेओ तार भाव-रसे मजि।
आयन काजल आँखि करये सजल! सेइरूप।
नील-सरसिज-दले हिम-बिन्दु भरे टुप टुप॥
तखन यामिनी-माता मने पेये यातना दुःसह।
बिदाय-चुम्बन देन ताहारे सजल आँखि सह... ॥
अरण्येर पाखी तुमि, बिलापेर ध्वनि केन मुखे!

चिरकाल तुमि अरण्येर पाखी, थाकिबेक तथा।
चिरकाल! बलितेछि आमि सेइ अरण्येर कथा॥
ये अरण्य बातासेर सने मुखामुखी कथा कय।
डरे न झाड़े-झापटे, दिगन्त प्राचीरे बद्ध नय॥
आपने आपनि रहे बिस्तारिया सदानन्द-शाखा॥

—वही (vii)

पृष्ठ 235.

आमि तारे भालोबासि अस्थि मांस-सह
आमिओ नारिर रूपे,
आमिओ मांसेर स्तूपे,
कामनार कमनीय केलि-कालिदह—
ओ-कर्दमे—ओइ पंके,
ओइ क्लेदे—ओ कलंके,
कालीय सापेर मत सुखी अहरह!
आमि तारे भालोबासि अस्थि-मांस सह?

—*कास्तूरी* ('आमार भालोबासा')

पृष्ठ 236.

ए मोह-कलंक-शिखा—तोमारि कि होमशिखा,
दाहिए नीचता दैन्य उठिछे गगने?

—*एषा*

पृष्ठ 237.

हय होक प्रियतम,
अनन्त जीवन मम
अन्धकार मय,
तोमार पथेर परे
अनन्त कालेर तरे
आलो जदि रय।

—*आलो ओ छाया* (पान्थ युगल)

पृष्ठ 239.

कन्नाहासिर दोल-दोलानो पौष-फागुनेर पाला
तारि मध्ये चिरजीवन बइब गानेर डाला—
एइ कि तोमार खुशी, आमाय ताइ पराले माला

सुरेर गन्ध ढाला।

ताइ कि आमार घुम छुटेछे, बाँध टुटेछे मने
खेपा हावार ढेउ उठेछे चिरव्यथार वने,
काँपे आमार दिवा-निशार सकल आँधार-आला।
एइ कि तोमार खुशी, आमाय ताइ पराले माला
सुरेर गन्ध ढाला।

रातेर बासा हय-नि बाँधा, दिनेर काजे त्रुटि,
बिना-काजेर सेवार माझे पाई-ने आमि छुटि,
शान्ति कोथाय मोर तरे हाय विश्व भुवन-माझे,
अशान्ति ये आघात करे ताइ तो वीणा बाजे,
नित्य रबे प्राण-पोड़ानो गानेर आगुन ज्वाला–
एइ कि तोमार खुशी, आमाय ताइ पराले माला
सुरेर गन्ध ढाला।

–*गीतवितान* (1)

पृष्ठ 244.

जाय रे साध जगत पाने केवलि चेये रह
अवाक् हते आपन भुले कथाटि नाहि कइ।

–*प्रभात संगीत* (चेये थाका)

ए मोह को दिन थाके, ए माया मिलाय!
किछुते पारे ना आर बाँधिया राखिते।
कोमल बाहुर डोर छिन्न होये जाय,
मदिरा उथले नाको मदिर-आँखिते।
केह कारे नाहि चिने आंधार निशाय।
फुल फोटा सांग होले गाहे ना पाखिते।

–*कड़ि ओ कोमल* (मोह)

पृष्ठ 245.

जे-अमृत लुकानो तोमाय
से कोथाय!
अन्धकारे सन्ध्यार आकाशे
विजन तारार माझे काँपिछे जेमन

स्वर्गेर आलोकमय रहस्य असीम,
ओइ नयनेर
निबिड़ तिमिर-तले-काँपिछे तेमनि
आत्मार रहस्य-शिखा।

—*मानसी* (निष्फल कामना)

पृष्ठ 245.

सकाल बेला काटिया गेल
विकाल नाहि जाय
दिनेर शेषे श्रान्त-छवि
किछुते जेते चाय-ना रवि
चाहिया थाके धरणी पाने
बिदाय नाहि चाय।
मेघेते दिन जड़ाये थाके
मिलाये थाके माठे,
पड़िया थाके तरुर शिरे,
काँपिते थाके नदीर नीरे,
दामराये थाके दीर्घ छाया
मेलिया घाटे बाटे।

—वही (अपेक्षा)

पृष्ठ 246.

जगतेर शत शत असमाप्त कथायत
अकालेर विच्छिन्न मुकुल,
अज्ञात जीवन-गुला अख्यात कीर्तिर धुला
कत भाव, कत भय भुल—
संसासेर दशदिशि झरितेछे अहर्निशि
झरझर झरनारं मत—
क्षण-अश्रु क्षण-हासि, पड़ितेछे राशि राशि
शब्द तार शुनि अविरत।

—*सोनार तरी* (वर्षायापन)

मेठो सुरे काँदे येन अनन्तेर बांशि।
विश्वेर प्रान्तर माझे; शुनिया उदाशी॥
वसुन्धरा बसिया आछेन एलोचूले
दूर व्यापी शस्यक्षेत्रे जाह्नवीर कूले

एक-खानि रौद्रपीत हिरण्य-अंचल
वक्षे टानि दिया; स्थिर नयन-युगल
दूर निलाम्बरे मग्न : मुखे नाहि वाणी!
देखिलाम ताँर सेइ म्लान मुख-खानि
सेई द्वारप्रान्ते लीन स्तब्ध मर्माहत,
मोर चारि-वत्सरेर कन्याटिर मत।

—वही (जेते नाहि दिब)

पृष्ठ 247.

आमार पृथ्वी तुमि
बहु वरषेर; तोमार मृत्तिका सने
आमारे मिशाये लये अनन्त गगने
अश्रान्त चरणे, करियाछ प्रदक्षिण
सवितृ-मण्डल...
...ताइ आजि
कोन-दिन आनमने बसिया एकाकी
पदमा-तीरे, सम्मुखे मेलिया मुग्ध आँखि
सर्व अंगे सर्व मने अनुभव करि
तोमार मृत्तिका माझे केमने शीहरि
उठिते छे दृढ़ तृणांकुर;

—वही (वसुन्धरा)

पृष्ठ 248.

के से जानि ना के, चिनि नाइ तारे—
शुधु एइटुकु जानि, तारि लागि रात्रि-अन्धकारे
चलेछे मानव-यात्री युग हते युगान्तर-पाने
झड़-झंझा वज्रपाते ज्वालाये धरिया सावधाने
अन्तर-प्रदीप-खानि। शुधु जानि, ये शुनेछे काने
ताहार आह्वान-गीत, छुटेछे से निर्भीक पराने
संकट-आवर्त माझे, दियेछे से विश्व-विसर्जन,
निर्यातन लयेछे से वक्ष पाति; मृत्युर गर्जन
शुनेछे से संगीतेर। मत। दहियाछे अग्नि तारे,
विद्ध करियाछे शूल, छिन्न तारे करेछे कुठारे;
सर्व प्रियवस्तु तार अकातरे करिया इंधन
चिरजन्म तारि लागि ज्वेलेछे से होम-हुताशन।

हृत्पिण्ड करिया छिन्न रक्तपद्म अर्घ्य उपहारे
भक्ति भरे जन्मशोध शेष पूजा पूजिया छे तारे
मरणे कृतार्थ करि प्राण।

—*चित्रा* (एबार फिराओ मोरे)

पृष्ठ 249.

धन्य आमि हेरितेछि आकाशेर आलो
धन्य आमि जगतेरे बासियाछि भालो।

—*चैताली* (प्रभात)

पृष्ठ 250.

वातायने बसि ओरे हेरि प्रतिदिन
छोटे मेये खेलाहीन, चपलताहीन,
गम्भीर कर्तव्यरत—तत्पर-चरणे
आसे जाय नित्य काजे; अश्रुभरा मने
और मुख पाने चेये हासि स्नेहभरे।
अजि आमि तरी खुलि जाब देशान्तरे;
बालिका-ओ जाबे कबे कर्म-अवसाने
आयन स्वदेशे। ओ आमारे नाहि जाने,
आमि-ओ जानि-ने ओरे; देखिबारे चाहि
कोथा और हबे शेष जीवसूत्र बाहि।
कोन अजानित ग्रामे कोन दूर देशे
कार घरे वधू हबे, माता हबे शेषे,
तार परे सब शेष—तार-ओ परे हाय,
एइ मेयेटिर पथ चलेछे कोथाय।

—वही (अनंत पथे)

पृष्ठ 251.

द डिपार्टिंग नाइट्स वन किस ऑन द क्लोज़्ड आइज़ ऑफ़
मार्निंग ग्लोज़ इन द स्टार ऑफ़ डाउन।
द फ्रीडम ऑफ़ द विंड द बॉण्डेज ऑफ़ द स्टेम ज्वाइन
हैंड्स इन द डांस ऑफ़ स्वेइंग ब्रांचेज़।

पृष्ठ 252.

कोनो जिनिष चिनब जे रे
प्रथम थेके शेष

नेब जे सब बुझे पड़े—
नाइ से समय लेश।
जगतटा जे जीर्ण माया
सेटा जानार आगे
सकल स्वप्न कुड़िये निये
जीवन-रात्रि भागे।
छुटि आछे सुधू दु-दिन
भालोबासार मतो
काजेर जन्म जीवन हले
दीर्घ जीवन हतो।
थाकब ना भाइ थाकब ना केउ
थाकबे ना भाइ किछु,
सेइ आनन्दे चल रे छुटे
कालेर पिछु-पिछु।

—*क्षणिका* (शेष)

दीघिर जले झलक झले
माणिक हीरा,
सरषे क्षेते उठछे मेते
मोमाछिरा।
ए पथ गेछे कत गाँये,
कत गाछेर छाये छाये
कत माठेर गाये गाये
कत बने!
आमि शुधु हेथाय एलेम
अकारणे।

—वही (पथे)

पृष्ठ 252-253.

बलि-ने तो कारे, सकाले विकाले
तोमार पथेर माझेते,
बांशि बुके लये विना काजे आसि
बेड़ाइ छद्म-साजेते।
जाहा मुखे आसे गाइ सेइ गान,

नाना रागिनीते दिये नाना तान,
एक गान राखि गोपने।
नाना मुख पाने आँख मेलि चाइ,
तोमा पाने चाइ स्वपने।

—वही (अंतरतम)

पृष्ठ 253.

ए मृत्यु छेदिते हबे, एइ भयजाल,
एइ पुंज-पुंजीभूत जड़ेर जंजाल,
मृत आवर्जना। ओरे जागितेइ हबे
ए दीप्त प्रभात काले, ए जाग्रत भवे
एइ कर्मधामे।

नैवेद्य (61)

दयाहीन सभ्यता नागिनी
तुलेछे कुटिल फना चक्षेर निमिषे,
गुप्त नख-दन्त तार भरि तीव्र विषे।
जाति-प्रेम नाम धरि प्रचण्ड अन्याय,
धर्मेर भासते चाहे बलेर वन्याय। —वही (65)

दुजनेर कथा दोंहे शेष करि लब,
से-रात्रे घटे-नि हेन अवकाश तब।
वाणीहीन बिदायेर सेइ वेदनाय,
चारि-दिके चाहियाछि व्यर्थ वासनाय।
आजि ए हृदये सर्व भावनार निचे,
तोमार आमार वाणी एकत्रे मिशिछे।

—*स्मरण* (मिलन)

पृष्ठ 254-255.

ये गन्ध काँपे फुलेर बुकेर काछे,
भोरेर आलोके ये गान घुमाये आछे,
शारद-धान्ये ये आभा आमासे नाचे
किरणे किरणे हसित हिरणे-हरिते।
सेह गन्धेइ गड़ेछि आमार काया,
से गान आमाते रचिछे नूतन माया,
से आभा आमार नयने फेलेछे छाया;—
आमार माझारे आमारे के पारे धरिते?

—*उत्सर्ग* (21, कविचरित)

पृष्ठ 255.

हे चिर पुरानो, चिरकाल मोरे
गड़िछ नूतन करियां।
चिरदिन तुमि साथे छिले मोर
रबे चिरदिन धरिया।

अपनारा जाहके रवीन्द्रनाथ बलिया देखितेछेन आमिओ ताहाके देखितेछि से तरु-लतार फुल-पल्लवेर मत एकटा पदार्थ-जदि सुन्दर हइया फोटे ते भाल—जदि झरिया परे त अधिक क्षति नाइ—एमन प्रतिदिन-इ कत हइते छे जाइतेछे किन्तु आमि आछि ताहा के बहुदुर अतिक्रम करिया—आमि आछि जुग-जुगान्तर लोक-लोकान्तरेर मध्य आमा के कोन सुख दुखे, कोन इतिहासे कोन जन्म-मृत्युते धारण करिया राखिते पारे (25 माघ, 1309)। —*विश्वभारती पत्रिका,* खंड 1, (पृ. 32 और आगे)

खांचार माझे अचिन पाखि
कोमने आसे जाय,
धरते पारले मन-बेड़ी
दितेम पखिर पाय।

—(बाउल गीत का अंश)

पृष्ठ 258.

हे रुद्र आमार,
लुब्ध तारा, मुग्ध तारा, हये पार
तव सिंहद्वार,
संगोपने
विना निमंत्रणे
सिन्ध केटे चूरि करे तोमार भाण्डार।
चौरा धन दुर्वह से भार
पले पले
ताहादेर मर्म दले
साध्य नाहि रहे नामाबार।
तोमारे कँादिया तबे कहि बारम्बार,
एदेर मार्जना करो, हे रुद्र आमार।
चेये देखि मार्जना से नामे एसे
प्रचण्ड झंझार वेशे;
सेइ झड़े

धूलाय ताहारा पड़े;
चूरिर प्रकाण्ड बोझा खण्ड खण्ड हये
से बातासे कोथा जाय बये।
हे रुद्र आमार,
मार्जना तोमार
गर्जमान वज्राग्नि शिखाय,
सूर्यास्तेर प्रलय लिखाय,
रक्तेर वर्षणे,
अकस्मात् संघतेर घर्षणे घर्षणे।

—*बलाका* (11. विचार)

वीरेर ए रक्तस्रोत, मातार ए अश्रुधारा
एर जत मूल्य से कि धरार धूलाए हबे हारा।
स्वर्ग की हबे ना केना
विश्वेर 'काण्डारी' शुधिबे ना
एत ऋण?
रात्रिर तपस्या से कि आनिबे-ना दिन।
निदारुण दुःख राते
मृत्यु घाते
मानुष चूर्णिल जबै निज मर्त्य-सीमा
तखन दिबे-ना देखा देवतार अमर महिमा?

—वही (37, झड़ेर खेया)

पृष्ठ 260.

आमार स्मृति थाक् ना गाँथा
आमार गीति माझे,
जेखान ओइ झाउएर पाता
मर्मरिया बाजे।
जेखाने ओइ शिउली-तले,
क्षणहासिर शिशिर ज्वले,
छाया जेथाय घूमे ढले
किरण-कथा-माली
जेथाय आमार काजेर वेला
काजेर वेशे करे खेला,
जेथाय काजेर अहवेला
निभृते दीप ज्वालि

नाना रंगेर स्वप्न दिए
भरे रूपेर डालि।

—परिशेष (दिनावसान)

पृष्ठ 261.

ग्राम-सुबादे कोनू-काले से छिल जे कार मासी,
मणिलालेर हय दिदिमा, चुनिलालेर मामी,
बलते बलते हठात् से जाय थामि
स्मरणे कारो नाम जे नाहि मेले।
गभीर निश्वास फेले
चुपटि कोरे भाबे
एमन कोरे आर कत दिन जाबे।

—छड़ार छबि (पिसिन)

नागिनीरा चारि दिके फेलितेछे विषाक्त निश्वास,
शान्तिर ललित-वाणी शोनाइबे व्यर्थ परिहास—
बिदाय नेबार आगे ताइ
डाक दिये जाइ
दानवेर साथे जारा संग्रामेर तरे
प्रस्तुत हतेछे घरे घरे।

—प्रान्तिक (18)

पृष्ठ 262.

सूर्यास्तेर पथ हते विकालेर रौद्र एलो नेमे
बातास झिमिये गेछे थेमे
बिचाली-बोझाइ गाड़ी चले दूर नदियार हाटे
जनशून्य माठे।
पिछे पिछे
दड़ि-बाँधा बाछुर चलिछे।
राजवंशी पाड़ार किनारे
पुकुरेर धारे
बनमाली पण्डितेर बड़ छेले
सारा क्षण बसे आछे छिप फेले...
टेलीग्राम एलो सेइ क्षणे
फिनलैण्ड चूर्ण हलो सोभियेट बोमार वर्षणे।

—सानाई ('अपघात')

जाहा किछु चेयेछिनु एकान्त आग्रहे
ताहार चौदिक हते बाहुर वेष्टन
अपसृत हये जबे
तखन से बन्धनेर मुक्त क्षेत्रे
जेये चेतना उद्भासिया उठे
प्रभात आलोर साथे
देखि तार अभिन्न स्वरूप,
शून्य तबु सेतो शून्य नय।
तखन बुझिते पारि ऋषिर से वाणी—
आकाश आनन्दपूर्ण ना रहित यदि
जड़तार नाग-पाशे देह-मन हइत निश्चल।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्
यद् एष आकाश आनन्दो न स्यात्।

—*रोगशय्याय* (36)

पृष्ठ 269.

इच्छा करे अविरत आपनार मनोमत
गल्प लिखि एकेकटि करे।
छोट प्राण, छोट व्यथा छोट छोट दुःख कथा
नितान्तइ सहज सरल,
सहस्र विस्मृति राशि प्रत्यक्ष येतेछे भासि
तारि दु-चारिटि अश्रुजल।
नाहि वर्णनार छटा घटनार घनघटा
नाहि तत्त्व नाहि उपदेश
अन्तरे अतृप्ति रबे साँग करि मने हबे
शेष हये न हइल शेष।...
सेइसब हेलाफेला निमिषेर लीलाखेला
चारि-दिके करि स्तूपाकार,
ताइ दिये करि सृष्टि एकटि विस्मृति-वृष्टि
जीवनेर श्रावण-निशार।

—*सोनार तरी* (वर्षायापन)

शुधु जावा आसा, शुधु स्रोते भासा,
शुधु आलो-आँधारे काँदा-हाँसा।

शुधु देखा पावा, शुधु छुँये जावा
शुधु दूरे जेते-जेते केँदे चावा,
शुधु नव दुराशाय आगे चले जाय—
पिछे फेले जाय मिछे आशा।
अशेष वासना, लये भाङा बल,
प्राणपण काजे पाय भाङा फल,
भाङा तरी धरे भासे पारावारे,
भाव केँदे मरे—भाङा भाषा।
हृदये हृदये आध-परिचय,
आधखानि कथा सांग नाहि हय,
लाजे भये त्रासे आध-विश्वासे
शुधु आधारवानि भालोबासा।

—*गीतवितान*

पृष्ठ 277.

आगे चल आगे चल भाइ,
पोड़े थाका पिछे, मोरे थाका मिछे।
बैंचे मोरे किबा फल भाइ।।
आगे चल, आगे चल भाइ॥

पृष्ठ 277-278.

लेखा सम्बन्धे तुमि जे प्रस्ताव करेछ से अति उत्तम। मासिकपत्रे लेखा अपेक्षा बन्धुके पत्र लेखा अनेक सहज। कारण, आमादेर अधिकांश भाव-इ बुनो हरिणेर मत, अपरिचित लोक देखलेइ दौड़ देय। आबार पोषा भाव एवम् पोषा हरिणेर मध्ये स्वाभाविक वन्यश्री पावा जाय ना।...

कोन एकटा विशेष प्रसंग नियेे तार आगागोड़ा तर्क नाइ होल। तार मीमांसाइ आ नाइ होल। केवल दुजनेर मनेर आघात-प्रतिघाते चिन्ताप्रवाहेर मध्ये विविध ढेउ तोला—जाते करे तादेर उपर नाना वर्णेर आलोछाया खेलते पारे—एइ हले-इ बेश हय। साहित्ये ए रकम सुजोग सर्वदा घटे ना—सकलेइ सर्वांग सुन्दर मत प्रकाश करतेइ व्यस्त—एइ जन्ये अधिकांश मासिक पत्र मृत मतेर मिउजियम बोल्लेइ हय।...

सत्यके मानुषेर जीवनांशेर संगे मिश्रित करे दिले सेटा लागे भालो।...

सत्य के एमनभावे प्रकाशित करा जाक् जाते लोके अविलम्बे जानते पारे, सेटा आमार-इ विशेष मन थेके विशेष भावे देखा दिच्छे, आभार भालो

लागा, मन्द लागा, आमार सन्देह एवम् विश्वास, आमार अतीत एवम् वर्तमान तार संगे जड़ित हये थाक्, ताहलेइ सत्यके जड़पिण्डेर मत देखाबे ना।

आमार मने हय साहित्येर मूल भावटाइ ताइ।

—*साधना* (खण्ड-1, संख्या 4)

पृष्ठ 278.

परेर रचित इतिहास निर्विचारे आद्योपान्त मुखस्थ करिया एवम् परीक्षाय उच्च नम्बर राखिया पण्डित हवा जाइते पारे, किन्तु स्वदेशेर इतिहास निजेरा संग्रह एवं रचना करिबार जे उद्योग, सेह उद्योगेर फल केवल पाण्डित्य नहे। ताहाते आमादेर देशेर मानसिक बद्ध जलाशये स्रोतेर संचार करिया देय। सेइ उद्यमे सेइ चेष्टाय आमादेर स्वास्थ्य—आमादेर प्राण।

—*ऐतिहासिक चित्र*

पृष्ठ 290.

देख चुटकि सूत्र गोटा सत्तर
लिखिल सांख्यकार,
ताइ कानफारेन्से डायेसेर परे
चेयार पड़े-नि तार।
दादा तिनटि मालुमे लिखिले, मालुम
हइत एलेम जत,
आर दर्शन-शाखे हतो जोगे-जागे
शाखापति अंतत।
हाय, अल्पे सारिते मरिल बेचारा
लिखे ह-य-ब-र-ल,
एइ जम्बूद्वीपे कोनो फेलोशिपे
वक्ता ना हल...अ!

—*हसन्तिका* ('चुटकि')

भस्मलोचन सब सभ्यता रुक्ष
कल कोरे गिले खाय जोयानेर जोयानी,
चुंये क्षेत-भुईं चिमनिर धोंयाते,
गंगा से सेप्टिक टैंकेर छोटानी धोयानी।

पृष्ठ 305.

ऊर्ध्वमुखे घेयाइया रजोहीन रजनीर मल्लिका-माधवी
　　नेहारिया नीहारिका-छवि—
कल्पनार द्राक्षा-वने मधु चुसि, नीरक्त अधरे,
उपहासि दुग्धधार धारित्रीर पूर्ण पयोधरे,
बुभुक्षु मानब लागि रचि इन्द्रजाल
आपना वंचित करि चिर इहकाल
कत-दिन भुलाइबे मर्त्य जने बिलाइया मोहन आसव,
　　हे कवि वासव?

—*विस्मरणी* (मोह मुद्गर)

पृष्ठ 306.

ओ नाकि शपथ करेछे,—कपाले ना जुटिले खाँटि सोना
आभरणे-हीन केंदे जाक् दिन, खादे तबु भुलिब ना?...
भक्ति प्रेम कि दण्डेर ताले श्रीचरणे माथा ठोका?
मुक्ति कि एइ—दड़ा छिंड़े छुटे साकिम खोंचाई ढोका?

—*मरुमाया* (दुःखेर कवि)

पृष्ठ 307.

मिथ्यार मोहे जदि केह कभु सत्यइ सुख पाय—
तप्त बलिया भाषा कोरे केह पान्ता जुड़ाते चाय—
　　लये गोपालेर पराण-पुतलि?
　　बन्ध्यार स्नेह उठे जे उथलि—
तार सेइ सुखे कार ना वक्ष अश्रुते भेसे जाय?
कठोर सत्य स्मरण कराये के तारे शासिते चाय?

—*हेमन्त-गोधूलि* (दुःखेर कवि)

पृष्ठ 313.

पाल्कि चड़े चड़े कार पा पंगु हये गेछे,—
आज ओइ नग्न सबल पायेर संगे पा मिलिये चल।
माथाय पा दिए दिए कार पा भारि हलो
　　　　　　पापेर भारे,—
ओइ पुण्यपथेर धूलाय नामाओ से भार।　　—'पाँओदल'

पृष्ठ 318.

हाय चिल, सोनालि डानार चिल, एइ भिजे मेघेर दुपुरे
तुमि आर केंदो नाको उड़े धान उड़े नदीटिर पाशे!

तोमार कान्नार सुरे बेतेर फले मतो तार म्लान चोख मने आसे!
पृथिवीर राङा राजकन्यादेर मतो से जे चले गेछे रूप निये दूरे;
आबार ताहारे केन डेके आनो? के हाय हृदय खुंड़े
वेदना जगाते भालोबासे!
हाय चिल, सोनालि डानार चिल, एइ भिजे घेर दुपुरे
तुमि आर उड़े उड़े केंदो नाको धानसिड़ि नदीटिर पाशे।

—*महापृथिवी* (हाय चिल)

पृष्ठ 323.

आयु क्षण महावित्त, प्रकाण्ड निराला समये,
कायाहीन इस्पाती दिगन्ते किछु माया।
पर्दाय-पर्दाय रङ लेगे जाय क्षणटुकु जुड़े
तातेइ प्राणेर बलि एकान्त समय;
निचे तारि गाछ नदी
प्रियजन से-मुहूर्ते चले—
दोकाने, कलेजे ट्रेने से इक्षण आयु
की बोझाय किछुइ जानि ना—
शुधु से-मुहूर्ते बाँचि तोमार भुवने।

—*पाला-बदल* (एरोप्लेन)

छन्द-2.

□

सहायक ग्रन्थ-सूची

क : साहित्येतिहास

गुहा ठाकुरता, पी. : *द बंगाली ड्रामा*, लन्दन, 1930

घोष, जे. सी. : *बंगाली लिटरेचर*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1948

थॉम्पसन, ई. जे. : *रवीन्द्रनाथ टैगोर*; दूसरा संस्करण, कलकत्ता, 1926

रवीन्द्रनाथ टैगोर, पोयट एण्ड ड्रेमेटिस्ट; ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1948

थॉम्पसन, ई. जे. और स्पेन्सर, ए. एम. : *बंगाली रिलिजस लिरिक्स—शाक्त*, कलकत्ता, 1923

दत्त, आर. सी. : *लिटरेचर ऑफ़ बंगाल*, कलकत्ता, 1887

दे, एस. के. : *बंगाली लिटरेचर इन द नाइनटीन्थ सेंचुरी*, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1919

सेन, डी. सी. : *हिस्ट्री ऑफ़ बंगाली लिटरेचर*, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, दूसरा संस्करण

बंगाली रामायणाज़, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1920

फ़ोक लिटरेचर ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1920

वैष्णव लिटरेचर ऑफ़ मेडियेवल बंगाल, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1917

बंगभाषा ओ साहित्य (बाङ्ला), आठवाँ संस्करण, कलकत्ता

सेन, सुकुमार : *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रजबुली लिटरेचर*, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1935

बाङ्ला साहित्येर इतिहास (बाङ्ला), बर्दवान साहित्य सभा, तीसरा संस्करण 1952-1956

बाङ्ला साहित्ये गद्य (बाङ्ला); कलकत्ता, तीसरा संस्करण, 1949

बाङ्ला साहित्येर कथा (बाङ्ला); कलकत्ता यूनिवर्सिटी, छठा संस्करण, 1956
इस्लामी बाङ्ला साहित्य (बाङ्ला); वर्दवान साहित्य सभा, 1951

ख : मूल पाठों के अंग्रेज़ी अनुवाद

प्राचीन बाङ्ला

सेन, सुकुमार : *ओल्ड बंगाली टेक्स्ट्स,* लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ़ इण्डिया, 1948

मध्य बाङ्ला

कॉवल, ई. बी. : *कविक्कंकणूज़ चण्डी* (जर्नल ऑफ़ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल)
चैपमैन, जे. ए. : *रिलिजस लिरिक्स ऑफ़ बंगाल,* कलकत्ता, 1926
मजुमदार, एन. आर. : *चैतन्यचरितामृत* (आदिलीला); कलकत्ता, 1925
सेन, सुकुमार : *विप्रदासज़ मनसा मंगल;* द एशियाटिक सोसाइटी, 1953

आधुनिक बाङ्ला

1. बंकिमचन्द्र चटर्जी

आनन्द मठ : एन. सी. सेनगुप्त; कलकत्ता, 1906
इन्दिरा एण्ड अदर स्टोरीज़ : जे. डी. एण्डरसन; कलकत्ता, 1918
कपालकुण्डला : डी. एन. घोषाल; कलकत्ता, 1919
कपालकुण्डला : एच. ए. डी. फ़िलिप्स; लन्दन, 1885
कृष्णकान्त्स विल : मिरियम एस. नाइट; (जे. एफ़. ब्लूमहार्ड की भूमिका, शब्दावली और टिप्पणियों के साथ); लन्दन, 1895
कृष्णकान्त्स विल : डी. सी. राय; कलकत्ता, 1918
चन्द्रशेखर : एम. एन. रायचौधुरी; कलकत्ता, 1904
चन्द्रशेखर : डी. सी. मल्लिक; कलकत्ता, 1905
द पायज़न ट्री : मिरियम, एस. नाइट (भूमिका, एडविन आर्नल्ड); लन्दन, 1884
द टू रिंग्ज़ : आर. सी. बनर्जी, 1897
द टू रिंग्ज़ एण्ड राधारानी : डी. सी. राय; कलकत्ता, 1919
दुर्गेशनन्दिनी या द चीफ़टेन्स डॉटर : सी. सी. मुखर्जी; कलकत्ता, 1880
रजनी : पी. मजुमदार; कलकत्ता, 1928

राधारानी : आर. सी. मलिक; कलकत्ता, 1910
सीताराम : एस. मुखर्जी; कलकत्ता, 1903
श्री, एन एपिसोड फ्राम सीताराम : पी. एन. बोस और एच. मोरेनो; कलकत्ता, 1919
युगलांगुरीय : पी. एन. बोस और एच. डब्ल्यू. बी. मोरेनो; कलकत्ता, 1913

2. शरत्चन्द्र चटर्जी

डेलिवरेन्स : दिलीप कुमार राय; श्री अरविन्द द्वारा संशोधित;
भूमिका-लेखक : रवीन्द्रनाथ ठाकुर
श्रीकान्त : के. सी. सेन और थियोडोर थाम्पसन;
भूमिका-लेखक : ई. जे. थाम्पसन; ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922

3. प्रमथ चौधुरी

टेल्स आफ़ फ़ोर फ्रेण्ड्स : इन्दिरादेवी चौधुरानी; कलकत्ता

4. स्वर्णकुमारी देवी

टु हूम? : शोभना देवी; कलकत्ता, 1907

5. माइकेल मधुसूदन दत्त

शर्मिष्ठा : लेखक द्वारा, कलकत्ता, 1859

6. माइकेल मधुसूदन दत्त और गिरीशचन्द्र घोष

द मेघनाद वध या द डैथ ऑफ़ द प्रिन्स ऑफ़ लंका। (पाँच अंकों की एक त्रासदी, जिसका प्रदर्शन नेशनल थियेटर, बीडन स्ट्रीट में हुआ। लाल बिहारी डे द्वारा संशोधित)

7. रमेशचन्द्र दत्त

द लेक ऑफ़ पाम्स : लेखक द्वारा; लंदन, 1902

8. तारकनाथ गांगुली

द ब्रदर्स : एडवर्ड थॉम्सन, 1928

9. दीनबन्धु मित्र

नील दर्पण : कलकत्ता, 1861

10. प्यारीचाँद मित्र

द स्पॉइल्ड चाइल्ड : जी. डी. ओसवैल; लन्दन, 1893

11. प्रभातकुमार मुखर्जी

स्टोरीज़ ऑफ़ बंगाली लाइफ़ : मिरियम एस. नाइट और लेखक द्वारा;
कलकत्ता, 1912

12. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कलेक्टेड पोयम्स एण्ड प्लेज़ : लन्दन, 1936
गोरा : लंदन, 1924
ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ बंगाल : लंदन, 1921
चतुरंग : नयी दिल्ली, 1967
द पैरट्स ट्रेनिंग एण्ड अदर स्टोरीज़ : लन्दन, 1918
द रैक : लन्दन, 1921
द होम एण्ड द वर्ल्ड : लंदन, 1919
टू सिस्टर्स : कलकत्ता, 1945
फ़ोर चैप्टर्स : कलकत्ता, 1950
बिनोदिनी : नयी दिल्ली, 1968
ब्रोकन टाइज़ : लंदन, 1916
माइ बॉयहुड डेज़ : कलकत्ता, 1940
माइ रेमिनिसेन्सेज़ : लंदन, 1917
मासी एण्ड अदर स्टोरीज़ : लंदन, 1918
रेड ओलिएण्डर्स : लन्दन, 1925
हंगरी स्टोन्स : लंदन, 1916

13. रामनारायण तर्करत्न

रत्नावली : माइकेल मधुसूदन दत्त; कलकत्ता, 1858

14. विभूतिभूषण बनर्जी

पथेर पांचाली : टी. डब्ल्यू. क्लार्क और तारापद मुखर्जी; लंदन, 1968

ग : विविध

कबीर, हुमायूँ : *शरत्चन्द्र*, बम्बई, 1942
चटर्जी, एस. के. : *ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट ऑफ़ द बंगाली लैंग्वेज*,
कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1926

दास गुप्ता, जे. : *ए क्रिटकल स्टडी ऑफ़ द लाइफ़ एण्ड नोवल्स ऑफ़ बंकिमचन्द्र*; कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1937
बनर्जी, आर. डी. : *ओरिजिन ऑफ़ द बंगाली स्क्रिप्ट*; कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1919
बोस बुद्धदेव : *एन एकड़ आफ़ ग्रीन ग्रास*, कलकत्ता, 1948
राय, ए. एण्ड एल. : *बंगाली लिटरेचर*, बम्बई, 1942
राय, एल. : *चैलेंजिंग डिकेड*, कलकत्ता, 1953
सेन, पी. आर. : *वैस्टर्न इन्फ़्लूएन्स इन बंगाली लिटरेचर*, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1923
सेनगुप्त, एस. सी. : *द ग्रेट सेण्टिनल*, कलकत्ता, 1948
शरत्चन्द्र; कलकत्ता, 1945

□

नामानुक्रमणी

□□□